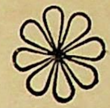
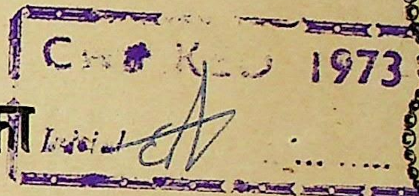

सरस्वती


सचित्र

मासिक पत्रिका



भाग १६, खण्ड १

जनवरी–जून

१९१८

सम्पादक

महावीरप्रसाद द्विवेदी



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.

लेख-सूची ।

चित्र-सूची ।

रङ्गीन चित्र ।

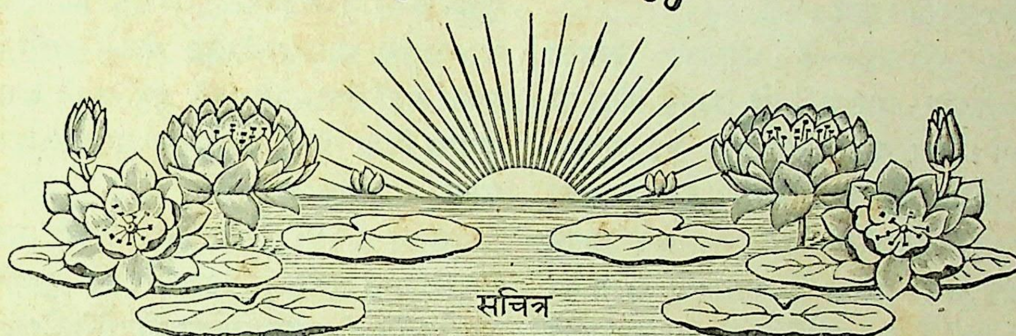
सादे चित्र ।

रङ्गीन चित्र ६
सादे चित्र ४४
कुल ५०



भगवती।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।



भाग १९, खण्ड १] जनवरी १९१८—पौष १९७४ [संख्या १, पूर्ण संख्या २१७

ब्रह्मचारी श्री सच्चिदानन्दजी।



आज हम पाठकों को एक ऐसे तपोधन, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अनन्य-शिवोपासक महात्मा के दर्शन कराते हैं जिनकी अवस्था १०२ वर्ष की है। तिस पर भी आप यथाविधि शिवाराधना में अहोरात्र दत्तचित्त रहते हैं। आपका शुभ नाम श्रीसच्चिदानन्द है। आप अपने विषय में बहुधा कुछ नहीं बतलाते हैं। अतएव आपके चरित के सम्बन्ध में वही बातें यहाँ संक्षेप से लिखी जाती हैं जो आपके मुखारविन्द से लेखक को साधारणतः ज्ञात हुई हैं।

संयुक्त-प्रान्त के उन्नाव ज़िले में भगवती भागीरथी के तट पर डौंड़ियाखेरा नामक एक ग्राम है। वहीं आपका शुभ जन्म, कान्यकुब्ज-ब्राह्मण-कुल में, विक्रमीय संवत् १८७२ की माघ-शुक्ला वसन्त-पञ्चमी के दिन, पुष्य नक्षत्र में, हुआ। आपके पितामह का नाम जिउराखनलाल और पिता का बदरीप्रसाद था। ये लोग डौंड़ियाखेरा के पास हिश्यामपुर नामक गाँव में रहते थे। ब्रह्मचारीजी के चचा के लड़के का नाम सीताराम था। सम्भव है, उनके कुटुम्ब के लोग अब तक हिश्यामपुर में हों। उस समय डौंड़ियाखेरा में एक नामी ताल्लुक़ेदार रहते थे। पर ग़दर के समय, सन् १८५७ ईसवी (संवत् १९१४) में, उन्होंने अँगरेज़ी सरकार से बग़ावत की। इस कारण डौंड़ियाखेरा उद्ध्वस्त हो गया। अब वहाँ बहुत ही थोड़ी आबादी है।

ब्रह्मचारीजी का नाम सधारीलाल रक्खा गया।

कोई कोई आपको साधू भी कहा करते थे। आप माता-पिता के केवल एकाकी जीवनाधार पुत्र थे। ५ वर्ष की अवस्था में आपका विद्यारम्भ-संस्कार हुआ। ग्राम ही में आपको शिक्षा दी जाने लगी। बचपन से ही आप, भोजन के पूर्व, नित्य शिवालय में जा कर जल, धूप, दीप, नैवेद्यादि से शिवजी का पूजन करते थे। आपकी यह वृत्ति ग्रामवासियों को सदैव प्रमुदित करती रहती।

ईश्वरेच्छा बलीयसी—के अनुसार आपकी १२ वर्ष की किशोर-अवस्था में ही आपके पिता का देहान्त हुआ। इस कठोर वज्रपात का आघात सहन करके धैर्य्यपूर्वक आप विद्योपार्जन में तत्पर रहे। किसी तरह विचलित न हुए। जब आपने देखा कि अब डौंड़ियाखेरा में आगे की शिक्षा का कुछ प्रबन्ध नहीं है तब आप माता और चचा की आज्ञा लेकर, १३ वर्ष की अवस्था में, काशीजी चले गये। विद्याध्ययन के साथ साथ आपकी शिवोपासना अब भी जारी रही थी। इस बात को अभी चार ही वर्ष हो पाये थे कि आपकी पूजनीया माता का भी स्वर्गवास हो गया। यह समाचार पाकर आप घर आये। माता के और्ध्वदैहिक संस्कार से निवृत्त हुए ही थे कि आपके विवाह की बातचीत होने लगी। इस बन्धन को तैयार होते देख आपने चचा से पुनः काशी जाने के लिए आज्ञा माँगी। आपके चचा विद्वान् तथा ग्राम के मुखिया थे। उन्हें अपने भतीजे को अपने पास ही रखना अभीष्ट था। इस लिए उन्होंने टालटूल कर दी। परन्तु सच्चिदानन्दजी को क्यों कर चैन पड़ सकती थी। विवाह-निश्चय होने का समाचार पाकर आप चुपचाप एक दिन फिर काशी चल दिये। वहाँ कोई ३२ वर्षों तक पतितपावनी पुण्यसलिला जान्हवी के तट पर भगवान् शङ्कर की अनन्योपासना करते हुए व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक और मन्त्र-तन्त्र-शास्त्रों का अध्ययन किया। संवत् १९१८ से आपने अन्न खाना त्याग दिया। तब से आज तक आप केवल बिल्वफल और दुग्ध का आहार करते हैं।

विक्रमीय संवत् १९२२ में हरद्वार का कुम्भ पड़ा। कुम्भस्नानार्थ आप वहाँ गये। वहाँ आपको महात्माओं का सत्सङ्ग हुआ। वहाँ से आपने उत्तराखण्ड की यात्रा की। उस तपोभूमि में आप एक पैर पर खड़े रह कर पार्थिव बनाते और यथाविधि पूजन करते। तदनन्तर वेदसार का पाठ करते। उस समय आपका भोजन केवल शाक था। इस प्रकार वहाँ शिवभक्ति करते हुए आपने ३ वर्षों तक निवास किया और महात्माओं के सत्सङ्ग से कर्म्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त की।

संवत् १९२५ में आपको, किसी महात्मा के द्वारा, ज्ञात हुआ कि काश्मीर में दुग्ध-गङ्गा पर पञ्जाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंहजी के दीवान, गुलाबसिंहजी, की छत्री पर एक बालब्रह्मचारी निवास करते हैं, जिनकी आयु १५० वर्ष के लगभग है और जो बड़े कर्मिष्ठ तथा योगी हैं। तब आपने काश्मीर-यात्रा की और एक वर्ष उन योगिराज की सेवा में रह कर मन्त्र तथा योग की क्रियायें सिद्ध कीं। इसके बाद आप वहाँ से श्रीअमरनाथजी गये।

ब्रह्मचारीजी महाराज से काश्मीर-यात्रा के आगे के दृश्य वर्णन करने का आग्रह किया गया तो आपने वहाँ की एक अलौकिक घटना इस प्रकार बताई—

अमरनाथजी में दुग्ध-गङ्गा के सामने एक रमणीक पर्वत के शिखर पर प्रत्येक पूर्णिमा के दिन एक श्वेत कपोत का जोड़ा आया करता है। एक पूर्णमासी के दिन मैंने देखा कि वह जोड़ा आया और जिस प्रकार दम्पती ग्रन्थि-बन्धन करके तीर्थ-स्नान किया करते हैं, उसी प्रकार, अपने पक्षों को मिलाकर, प्रथम उस जोड़े ने दुग्धगङ्गा में स्नान किया। फिर वहाँ से उड़ कर उसी नियत पर्वत-शृङ्ग पर जा बैठा। उस समय सात महात्मा वहाँ पर दर्शनार्थ पधारे थे। वे सब एक पैर पर खड़े होकर

रुद्रपाठ करने लगे। पाठ के समाप्त होने पर जोड़ा उड़ गया।

आपका कहना है कि यह कबूतरों का जोड़ा शिव-पार्वती थे। इसके पश्चात् एक गुफा में आपने हिम-लिङ्ग का दर्शन किया। उस गुफा में दिन-रात बर्फ का पानी टपकता रहता है। वह हिम-लिङ्ग पूर्णिमा को पूर्ण और अमावास्या को क्षीण हो जाता है। उस समय आप चार दिनों से व्रत रख रहे थे। अतएव पारणा के लिए ६ मील लौट कर आप वैतरणी नदी के तट पर आये। वहाँ कुछ शाक-भोजन करने के बाद आप वहाँ से चल दिये।

रावलपिण्डी, अमृतसर आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए, संवत् १९२८ में, आप नर्मदा के तट पर ओङ्कारेश्वर की समाराधना में संलग्न हुए। एक वर्ष वहाँ निवास करके, मह्न-छावनी के निकट, उजरखेडा नामक ग्राम में, सिप्रा नदी के किनारे, रहने लगे। वहाँ रहते अभी एक वर्ष भी न बीता था कि एक दिन वर्त्तमान इन्दौर-नरेश के प्रपितामह, महाराजा सर द्वितीय तुकोजीराव होलकर सरकार, की महारानी साहिबा ने, जो ब्रह्मचारी जी की बड़ी भक्त थीं और जो उनके दर्शनार्थ आया करती थीं, महाराजा साहब के कठिन रोगग्रस्त और आसन्नमृत्यु होने का समाचार प्रकट किया। तब आपने उठा कर उन्हें केवल भस्म दे दी। उसके सेवन करते ही महाराजा साहब को आरोग्य-लाभ हुआ। इस नवजीवन का महोत्सव बड़े ही समारोह से होलकर-राज्य में मनाया गया। उस समय ब्रह्मचारीजी महाराज से उत्सव में पधारने के लिए विशेष रीति से आग्रह-पूर्वक प्रार्थना की गई थी; किन्तु अनुष्ठान-व्रत में लगे रहने के कारण आप नहीं गये।

संवत् १९३० के वैशाख-मास में, चन्द्र-ग्रहण पर, आप स्नानार्थ उज्जैन जा रहे थे। इधर इन्दौर से महाराजा तुकोजीराव होलकर भी वहीं जा रहे थे। ब्राह्मणों के द्वारा जब यह समाचार इन्दौर-नरेश को मिला तब महाराजा साहब हाथी से उतर कर नङ्गे पैर पधारे और ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शन कर अपने नेत्र सफल किये। ब्रह्मचारीजी में आपकी श्रद्धा-भक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि आपने उन्हें नाना प्रकार से स्तुति-प्रार्थना करके ग्रहणस्नानार्थ उज्जैन जाने से रोक लिया और सेनादि-राजचिह्नों सहित ब्रह्मचारीजी को अपने साथ लौटा लाये। इन्दौर-नगर से १० मील पर श्रीकेवड़ेश्वर महादेव का अति रम्य प्राचीन स्थान है। वहीं सिप्रा-नदी का उद्गम हुआ है। महाराजा साहब ने ४ दिनों तक इसी स्थान पर ब्रह्मचारीजी को रख कर फिर अपने विख्यात लाल-बाग के काच-महल में रक्खा। आपकी पूजा-अर्चा, प्रसाद, इत्यादि नैमित्तिक खर्च के लिए भी आपने राज्य से यथोचित प्रबन्ध कर दिया, जो आज तक अखण्ड चल रहा है। एक वर्ष के उपरान्त उक्त महाराजा साहब ने आपके लिए लालबाग में ही एक स्वतन्त्र स्थान बनवा दिया। इसी प्रकार श्रीमान् महाराजा शिवाजीराव होलकर तथा उनकी महारानियों की भी ब्रह्मचारीजी महाराज पर पूर्ण भक्ति रही और वर्त्तमान महाराजा तुकोजीराव बहादुर तथा सर्व राजकुटुम्ब इन तपस्वीजी में समुचित भक्ति रखते हैं और इनके दर्शन का लाभ उठाते हैं। ब्रह्मचारीजी महाराज के स्थान पर प्रति शिवरात्र रुद्राभिषेकयुक्त शङ्करपूजन अहोरात्र किया जाता है। वेदघोष होता है और रात्रि में जागरण भी होता है। आपके अनेक भक्त इस उत्सव में सम्मिलित होते हैं। दूसरे दिन सन्ध्या-समय महापूजा होकर प्रसाद बाँटा जाता है। शिवोपासना का यह उत्सव बहुत ही दर्शनीय है।

देवास (सीनियर) राज्य के वर्तमान नरेश क्षात्रकुलावतंस महाराजा सर तुकोजीराव पवाँर भी ब्रह्मचारीजी के बड़े भक्त हैं। रामपुर कोठी में, ब्रह्मचारीजी की अखण्ड शिवोपासना, विश्वप्रेम, शान्ति तथा वैराग्य देख कर आपकी श्रद्धा यहाँ तक बढ़ी कि जब

से आप स्वयं राज्य का प्रबन्ध देखने लगे तबसे प्रति वर्ष, श्रीकृष्णजन्म के महोत्सव पर, बड़ी भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने राजमन्दिर में ब्रह्मचारीजी महाराज का आवाहन करते हैं। उत्सव के उपरान्त कई महीनों तक न केवल स्वयं और राजकुटुम्ब ही ब्रह्मचारीजी की सेवा का लाभ उठाते हैं, किन्तु अपने प्रजाजनों को भी यह सौभाग्य प्राप्त कराते हैं।

ऐसे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध सत्पुरुष के जीवन की पूर्वोक्त घटनायें, आशा है, पाठकों को अपने प्राचीन ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों की उज्ज्वल कीर्ति और महत्ता का स्मरण करावेंगी।

खेद है, यह लेख लिखे जाने के बाद मालूम हुआ कि ११ दिसम्बर को ब्रह्मचारीजी का देहान्त, नर्म्मदा तट पर, बड़वाय-नामक स्थान में, हो गया।

(राव-बहादुर, सरदार, पण्डित) नारायणप्रसाद

मौन भाषा।

जिनके रसना नहीं मौन हैं बेज़बान हैं ; अथवा दुख-वश बने मूक ही के समान हैं।
दर्द-भरी वे यदपि नहीं छेड़ते तान हैं ; अपनी बीती प्रकट नहीं करते बयान हैं॥
तदपि भाव क्या क्या प्रकट करते हैं चुपचाप ही।
कहाँ शक्ति वक्तृत्व में है यह, कहिए आप ही॥ १॥

यह असीम आकाश असंख्य चमकते तारे ; औषधीश रजनीश सूर्य्य सर्वस्व हमारे।
अगम अगाध समुद्र उच्च गिरि गुरुता धारे ; बड़े बड़े मैदान विशद नद कटे करारे॥
ये सब विभु की सृष्टि में क्या हैं रहते ही नहीं।
माना हैं ये मौन पर क्या कुछ कहते ही नहीं॥ २॥

खंडरों की यह झुकी खड़ी दर की दीवारें, कुछ कहने को खोल रहीं मुँह, नहीं दरारें।
वे ज़बान हैं हाय ! और किस तरह पुकारें ; रोती हैं चुपचाप और क्या ढाढ़ें मारें॥
चहल पहल वह अब रही और न वे स्वामी रहे।
मिटने को है नाम भी कहने को नामी रहे॥ ३॥

इनकी करुणा-कथा आप क्या कुछ न सुनेंगे ? क्या इनकी दुर्दशा देख कर सिर न धुनेंगे ?
भाव-रत्न हैं ढेर आप क्या कुछ न चुनेंगे ? क्या रोड़ों को आप व्यर्थ ही वस्तु गुनेंगे ?
टूटे फूटे खण्ड ये बिखरे ग्रन्थ पवित्र हैं।
पुरातत्त्व-इतिहास के इनमें जीवित चित्र हैं॥ ४॥

दीना विधवा हाय ! सहाय सहारे जिसके—प्रियतम श्रीपतिदेव देवपुर असमय खिसके।
रहे कलेजा थाम न रोये, तड़पे, सिसके, पर न करेगी छेद हृदय-पत्थर में किसके ?
उसकी वह चिरमौनता मुख-छवि मुरझाई हुई।
घोर उदासी क्षीणता अङ्ग अङ्ग छाई हुई॥ ५॥

कह देंगी क्या न वे सजल आँखें पुकार के ? बेड़ा डूबा हाय ! हमारा बीच धार के।
चिह्न कमलिनी पर न छिपेंगे चिर-तुषार के, बिखर कहेंगे बाल भ्रमर से भरे छार के॥
बिगड़ गया सर्वस्व ही अब सँवार के दिन गये।
तीक्ष्ण तपनि का समय है वे बहार के दिन गये॥ ६॥

वह अनाथ असहाय भिखारी बालक भूखा ; कोई उसका नहीं, खिलाता रूखा सूखा।
हाय ! कौन अब कहे, लाल मेरे चल तू खा ; पड़े कई उपवास पेट सूखा मुँह सूखा॥

नहीं माँगना जानता खड़ा हुआ चुपचाप है।
मानों सम्मुख आ गया मूर्त्तिमान परिताप है॥ ७॥

बिना कहे ही व्यक्त कर रही करुण कहानी, दुखिनी आँखें और कान्ति मुख की कुम्हिलानी।
बोल रहा प्रत्यङ्ग कि माँ की गोद न जानी, बढ़ा हुआ था द्वार द्वार का दाना-पानी
वाम विधाता ने किये जो जो अत्याचार हैं।
मुख-मुद्रा से हो रहे ज़ाहिर सब आसार हैं॥ ८॥

पर कतरे हैं, क़ैद किया है, ज़बाँ काट ले, दे दे छुलिया छुरी कि ख़ंजर लहू चाट ले।
बुलबुल से खल वधिक वैर अपना निपाट ले, पर-पीड़न के पापपुञ्ज से भवन पाट ले॥
सिर पर चढ़ कर ख़ून पर छिपा न फिर रह जायगा।
नुचे परों का ढेर सब उड़ उड़ कर कह जायगा॥ ९॥

कर्म्मवीर चुपचाप खड़ा करता न शोर है, मुँह से कहें न लोग चित्त पर उसी ओर है।
है यह भाषा मौन मगर किस क़दर ज़ोर है, इस बोली को पहुँच सका चातक न मोर है॥
दृढ़ शरीर उसका नहीं अति विशाल मीनार है।
ख़बर उसी से दे रहा बिना तार का तार है॥१०॥

भारत-मन्त्री दुःख-दर्द सुनने आये हैं, समुचित सुखद सुधार सार चुनने आये हैं।
राजनीति का नया वस्त्र बुनने आये हैं, क्या हैं, किसके स्वत्व तत्त्व गुनने आये हैं॥
उनसे अपना ध्येय हैं कहते सभी पुकार के।
पर बेचारे कृषक हैं रहे मौन ही धार के॥११॥

हाँ हाँ वे ही कृषक चल रहीं जिनसे रोटी, जिनके तन पर रही सिर्फ़ है लटी लँगोटी।
जिनकी मिहनत खरी किन्तु क़िस्मत है खोटी, (ज्यों ज्यों अन्धा बटे करे त्यों पड़वा छोटी)॥
जितनी ही खेती बढ़ी उतना ही टूटा पड़ा।
निर्दय हृदयों, करों से उनका घर लूटा पड़ा॥१२॥

उनकी यह मौनता नहीं क्या क्या कहती है, चित्तवृत्ति भी कहीं छिपाये छिप रहती है।
माना, घर घर नहीं अश्रुधारा बहती है; करुणा-स्रोतस्विनी लाज-भाबर* गहती है॥
सहते क्या क्या कष्ट हैं क्या क्या पाते क्लेश हैं।
पर, घर बैठे मौन ही करते ऐड्रस पेश हैं॥१३॥

कहते सकरुण अहो दयानिधि आओ आओ, जो जो माँगें लोग स्वत्व उनको दिलवाओ।
हम दीनों को महोदार! पर भूल न जाओ, हम हैं मरणासन्न हमारे प्राण बचाओ॥
इन क़ानूनों में प्रभो ऐसा सदय सुधार हो।
अपने खेतों पर हमें कुछ भी तो अधिकार हो॥१४॥

× × × × ×

इस भाषा की कहूँ कहाँ तक महा महत्ता, चर हों या हों अचर सभी में इसकी सत्ता।
बोली यह बोलता फूल हो या हो पत्ता, है यह इतनी मधुर कि मानो मधु का छत्ता॥
मुँह बँध जाता है सदा इसके मञ्जु मिठास से।
होता उज्ज्वल हृदय नभ इसके ही आभास से॥१५॥

* वह स्थान जहाँ नदी भूगर्भगामिनी हो जाती है।

चप तक मिलती नहीं, समय यों चुप जाता है, किन्तु न उसका चरण-चिह्न कुछ लुप जाता है।
शिक्षा का तरु हृदय-कुञ्ज में रुप जाता है, जग के मत्थे सुफल कुफल सब थुप जाता है॥
विद्यालय में विश्व के लें कि न वे तारीख़ लें।
जिनको हो कुछ सीखना सबक़ समय से सीख लें॥१६॥

कर लें पहले किन्तु मौन भाषा का अर्जन, यह कोरी बकवास करें बुधवर्य्य विसर्जन।
कभी बरसते नहीं अधिक करते जो गर्जन, कर सकता है कौन मौन भाषा का वर्जन?
हो उत्तङ्ग, जी खोल कर इस भाषा में बोल लें।
सरल-हृदय पहले बनें हृदय-ग्रन्थियाँ खोल लें॥१७॥

मित्रो! पहले पहल मनुज जब जग में आया, भाषा थी बस यही कि जिसने काम चलाया।
न तो कोष था कहीं न था व्याकरण बनाया, लेते अब भी काम इसी से शिशु, माँ, दाया॥
प्रकृति शिक्षिका है बनी इसे सिखाने के लिए।
हृदय निष्कपट चाहिए राह दिखाने के लिए॥१८॥

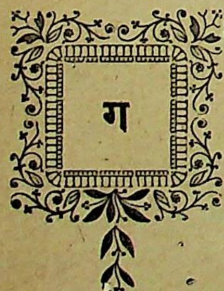
बनें आप यदि कहीं मौन-भाषा-विज्ञानी, हो त्रिकालदर्शित्व प्राप्त, फिर, रहे न सानी।
बातें सब आ जायँ नई हों या कि पुरानी, झूठे, कपटी कह न सकें फिर कपट-कहानी॥
आप वृथा भटकें नहीं सामुद्रिक की चाह में।
दिव्य दृष्टि मिल जायगी चलिए तो इस राह में॥१९॥

जब से हमने पाठ मौन भाषा का छोड़ा, रही मनुजता नहीं पड़ा है इसका तोड़ा।
किसी दीन को डाँट डपट कर पकड़ झँझोड़ा, पड़ा किसी पर बूट, किसी पर सटका कोड़ा॥
कष्ट किसी को क्यों न हो, हमें काम से काम है।
नहीं जानते सहृदयता किस चिड़िया का नाम है॥२०॥

ता, मा, तो नर सकल जगत के कर लेते हैं, इसकी शिक्षा पूर्ण सुकवि, बुधवर लेते हैं।
मति-पक्षी के लिए इसी से पर लेते हैं, ज्ञान-महोदधि इसी नाव से तर लेते हैं॥
पढ़िए प्रियवर आप भी मैं कैसा हूँ, कौन हूँ।
श्रीगणेश कर दीजिए मैं अब होता मौन हूँ॥२१॥

"सनेही"

विज्ञानाचार्य्य वसु का विज्ञान-मन्दिर।



गत दिसम्बर में कलकत्ते के विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र वसु ने अपना विज्ञान-मन्दिर खोल दिया। उद्घाटन के समय उन्होंने उपस्थित जनों को अपना वक्तव्य सुनाया। इस वक्तव्य में कुछ बातें ऐसी थीं जिन्हें सुन कर भारत की प्राचीन मुनि-मण्डली की शिक्षाप्रणाली का स्मरण हो आया। वसु महाशय के वक्तव्य का यह अंश भारतीयों ही की नहीं, विदेशियों की भी दृष्टि में, अपूर्व महत्त्व रखता है। जो विदेशी अपने ज्ञान के विक्रय को ही ज्ञानार्जन का एक मात्र उद्देश समझते हैं, जो अपने मस्तिष्क से निकले हुए खटमल मारने के यन्त्राविष्कार के भी दाम माँगते हैं, हमारी कला कोई और न सीख ले—इस डर से जो दूसरों को अपने कारख़ाने के फाटक के भीतर धँसने तक नहीं देते उनके गर्वोन्नत मस्तक को विज्ञानी वसु ने अचला-चुम्बन करा दिया।

उन्होंने कहा, मेरे इस विज्ञान-मन्दिर का द्वार

सबके लिए एक सा खुला रहेगा। इसमें बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, देशी-विदेशी सभी ज्ञान-पिपासुओं का प्रवेश हो सकेगा। इसका ख़याल न किया जायगा कि प्रवेशेच्छु एम० ए० है या नहीं, बी० ए० है या नहीं, डी० एस-सी० है या नहीं। छात्रों के सुभीते के लिए, ज्ञानदान के सिवा, यन्त्रादि अन्य साधन भी प्रस्तुत किये जायँगे। यहाँ ज्ञान की बिक्री न होगी; यहाँ देश, जाति, धर्म्म और लिङ्ग-विशेष का भेद-भाव न रक्खा जायगा; यहाँ ज्ञात ज्ञानांश का इजारा ले लेने की चेष्टा न की जायगी; यहाँ के आविष्कृत यन्त्रों की रजिस्टरी करा कर ज्ञानार्जन और संसार-सुख-साधन की मात्रा स्वार्थ-वश सङ्कुचित न की जायगी। क्या नालन्द और तक्षशिला के प्राचीन विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने की इच्छा रखने वालों के पथ में कोई रुकावट डाली जाती थी? क्या भारत ही के नहीं, चीन तक के विद्यार्थियों के लिए भी उनके द्वार उन्मुक्त न रहते थे? क्या इन विद्यालयों में जाने गये ज्ञानांश का कभी गोपन किया जाता था? क्या प्राचीन भारत के ज्ञानवृद्ध गुरुओं ने अपने ज्ञानालोक से सभी देशों को आलोकित नहीं किया? भारत ने कभी ज्ञान-दान द्वारा स्वार्थसाधन नहीं किया। मैं उन्हीं प्राचीन विज्ञानियों का वंशज हूँ। अतएव मैं भी उन्हीं का अनुसरण करूँगा। आओ देश-देशान्तर के ज्ञान-लिप्सुओ, यह विज्ञान-मन्दिर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक ज्ञानदान करेगा!

वसु-महाशय के ये लोकोत्तर उद्गार सुन कर अन्य देशों के स्वार्थसेवी अधिकांश विज्ञानविशारदों को उतना ही अचम्भा होगा, जितना अचम्भा उन्हें वसु के आविष्कारों का समाचार सुन कर हुआ था। जिस समय वसु ने अपने अद्भुत आविष्कारों की घोषणा की, पाश्चात्य देश के अभिमानी विज्ञानवेत्ताओं को उनकी बातों पर विश्वास ही न आया। जिस भारत में फ़ी सदी १० मनुष्य भी साक्षर नहीं—जिस भारत में विज्ञान-शिक्षा के दान का अभाव सा है—उसकी सच्ची बात पर वे लोग विश्वास कर कैसे सकते थे? उन्होंने कहा होगा, यह सब बकवाद है—निःसार विकत्थना है। क्या ये हमारे भौतिक-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, जीव-शास्त्र झूठे हैं? उनमें जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन है उन पर हरताल लगाने की चेष्टा करने वाला यह भारतवासी विक्षिप्त नहीं, तो साहसी अवश्य पहले नम्बर का है।

वसु ने कहा, अच्छा! दैवयोग से, ५ वर्ष हुए, मिस्टर मांटेगू ने वसु की गवेषणाशाला देखी। इसके बाद ही गवर्नमेंट की आज्ञा के रूप में उन्हें आवश्यक साधन प्राप्त हो गये। आपने इँग-लेंड, फ़्रांस, आस्ट्रिया, जापान और संयुक्त-राज्य (अमेरिका) आदि के लिए प्रस्थान किया। वहाँ आपने बड़े बड़े विज्ञानबाज़ों को अपना वक्तव्य सुनाया, अपने बनाये यन्त्र दिखाये और प्रयोगद्वारा अपने सिद्धान्तों की सचाई सब के गले उतार दी। उन्होंने अपने ही आविष्कृत यन्त्रों के द्वारा दिखाया कि पेड़-पौधे, जड़ी-बूटी आदि उद्भिज्ज भी सुख-दुःख का अनुभव उसी तरह करते हैं जिस तरह मनुष्य। वे परिश्रम से थक जाते हैं, विश्राम से तरोताज़ा हो जाते हैं, विष-पान से मूर्च्छित हो जाते हैं, काटने से पीड़ानुभव करते हैं, स्वस्थ होने पर फिर पूर्ववत् हो जाते हैं। ये बातें उन्होंने पौधों के ही मुख से कहाईं! यन्त्रों की सहायता से पौधों ने अपने सुख-दुःख की बातें काग़ज़ पर अपनी बोली में लिख दीं। उनके लेखों की उन टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों को पढ़ कर विज्ञानाचार्य्य वसु ने उनका रहस्य श्रोताओं को समझाया। इसके बाद यही बातें उन्होंने सोना, चाँदी आदि धातुओं के सम्बन्ध में भी कर दिखाईं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि जिन प्राकृतिक नियमों के पाबन्द सजीव पदार्थ हैं, निर्जीव भी उन्हीं के पाबन्द हैं। ईंट-पत्थर भी उन्हीं

नियमों से नियमित हैं। सब पर एक ही सत्य की सत्ता है। सभी उस सत्ता के सामने सिर झुकाये हुए हैं। जड़ और चेतन सभी में एक ही नियम अपना काम कर रहा है।

विज्ञानाचार्य्य ने जब इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—अथवा "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"—तब कहीं पश्चिमी देशों के विज्ञानियों की आँखें खुलीं। तब कहीं वे वसु की विद्वत्ता के क़ायल हुए। अन्त में उन्होंने वसु के सिद्धान्तों को सही और पश्चिमी विज्ञानविशारदों के सिद्धान्तों को भ्रमपूर्ण स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारत का सिर ऊँचा करके वसु महाशय स्वदेश को लौट आये। उनके आविष्कारों ने कितने ही विज्ञान-शास्त्रों की मिट्टी पलीद कर दी। अब, जब तक उनके अनेक सिद्धान्तों में फेरफार न होगा वे माननीय न होंगे। क्योंकि वसु के निर्णीत सत्य के सामने वे असत्य सिद्ध हो गये हैं।

वसु के इस दिग्विजय से पश्चिम के विज्ञानवेत्ताओं के हृदयों में जैसे भावों का उदय हुआ होगा वैसे ही भावों का उदय उस दिन उनकी पूर्वोक्त घोषणा सुन कर होगा। बिना रोक-टोक के सबको ज्ञान-दान की निःसङ्कोच उदारता दिखाना भारत में पुनर्वार सत्ययुग का आविर्भाव करना है।

विज्ञानाचार्य्य वसु ने आज तक जो ज्ञानार्जन किया है और प्रकृति के जो अद्भुत रहस्य उन्होंने जाने हैं वे एक मात्र अपने अध्ययन, अपने आकलन, अपने अध्यवसाय और अपने परिश्रम से जाने हैं। जो अद्भुत यन्त्र उन्होंने बनाये हैं वे भी ख़ुद ही बनाये हैं। उन्होंने शायद किसी से सहायता चाही भी नहीं। पर अब चाहते हैं। अपने लिए नहीं, संसार के लिए। इस विज्ञान-मन्दिर को अच्छा तरह चलाने के लिए बहुत धन दरकार है। बम्बई के कुछ दानियों ने लाख दो लाख दिया भी है। पर इतने से काम नहीं चल सकता। आशा है, वसु महाशय के ज्ञानौदार्य्य का अनुकरण धनी जन धनौदार्य्य द्वारा करके इस लोकोत्तर विज्ञानशाला का उत्कर्ष-साधन करेंगे। क्योंकि उनकी यह विज्ञानशाला उन्हीं के स्वार्थ-साधन के लिए नहीं; यह "भारत के गौरव और जगत के कल्याण"—के लिए "देवचरणों में" अर्पित की गई है। इस शाला की प्रतिष्ठा-सम्बन्धिनी ताम्रलिपि में वसु-महोदय ने अपने ही हाथ से बँगला में लिखा है—

भारतेर गौरव व जगतेर कल्याण-कामनाय एई विज्ञानमन्दिर देवचरणे निवेदन करिलाम।

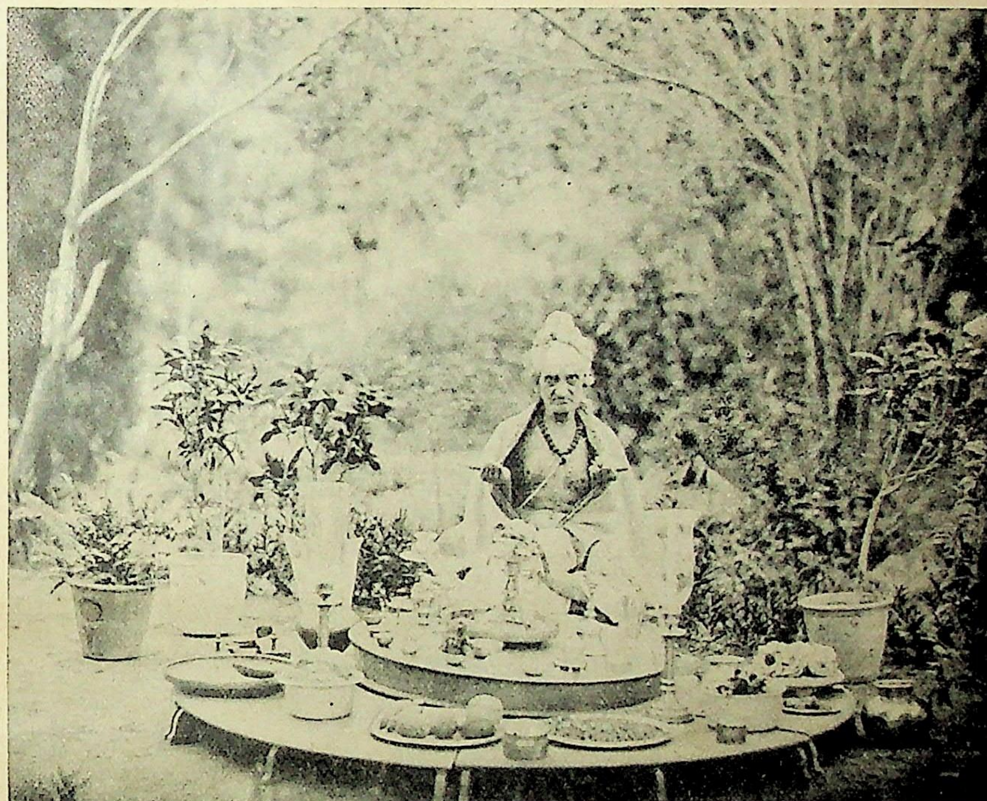
—

जेरुसलेम।



जेरुसलेम क्रिश्चियनों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। केवल क्रिश्चियन ही क्यों, यहूदी और मुसलमान भी उसे अपना पवित्र-स्थान मानते हैं। एशिया-महाद्वीप के पश्चिम में, अरब के उत्तर, पैलेस्टाइन (फ़िलिस्तीन) सूबे का यह प्रधान नगर है। गत दिसम्बर के प्रथम सप्ताह तक वह तुर्कों के अधीन था। पर अब उस पर अँगरेज़ी झण्डा फहरा रहा है। जनरल एलन्बी ने तुर्कों को परास्त करके उनसे उसे छीन लिया है। भारत, इँगलेंड, फ़्रांस और इटली, इन सब देशों की सेनाओं की सहायता से वह मित्र-राष्ट्रों के अधिकार में आया है।

जेरुसलेम तीन हज़ार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है। बाइबिल में उसके नाम का उल्लेख अनेकों जगह मिलता है। उसने कितने ही साम्राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। वह मिस्र, बाबुल और फ़ारिस के बादशाहों के भी अधिकार में रहा है। डेविड (दाऊद) और सालोमन ने भी वहाँ राज्य



ब्रह्मचारी श्रीसच्चिदानन्दजी महाराज।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

किया है। उन्होंने उसकी खूब उन्नति की—उसे खूब धन-वैभव-सम्पन्न किया। बहुत प्राचीन समय में, जेबूसाइट्स (Jebusites) नाम के लोग वहाँ रहते थे। इसराईल-वंशीय लोगों ने उन्हें जीत कर जेरुसलेम को अपनी राजधानी बनाया। धीरे धीरे वह एक नामी नगर हो गया। रोमन जज, पान्टियस पायलेट (Pontius Pilate) ने जेरुसलेम में ही ईसामसीह को राजद्रोह के अपराध में प्राणदण्ड की सज़ा दी। वहीं वह सूली पर चढ़ाया गया। इन्हीं कारणों से जेरुसलेम ईसाइयों का बड़ा पवित्र तीर्थ माना जाता है। इसराईल लोगों अर्थात् यहूदियों का तीर्थ तो दाऊद और सालोमन के समय से ही है।

ईसवी सन् के पूर्व, पहली सदी में, जेरुसलेम में रोमन लोगों का आधिपत्य हुआ। कई शताब्दियों तक वह रोम के अधिकार में रहा। उनके ज़माने में उसकी और भी उन्नति हुई। रोमन लोग पहले मूर्ति-पूजक थे। वे नये क्रिश्चियन धर्म्म के विरोधी थे। इसी कारण उन्होंने ईसामसीह का प्राणनाश किया। पीछे से यही लोग जब स्वयं क्रिश्चियन हो गये तब ईसा को अपना पैग़म्बर और जेरुसलेम को अपना तीर्थ मानने लगे।

रोमन लोगों के पश्चात्, ईसा की सातवीं सदी में, वहाँ अरबवालों का राज्य हुआ। ग्यारहवीं सदी में सेलजुक जाति के तुर्कों का आधिपत्य वहाँ हुआ। उनके समय में ईसाइयों को कष्ट मिलने लगा। उनकी तीर्थयात्रा में विघ्न-बाधायें पड़ने लगीं। तत्कालीन पोप (धर्म्माध्यक्ष) की आज्ञा से क्रिश्चियनों ने जेरुसलेम पर चढ़ाई की। लड़ाई छिड़ गई। क्रिश्चियनों की जीत हुई। यह युद्ध इतिहास में धर्म-युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

११८७ ईसवी में दूसरे धर्म्म-युद्ध का आरम्भ हुआ। उसमें जर्मनी, फ़्रांस और इँगलेंड भी सम्मिलित हुए। पर विजय-श्री ने अन्त में तुर्क सलादीन के ही गले में जयमाला पहनाई। अपने तीर्थस्थान पर मुसलमानों का अधिकार पोप को बहुत खलता था। क्रिश्चियन बादशाहों को भी यह असह्य था। इसी से यहाँ इतनी मार-काट हुई। पर जब से सलादीन ने इसे जीता तब से एक महीने पहले तक जेरुसलेम मुसलमानों के ही आधिपत्य में रहा।

इस समय जेरुसलेम की जन-संख्या कोई ६१,००० है। यहूदी, ईसाई और मुसलमानों की ही बस्ती वहाँ अधिक है। मकान पत्थर के हैं। गलियाँ तङ्ग हैं। शहर के आस पास का दृश्य सुहावना नहीं है। शहर में कितने ही यतीमख़ाने, गिरिजाघर और मठ हैं। शिक्षालय भी हैं। मुसलमानी इमारतें तेरहवीं सदी से पहले की नहीं पाई जातीं। हाँ सलादीन और ख़लीफ़ा उमर के मक़बरे तथा दाऊद की लाट अवश्य बहुत पुराने स्थान हैं।

तुर्कों के शासन-समय में यह पैलेसटाइन की राजधानी था। यहाँ की मजलिस अर्थात् नगर-सभा में ८ सभासद थे—४ मुसलमान, ३ ईसाई और १ यहूदी।

तेल, अनाज, कपास इत्यादि यहाँ से अन्य देशों को भेजे जाते हैं।

आसपास के मैदान की अपेक्षा यहाँ का जलवायु स्वास्थ्यकर है। कोई १८ इञ्च पानी यहाँ बरसता है।

जेरुसलेम शब्द का अर्थ तो है—शान्ति-सदन; पर पूर्वोक्त इतिहास पढ़ कर पाठक जान सकते हैं कि वह अशान्तिसूचक युद्धों और ख़ून-ख़राबियों की लीला-भूमि रहा है।

यहूदियों, मुसलमानों और क्रिश्चियन-धर्म्म के अनुयायियों के इस परम पवित्र तीर्थस्थान पर अँगरेज़ी अधिकार हो जाने से विलायत में बड़ी ख़ुशी मनाई गई है। ख़ुशी की बात ही है। जो काम आज तक बड़े बड़े वीरों और बादशाहों से नहीं हुआ वही जनरल एलनबी ने कर दिखाया है।

मधुमन्त।

———

सभ्य और असभ्य जातियों का सम्बन्ध।



इस समय चारों ओर से हिन्दू-जाति के ह्रास के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इसका क्या कारण है, यह जानने की चिन्ता हमें करनी चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि किन किन साधनों से, किन किन उपायों से, हिन्दू-जाति संसार में जीवित रह सकती है और अन्य उन्नतिशील जातियों से टक्करें ले सकती है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके कारण जानना अत्यन्त आवश्यक है। विलायत के प्रसिद्ध विद्वान् लार्ड ब्राइस का लिखा हुआ एक लेख अँगरेज़ी में है। उसका नाम है—"The Relations of the Advanced and the Back-ward Races of Mankind." इस सम्बन्ध में ब्राइस महोदय के इस लेख से बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है। अतएव उसके आधार पर संसार की सभ्य और असभ्य जातियों के सम्बन्ध आदि का दिग्दर्शन यहाँ किया जाता है।

कल्पना कीजिए कि किसी जाति का शारीरिक, मानसिक और साम्पत्तिक बल कम है। पर एक और जाति इन्हीं बातों में उससे बढ़ी चढ़ी है। ऐसी दो जातियों का जब परस्पर राजनैतिक अथवा सामाजिक संसर्ग होता है तब उसका यह परिणाम होता है—

(१) बलवान् जाति के सामने निर्बल जाति नहीं टिकती और नष्टप्राय होजाती है—या—

(२) निर्बल जाति सबल जाति में मिल जाती है। पर इससे सबल जाति के स्वरूप या स्थिति में कुछ अन्तर नहीं पड़ता—या—

(३) दोनों के सम्मिश्रण से एक तीसरी ही जाति बन जाती है—अथवा—

(४) संसर्ग के उपरान्त भी वे अपरिवर्तित रूप में जीवित रहती हैं। अब इन चारों पर क्रमशः अलग अलग विचार किया जाता है।

(१) पहला परिणाम बहुत घातक होता है। इससे कभी कभी तो निर्बल जाति का अस्तित्व ही मिट जाता है—उसका समूल नाश होजाता है। यदि नाश नहीं होता तो उसे नीच दशा में अपना जीवन बिताना पड़ता है। कभी कभी नये नये रोग उसे धर दबाते हैं। कभी कभी मद्यपान आदि दुर्व्यसन उसकी जड़ें खोखली कर देते हैं। कभी कभी अपने जीवन-निर्वाह के स्वाभाविक साधनों से उसे हाथ धोना पड़ता है। कभी कभी अपने जातीय रीति-रिवाज और स्वाभाविक रहन-सहन में उसे परिवर्तन करना पड़ता है, जिससे उसका नाम सदा के लिए भूमण्डल से मिट जाता है। कभी कभी उसे रोटियों के लिए तरस तरस कर अपने प्राण देने पड़ते हैं। भारतवर्ष की कितनी ही जातियाँ इस परिणाम-रूपी नियम का शिकार बन चुकी हैं। अमेरिका के मूल निवासी, टस्मानियाँ और आस्ट्रेलिया की अनेक जातियाँ, इस परिणामरूपी शेर के जबड़े में जा गिरी हैं। उत्तरी जापान की ऐनो जाति भी इसी कारण रसातल को जारही है।

(२) अब दूसरे अर्थात् सम्मिश्रण-परिणाम को लीजिए। इस दशा में मूल निवासी अर्ध-सभ्य और अल्पबल होते हैं। उन पर बलवान् और बहुसंख्यक मनुष्योंवाली जाति का दबाव पड़ते ही वे उसी में मिल से जाते हैं, वैसे ही जैसे कि समुद्र में नदियों के समूह मिल जाते हैं। इँगलेंड के प्राचीन निवासी, आयबेरियन, इसी नियम के अनुसार ब्रिटन लोगों में समाविष्ट हो गये। हिन्दुस्तान के जङ्गली आदिम निवासी भी इसी नियम के अन्तर्गत हिन्दू बने और बन रहे हैं। कितनी ही जगह ऐसे सम्मिश्रण का कारण रक्तमिश्रण नहीं; बल्कि अनुन्नत जाति पर उन्नत जाति की विशेषताओं का प्रभाव है। कभी कभी विदेशी विशेषताओं का अङ्गीकार न करने के कारण कोई कोई जाति नष्ट भी हो जाती है। अमेरिका के ताम्रवर्ण आदिम निवासी (Red Indians) इसी कारण नष्टप्राय हो गये हैं।

नाश और सम्मिश्रण, इन दो परिणामों के कारण आज तक संसार की कितनी ही जातियाँ और भाषायें लुप्त अथवा नामशेष होगई हैं। इस प्रभाव ने अब तो और भी भयङ्कर रूप धारण किया है। क्योंकि असभ्यता से सभ्यता कहीं बढ़कर निर्दय है, और आजकल दिनों दिन सभ्यता, अतएव निर्दयता, की वृद्धि हो रही है। हिरोडोटस

के ज़माने में सीरिया और लीबिया में कम से कम १०० भाषायें प्रचलित थीं; पर आज उनमें से सिर्फ़ ३० ही शेष हैं। जातियों का भी प्रायः यही हाल है। छोटी छोटी जातियाँ बड़ी बड़ी जातियों में समाती जा रही हैं। इस क्रम को देखने से यही अनुमान होता है कि अगली एक ही दो सदियों में दुनिया में बहुत करके चालीस ही मुख्य भाषायें और बीस ही महाजातियाँ शेष रह जायँगी।

(३) अब समान बलवाली जातियों का हाल सुनिए। ऐतिहासिक दृष्टि से समान बलवाली जातियों के सङ्घर्ष का ही महत्त्व विशेष है। लोगों का ध्यान भी इसी सङ्घर्षण की ओर विशेष आकृष्ट है। "बल" शब्द का तात्पर्य यहाँ बल-विशेष—अर्थात् शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक बल—से नहीं है; बल्कि बल का अर्थ यहाँ है—"जीवन-कलह में अन्य जातियों के सामने ठहरने की योग्यता"।

दो समान-बल जातियों के सङ्घर्ष से, फिर चाहे वे शान्तिप्रिय हों चाहे युद्धप्रिय, दो परिणाम होते हैं—(१) अन्तर्विवाह द्वारा दोनों का सम्मिश्रण होजाना अथवा (२) दोनों का पृथक् पृथक् जीवित रहना। दूसरी दशा में दोनों जातियाँ एक दूसरी को दबाने का यत्न करती हैं। संसार की सभी बड़ी बड़ी जातियाँ सम्मिश्रण का ही परिणाम हैं। अर्थात् दो समान-बल जातियों में परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार जारी होजाने के कारण उनकी एक जाति बन गई है। योरप ही इसका उज्ज्वल उदाहरण है। भारतवर्ष और पूर्वी एशिया में भी इसके दृष्टान्त पाये जाते हैं। जो योरप-निवासी पहले पहल अमेरिका में जाकर बसे थे वे भी इसी प्रकार कितनी ही जातियों के मेल से उत्पन्न हुए थे। अमेरिका में बस जाने के बाद भी उनमें आयरलेंड, जर्मनी और स्केन्डि-नेविया के निवासी तथा मध्य-योरप के स्लाव इत्यादि लोग मिलते रहे।

जातियों के इस सम्मिश्रण में विजय और उपनिवेशन (Colonization) प्रधान हैं। प्राचीन समय की प्रथा इससे भिन्न थी। उस प्रथा को एक प्रकार की दासता कह सकते हैं। उस समय युद्ध में पकड़े गये किंवा शत्रुओं के अथवा असभ्य देशों से लाये गये जङ्गली लोगों से ज़बरदस्ती काम लिया जाता था। बहुत पहले ज़माने में यूनान तथा रोम में यह प्रथा प्रचलित थी।

यद्यपि नितान्त शुद्ध जातियाँ बहुत कम बची हैं, तथापि कुछ जातियाँ ऐसी भी पाई जाती हैं जो पास की अन्य जातियों से मिलने के योग्य होकर भी उनमें मिश्रित नहीं हुईं। अर्थात् उनमें अन्तर्विवाह नहीं हुआ। इसका क्या कारण है? बात यह है कि अन्तर्विवाह के लिए यह आवश्यक नहीं कि दो जातियों की सभ्यता—बौद्धिक और मानसिक योग्यता—समान हो। भाषा का विषय भी इसमें बाधक नहीं। हाँ, स्थूल रीति से यदि रङ्ग और चेहरे की बनावट में अधिक साम्य हो तो अन्तर्विवाह प्रायः हो जाता है। अन्तर्विवाह में जेता जाति की शक्ति अधिक प्रकट हुआ करती है और उपनिवेशक जाति की चपलता और कार्य-शीलता। यही कारण है जो गोरों और कालों में अन्तर्विवाह प्रायः नहीं होता। इसके कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। हिन्दुस्तानियों और अँगरेज़ों का अन्तर्विवाह नहीं होता। ट्यूटन लोग भी रङ्ग के ही कारण अन्तर्विवाह से घृणा करते हैं। इसके विरुद्ध अमेरिका के मूल निवासियों के साथ अन्तर्विवाह करने में अँगरेज़, पोर्च्युगीज़, फ्रेञ्च और स्पेनि-यर्ड लोगों को घृणा नहीं होती। क्योंकि काले और गोरे रङ्ग में जितना भेद है, पीले और गोरे में उतना नहीं। सम्मिलित हो जाने के बाद तो घृणा का अभाव ही हो जाता है।

धर्म भी सम्मिश्रण किंवा अन्तर्विवाह में बाधक होता है; पर उतना नहीं जितना कि रङ्ग। धर्म बदला जा सकता है; पर रङ्ग नहीं। धर्म के कारण व्यक्ति-विषयक घृणा नहीं उत्पन्न होती। प्राचीन समय में धार्मिक असहिष्णुता उतनी न थी जितनी एकेश्वर-वादी धार्म्मिक सम्प्रदायों के उत्पन्न होने पर हो गई। अब तो एक धर्म का अनुयायी दूसरे धर्म को कुछ समझता ही नहीं। भिन्न भिन्न धर्मवाली कितनी हीं जातियों में अन्तर्विवाह हो गया है अर्थात् उनका सम्मिश्रण हो गया है। हाँ, उस दशा में स्त्री को अपना धर्म बदल कर पति का धर्म ग्रहण करना पड़ा है। स्त्रियाँ स्वभाव ही से पुरुषों की अपेक्षा कम शक्ति रखती हैं। इससे यह सिद्ध है कि धर्म का परिवर्तन कर देने पर अन्तर्विवाह हो सकता है; पर धर्म उसी को बदलना पड़ता है जो कमज़ोर है। मुसल्मानों, ईरान के अग्निपूजकों और ईसाइयों के उदाहरण इस सम्बन्ध में काफ़ी हैं। पूर्वी देशों में प्रायः

धर्म ही जाति और जाति ही धर्म माना जाता है। अतएव उनके लिए यह प्रश्न ज़रा अधिक उलझन पैदा करता है।

जहाँ रङ्ग में विशेष भिन्नता नहीं है और धर्म भी विशेष बाधक नहीं है वहाँ सम्मिश्रण होजाना स्वाभाविक है। ऐसे सम्मिश्रण से एक तीसरी जाति की सृष्टि होती है। यह उन दोनों से भिन्न जान पड़ती है। पर प्रश्न यह है कि किस जाति के गुण-धर्म तीसरी जाति में विशेष रूप से प्रकट होंगे? उत्तर स्पष्ट है। जो जाति शारीरिक और मानसिक बल में बढ़ी-चढ़ी है उसी के गुण-दोष नई जाति में विशेष रूप से व्यक्त होंगे। अर्थात् तीसरी जाति की रचना में जो तत्व विशेष सबल होंगे वही उसमें विशेष रूप से व्यक्त भी होंगे। शारीरिक और मानसिक बलाबल का अलग अलग विचार करने से यह अधिक स्पष्ट हो जायगा कि नई जाति पर किस जाति के गुण-दोषों का कितना प्रभाव पड़ता है। पर इसके विचार की यहाँ आवश्यकता नहीं। तथापि संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तीसरी जाति का शरीर-बल तो प्रायः दोनों जातियों के समान ही होगा; पर मनोबल उन्नत जाति के अनुसार होगा।

जिन दो जातियों की शरीर-रचना में समानता होती है उनके सम्मिश्रण का परिणाम प्रायः अच्छा होता है। जहाँ बहुत अधिक भेद होता है वहाँ परिणाम भी बहुत बुरा होता है। ऐसे सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई प्रजा अनुन्नत जाति से भी प्रायः हीन होती है।

राजनैतिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों से सम्मिश्रण का परिणाम अच्छा ही होता है। शासित और शासक जातियों में सम्मिश्रण हो जाना स्वाभाविक सा है।

४—अब चौथे परिणाम को लीजिए। इस दशा में शारीरिक और धार्म्मिक भेद अधिक रहता है। अतएव दोनों जातियाँ अलग अलग रहती हैं। वे आपस में मिलती नहीं—उनमें अन्तर्विवाह नहीं होता। इस सम्बन्ध में तीन बातें होती हैं। पहली दशा में उन्नत जाति अनुन्नत जाति पर युद्ध-द्वारा विजय प्राप्त करती है। परन्तु उस देश में, जहाँ वह जाति रहती है, अपनी जातिवालों को बसने नहीं देती। उसे जित देश मान कर वह दूर ही से उसका शासन करती है। यह प्रथा प्रायः उष्णता-प्रधान देशों में पाई जाती है। दूसरी दशा में अनुन्नत जाति, संख्याधिक्य के कारण, दूसरे उन्नत देशों में जा बसती है। पश्चिमी अफ़रीका और आस्ट्रेलिया में चीनी लोग, इसी कारण, जा बसे हैं। तीसरी दशा में उन्नत और अनुन्नत, दोनों जातियाँ, किसी दूसरे देश में बस जाती हैं। उत्तरी अमरीका के हबशी और गोरे इसके उदाहरण हैं। ये तीनों प्रकार उपद्रव के घर हैं। जिन दो जातियों में—मूल-निवासी और उपनिवेशक जातियों में—स्थिति, रीति-रवाज और जीवन-निर्वाह के साधनों में भेद है, अर्थात् जहाँ ये बातें एक दूसरे से भिन्न हैं, वहाँ प्रायः उपद्रव और झगड़े-फ़िसाद नहीं होते। स्पेन के अधिकृत अमेरिका के कुछ प्रान्त इसके उदाहरण हैं। परन्तु जहाँ की स्थिति इसके प्रतिकूल होती है वहाँ उपद्रव अवश्य होते हैं। इसका कारण है। मानसिक और बौद्धिक बल में बढ़ी हुई जाति अपने से नीची जातियों को घृणा की दृष्टि से देखती है। वह उनके साथ निन्द्य व्यवहार करने से भी नहीं चूकती। उपद्रव का मूल कारण यही होता है।

शासन-प्रबन्ध कैसा ही क्यों न हो, ये उपद्रव हुए बिना नहीं रहते। जो अधिकार एक जाति को दिये गये हों वही यदि दूसरी को न दिये जायँ तो, बहुत सम्भव है, पहली जाति अपने अधिकारों का दुरुपयोग करे और इस तरह अनुन्नत जाति को हानि पहुँचावे। अर्थात् उन्हें शासन-कार्य्य में शरीक न होने दे, अन्य राजनैतिक कठिनाइयाँ उस पर लाद दे, अधिक कर लगा कर उसे तङ्ग करे अथवा कर से प्राप्त आमदनी से उसे पूरा फ़ायदा न उठाने दे। अच्छा, यदि दोनों को समान मताधिकार दिये जायँ तो दोनों दलों के लोग अपना अपना सङ्गठन अलग अलग करेंगे। इसका परिणाम अच्छा न होगा। राजनैतिक जीवन में सदा ही तूफ़ान उठा करेंगे। या यों कहिए कि एक राष्ट्र की जगह दो राष्ट्र बन जायँगे। प्रजा-सत्ताक राज्य-प्रबन्ध में तो इन उपद्रवों का परिमाण और भी बढ़ जायगा। इस दशा में दो ही उपाय हो सकते हैं; पर वे भी निरापद नहीं। वे उपाय ये हैं—(१) या तो अनुन्नत जाति को शासन का अधिकार देना या (२) उन्नत जाति को। यदि अनुन्नत जाति को अधिकार न दिये जायँ तो सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर पड़ता है। क्योंकि मनुष्य के नाते उन्हें जो अधिकार मिलने चाहिए वे नहीं दिये जाते। विपक्ष में यदि अनुन्नत जातियों को अधिकार मिल जायँ तो भी बुराइयाँ दूर नहीं होतीं। तब

तो कितने ही नैतिक दुर्गुणों की बाढ़ सी आ जायगी, जिससे पारस्परिक सङ्घर्षण और भी अधिक बढ़ जायगा। उस दशा में दोनों जातियों का स्वभाव सशङ्क अतएव दुराग्रही हो जायगा।

तथापि निराश होने की आवश्यकता नहीं। इन उपद्रवों—इन बुराइयों—से बचने का उपाय भी हो सकता है। वह यह कि गौरवर्णेतर जातियों के देशों में किसी विशेष वर्ण को—उदाहरणार्थ योरप के गौराङ्गों को—न बसना चाहिए अथवा उन देशों को अपने देशों में न मिलाना चाहिए। परन्तु अब ऐसा होना असम्भव-प्राय है। क्योंकि यह सम्भव नहीं कि रूसी पश्चिमी तुर्किस्तान को छोड़ दें। अब तो ऐसा करने से उपद्रव के घटने के बदले बढ़ने ही की अधिक सम्भावना है।

इस दशा में एक ही बात हो सकती है। वह यह कि उन्नत देशों में अनुन्नत लोग न बसने पावें; इस विषय पर अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दृष्टियों से विचार करना चाहिए। अनुन्नत लोग भी आख़िर मनुष्य ही हैं। पृथ्वी पर बसने और स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने का अधिकार उन्हें भी है। तब फिर उनकी गति रोकने की चेष्टा क्यों की जाय? ऐसा नियम बनाना मनुष्य-जाति के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण करना है। अतएव नियमन-सम्बन्धिनी सभी बातें प्रकृति के अधीन छोड़ देनी चाहिए। मनुष्यों के बनाये नियम प्रायः भ्रमपूर्ण और सदोष होते हैं। अब दूसरी, अर्थात् प्रतिकूल, दृष्टि से विचार कीजिए। जिन देशों ने ऐसे अवरोधक नियम बनाये हैं उनकी शिकायत है कि अनुन्नत जाति के लोग उतने फुरतीले और परिश्रमी नहीं होते जितने गोरे होते हैं। वे निर्दिष्ट समय में अपना काम पूरा नहीं करते और थोड़ी मज़दूरी पर काम करने को राज़ी हो जाते हैं। इससे मज़दूरी की दर घटती है। इसके सिवा प्रजा-सत्ताक देशों में इन लोगों के कारण कितनी ही बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। इन दलीलों को देखते जी यही चाहता है कि इस प्रकार का प्रतिबन्ध हो जाय सो ही अच्छा। पर बेहतर तो यह होगा कि परिस्थिति के अनुसार दोनों जातियों की लाभ-हानि पर ध्यान देकर जो उपाय उचित जान पड़े वही किया जाय।

ऊपर कहा जा चुका है कि रङ्ग और शरीर की बनावट में भिन्नता रखनेवाली जातियों का सम्मेलन हानिकर है। पर जिन ऐसी जातियों का सम्मिश्रण पहले ही हो चुका है और इस कारण उनमें जो बुराइयां आ गई हैं वे निवारण की जा सकती हैं या नहीं? और, यदि, उन जातियों का सम्मिश्रण—अन्तर्विवाह—हो जाय तो इससे कुछ लाभ होगा या नहीं? ये दो प्रश्न यहाँ पर उपस्थित होते हैं। इनका उत्तर देना आसान नहीं। उन्नत और अनुन्नत जातियों के संसर्ग से उत्पन्न हुई प्रजा अधिकांश में अनुन्नत ही होती है। दूसरे, वे जातियाँ भी तो ऐसा सम्मिश्रण पसन्द नहीं करतीं। अमेरिका की गौरवर्णेतर जातियों के बुद्धिमान लोग नहीं चाहते कि गोरों से उनका सम्मिश्रण हो जाय। वे अपने ही प्रयत्न से—स्वतन्त्रतापूर्वक—अपनी उन्नति करना चाहते हैं। हिन्दुस्तान के भी कितने ही निवासी बुद्धि में योरपवालों से कम नहीं। उन्हें अपनी प्राचीन उन्नत दशा का अभिमान है। अतएव उन्हें अनुन्नत कहना ठीक नहीं। तिस पर भी वे नहीं चाहते कि योरोप-निवासियों से उनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाय। अतएव बुराइयों का दूर होना ज़रा कठिन है। हाँ, वे कम अवश्य की जा सकती हैं। इसके लिए हमें क़ानून का आश्रय लेना होगा। क़ानून की रू से अनुन्नत जातियों को भी सब अधिकार मिलने चाहिए। उनके जान-माल की पूरी रक्षा होनी चाहिए। उन्हें कोई भी धन्धा या रोज़गार करने की मुमानियत न होनी चाहिए। उन्नत जाति के सदृश ही उनके लिए अदालतें खुली रहनी चाहिए। रोमन लोगों ने अपने राज्य में नागरिकों को उनके अधिकार देते समय इसी नीति का अवलम्बन किया था। "अन्तर्देशीय युद्ध" के पश्चात् अमेरिका-निवासियों ने इसी नीति का आश्रय लेकर हबशी गुलामों को स्वतन्त्र किया था। इस नीति से दो लाभ हैं। एक तो हीन जाति पर उच्च जाति का आदर प्रकट होता है। दूसरे व्यक्ति-विषयक जीवन के सब अधिकार उन्हें मिल जाने से उन पर अन्याय नहीं होता। अतएव वह बहुधा शान्त और सुखी रहती है।

अच्छा, अब राजनीति की दृष्टि से इस प्रश्न को हल कीजिए। राजनीति में एकता और शान्ति की बड़ी महिमा है। ये बातें समान अधिकार देने ही से हो सकती हैं। पर समान अधिकार देने से भी कुछ बुराइयाँ पैदा होती हैं। इसी से यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं; हाँ, कम अवश्य हो सकती हैं।

यदि कोई कहे कि क्या धर्म की एकता होने पर ये बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं ? देखिए, ईसाई मनुष्य-मात्र को भ्रातृ-भाव से देखते हैं। इस पर मेरा निवेदन है कि सभी ईसाइयों के काम भ्रातृ-भाव के सूचक नहीं। इन भावों की पूर्णता तो मुसलमानों में अधिक देख पड़ती है। अतएव धर्म भी इसे दूर करने में समर्थ नहीं।

अच्छा तो जिन जातियों का सम्मिश्रण नहीं हो सकता उनके विषय में शासकों की नीति और इति-कर्त्तव्यता क्या होनी चाहिए ? यहाँ नीति और कर्त्तव्य का अर्थ एक ही है। क्योंकि शासन में इसी बात पर प्रधानतः विचार किया जाता है कि उन जातियों का जीवन किस प्रकार सुख-शान्ति-पूर्वक व्यतीत हो सकता है *।

शासन-विषयक अधिकारों में जाति-विशेष का पक्षपात न किया जाना चाहिए। योग्यता-अयोग्यता की हद नियत कर देनी चाहिए, जिससे योग्य पुरुष—फिर चाहे वे जिस जाति के हों—मताधिकार पा सकें। देश में शान्ति रखने का इससे अच्छा उपाय और नहीं है।

समाज में अनुन्नत जाति के साथ मैत्रीभाव और सद्-व्यवहार होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उन्नत जाति यह समझे कि अनुन्नत को उन्नत किये बिना देश में शान्ति नहीं स्थापित हो सकती। इसी प्रकार उन्नत जाति को यह भी चाहिए कि वह अनुन्नत को घृणा की दृष्टि से न देखे। उसके साथ भले आदमियों का सा व्यवहार करे।

जातियों की भिन्नता अब अन्तर्मिलन अथवा सम्मिश्रण के कारण दूर हो रही है। दिन पर दिन जातियों का सम्मिश्रण अधिकाधिक होता जा रहा है। हीन जातियाँ ज्ञान, बुद्धि और कला-विज्ञान में आगे बढ़ रही हैं। अतएव हीनों और अहीनों में मित्रता बढ़ने की पूरी सम्भावना है। पर आर्थिक कलह बाधायें उत्पन्न कर रहा है। इस कारण झगड़े-फिसाद बढ़ते जाते हैं। यह बात अच्छी नहीं। इसका सुधार होना चाहिए।

गोपाल दामोदर तामसकर, एम० ए०

* न्यूज़ीलेंड में यह प्रश्न हल सा हो गया है। न्यूज़ीलेंड के मूलनिवासी "मेओरी" कहाते हैं। उन्हें शासन के सब अधिकार मिल चुके हैं। गोरों को उनसे मित्रवत् व्यवहार करना पड़ता है। इसका परिणाम भी वहाँ अच्छा हुआ है।

सती-स्वप्न।

(१)

अति मनोरम मोदमय मधु मास था;
अवनितल आनन्द का आवास था।
कोकिलों की काकली के मिस मही
कीर्ति श्रीऋतुराज की थी गा रही॥

(२)

रंग रँग के फूल सुन्दर फूल कर,
रङ्ग थे अपना जमाते चित्त पर।
खिलखिलाते थे मुदित हो वे जहाँ,
फूल थे, सच जानिए, झड़ते वहाँ॥

(३)

अङ्क में ले डालियाँ फूलों-लदीं,
मौज कुञ्जों में उड़ाती थी नदी।
उँगलियों पर भृङ्ग के दल को नचा,
कोकनद से राग—रँग को था रचा॥

(४)

वायु की तरुवृन्द के प्रति भावना
देख कर उठती यही थी कल्पना—
सब बलायें टालने के अर्थ ही
वायु है उनकी बलायें ले रही॥

(५)

मन सभी का थे सरोवर मोहते;
नेत्र-सम उनमें कमल थे सोहते।
वायु-स्वागत-अर्थ मानो चाव से,
सर बिछाते आँख थे सद्भाव से॥

(६)

या भ्रमर की गुनगुनाहट कान कर,
या प्रकृति के देखने को आँख भर।
खुल गई थीं आँख उनकी कअई,
मन लुभाती थी छटा जिनकी नई॥

(७)

फूल के दल पर विहग थे फूलते,
कुञ्ज में थे कूजते या झूलते।

मानसों का जी चुराने में कभी
जी चुराते थे न वे तिल मात्र भी ॥

(८)

देख करके काल ऐसा मोदमय,
वायु-सेवन के लिए सन्ध्या-समय ।
एक दिन आनन्द से अति फूल कर,
मैं गया था भानुजा के कूल पर ॥

(९)

रवि-करों में खेलती थी रवि-सुता,
भूरि थी वह सुभगता से संयुता।
देखते ही देखते कुछ देर में
आ गया रवि काल-क्रम के फेर में ॥

(१०)

भानु का यों आँख सहसा मूँदना
और कलकल कर सुता का कलपना ।
देख कर, खगवृन्द भी दुख में पगे
रवि-सुता का साथ सब देने लगे ॥

(११)

सिन्धु में वड़वाग्नि हो ज्यों लग गई,
लालिमा आकाश में त्यों जग गई ।
देख करके काल की माना ठगी,
आग तलवों से गगन के थी लगी ॥

(१२)

चुटकियों में मिट गई वह लालिमा
और रँग लाने लगी फिर कालिमा ।
यह अनोखा दृश्य इन्द्रजाल का
था दिखाता रँग पलटना काल का ॥

(१३)

एक दम घर घर तिमिर ने घर किया;
आँख का तो नाक में दम कर दिया ।
भूमि पर अन्धेर ये तम-पुञ्ज के
देख तारक-गण न पल भर भी सके ॥

(१४)

इसलिए उपकार के रँग में रँगे
लोक में आलोक वे भरने लगे ।

सज्जनों को दूसरों की आपदा
निज हृदय में है बहुत खलती सदा ॥

(१५)

चन्द्रमा की चाँदनी फिर खिल गई;
ज्योति तारों की उसी में मिल गई ।
काँच टिकता रत्न के आगे नहीं;
अग्नि को है दीप पा सकता कहीं ?

(१६)

चाँदनी में दृष्टि मेरी उस घड़ी
एक कोमल फूल पर सहसा पड़ी ।
कण्टकों को फूल के सँग देख कर
कह उठा मैं एक ठण्ढी साँस भर—

(१७)

"फूल के भी साथ हैं काँटे लगे;
साधु जन भी हैं अहो ! दुख में पगे ।
दुःख-मग्ना हैं अनेकों नारियाँ,
फूल-सी सतियाँ, बड़ी सुकुमारियाँ ॥"

(१८)

मग्न मैं ऐसा हुआ इस ध्यान में;
फिर न आया और कुछ भी ज्ञान में।
नींद मुझको गोद में लेने लगी;
वायु मुझ को लोरियाँ देने लगी ॥

(१९)

फिर अचानक नेत्र मेरे मिच गये;
दृश्य नाना दृष्टि में आये नये ।
अब न थीं ऋतुराज की वे सृष्टियाँ;
अब विहग करते न थे अटखेलियाँ ॥

(२०)

भानुजा की धार थी बहती जहाँ
कर रही थी वास मृगतृष्णा वहाँ ।
अति मनोहर पद्म थे फूले जहाँ
चिह्न पैरों के बने थे अब वहाँ ॥

(२१)

दूर तक मैदान था ख़ाली जहाँ
सैनिकों के दल उमड़ आये वहाँ ।

भूमितल रण-खेत सा जँचने लगा;
घोर कोलाहल वहाँ मचने लगा॥

(२२)

खड़खड़ाहट अस्त्र-शस्त्रों की बड़ी
अति विकट टङ्कार के सँग सुन पड़ी।
झुण्ड सत्वर रुण्ड-मुण्डों के लगे,
हस्त सब ने रक्त में झटपट रँगे।

(२३)

कह उठा मैं हाथ कानों पर धरे,—
"यह समर है ठन गया कैसा हरे!"
दृश्य फिर तत्काल ही देखा नया,
भेद जिससे युद्ध का सब खुल गया॥

(२४)

प्रिय स्वजन से एक महिला को छुड़ा,
एक पामर दुष्ट रण से ले उड़ा।
फिर सभी उस ओर भौं तिरछी किये,
तीव्र आँधी के सदृश झट चल दिये॥

(२५)

उस सती को दुःख में यों देख कर,
पीस करके दाँत मैं लपका उधर।
पर न जाने चल दिये वे सब किधर;
रह गया मैं हाथ मलता ही इधर॥

(२६)

हो गया वह ठौर फिर सुनसान जब,
सुन पड़ा कुछ दुख-भरा सा नाद तब।
दृष्टि की मैंने उधर जो उस घड़ी,
सुन्दरी थी एक सम्मुख ही खड़ी॥

(२७)

आप ही अपने सदृश थी वह सती;
कान थी कामाङ्गना के काटती।
दिव्य थी वह मूर्त्ति अति निखरी हुई;
किन्तु उस पर थीं लटें बिखरी हुई॥

(२८)

अश्रु-बूँदें आँख से ऐसी झरें,
मेघ जिनके सामने पानी भरें।
देख कर यह वेग उसके दुःख का,
ताब कहने की न मैं कुछ ला सका॥

(२९)

तब स्वयं वह निज कथा यों कह चली—
"रत्न-गर्भा भूमि की हूँ मैं लली।
मैं रही, आजन्म पापड़ बेलती,—
दुख सदा सतियाँ रही हैं झेलती॥

(३०)

साथ मैंने नाथ का छोड़ा नहीं;
मन तनिक वन-वास से मोड़ा नहीं।
लङ्कपति ने दे मुझे दम हर लिया;
दम न वन में भी मुझे लेने दिया॥

(३१)

दाँत मुझ पर उस पतित का देख कर,
प्रेम से खेला जटायू जान पर।
और उसने न्याय-रक्षा के लिए,
दैत्य-पति के दाँत खट्टे कर दिये॥

(३२)

पर सबल रिपु से न बस उसका चला,—
थम सकी आँधी किसी से है भला?
फिर मुझे लङ्केश ले करके उड़ा,
और मन में फूल कर घर को मुड़ा॥

(३३)

दुष्ट मुझ पर डाल कर डोरें थका,
वन अशोक न शोक मेरा हर सका।
व्यर्थ ही उस दुष्ट ने बाँधी हवा,
'रोग बढ़ता ही गया ज्यों की दवा'॥

(३४)

उस बला से पिण्ड यद्यपि छुट गया;
दुःख आये दिन पुनः आया नया।
देख मुझको सन्त तो सुख में पगे,
दुष्ट जल कर आग सुलगाने लगे॥

(३५)

आँच में मुझको तपाया सार-सा,
खूब सोने को कसौटी पर कसा।

आँच से भी पर न मेरा तनु जला;
साँच को कब आँच आती है भला ?

(३६)

नाथ से क्या क्या न जनता ने जड़ा;
फिर मुझे वन-वास से पाला पड़ा ।
आदि कवि की पर दया मुझ पर रही,—
साथ देते हैं अड़ी पर सन्त ही ॥

(३७)

इन दुखों से भग्न पृथिवी हो गई;
और मैं उस में सदा को सो गई ।
घोर दुःखों से सदा दो चार हो,
कौन जीवन है बिता सकता कहो ?"

(३८)

उस सती ने निज कथा जब यों कही,
दुःख की मेरे न कुछ सीमा रही ।
मग्न था इस दुःख में ही मैं अभी,
आ गई फिर एक महिला और भी ॥

(३९)

मैं यही समझा उसे अवलोक कर,
सुन्दरी है स्वर्ग से आई उतर ।
आँख ठहरे थी न उसके रूप पर,
मुँह छिपाता चन्द था मुख देख कर ॥

(४०)

खोलती थी वह सती मुखकञ्ज जब,
कर दिखाती थी कली का फूल तब ।
नेत्र मन का भाव थे जतला रहे;
पुतलियों का नाच थे दिखला रहे ॥

(४१)

मौन हो कुछ काल वह लज्जित रही,
और फिर यों निज व्यथा उसने कही—
"प्राणप्यारे पाँच मेरे नाथ थे;
धर्म का देते सदा वे साथ थे ॥

(४२)

द्वेष हम से साध कर कौरव घुले;
वे हमारा नाश करने पर तुले ।
इस लिए मम ज्येष्ठ प्रभु के सङ्ग में,
रम गये वे सब जुए के रङ्ग में ॥

(४३)

कौरवों की चाल से अनभिज्ञ हो,
खेल समझे नाथ चौसर को अहो !
हाय ! वह कितना बड़ा अन्धेर था !
या समय का, या समझ का, फेर था ॥

(४४)

दाँव था लगता शकुनि का जब कभी,
थे उसी के हाथ पौ-बारह तभी ।
आँख में वह धूल था बस झोंकता,
चाल चल कर नाथ को था जीतता ॥

(४५)

माल अथवा राज्य सारा हार कर,
हार कर फिर नाथ खेले जान पर ।
भाग्य में एवं जुए में था बदा,
दास होना और सहना आपदा ॥

(४६)

कौरवों के हाथ में जब हम फँसे,
लख हमारी दीनता वे सब हँसे ।
क्या सुनोगे जो हुआ फिर उस समय ?
लो सुनाती हूँ कड़ा करलो हृदय ॥

(४७)

हाय ! मुझ को खीँ—कहा जाता नहीं—
खीँच लाया दुष्ट दुःशासन वहीं ।
और फिर सारी सभा के सामने
वह लगा बस चीर मेरा थामने ॥

(४८)

दुष्ट अतिशय यत्न कर कर के थका,
पर न अपमानित मुझे वह कर सका"—
फिर किसी ने बात उस की काट कर,
यों कहा मुझसे, "तनिक देखो इधर" ॥

(४९)

फिर उधर से एक बोली श्रीमती,
आवृता अलिवृन्द से थी वह सती ।

"सुन्दरी मैं हूँ वही जिस के लिए,
सुख अलाउद्दीन ने थे तज दिये ॥

(२०)

जब मुकुर में देख मेरा मुँह लिया,
तभी उसने मुँह-दिखाई दिल दिया।
नाथ को अन्याय से उसने छला;
टल गई मम चातुरी से वह बला ॥

(२१)

हाथ धो कर दुष्ट फिर पीछे पड़ा,
और चट चित्तौर गढ़ पर आ अड़ा।
आँच ने यह गात फिर मेरा छुआ;
कुछ नहीं मुझ को पता फिर क्या हुआ" ॥

(२२)

सुन वचन ये शोक-नद में मैं बहा,
एक रमणी-रत्न ने फिर यों कहा।
"भूरि थी मम राज्य में सुख-सम्पदा,
जान देती थी प्रजा मुझ पर सदा ॥

(२३)

मैं तनिक उँगली उठाती यदि कभी,
दल बुँदेलों के उमड़ते थे तभी।
कुछ न कानों कान थी मुझ को ख़बर;
आँख अकबर ने उठाई जब इधर ॥

(२४)

टूट आसफ़-ख़ाँ तुरत मुझ पर पड़ा,
हो गया फिर युद्ध का झण्डा खड़ा।
काम जब आये हमारे वीर वर,
आ बनी तब हाय ! मेरी जान पर" ॥

(२५)

फिर दिखा कर चिह्न अपने वक्ष पर,
यों कहा, "बरछी यहाँ पर भोंक कर।
और प्रभु की याद में निज मन दिये,
मैं मरी कुल-लाज रखने के लिए" ॥

(२६)

बात फिर यों एक रमणी ने कही—
"प्रेम को भय मृत्यु का होता नहीं।
चूस मैंने घाव से विष को लिया,
बच गये पति, प्राण मैंने तज दिया" ॥

(२७)

अन्त में राजीमती ने यों कहा,
भाल था तप से चमक उसका रहा—
"मैं रही आजन्म क्वारी ही बनी,
कुछ चखी मैंने न सुख की चाशनी ॥

(२८)

जब तपस्या के लिए सब त्याग कर,
मनहरण मेरे गये गिरनार पर।
बस न कुछ उनसे अहो ! मेरा चला,
गात मैंने भी दिया तप में जला ॥"

(२९)

स्वप्न में ही रात वह सारी कटी,
खुल गये युग नेत्र फिर, जब पौ फटी।
दृश्य यह मुझ को न भूलेगा कभी,
देख पड़ता है मुझे वह आज भी ॥

मोतीलाल, बी॰ ए॰, सी॰ टी॰

अमेरिका और योरुप में एक जापानी यात्री।



लगभग साठ वर्ष का समय हुआ, अमेरिका के प्रधान मिस्टर मिलर्ड फिलमोर (Millard Fillmore) ने जापान-सरकार से व्यापार-सम्बन्धी कुछ स्वत्व प्राप्त किये। विक्रम-संवत् १९०९ से पहले जापानी लोग परदेशियों को अपने देश में न आने देते थे। योरुप की भिन्न भिन्न जातियों ने जापानी लोगों से व्योपार करने का बहुधा प्रयत्न किया था और कभी कभी उन्हें कुछ थोड़ी बहुत सफलता भी हुई थी, किन्तु कुछ ईसाई लोगों ने जापान में उपद्रव किया। इस कारण जापानियों ने सब परदेसियों को जापान से निकाल दिया। जापानी-सरकार की आज्ञा नीचे लिखे हुए शब्दों में दी गई थी—

"जब तक सूर्य्य भगवान् पृथिवी पर गरमी पहुँचाते हैं तब तक कोई ईसाई जापान में आने का उद्योग न करे। सब को सूचना दी जाती है कि यदि स्पेन देश का सम्राट् अथवा ईसाइयों का पोप (Pope) या उनका सब से बड़ा परमात्मा भी इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा तो उसको भी प्राणदण्ड, पुरस्कार में, दिया जायगा"।

जापान से व्यापार करने के लिए अमेरिका बहुत उत्सुक था। जब जापान-सरकार ने अमेरिका की न मानी तब अमेरिका के प्रधान ने वि० सं० १९०९ में कोमोडर पैरी (Perry) को जङ्गी जहाज़ों के एक बेड़े के साथ जापान भेजा। उस समय जापान दुर्बल था—शक्ति-हीन था। जङ्गी बेड़े का मुक़ाबला वह नहीं कर सकता था। इसलिए अमेरिका के व्यापारियों के लिए जापान की मण्डियाँ तुरन्त खुल गईं और थोड़े ही समय के पश्चात् योरुप की जातियों ने भी वैसे ही स्वत्व प्राप्त कर लिये। जापानी लोग विदेशियों को सदा से सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इसकी कुछ भी परवा न करके, जापानियों की इच्छा के विरुद्ध, विदेशी लोग, केवल अपने बाहु-बल से, जापान में आये। जापानियों पर उनके जङ्गी जहाज़ों का बहुत प्रभाव पड़ा और भविष्यत् में स्वदेश की रक्षा के निमित्त वैसे ही जहाज़ बनाने का पूर्ण निश्चय उन्होंने कर लिया।

विदेशी व्यापारियों से मिलने पर उन्हें मालूम होगया था कि वे योरुप और अमेरिका के निवासियों से विद्या तथा कला-कौशल में कितने पीछे हैं। विदेशियों की सङ्घ-शक्ति और सङ्गठन को देख कर वे विस्मित हुए। जापानियों में यह गुण स्वाभाविक है कि जब वे किसी श्रेष्ठ कला, विद्या या व्यापार को कहीं अन्यत्र देखते हैं तब झट उसे सीख लेते हैं और उसका प्रयोग अपने सिखानेवालों से भी अच्छा करते हैं। जापानियों ने आज तक संसार को कोई नई विद्या नहीं सिखाई। वे सदा दूसरों से सीखते आये हैं। फ़िलासफ़ी अर्थात् दर्शन-शास्त्र में उन्होंने कोई नये विचार संसार को नहीं दिये। धर्म के विषय में किसी नई सत्यता का अनुभव नहीं किया। साहित्य, कविता, नाटक आदि में भी विशेष रचनाओं का प्रादुर्भाव नहीं किया। प्रकृति के नियमों के विषय में उन्होंने कोई नई खोज नहीं की। उनका स्वभाव उत्पादक (Creative) नहीं, किन्तु ग्राहक (Receptive) है। बौद्ध सभ्यता की चर्चा जब संसार में थी तब जापानी बौद्ध हो गये। अब पश्चिमीय सभ्यता का सूर्य्य अपने प्रचण्ड प्रताप से चमक रहा है, तो जापानी इस कहावत पर अमल कर रहे हैं—Ring out the old, ring in the new. किन्तु उनमें एक बात प्रशंसनीय यह है कि जो कुछ भी वे दूसरों से सीखते हैं उसका ऐसा अच्छा उपयोग करते हैं कि सिखानेवालों को भी विस्मय होता है। इस स्वभाव में जापानी लोग अँगरेज़ों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इँगलेंड का राज्य संसार के एक बहुत बड़े विभाग पर है। संसार की सभी जातियों के बेड़े से इँगलेंड का जङ्गी बेड़ा श्रेष्ठ है। इसी लिए इँगलेंड का समुद्र पर पूर्ण अधिकार है। किन्तु आज तक जहाज़ बनाने तथा नये नये प्रकार के हथियार तैयार करने, टारपीडो तथा सबमैरीन निर्माण करने आदि में जितने अनुसन्धान तथा आविष्कार हुए हैं उनमें से इँगलेंड ने एक भी नहीं किया। जब दूसरी जातियाँ खोज करतीं और नई नई बातें निकालतीं तब इँगलेंड चुपचाप देखता रहता। जब वे तजरबे ठीक उतरते तब इँगलेंड झट उनका प्रयोग कर लेता और उन प्रथम अनुसन्धान करनेवालों से श्रेष्ठतर प्रयोग करता।

पैरी (Perry) के जङ्गी जहाज़ों के आगमन का जापान पर बहुत असर पड़ा। शीघ्र ही उन्हें बनाने की विधि सीखने के लिए जापानी विदेश जाने लगे। विदेश-यात्रा के लिए हर युवक व्याकुल होने लगा। अपनी हीन दशा के सुधार तथा जातीय सम्मान की रक्षा के लिए पुरुषार्थी, पराक्रमी, साहसी जापानी युवकों का महानद योरुप और अमेरिका की ओर उमड़ा हुआ चला आया। जैसे हिमालय की कन्दराओं में योगी लोग आत्म-साक्षात्कार की प्रतीक्षा करते हैं, जैसे वृद्धा माता चिरकाल से विदेश गये हुए पुत्र के लौटने के लिए रात-दिन प्रार्थना करती है, वैसे ही अमेरिका तथा योरुप की यात्रा करने के लिए जापानी युवक उत्सुक होते थे कि कब मौक़ा मिले और कब उनकी अभिलाषा पूरी हो।

इसी प्रकार के एक युवक का नाम योशिओ मारकीनो था। वह जापान की क्षत्रिय-जाति सेमुराई में पैदा हुआ था। उसका वंश गेंगीनोस के नाम से प्रसिद्ध था। सेमुराइयों में

इस वंश का बहुत मान था। वह बहुत प्राचीन वंश था। उसके पूर्व-पुरुष जापान के प्राचीन सम्राट् सैवस (Seiwas) की सन्तान माने जाते हैं।

योशियो मारकीनो एक गाँव में पैदा हुआ था। वह गाँव एक पहाड़ी के दामन में बसा हुआ था। चारों तरफ़ हरी हरी घास से लदी हुई घाटियाँ बहुत ही रमणीक थीं। पत्थरों पर कोलाहल करते हुए छोटे छोटे नाले, और पहाड़ी के शिखर से गिरता हुआ एक झरना, इन घाटियों के सौन्दर्य्य को चौगुना कर रहा था। बचपन में ऐसे रमणीक स्थानों का दृश्य स्मृतिपट पर जो चित्र खींच देता है, संसार की घोर तथा दारुण घटनाओं से भी वह नहीं मिटता।

जब मारकीनो बड़ा हुआ तब विदेश-यात्रा करने के लिए वह व्याकुल हो उठा। एक दिन सायङ्काल चुपचाप दो चार कमीज़ और बहुत मामूली सा सामान लेकर, माता-पिता की आज्ञा के बिना, वह घर से निकल भागा। उसके पास रुपया भी थोड़ा ही था। जब वह जहाज़ पर चढ़ने लगा तब विदेश में होनेवाले कष्टों तथा आपत्तियों की भयानक तसवीर उसकी आँखों के सामने फिरने लगी। न कोई मित्र, न सम्बन्धी, न रुपया, न सिफ़ारिश—और लाखों बाधायें—यह सामान एक नये युवक को निराश करने के लिए काफ़ी था। किन्तु वंशाभिमान भी कुछ वस्तु है। उस समय उसने एक छोटी सी कविता पढ़ी, जिसका आशय था—जब एक राजपूत (सेमुराई) युवक ने घर से बाहर जाने का निश्चय कर लिया तब अपनी मनोकामना पूर्ण किये बिना लौटने से उसके लिए मृत्यु बेहतर है। उसे शोक किस बात का? उसकी हड्डियाँ किस स्थान में पड़ेंगी, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि जहाँ कहीं वह जायगा वहीं एक न एक हरी पहाड़ी उसे मिल जायगी।

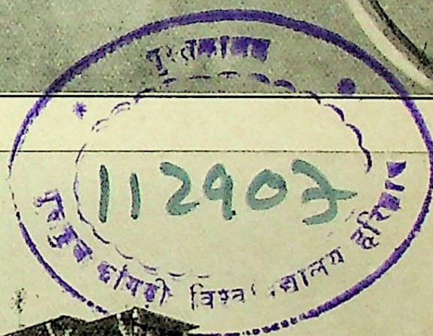
इस प्रकार दिल को समझा कर वह अमेरिका पहुँचा। वहाँ मिहनत करके कुछ रुपया कमाने लगा। उसका काम प्रायः खिड़कियाँ साफ़ करना, भोजन-समाप्ति पर बर्तन धोना, कमरों के फ़र्श रगड़ना इत्यादि था। यह काम करके वह बड़े कष्ट से रहता था। एक उच्च जाति के नवयुवक के लिए इस प्रकार के कार्य्य निन्दनीय समझे जाते हैं। जिसने पहले आराम से दिन गुज़ारे हों उसके लिए तो एकाएक इस प्रकार का कष्टमय जीवन बहुत ही कठिन होता है। किन्तु उसने कष्टों की परवा न की।

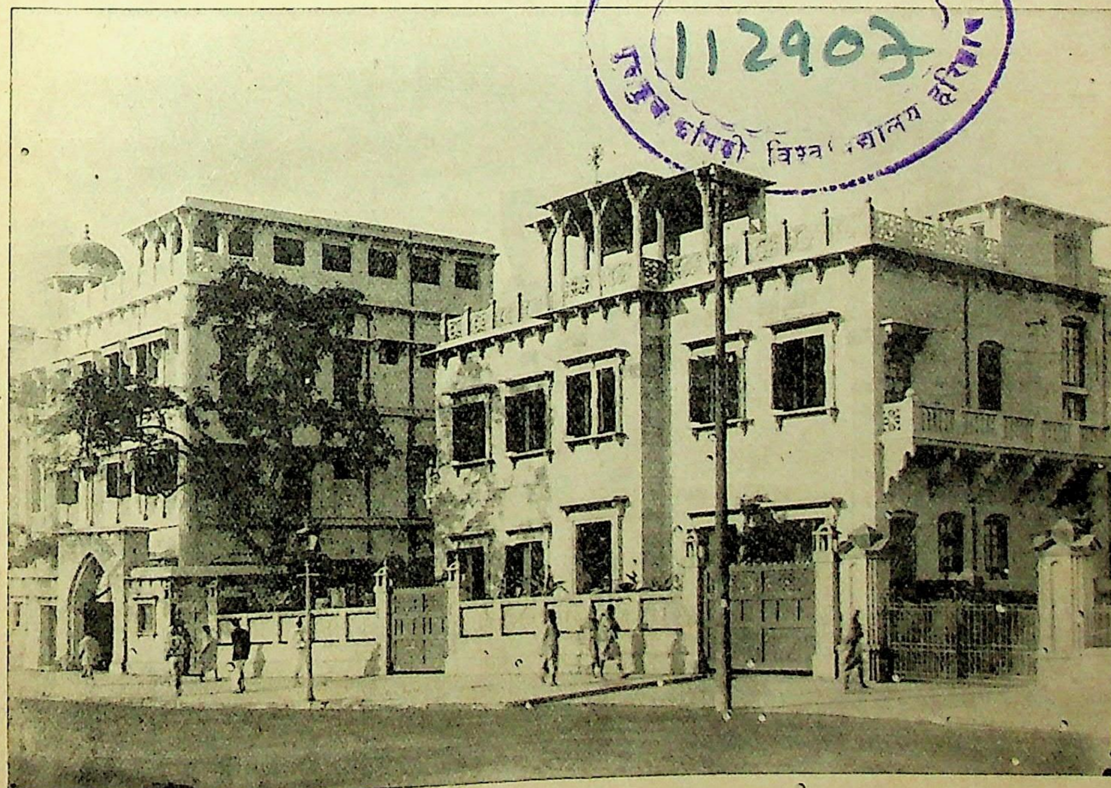
उसकी इच्छा अँगरेज़ी में कविता करने अथवा लेखक बनने की थी। किन्तु कई आदमियों ने उसे समझाया कि विदेशी भाषा में कविता करने अथवा लेखक बनने के लिए उद्योग करना केवल समय खोना है। तब उसने चित्रकार बनने की ठानी और एक स्कूल में प्रवेश किया। दिन में तो वह मज़दूरी करता और सायङ्काल स्कूल जाकर चित्रकारी की शिक्षा पाता। किन्तु उसकी थोड़ी सी कमाई, सब की सब, फ़ीस में चली गई; भोजनों के लिए भी उसके पास कुछ न बचा। स्कूल में ग़लत नक़शों तथा ग़लत चित्रों की सतरें मिटाने के लिए "फ्रेंच" रोटी* दी जाती थी। योशियो मारकीनो ने इसे एक दैवी कृपा समझी। भूख से व्याकुल होने के कारण वह उस रोटी को छिप छिप कर खाने लगा। उस रोज़ से लेकर हर रोज़ सायङ्काल वह उसी रोटी पर गुज़ारा करने लगा। इस बात को कभी किसी ने न देखा। देखता तो वह फ़ौरन स्कूल से निकाल दिया जाता।

जिस समय मारकीनो अमेरिका में पहुँचा उस समय जापानियों के साथ अमेरिका के लोग अच्छा सलूक न करते थे। वे उन्हें द्वेष की दृष्टि से देखते थे। इस दृष्टि का परिणाम मारकीनो ने स्वयं कई दफ़े अनुभव किया था। ट्रेमकार में अमेरिकन औरतें उसकी ओर घूर घूर कर ताकती थीं और यदि वह किसी औरत के पास बैठ जाता तो वह क्रोध से लाल पीली होकर उठ जाती। एक दफ़े वह जा रहा था कि रास्ते में एक लड़की, जो उसके साथ स्कूल में पढ़ती थी और वहाँ उससे बहुत अच्छी तरह मिलती थी, मिल गई। मारकीनो टोपी उतार कर सलाम करने लगा तो उसने मुँह फेर लिया। अगले दिन स्कूल में उस लड़की ने कहा कि क्षमा करना, मैं नहीं चाहती थी कि आप के सलाम का उत्तर न दूँ। किन्तु यदि मैं ऐसा करती तो सब लोग मुझे हिक़ारत की नज़र से देखने लगते और बहुत क्रुद्ध होते कि मैं एक जापानी से सलाम कर रही हूँ। जब वह गलियों में से गुज़रता तो लोग उस पर ईंट, पत्थर, कूड़ा-कर्कट फेंक देते। कई दफ़े कितने ही लोगों ने उस पर थूक भी दिया।

* रोटी का गूदा रबड़ के स्थान में प्रयोग किया जाता है और रबड़ से भी अधिक सफ़ाई करता है।

विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु।





विज्ञानाचार्य वसु का विज्ञान-मन्दिर।

उद्यानों तथा अन्य रमणीय स्थानों में वह डर के मारे न जाता था। क्योंकि वहाँ लोग जापानियों से बहुत ही बुरा सलूक करते थे। एक दिन मारकीनो ने महीनों की कमाई की बचत के रुपये से चित्रकारी का कुछ थोड़ा सा सामान ख़रीदा—रङ्गों की डिबिया, शलाका, चित्रपट इत्यादि—और समुद्र के किनारे एकान्त स्थान में बैठ कर अपने पट पर उस दृश्य की तसवीर बनाने लगा। उसी समय पाँच चार अमेरिकन लड़के इस ओर आ निकले। उसको अकेला और जापानी जान कर इन्होंने पकड़ लिया। एक ने डिबिया के रङ्गों से उसका मुख रँग दिया। दूसरे ने पट को उठा कर समुद्र में फेंक दिया। तीसरे ने शलाका तोड़ दी और डिबिया को भी पानी की भेंट कर दिया। यह करके वे भाग गये। बेचारा योशियो अकेला क्या करता। उसकी कई महीनों की कमाई और परिश्रम का फल एक क्षण में नष्ट हो गया। कई घण्टों तक वह रोता रहा। किन्तु रोने से क्या हो सकता था। रोते रोते घर लौट आया। उसने अमेरिका छोड़ने का निश्चय कर लिया, किन्तु जापान लौट जाने का विचार अब भी उसके मन में न आया।

एक मित्र से फ़्रांस के एक सौदागर के नाम पत्र लेकर वह अमेरिका से चल दिया। जब वह चला तब उसके पास यह सामान था—एक बेग, तीन कालर, एक कमीज़, एक नेकटाई, दो जोड़े मोज़े, बाइबल, बौद्ध धर्म की एक पुस्तक और २४ रुपये। यह रेल के किराये तथा स्टीमर के टिकट के अलावा था। किन्तु, देखिए, जब वह फ़्रांस पहुँचा और उस सौदागर को तलाश किया तब मालूम हुआ कि वह फ़्रांस से कहीं अन्यत्र चला गया है। मारकीनो फ़्रांसीसी भाषा न जानता था। इसलिए शीघ्र ही वह फ़्रांस से इँगलेंड को रवाना हो गया।

जापान-सरकार का एक अफ़सर उस समय इँगलेंड में जापान के लिए जङ्गी जहाज़ बनवा रहा था। उसके दफ़्र में कुछ जापानी लेखकों की आवश्यकता थी। जब मारकीनो उससे मिलने गया तब उसने मारकीनो को अपने दफ़्र में रख लिया। किन्तु मारकीनो अपने जीवन के आदर्श को नहीं भूला। वह दफ़्र में सायङ्काल तक काम करता और रात को स्कूल जाकर चित्रकारी सीखता। दिन भर का थका हुआ मनुष्य चित्रकारी के काम में अच्छी तरह मन नहीं लगा सकता। थकावट के कारण कई दफ़े पेनसल से काग़ज़ पर तसवीर बनाते बनाते योशियो निद्रा-देवी की गोद में चला जाता था। तिस पर भी उसने परिश्रम करना नहीं छोड़ा। उसकी वैसी मिहनत देख कर उसका मास्टर उस पर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसके काम में दिलचस्पी लेने लगा।

कुछ समय बीतने पर जहाज़ बनने का काम समाप्त होने को आया। जापानी अफ़सर जापान वापस जाने लगा। उसने मारकीनो को समझाया कि मेरे साथ जापान चलो। मैं तुम्हारे सफ़र का सारा ख़र्च स्वयं दूँगा। लन्दन जैसे नगर में केवल अपनी चित्रकारी के भरोसे पर रहना नादानी है। उसने मारकीनो को भले प्रकार सोचने के लिए एक सप्ताह का अवसर दिया। मारकीनो के लिए यह समय बहुत कठिन था। यदि वह उस अफ़सर के साथ घर लौट जाता तो निःसन्देह उसका जीवन आराम से व्यतीत होता। किन्तु मनोकामना पूर्ण किये बिना वापस जाना उसे अपमान-सूचक प्रतीत हुआ। उसने अपने मास्टर तथा अन्य विद्यार्थियों को अपनी रामकहानी सुना कर उनसे सलाह पूछी। सब के सब कहने लगे कि चित्रकारी पर बसर होना असम्भव है। इन उत्तरों ने उसके मन की अवस्था को अत्यन्त ही चञ्चल बना दिया। विचारों की धारा कभी एक तरफ़ कभी दूसरी तरफ़ झुकने लगी। रात भर वह विचार-सागर में मग्न रहता और मन ही मन सोचा करता। जब सो जाता तब स्वप्न भी वैसे ही देखता—कभी वह जापान पहुँच जाता और कभी लन्दन की गलियों में ठोकरें खाता फिरता। जब आख़िरी दिन आया तब उस अफ़सर ने फिर उसे बुलाया और कहा कि देखो लन्दन में १०,००० से भी अधिक चित्रकार जीवन-वृत्ति के लिए रात दिन दौड़-धूप करते हैं। सोच लो, यहाँ रहने से तुम्हारी क्या गति होगी। मारकीनो ने उत्तर दिया कि यदि मनुष्य चढ़ा-ऊपरी करनेवालों अथवा उनकी संख्या से घबरा जाय तो किसी भी कार्य्य में सफलता होना असम्भव है। आप की मुझ पर कृपा है। इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। किन्तु मैं अपने इरादे को नहीं छोड़ सकता। उस दिन से मारकीनो पर दुःख, क्लेश, कठिनाइयों का मानों पहाड़ सा टूट पड़ा। तब से पूरे आठ वर्षों तक उसके चेहरे पर कभी मुसकराहट या हँसी नहीं दिखाई दी।

उसका स्वतन्त्र जीवन प्रथम अप्रैल से आरम्भ हुआ। रुपया बचाने के लिए उसने एक सस्ते मकान में रहना चाहा।

किन्तु नये स्थान पर सामान लेजाने के लिए वह गाड़ी आदि का किराया ख़र्च न करना चाहता था। उसका छोटा सा बेग भी टूट गया था। अतएव उसने बिस्तरे की चादर में बेग समेत कुल असबाब की एक गठड़ी बाँधी। उसे अपनी पीठ पर लाद कर वह नये स्थान पर लेगया। लन्दन की गलियों में लोगों ने शायद ही कभी ऐसा दृश्य देखा होगा। किन्तु मारकीनो ने उनके अचम्भे तथा उपहास का तनिक भी विचार न किया।

उसके मास्टर ने उसे बहुत लोगों के नाम चिट्ठियाँ दीं। किन्तु कहीं भी उसे काम न मिला। उसने भिन्न भिन्न मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों के लिए नाना प्रकार की तसवीरें बनाईं। गरमी के मौसम में प्रातःकाल चार पाँच बजे उठ कर वह कार्य्य आरम्भ करता। फिर ६ या ६॥ बजे के पश्चात् उनको बेचने के लिए लन्दन में जगह जगह घूमता। किन्तु सारा दिन घूमने के बाद भी कुछ हाथ न लगता। थक कर बेचारे को फिर घर लौट आना पड़ता। इसी प्रकार वह नित्य दौड़ता। धीरे धीरे जो रुपया अब तक उसने बचाया था वह सब ख़र्च हो गया।

जिस घर में वह रहता था उसकी मालकिन बहुत नेक थी। रुपया न होने पर भी उसने मारकीनो को घर से नहीं निकाला। सम्पादकों, दूकानदारों तथा छापाख़ानेवालों के पास जब वह जाता तब उसकी तसवीरों को देख कर वे मुसकरा देते और कहते—"धन्यवाद, किन्तु हमें आवश्यकता नहीं है।" इन दिनों में, दिन भर के भ्रमण के पश्चात्, वह भूखा ही शय्या पर लेट जाता। पर भूख से व्याकुल प्राणी को निद्रा देवी भी त्याग देती है। मारकीनो के लिए रात और दिन एक से दुःखदायी हो गये। ऐसी दीन हीन अवस्था में मन की गति विचित्र हो जाती है। सड़कों पर झाड़ू देनेवाले मज़दूर भी उससे अच्छे थे। क्योंकि उनके पास कुछ काम तो था।

मारकीनो को सिगरट पीने का बहुत शौक़ था। कई महीनों से सिगरट उसे नसीब न हुए थे। एक दिन वह हाइड-पार्क (Hyde-Park) से गुज़र रहा था कि एक भलेमानस ने आधा सिगरट पीकर फेंक दिया। उस आधे सिगरट को देख कर मारकीनो का जी ललचा उठा। वह उसे उठाने को झुका ही था कि कड़क की एक आवाज़ आई—हैं एक राजपूत (समुराई) युवक होकर ऐसा नीच कार्य्य! इस आवाज़ से वह सँभल गया और सिगरट को उठाये बिना वहाँ से चल दिया।

कष्ट उठाते उठाते इसी प्रकार महीनों पर महीने गुज़रते गये। कभी सफलता प्राप्त न हुई। निराशा की सीमा यहाँ तक पहुँची कि एक दिन उसने आत्मघात करने का निश्चय कर लिया। वह टेमस नदी की ओर इसी अभिप्राय से जा रहा था कि रास्ते में अनेकानेक विचारों ने उसे तङ्ग करना आरम्भ किया। आत्मघात करना महापाप है। वह धर्म ही के विरुद्ध नहीं है, किन्तु क़ानून के अनुसार भी वह जुर्म है। परन्तु ऐसे दुःखमय जीवन से किसी प्रकार रिहाई तो हो। बड़े वेग से उसके चित्त में ऐसे ऐसे विचारों की लहरें उठने लगीं। उसने कहा—आत्मघात पाप नहीं है; आत्मघात इस दारुण दुःखमय जीवन से बचने का इलाज है; निराशा और निष्फलता की सबसे उत्तम ओषधि है। कभी कभी धर्म की भी आज्ञा प्राण-त्याग के लिए है। जातीय मान पापी प्राणों से भी उच्चतर है।

इस प्रकार अनेकानेक विचार करता हुआ वह जा रहा था। जाते जाते एक अख़बार का दफ़्तर नज़र आया। साथ ही आशा की भी झलक उसके मन में दौड़ गई। उसने कहा, चलो अन्तिम बार यहाँ भी देख लें। यदि सफलता न हुई तो टेम्स नदी तो कहीं गई ही नहीं। वह अपनी तसवीरों का बण्डल हाथ में लेकर भीतर चला गया और सम्पादक से मिलने के लिए इच्छा प्रकट की। पहले छोटा सम्पादक आया। वह उसकी तसवीरें मुख्य सम्पादक के पास ले गया। थोड़ी देर बाद मुख्य सम्पादक स्वयं आया। सम्पादक की हाँ या न पर मारकीनो का जीवन अवलम्बित था। यह क्षण उसे एक युग के समान प्रतीत हुआ। उसका दिल इंजन के समान धक धक कर रहा था। इसी दशा में वह अपनी क़िस्मत का फ़ैसला सुनने के लिए प्रतीक्षा करने लगा। मुख्य सम्पादक ने उसके फटे पुराने कपड़ों पर एक बार दृष्टि फेंकी। उसके बूट बिलकुल घिस चुके थे। उन पर कितने ही पैंवद थे। उसका चेहरा पीला तथा सूखा हुआ था। जागरण से थकी हुई आँखें उदासीनता तथा निराशा की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। कुछ काल इस अद्भुत दृश्य पर दृष्टि डालने के पश्चात् सम्पादक ने उसकी तसवीरें लेना स्वीकार कर

लिया। मारकीनो का दिल ख़ुशी से उछल पड़ा। मुरझाई हुई आशारूपी लता में नये नये अङ्कुर पैदा हो गये। उन्नति तथा सफलतारूपी कलियाँ खिलती हुई प्रतीत होने लगीं। नये उत्साह के मिलने से जीवन में एक नया रस पैदा हो जाता है।

मारकीनो का भाग्य चमका। उस दिन से उसे कुछ न कुछ काम मिलने लगा और वह क्रमशः उन्नति करने लगा। किन्तु अभी दुःखों का अन्त न हो पाया था। इँगलेंड में सरदी बहुत पड़ती है। मारकीनो के पास कमरे में आग जलाने के लिए कोयला न था। दिन में कई दफ़े उसको हाथ गरम करने के लिए बिस्तरे पर जाना पड़ता था, क्योंकि काम करते करते उसके हाथ ठिठुर जाते थे। इसी समय उसका प्रेम एक युवती से हो गया। वह उसे गिरजे में ले जाना चाहती थी। किन्तु मारकीनो के पास समय न था, और वह अपनी प्रियतमा से इनकार करके उसे रंजीदा भी न करना चाहता था। इस कारण उसने एक नई तदबीर निकाली। बाइबल की बड़ी जिल्द लेकर उसने जिल्द उखाड़ी। फिर चित्र खींचने की अपनी कापी उसमें रक्खी और उस युवती के साथ गिरजे चला गया। जब सब लोग प्रार्थना आदि में मग्न होते तब वह धीरे धीरे अपना कार्य्य करता रहता। बाइबल की जिल्द होने से किसी ने उस पर सन्देह नहीं किया। किन्तु एक दिन उसकी प्रियतमा ने कापी देख ली। उस दिन से उनकी मित्रता टूट गई।

मारकीनो एक पत्थरवाले के यहाँ नौकर था। क़बरों के पत्थरों पर फरिश्तों के चित्र बनाना उसका काम था। किन्तु प्रेम का रङ्ग अभी उसके दिल पर चढ़ा हुआ था। इस लिए जब वह फरिश्तों के चित्र बनाने बैठता तब उसकी प्रियतमा की सी शकल बन जाती। उसे एक दो दफ़े बताया गया कि फरिश्ते पुरुषाकार होते हैं। पर मारकीनो मजबूर था। जब जब वह पुरुषाकार फरिश्ता बनाने बैठता तब तब उससे वही शकल बनती जो उसके मन में बस रही थी। नतीजा यह हुआ कि मारकीनो को शीघ्र ही उस काम से हाथ धोना पड़ा। इस प्रकार कई उतार-चढ़ाव उसके जीवन में हुए। कभी कभी वह बुद्ध-धर्म पर व्याख्यान देता। उसका पिता चीनी भाषा तथा बौद्ध-न्याय का अच्छा पण्डित था। बचपन में मारकीनो ने अपने पिता से बहुत कुछ सीखा था। इसी से बौद्ध-धर्म्म का उसे अच्छा ज्ञान था। कभी वह जापानी नाटकों के खेलने में कम्पनियों की मदद करता। कभी वह जापान के विषय में पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखता। किन्तु अपने चित्रकारी के काम में बराबर परिश्रम करता रहता। उसका परिश्रम कैसा था, इसका एक उदाहरण सुनिए।

कुछ जापानी मित्रों ने उसे साके (जापानी शराब) की ९ बोतलें भेंट कीं। रात को भोजनोपरान्त वह कुछ थोड़ी सी शराब पी लेता। किन्तु ऐसा करने से जल्दी नींद आ जाती और रात को वह यथेष्ट काम न कर सकता। कई वर्षों के बाद उसको शराब मिली थी। ऐसी अनमोल वस्तु को वह फेंक भी न सकता था और पी भी न सकता था। एक रात को उसने सात बोतलें, जो बच रही थीं, सब की सब पी जाने का निश्चय कर लिया। जब वह पी चुका तब कमरा हिलने लगा। छत कभी नीचे आती थी, कभी ऊपर जाती थी। पीने के पहले केवल एक लैम्प था। किन्तु अब सैकड़ों लैम्प उसे देख पड़ने लगे। अनेकानेक दृश्य उसकी दृष्टि में आने लगे। समुद्र की लहरों में वह ग़ोते खाने लगा। अगले दिन जब नौकरानी उसका कमरा ठीक करने आई तब क्या देखती है कि बिस्तरे के ऊपर बूट-सलीपर और पाँच छः ख़ाली बोतलें आराम से सो रही हैं और मारकीनो महाशय नीचे बेसुध पड़े हैं। इस प्रकार मारकीनो ने प्रति दिन का नाश होने वाला समय बचा लिया।

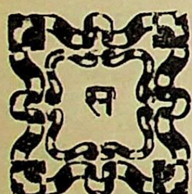
किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता। किसी न किसी समय उसका फल अवश्य ही मिलता है। इस प्रकार कष्ट सहने तथा पुरुषार्थ करने का परिणाम यह हुआ कि मारकीनो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में गिना गया। उसके कार्य्य की लोग जी खोल कर प्रशंसा करने लगे। उसे धन की प्राप्ति भी ख़ूब होने लगी। इँगलेंड से वह फिर फ़्रांस गया। वहाँ भी उसकी शलाका और चित्रों ने ख़ूब रङ्ग दिखाया। फ़्रांस में कुछ काल व्यतीत करके वह इटली गया और कुछ मास तक रोम में रहा। क्योंकि रोम में गये बिना कोई चित्रकार अपनी शिक्षा को सम्पूर्ण नहीं समझता। इस प्रकार इन देशों में कीर्ति लाभ करके मारकीनो सुख से रहने लगा। उसका नाम विख्यात हो गया और जो आदर्श उसने अपने जीवन का बनाया था उसको प्राप्त कर लिया।

मारकीनो का आदर्श चाहे छोटा हो चाहे बड़ा हो, किन्तु जिस प्रकार उसने अपने आदर्श की पूर्त्ति के लिए परिश्रम किया उसको सराहे बिना कोई नहीं रह सकता। विदेश में बिना सामान, धन, मित्र तथा विशेष विद्या के, और हज़ारों चित्रकारों के रहते, न घबराना, कई महीनों तक पेट भर भोजन न मिलने, कई वर्षों तक निराश होने पर भी हौसला न हारना, आपत्तियों, कठिनाइयों से घिरे रह कर निर्बल अथवा निश्चेष्ट न होना, और उच्च वंश में पैदा होकर भी अद्भुत परिश्रम करना—ये गुण थे जिन्होंने उसे उन्नत किया। जिस जाति के व्यक्तियों को अपने ऊपर भरोसा है, जिनके दिल में उत्साह है, हाथों में बल है और मन में जातीय अभिमान है उस जाति के भविष्य की कोई चिन्ता नहीं और न उस जाति के गौरव तथा सम्मान की रक्षा के लिए किसी आडम्बर की आवश्यकता।

लक्ष्मणस्वरूप, एम० ए० (आक्सफ़र्ड)

—:०:—

सत्य।



सत्य ही संसार में सार वस्तु है। अथवा यों कहना चाहिए कि सत्य ही पर संसार की सत्ता स्थित है। इसीलिए विद्वानों ने सत्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च"—अर्थात् सत्य वही है जिसका कभी नाश नहीं होता; जो शाश्वत है और जिसका स्वरूप कभी नहीं बदलता। सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही वेद है, सत्य ही धर्म है। जो कुछ है सब सत्य ही का रूप है। सत्य के अतिरिक्त संसार में कोई वस्तु नहीं। यह सुनकर कदाचित् कुछ लोग संशय में पड़ जायँ। वे अपने मन में कहें कि यह क्या पचड़ा है। सारे विश्व का सत्य में इस प्रकार समावेश कर दिया जिस प्रकार कोई जादूगर समुद्र को घट के अन्दर बन्द कर देता है। समुद्र को घट के अन्दर बन्द कर देना चाहे जादूगर के लिए असम्भव ही क्यों न हो, पर सत्य के विषय में जो कुछ कहा गया वह किसी प्रकार असम्भव नहीं। इस बात को सिद्ध कर दिखाना कुछ बड़ी बात नहीं।

ऊपर लिखी हुई सत्य की परिभाषा पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिस पर वह परिभाषा पूर्ण रीति से घट सके। क्योंकि संसार मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। लोग संसार को प्रत्यक्ष आँखों से देख रहे हैं। इसलिए उनकी समझ में यह नहीं आता कि संसार मिथ्या कैसे है? बड़े बड़े विद्वान् संसार को मिथ्या बताने का लाञ्छन वेदान्त पर लगाते हैं। पर यदि वे उस अर्थ पर ध्यान दें जिस अर्थ में कि मिथ्या शब्द व्यवहृत हुआ है तो मेरा विचार है कि उनको वेदान्त पर दोषारोप करने का अवसर ही न मिले। हर्बर्ट स्पेन्सर नामक तत्त्ववेत्ता ने अपने अज्ञेय-मीमांसा नामक ग्रन्थ में इस बात का युक्ति-पूर्वक प्रतिपादन किया है। वह कहता है कि एक वस्तु ऐसी है जिसकी सत्ता का ज्ञान तो हो सकता है, पर जिसके स्वरूप का नहीं। संसार की समस्त वस्तुयें बदल रही हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि संसार परिवर्त्तनशील है। आप लोग अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि आकाश में मेघ का एक टुकड़ा दिखाई दिया। पर वह अपनी सत्ता को कुछ काल तक दिखा देने के पश्चात् हमारी दृष्टि से ओट हो गया। आज कोई वस्तु हमको एक रूप की दिखाई पड़ती है तो कल उसका रूप कुछ दूसरा ही दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण लीजिए।

कुछ मित्र सैर करने के लिए घर से बाहर निकले। उनको मार्ग में एक गिरगिट मिला। वह दूर था। उसका रङ्ग उनको साफ़ साफ़ न दिखाई पड़ा। उनमें से एक ने पूछा—"गिरगिट का रङ्ग कैसा होता है"? इस पर एक ने कहा—"कल अपने घर के पास मैंने एक गिरगिट देखा था। वह

काले रङ्ग का था"। दूसरे ने कहा—"मित्र, क्या बक रहे हो। परसों ही की तो बात है। मैं अपने बाग़ में टहल रहा था। जो गिरगिट मुझे उस समय दिखाई दिया वह हरे रङ्ग का था"। तीसरे ने कहा—"तुम दोनों ही झूठे हो। ज्ञात होता है कि आज गहरी छान आये हो। अरे, गिरगिट का रङ्ग लाल होता है। यदि कोई मुझे हरे अथवा काले रङ्ग का गिरगिट दिखला दे तो मैं जो कहो उसे दूँ"। अपनी अपनी सब कहते थे, पर कोई किसी की न मानता था। विवाद यहाँ तक बढ़ा कि उसका निर्णय कराने के लिए वे एक विद्वान् के पास गये। विद्वान् ने उनकी बातें सुनीं और हँस कर कहा—"तुम्हारा सब का कथन मिथ्या है। गिरगिट एक रङ्ग का नहीं होता। वह तो रङ्ग बदलता रहता है।"

यही दशा इस संसार की है। संसार को वेदान्त ने परिवर्त्तनशील समझ कर ही मिथ्या कहा है। रसायन-विद्या के जानने वालों से यह बात छिपी नहीं कि द्रव्य का नाश नहीं होता। वह रूप बदलता रहता है। इस बात की पुष्टि में वे एक प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं कि मोमबत्ती को जलाने पर जो गैस पैदा होती है वह एकत्र कर ली जाय तो उसकी और मोमबत्ती की तोल एक ही हो। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—"सब पदार्थों के नाम-रूपात्मक शरीरों के नष्ट होने पर भी जो नष्ट नहीं होता वही अक्षर ब्रह्म है"। बात वही है, पर कहने की रीति अलग अलग है। संसार में यदि कोई वस्तु अव्यय, नित्य और अविकारी है तो वह ब्रह्म ही है। इसलिए सत्य ही ब्रह्म है, यह बात सिद्ध है।

अब वेद की बात लीजिए। 'वेद' शब्द से केवल चारों वेदों का ही ग्रहण नहीं किया जाता। 'वेद' शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ ज्ञान है और वही यहाँ पर ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ, जल को लीजिए। रसायन-शास्त्र के जानने वाले इस बात से भली भाँति परिचित हैं कि जल-पदार्थ कोई तत्त्व नहीं। वह मिश्रित द्रव्य है। अर्थात् वह दो वस्तुओं के संयोग से बना हुआ है। जब एक भाग आक्सिजन का दो भाग हैड्रोजन से मिलता है तब जल का विकास होता है। आक्सिजन और हैड्रोजन अँगरेज़ी भाषा के शब्द हैं। पर इससे कुछ हानि नहीं। नाम चाहे जो हों, पदार्थ तो वही हैं। कभी कभी भिन्न भिन्न देशों के कवियों के भाव परस्पर एक दूसरे से मिल जाते हैं। इसलिए आपको अधिकार है कि आक्सिजन और हैड्रोजन के स्थान पर कोई दूसरा नाम रख लें। पर जब विश्लेषण-क्रिया के द्वारा आप पानी को पृथक् करेंगे तब उसमें से जो दो गैसें निकलेंगी वे वही होंगी जो अँगरेज़ी में आक्सिजन और हैड्रोजन के नाम से पुकारी जाती हैं। यह क्रिया चाहे ध्रुव के ऊपर की जाय, चाहे अमेरिका में, चाहे जापान में, चाहे जर्मनी में, चाहे भारतवर्ष में, चाहे चन्द्रमण्डल में; फल एक ही होगा। चाहे क्रिया आज की जाय, चाहे आज से दस हज़ार वर्ष पश्चात् की जाय। विपरीत फल न होगा। अतएव यह सिद्धान्त कि जल दो गैसों से बना है अव्यय है, नित्य है, अविकारी है। इससे यह सिद्ध होगया कि सत्य ही वेद है। पर वेद से मतलब ज्ञान से है, यह न भूलना चाहिए।

एक और उदाहरण लीजिए। वह आकर्षण-शक्ति के सम्बन्ध में है। भूगोल-विद्या के जानने वाले कहते हैं कि इस सिद्धान्त का आविष्कार कि पृथ्वी समस्त वस्तुओं को अपने केन्द्र की ओर खींचती है, न्यूटन नामक अँगरेज़-विद्वान् ने, दो ढाई सौ वर्ष पहले, किया था। परन्तु इसके भी पूर्व, अथवा न्यूटन के भी पहले, भारतवर्ष के एक गणितज्ञ ने, जिसका नाम आर्य्यभट्ट था, इसका आविष्कार किया था। तथापि आर्य्यभट्ट के पूर्व चाहे इस सिद्धान्त का ज्ञाता भले ही कोई न रहा हो,

पर इसका कार्य्य संसार में बराबर हो ही रहा था। यदि सूर्य्य में आकर्षण-शक्ति न होती तो सारे ग्रह-उपग्रह, जो उसकी परिक्रमा कर रहे हैं, कहीं के कहीं चले गये होते। यह आकर्षण-शक्ति का ही प्रभाव है कि सूर्य्य उन ग्रहों को अपनी अपनी कक्षा में चलने के लिए विवश कर रहा है। जब आर्य्य-भट्ट का जन्म भी न हुआ था, अथवा उनसे भी लाखों वर्ष पहले, समुद्र में ज्वार-भाटा आता ही था। समुद्र में ज्वार-भाटा का आना आकर्षण-शक्ति का ही फल है। चाहे आज न्यूटन की समस्त पुस्तकें जल जायँ, चाहे आर्य्यभट्ट का ग्रन्थ पृथ्वी पर विद्यमान न रहे, पर यह शक्ति निरन्तर अपना कार्य्य करती रहेगी। न इसका नाश होगा और न इसमें कोई विकार आवेगा। इसीलिए यह वेद, अर्थात् यह ज्ञान, कि पृथ्वी समस्त वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है अव्यय, नित्य और अविकारी है। अतएव सत्य ही वेद है।

तीसरी बात धर्म की है। 'धर्म' शब्द का उच्चारण करने के साथ ही हमारे मन में कई बातें उठती हैं। पहली बात यह कि धर्म शब्द से हम पारलौकिक सुख का मार्ग समझते हैं। अर्थात् जब हम किसी से पूछते हैं कि तुम्हारा धर्म क्या है तब हम धर्म का यही अर्थ करते हैं कि तुम पारलौकिक कल्याण-सम्पादन के लिए किस मार्ग से जाते हो। परन्तु धर्म शब्द का अर्थ इतना सङ्कुचित नहीं। राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, ज्ञातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म आदि ऐहिक नीति-बन्धनों के लिए भी तो धर्म शब्द का प्रयोग होता है। जहाँ धर्म शब्द के दो अर्थ पृथक् पृथक् दिखाने का प्रयोजन होता है वहाँ परलोक-सम्बन्धी धर्म के लिए मोक्ष-धर्म और व्यावहारिक धर्म के लिए केवल धर्म शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—चतुर्विध पुरुषार्थ में धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष का समावेश किया जाता है। यदि यहाँ पर प्रथमोक्त अर्थ ग्रहण न किया जाय, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, तो शास्त्र के ऊपर द्विरुक्ति का दोष आता है। अर्थात् धर्म के दूसरे अर्थ से यह भी सिद्ध होता है कि समाज के चातुर्वर्ण्य-कर्त्तव्यों का भी समावेश धर्म शब्द में किया जा सकता है। इसी लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते समय कहा है कि अपने धर्म के विचार से भी रण से तेरा विचलित होना ठीक नहीं। यदि धर्म शब्द का धातु-अर्थ लिया जाय तो भी यही सिद्ध होता है कि धर्म शब्द का उपयोग जब व्यावहारिक दृष्टि से किया जाता है तब उससे यही अभिप्राय निकलता है कि समाज का धारण और पोषण किस प्रकार होता है। यदि ब्राह्मण का धर्म छूट जाय तो समाज के बन्धन टूट जायँ और समाज का नाश होने लगे। इसलिए धर्म की चाहे जो परिभाषा की जाय, जो धारण करता है वही धर्म है। पर अन्तिम साध्य इन तीनों परिभाषाओं का एक ही है—अर्थात् समाज का धारण-पोषण होना चाहिए। किसी प्रकार से समाज के बन्धन न टूटने पावें। उसकी तह न बिगड़ने पावे। उसकी ओर सदा सभी महान् पुरुषों का ध्यान रहा है। यद्यपि इन महापुरुषों के बताये हुए साधन भिन्न भिन्न होते हैं तथापि साध्य, अर्थात् समाज का धारण-पोषण होना, सभी का अभिप्रेतार्थ है। इसमें किसी का भी मतभेद नहीं। एक उदाहरण लीजिए।

पूर्वकाल में जब विधवाओं की संख्या अधिक होगई होगी तब उनके दुख से समाज का धारण-पोषण होना कठिन होगया होगा। तब स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह का विधान कर दिया। पर कुछ काल के पश्चात् जब समाज को विधवा-विवाह की आवश्यकता न रही तब विधवा-विवाह के विपरीत स्मृतिकारों ने अपनी सम्मति दे दी। इसीलिए हमारी स्मृतियों में इसके दो विधान पाये जाते हैं। पर सामान्य बुद्धि के लोग इस सूक्ष्म तत्त्व तक न पहुँच कर अपनी अपनी बात पर लड़ने लगते हैं।

वर्त्तमान समय में भी जब विधवा-विवाह की आवश्यकता प्रतीत हुई तब स्वनाम-धन्य पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने डङ्के की चोट विधवा-विवाह का अनुमोदन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने देशकालानुसार गवर्नमेंट के द्वारा इस विषय का एक क़ानून भी पास करवा लिया, जिसके कारण विधवाओं और उनकी सन्तानों को बहुत से सुभीते हो गये। एक बार विधवा-विवाह करने की आज्ञा देना और दूसरी बार निषेध करना, इस बात को सिद्ध करता है कि यद्यपि समाज-धारण-रूपी साध्य एक ही है, पर उस साध्य को सिद्ध करने के लिए स्मृतिकारों ने भिन्न भिन्न समय में दो विधान किये। समाज का धारण-पोषण होना एक सिद्धान्त है। वह नित्य और अविकारी है। अतएव सत्य ही धर्म है, यह सिद्धान्त प्रतिपादित हो गया।

अब धर्म शब्द का दूसरा अर्थ जो मोक्ष, अर्थात् पारलौकिक सुख का मार्ग, है उसका निरूपण सुनिए। शास्त्रकारों ने कहा है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। अच्छा तो वह किस प्रकार का ज्ञान है जिसके सम्पादन से हम मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। यद्यपि शास्त्रकारों ने इस ज्ञान के सम्पादन के अनेक साधन बतलाये हैं; पर उन सब का अन्तिम साध्य एक ही है। चाहे मनुष्य कर्मयोग का आचरण करे, चाहे ज्ञान-मार्ग से चले, चाहे योग का अनुष्ठान करे, चाहे भक्ति के समुद्र में ग़ोता लगावे, अर्थात् वह चाहे जिस मार्ग से चले, अन्त में वह एक न एक दिन उस ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी बनता ही है। अर्थात् साधनों के भिन्न होने पर भी साध्य में भिन्नता नहीं आती। जब मनुष्य को अनेकत्व में एकत्व का ज्ञान होता है—जब उसको समस्त विश्व में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और वस्तु ही नहीं देख पड़ती—जब वह अद्वैतावस्था में पहुँच जाता है—जब त्रिपुटी का अभाव हो जाता है—तभी मनुष्य मुक्त माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। यद्यपि संसार में ऊपर से देखने पर अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि विद्वानों ने सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करके यही सिद्ध किया है कि उनमें अनेकत्व का जो आभास दिखाई पड़ता है वह मिथ्या है। वास्तव में उनमें एकत्व का ही डोरा पिरोया हुआ है। आज योरुप के विज्ञान-वादियों ने चराचर जगत् में विकाशवाद का साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है। उस विकाशवाद ने भी सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि में जो अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब एक ही पदार्थ के रूपान्तर हैं। अर्थात् एक ही पदार्थ ने इतने रूप धारण कर लिये हैं। रसायन-शास्त्र के वेत्ताओं ने भी यही सिद्ध कर दिखाया है कि संसार के मूल में एक ही तत्त्व है और उसी तत्त्व ने देशकालानुसार अपने को अनेक तत्त्वों में परिणत कर दिया है। योरुप के विज्ञान-वेत्ताओं ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ उष्णता (Heat), शक्ति (Energy) में परिणत हो जाती है और शक्ति उष्णता में। सारांश यह कि पदार्थ एक ही है। हमको जो अनेकत्व का ज्ञान हो रहा है वह ज्ञानाभास है; वह मिथ्या है। वेदान्त की परिभाषा में यदि यही बात कही जाय तो इस प्रकार कही जा सकती है कि ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं। अर्थात् संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म ही है। इस ज्ञान में न किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो सकता है और न इसका नाश ही हो सकता है। यह सदा एक सा बना रहेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि ज्ञान नित्य है, अव्यय है, अविकारी है। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है—जब उसकी दृष्टि ब्रह्ममय हो जाती है—तब वह शरीर के रहते हुए भी विदेह अर्थात् जीवन-मुक्त कहा जा सकता है।

यहाँ तक के प्रतिपादन से यह सिद्ध हुआ कि अनेकत्व में एकत्व का ज्ञान होने ही को मोक्ष कहते हैं। उसे पारलौकिक सुख का मार्ग भी कह सकते हैं, अथवा थोड़े शब्दों में उसे धर्म के नाम से पुकार सकते हैं। अर्थात् धर्म नित्य है, अव्यय है और अविकारी है। अतएव यदि यह कहा जाय कि संसार में जो कुछ है वह सत्य ही है तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी।

काशीनाथ शर्म्मा

—:o:—

नेपाल के हरिसिंहदेव का समय।

नेपाल के इतिहास में, ठाकुरी-वंश* के राजाओं के नाम के साथ ही साथ, कर्णाट-सूर्य्य-वंशी † राजाओं का नाम मिलता है। यह देख कर अनेक इतिहास-प्रेमी बड़े भ्रम में पड़ गये हैं। उन्होंने कर्णाट-सूर्य्य-वंश के सातवें राजा, हरिसिंहदेव, के स्थान में दो हरिसिंहदेवों की कल्पना कर डाली है।

नान्यदेव कर्णाट-सूर्य्य-वंश का आदि राजा था। वह कर्णाटक से भाग कर मिथिला होता हुआ आया और १०९७-९८ ईसवी में सिमराउँगढ़ को बसाया। इसका पता सिमराउँगढ़ के सिंहद्वार पर खुदे हुए इस शिलालेख से चलता है—

नन्देन्दुविन्दुविधुसम्मितशाकवर्षे
तच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरयुते करिवैरिलग्ने
तन्नान्यदेवनृपतिर्विदधीत वास्तुम्।

मिथिला-दर्पण में नान्यदेव और उसके वंशधर राजाओं के शासन-काल का विवरण, हरिसिंहदेव तक, इस तरह लिखा है—

नान्यदेव	१०९८—११३५	३७ वर्ष
गङ्गासिंहदेव	११३६ ११४८	१२ ,,
नरसिंहदेव	११४९—१२०१	५२ ,,
रामसिंहदेव	१२०२—१२८८	८६ ,,
शक्रसिंह या शक्तिसिंहदेव	१२८८—१३०४	१६ ,,
हरिसिंहदेव	१३०४—१३२४	२० ,,

हरिसिंहदेव के विषय में, पृष्ठ ६४ में, लिखा है—"चौथेपन में संसार-विरक्त हो, राजपाट त्याग करके, शाके १२४५ (सन् १३२४) के वैशाख सुदी १०मी शनिश्चर* को, भगवद्भजन की इच्छा से, उत्तराखण्ड की गिरि-गुहा में जा विराजे × × ×"

बाणाब्धिबाहुशशिसम्मितशाकवर्षे,
पौषस्य शुक्लदशमी-क्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा स्वपट्टनपुरीं हरिसिंहदेवो
दुर्दैवदेशितपथे गिरिमाविवेश।

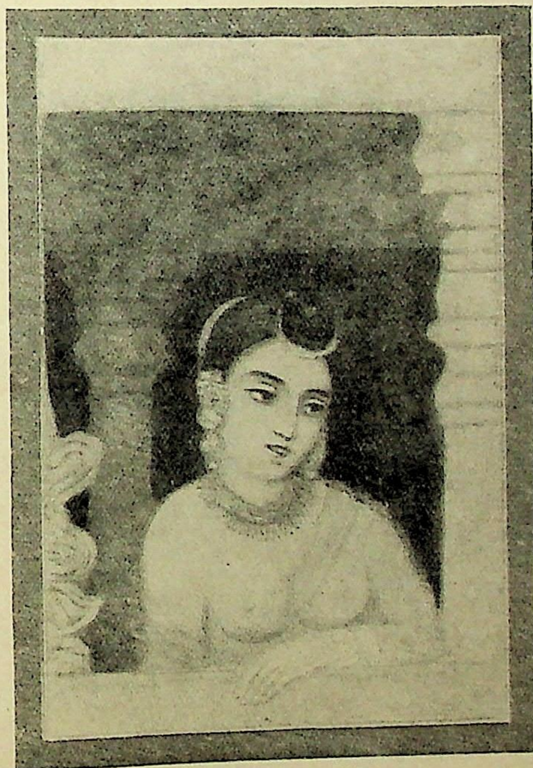
इन बातों से यह स्पष्ट है कि १३२४ ईसवी में हरिसिंहदेव उपस्थित थे और वे नेपाल को दुर्दैववश भाग गये थे।

अब नेपाल के इतिहास की ओर देखिए। डी० राइट-लिखित नेपाल के इतिहास में हरिदेव और हरिसिंहदेव इन दो मिलते जुलते नामों का उल्लेख है। उनके कथन का सारांश यह है—

*ठाकुरी-वंश में बारह राजे हुए हैं। उनके नाम ये हैं—वामदेव, हर्षदेव, सदाशिवदेव, मानदेव, नरसिंहदेव, नन्ददेव, रुद्रदेव, मित्रदेव, अरिदेव, अभयमल्ल, जयदेवमल्ल और आनन्दमल्ल या अनन्तमल्ल। उनकी राजधानी कान्तिपुर और ललितपट्टन थे। खड्गविलास प्रेस में छपे हुए नेपाल के प्राचीन इतिहास में ठाकुरी-वंश का शासन-काल १००० से १२४० ईसवी तक लिखा है और हर राजा के शासन-काल का औसत बीस बीस वर्ष बताया गया है।

† कर्णाट-सूर्य्य-वंशी राजा नान्यदेव से हरिसिंहदेव तक सात राजाओं के नाम मिलते हैं यथा—नान्यदेव, गङ्गदेव, नृसिंहदेव, रामसिंहदेव, शक्तिसिंह, भूपालसिंहदेव और हरिसिंहदेव। खड्गविलास प्रेस में छपे हुए इतिहास में नान्यदेव के अतिरिक्त, जिसका शासन-काल १०९७ से ११२० ईसवी तक लिखा है, शेष राजाओं का काल औसतन् बीस बीस वर्ष लिखा गया है।

* मूल श्लोक से पौष शुक्ल दशमी, भौमवार, के दिन हरिसिंहदेव का, दुर्दैव के कारण, पट्टन से नेपाल को जाना पाया जाता है।



पतिव्रता।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।



"राजा हरिदेव ने कान्तिपुर को अपनी राजधानी बनाया। इस समय कान्तिपुर में भास्करमल्ल राजा था। वह ठाकुरी-वंशी था। भास्करमल्ल के लड़के का नाम केशचन्द्र था। भास्करमल्ल के अन्तकाल के समय केशचन्द्र बहुत छोटा था और भास्करमल्ल ने, मरने के पहले, उसकी रक्षा के लिए रक्षक या अभिभावक नियत कर दिया था। भास्करदेव के मरने पर केशचन्द्र बड़ा खिलाड़ी निकला। वह अपने रक्षक को चकमा देकर भाग जाता और इधर उधर जुआ खेला करता था। उसने हरिदेव की कन्या से विवाह किया। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ; पर वह बचपन ही में मर गया। इससे वह पर्वत-महाविहार नामक विहार बनवा कर भिक्षु हो वहाँ रहने लगा।

"हरिदेव के शासन-काल में पाटन में विप्लव हुआ; और, जब हरिसिंहदेव वहाँ उपद्रव मिटाने के लिए काठमाण्डव से सेना लेकर गया तब उन लोगों ने उसे वहाँ से थम्बहल की ओर भगा दिया। इसी बीच में पालपा और बुटवल के राजा मुकुन्दसेन ने नेपाल पर चढ़ाई की और हरिदेव को हरा कर पाटन में घुस गया तथा मत्स्येन्द्रनाथ के मन्दिर के सामने से भैरव की मूर्त्ति को बुटवल उठा लाया। इस घटना के बाद सात आठ साल तक वहाँ कोई राजा न रहा।" पृष्ठ १६७-१७२

इसके पश्चात् ही पृष्ठ १७४ से फिर दूसरे हरिसिंहदेव का वर्णन मिलता है। लेखक ने इस हरिसिंह को अयोध्या का राजा लिखा है। मुसलमानों के उपद्रव से इसके अयोध्या छोड़ कर सिमराउँगढ़ भाग जाने, वहाँ से अपने इष्टदेव तुरजा भवानी की प्रेरणा से शाके १२४५ (सन् १३२४) में नेपाल जाने, और पूस सुदी ९, शनिवार, को मधुवन में पहुँचने का वर्णन लिखा है। भातगाँव के ठाकुरी-वंशवालों ने इसके लिए गद्दी छोड़ दी। इसने मूलचौक में अपना दरबार किया और वहाँ का राजा हुआ। हरिसिंह के पश्चात्, इसके वंशधरों में मतिसिंह, शक्तिसिंह और श्यामसिंह वहाँ के राजा हुए। खड्गविलास प्रेस में छपे हुए इतिहास में हरिसिंहदेव (१३२४—५०) के अतिरिक्त इन सब का काल बीस बीस वर्ष लिखा है। जान पड़ता है कि लेखक महाशय यह प्रतिज्ञा करके बैठे थे या उन्होंने अपना यह सिद्धान्त ही निश्चित किया था कि किसी का भी राजत्व-काल २० वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। अस्तु।

यही भ्रम अफ़ग़ानिस्तान और नेपाल के इम्पीरियल गैज़ेटियर में भी (पृष्ठ ९८) होगया जान पड़ता है। देखिए*—

"इस अर्थात् कर्णाट-सूर्य्य-वंश और अन्य राज-वंशों के राजाओं का राजत्व-काल इतना अधिक है कि जान पड़ता है, वंशावली-लेखक ने उसे बढ़ा कर लिखा है। हाँ, इतना तो सम्भव जान पड़ता है कि नान्यदेव नाम का राजा हुआ अवश्य है; क्योंकि उसका उल्लेख एक पुस्तक में है, जिससे पता चलता है कि १०९७ ईसवी में उसका शासन था। इसके सिवा उसका नाम एक अभिलेख में भी है, जिससे, ग्यारहवीं शताब्दी में, बङ्गाल के महाराजा विजयसेन से उसका पराजित होना पाया जाता है। नान्यदेव के वंश के छठे राजा को उसकी सेना ने राज-च्युत किया था।

"एक और राजा ने भी, जिसका नाम मुकुन्दसेन था, खस और मगर लोगों की सेना लेकर पश्चिम से उस पर चढ़ाई की थी और उसका राज्य छीन लिया था। पर महामारी के फैलने से वह अपने देश को लौट गया। कई वर्षों तक

* The reign allotted to the six kings of this (karnatik Suryavamsi) dynasty, as well as to those of the earlier lives, are so long that the chronciler has certainly exaggerated them ; and it seems probable that Nanya-Deva is the king mentioned in a manuscript as reigning in 1097, and is also the Nanya referred to in an inscription as having been conquered by Vijayasen of Bengal about the end of the eleventh century. The sixth successor of Nanya-Deva was dethroned by his own army ; and another chief named Mukund Sen then came from the west, with Khas and Magars, and conquered the country, but had to fly when a pestilence broke out. Anarchy continued for some years, and petty chiefs ruled the country for a long period. The chronicles now come into line with other historical records, which are more reliable, and the lengths assigned to the reigns are reasonable. From 1008 onwards the dates of many rulers are fixed by the colophons of manuscripts, as well as by entries in dynastic lists, but other details of their rule are few. Towards the end of the thirteenth century predatory invasions by the Khas from the west began. In 1324 Hari Singh Deva, a Suryavamsi, who had been driven out of Ayodhya by the Musalmans and had settled in the Tarai at Simaun, conquered the valley of Nepal, but does not appear to have maintained any effectual authority over it.

अराजकता रही और देश में छोटे छोटे राजा राज करते रहे। वंशावली में, इसके अनन्तर, दूसरे राजवंश का वर्णन मिलता है। उस वंश के राजाओं का काल सम्भव और घटनायें विश्वसनीय हैं। १००८ ईसवी से इधर के अनेक राजाओं के काल का निश्चय हस्त-लिखित पुस्तकों की प्रशस्तियों से तथा वंशावली के लेखों से होता है; पर उनके राजत्व-काल की घटनायें स्वल्प हैं। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में खसों ने, पश्चिम से आक्रमण करके, लूट-मार करना आरम्भ किया। १३२४ ईसवी में हरिसिंहदेव सूर्य्य-वंशी ने, जो मुसलमानों के डर से अयोध्या से भाग कर तराई में आकर सिमराउँ में रहने लगा था, नेपाल की तराई (Valley) को विजय किया; पर इसका पता नहीं कि वहाँ उसका पूर्ण अधिकार हो गया था या नहीं"।

अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में दो हरिसिंहदेव थे? एक तो कर्णाट-सूर्य्य-वंशी नान्यदेव का वंशधर, दूसरा अयोध्या का सूर्य्य-वंशी राजा, जो मुसलमानों के भय से अयोध्या से भाग कर सिमराउँगढ़ चला गया था?

एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, भाग १, संख्या १, (१९०३ ईसवी) में प्रोफ़ेसर बेडाल का एक लेख निकला है। वह नेपाल-दरबार के यहाँ की हस्त-लिखित पुस्तकों की रिपोर्ट की भूमिका के आधार पर लिखा गया है। उसमें ११०० से १४०० ईसवी तक जो जो राजे हो गये हैं उनके नाम दिये गये हैं। उनकी विवरण-सूची पृष्ठ २१ से २७ तक है। उन राजाओं की नामावली इस प्रकार है—

	पुस्तक-प्रशस्ति	वंशावली
उदयदेव, निर्भयदेव	१००८	—
रुद्र, भोज, लक्ष्मीकामदेव	१०१५	—
लक्ष्मीकामदेव	१०३९	२१ वर्ष
जय	—	३१ ” ललितापुर
भास्करदेव	१०४६	३ ”
बलदेव (बलवन्तदेव)	१०५९–६०	१२ ”
प्रद्युम्न-कामदेव	१०६४–६६	” ”
नागार्जुन	”	२ ”
शङ्करदेव	१०६८–७७	१५ वर्ष
वामदेव	१०८०–८१	३ ”
हर्षदेव	१०९०–९८	१४ (१०८४—९८)
शिवदेव*	१११८–२३	२७ वर्ष ५ मास (१०९८-११२५)
इन्द्रदेव	११२९	—
मानदेव	११३८–३९	४ वर्ष ७ मास
नरेन्द्रदेव (नरसिंहदेव)	११३४	—
आनन्ददेव	११४६—६६	२० वर्ष (११४७–६७)
रुद्रदेव	—	८ वर्ष १ मास
अमृतदेव	११७६	३ ,, ११ ,,
रत्नदेव	११८३	—
सोमेश्वरदेव	—	४ वर्ष ३ मास
गुणकामदेव	११८७	३ वर्ष
लक्ष्मीकामदेव	११९३	—
विजयकामदेव	११९६–९७	१७ वर्ष
अमृतमल्लदेव	१२०१–१६	१५
रणशूर	१२२१	—
अभयमल्ल	१२२३—५२	४२ वर्ष ६ मास
जयदेव	१२५५—५७	२ वर्ष ८ मास
जयभीमदेव	१२६०	१३ वर्ष ३ मास
जय (शाह) मल्ल	—	२ ,, ७ ,,
अनन्तमल्ल	१२७९—८०	—
जयानन्दमल्ल	१३०७—१३१८	
जयरुद्रमल्ल	१३२०	
जयराजदेव	१३४७—१३५६	
जयार्जुनमल्ल	१३६३—७६	

इससे अनुमान होता है कि उस समय, नेपाल में, अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य थे। अनन्तमल्ल के पश्चात् उसके स्थान पर जयानन्ददेव नेपाल का राजा हुआ और जयानन्द-मल्ल के बाद जयरुद्रमल्ल राजगद्दी पर बैठा। वंशावली में उल्लिखित "तत्रान्तरे राजा श्रीजयानन्ददेवः प्रवर्तते। तदनन्तरे

*इसे युवराजदेव, इन्द्रदेव और महेन्द्रदेव भी कहते थे।

श्रीजयरुद्रमल्ल..."वाक्यों से यह बात प्रमाणित होती है। जयरुद्रमल्ल के मरने पर उसकी चार रानियाँ उसके साथ सती हुईं। यह घटना उसी समय के आसपास की प्रतीत होती है जब हरिसिंहदेव ने आक्रमण किया था। जयरुद्र के समय में नेपाल के अनेक राजाओं ने काठमाण्डव पर चढ़ाई की थी। उनमें अदितमल्ल खासिया राजा, मुकुन्दसेन* पालपा के राजा और हरिसिंहदेव का आक्रमण प्रधान है। ये आक्रमण थोड़े ही आगे पीछे हुए होंगे। पर ये सब स्थायी न थे। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि राजा मुकुन्दसेन आदि ने अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली। बहुत सम्भव है कि उन आक्रमणकारियों में से हरिसिंहदेव का अधिकार पाटन पर हो गया हो। परन्तु काठमाण्डव पर उसका अधिकार नहीं हुआ। और, जब, तुग़लकशाह ने सिमराउँ पर आक्रमण किया तब वह सकुटुम्ब वहाँ से भाग कर काठमाण्डव चला गया। क्योंकि दूसरी वंशावली में जयरुद्रमल्ल के अनन्तर उसकी पुत्री, नायकदेवी, का नाम मिलता है। वह काशेश्वर से ब्याही गई थी। तदनन्तर अनेक घरेलू झगड़ों का उल्लेख वंशावली में है। उससे यह अनुमान होता है कि हरिसिंहदेव और उसके वंशधर काठमाण्डव या नेपाल के पूर्ण अधिकारी राजे नहीं हुए। हाँ, पाटन और भाटगाँव भले ही उनके अधिकार में रहे हों।

हरिसिंहदेव को अयोध्या का सूर्य्यवंशी राजा मानना नितान्त भ्रम-मूलक जान पड़ता है। उस समय अयोध्या में कोई राजवंश या राजा न था, जिसका, मुसलमानों के भय से, सिमराउँ जाना माना जा सके। इसके अतिरिक्त मिथिला-मोद के "बाणाब्धिबाहुशशिसम्मितशाकवर्षे" से हरिसिंहदेव का १२४५ शाके अर्थात् १३२४ ईसवी में सिमराउँ से भाग कर नेपाल जाना स्पष्ट है।

खड्गविलास प्रेस में छपे हुए नेपाल के प्राचीन इतिहास में लेखक ने जयस्थितमल्ल को सूर्य्यवंशवालों का नाती लिखा है (पृष्ठ १०१, पंक्ति १०)। यह भी निर्मूल जान पड़ता है। क्योंकि उपर्युक्त एशियाटिक सोसायटी के जरनल के पृष्ठ ११ से यह ज्ञात होता है कि नायकदेवी के पति की मृत्यु विष-प्रयोग से हुई। तदनन्तर हरिचन्द्र के भाई, गोपालदेव, और कर्णाट-सूर्य्य-वंशी जगत्सिंह ने मिल कर नायकदेवी को बन्दी कर लिया तथा पाटन और भाटगाँव पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके बाद ही जगत्सिंह, गोपाल-सिंह का सिर कटवा कर, स्वयं अधिकारी बना; फिर वह स्वयं भी बन्दी-गृह में क़ैद किया गया। इसी बीच में गर्भ-वती नायकदेवी के एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका नाम राजलदेवी पड़ा। नायकदेवी राजलदेवी को दस दिन की छोड़ कर मर गई। तब उसका पालन-पोषण उसकी माता-मही, देवलदेवी, ने किया। वही राजलदेवी हरिसिंह के वंशधर जयस्थितमल्ल से ब्याही गई।

इस घटना की पुष्टि एक वंशावली के निम्नलिखित वाक्यों से भी होती है—

"न (गतसिंह) समाहितसंगृह्यकतं नायकदेवी........श्रीजगतसिंह-कुह्मरस्य परिजने (न) शिरच्छेत्वा श्रीगोपालदेवमृत्यु:। तदनन्तरे कतिपयदिवसे श्रीजगतसिंहकुमारेण राजभुंजितं। पश्चात्तु कुह्मरवंधनं भवेत्। तस्य (८) पुत्री राजलदेवी नाम। जातेन दशदिवसान्ते मातुश्च मृत्यु:। पितामही श्रीदेवलदेवी...........स ४७४ आश्विनशुदि ९ श्रीजयस्थितराजमल्लदेव सक्षेवनम्विज्याङाखवपीन्दुम्बियाभ्याखाचीनं डालालिव विवाहजुष:।

राजलदेवी के विषय में (पृष्ठ ११ के नोट में) बेंडाल साहब लिखते हैं—This prince's mother was Naikadevi ; so that Jagatsinha carried off the bride of his Alley's brother. Rajalla was born N. S. 467 Pus badi 10. अर्थात् इस (राजल्ल) की माता नायकदेवी थी। जगत्सिंह अपने मित्र (गोपाल) की भावज को (अपने अधिकार में कर के) ले गया था। राजल्ल का जन्म नेपाली संवत् ४६७, पूस बदी १० को, हुआ था।

जयस्थितमल्ल के कर्णाट-सूर्य्यवंश होने का प्रमाण सुनिए—

श्रीसूर्य्यवंशप्रभव: प्रताप: श्रीपट्टवन्त: स्थितमल्लदेव:
राजल्लदेव्या: पतिरिन्दुमूर्तिस्तस्यात्मज: श्रीजयधर्ममल्ल:
तस्यानुजो गुणनिधि: सुकृतैकसिन्धुर्भ्राता तु मध्यजवरो जयज्योतिमल्ल:।
तस्यानुजो मदनरूपसमानदेह: भ्रात: कनिष्ठरुचिरो जयकीर्तिमल्ल:।

* गङ्गाविष्णुकृत आचार-प्रदीप में मुकुन्दसेन और उसके वंशधर भृंगी, हम्बीर (राजा त्रिशृङ्गदेश) प्रताप, दामोदर (दिग्विजय) कामराजदत्त और त्रिविक्रम का उल्लेख है। यह पुस्तक त्रिविक्रम के समय में लिखी गई थी।

श्रीज्योतिमल्ल-हृदयनन्दनयक्षमल्लः सर्वाङ्ग-सुन्दरवपुरतिमञ्जुवाणी ।
भक्तापुरीनगरवासितसौख्यकारी दुर्भिक्षदुःखभयहारणदेवमूर्तिः ॥

अर्थात् जयस्थितमल्ल को राजलदेवी से तीन पुत्र हुए—जयधर्ममल्ल, जयज्योतिमल्ल और जयकीर्तिमल्ल। जयज्योतिमल्ल का पुत्र यक्षमल्ल था, जो भक्तापुरी (भातगाँव) का राजा था।

एक दूसरी प्रशस्ति के कर्त्ता ने यक्षमल्ल को स्पष्ट कर्णाट-सूर्य्य-वंशी नान्यदेव का वंशधर लिखा है। यथा—

आसीत् श्रीसूर्यवंशे रघुनृपकुलजे रामचन्द्रो नृपेशः
तद्वंशे नान्यदेवोऽवनिपतिरभवत्तत्सुतो गङ्गदेवः ।
तत्पुत्रोऽभून्नृसिंहो नरपतिरतुलस्तत्सुतो रामसिंहः
तज्जः श्रीशक्तिसिंहो धरणिपतिरतो भूपभूपालसिंहः ।
तस्मात्कर्णाटचूडामणिरिव हरयुत्सिंहदेवोस्य वंशे—
भूपः श्रीयक्षमल्लो नरपतिरतुलो रत्नमल्लोऽप्यसुष्मात्
तस्मात्श्रीसूर्य्यमल्लो ह्यवनिपतिरभूत्तत्तनूजोऽमराख्य—
मल्लोऽभूत्तस्य पुत्रो रिपुगणविजयी श्रीमहेन्द्राख्यमल्लः ।

इसमें स्पष्ट यक्षमल्ल और उनके वंशधरों को कर्णाट-सूर्य्य-वंशी क्षत्री लिखा है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन वंशावलियों के विशेष संशोधन की आवश्यकता है। हिन्दी-भाषा में इतिहास लिखनेवालों का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे बँगला आदि भाषाओं में लिखे गये इतिहासों का अनुवाद करना छोड़ कर, स्वयं, अनुसन्धान-पूर्वक, इतिहास लिखने की टेव डालें। अथवा, यदि अनुवाद ही करना हो, तो अपने अनुसन्धानों को पुस्तक के मूल के नीचे टिप्पणी में साफ़ साफ़ लिख दिया करें। ऐसा करने से हिन्दी-भाषा के भाण्डार में अच्छे अच्छे ग्रन्थ, दिन पर दिन, अधिक होते जायँगे। पर खेद है, अधिकांश हिन्दी-लेखकों का इतिहास से प्रेम नहीं—वे खोज से दूर भागते हैं। उत्तम-शिक्षा-प्राप्त इने गिने सज्जनों के अतिरिक्त बहुत कम लोग अपनी भाषा में इतिहास लिखने का कष्ट उठाते हैं। आज कल के लेखक-दल में अर्द्ध शिक्षित ले-भगुये ही अधिक हैं, जो अनुवाद ही के भरोसे कोड़ियों ग्रन्थों के लेखक बन गये हैं। अब वह समय जाता रहा, जब अनुवाद से साहित्य का भाण्डार भरने की आवश्मकता थी। अब तो वह समय आ गया है कि हिन्दी-भाषा के प्रेमी इतिहास आदि विषयों का अनुशीलन स्वतन्त्र-रूप से करें और नये नये अनुसन्धानों से अभूत-पूर्व ग्रन्थ लिख कर हिन्दी-भाषा के साहित्य को भरें, जिससे आगे के लोगों के लिए यह सुविधा हो जाय कि वे अपनी ही भाषा के द्वारा, थोड़े ही समय, में विविध विषयों में व्युत्पन्न हो जायँ। अन्य भाषाओं की शिक्षा उन्हें भाषाज्ञान के लिए आवश्यक रहे, न कि विविध विद्याओं की प्राप्ति के लिए।

जगन्मोहन वर्म्मा

———

जन्म की राजकन्या।



महाराज रचुपर्ट मेरेनिया देश के राजा थे। उन्हें ताश खेलने का बड़ा शौक़ था। यही शौक़ उनके एक बड़े दरबारी को भी था, जिस का नाम था ड्यूक जोरिस। दोनों रोज़ ताश खेला करते थे। परन्तु ड्यूक इस काम में बड़े निपुण थे। इस कारण राजा उनसे रोज़ हारा करते थे। अन्त में वे अपनी प्रजा, अर्थात् ड्यूक, के ऋणी होगये। इस खिलाड़ी राजा के एक सुन्दर कन्या थी। उसका नाम था स्टेफ़ी। जोरिस उस कन्या के साथ विवाह करना चाहता था। जब उसने देखा कि राजा के ऊपर मेरा इतना ऋण चढ़ गया है कि वह उसे अदा नहीं कर सकता तब उसने चालाकी से यह बात राजा से कही कि यदि आप स्टेफ़ी को मुझे दे दें तो सब ऋण चुक जाय। राजा ने सोचा कि शायद स्टेफ़ी ऐसे पुरुष से विवाह करने के लिए राज़ी न होगी। परन्तु ऋण अधिक था और राजा ड्यूक का साथ भी न छोड़ना चाहता था। इसलिए राजा ने इस मतलब से एक दावत की कि कदाचित् उस दावत में बिचवालों के द्वारा ड्यूक और स्टेफ़ी में प्रेम होजाय और उनके विवाह में कोई बाधा न उपस्थित हो।

लुकेनिया देश के युवराज का नाम पाल था। वह बड़ा वीर था। उसकी सूरत बेरोनी नामक एक प्रसिद्ध गायक से बहुत मिलती थी। इन्हीं दिनों

बेरोनी मेरेनिया देश में राजा की दावत में गाने के लिए जाने वाला था। परन्तु जिस दिन वह चलने को था उसी दिन उसकी टाँग में चोट लग गई और वह जाने से रुक गया। उसके मित्रों को यह सोच कर बड़ा दुःख हुआ कि यदि वह राजा की दावत में न जायगा तो उसकी बड़ी बदनामी होगी। युवराज भी बेरोनी के मित्रों में से था। तब युवराज पाल ने एक नई तदबीर निकाली। उसने कहा, देखो हमारी तुम्हारी सूरत मिलती है। लोग यह भी कहते हैं कि मैं बेरोनी ही की तरह गाता हूँ। चाहे लोग यह बात मुझे ख़ुश करने ही के लिए कहते हों; पर मैं थोड़ा बहुत गा ज़रूर लेता हूँ। इसलिए, मित्र, मेरी राय तो यह है कि मैं राजा के दरबार में तुम्हारे नाम से उपस्थित हो जाऊँ और तुम्हारी बदनामी न होने दूँ।

महाराज रचुपर्ट के दरबार में लोग बड़े ठाट-बाट से जमा हुए और राजा की आज्ञा के अनुसार राजकुमारी जोरिस के साथ बैठी। परन्तु ज्योंही प्रसिद्ध गायक बेरोनी की मीठी तान उसके कानों में पड़ी त्योंही वह उस पर मोहित हो गई। उसे वह प्रेम की पुकार प्रतीत होने लगी। उसी क्षण उसने अपने मन में यह ठान ली कि उसके प्रेमिक का जन्म चाहे जिस कुल में हुआ हो, यदि मैं संसार में किसी से विवाह करूँगी तो इसी मनुष्य से करूँगी।

उधर पाल भी दरबार से रवाना हुआ और दिल में ठान ली कि राजकन्या को अवश्य ही प्राप्त करूँगा; परन्तु अपना राजसी नाम छिपाये रक्खूँगा और एक साधारण मनुष्य की तरह अधिकार प्राप्त करूँगा। वह यह बात भली भाँति जानता था कि प्रेम ऐसी वस्तु है जिसके सामने सारी विघ्न-बाधायें दूर हो जाती हैं।

दूसरे दिन स्टेफ़ी अपनी सखी-सहेलियों सहित अपने गाँव की सैर करने के लिए रवाना हुई। पाल भी एक नाव पर सवार होकर उसी ओर चला। राजकन्या के महल के नीचे पहुँच कर उसने पिछली रात को जो रागिनी गाई थी वही अलापनी शुरू की। जैसे ही राजकन्या के कानों में उस गाने की भनक पड़ी वैसे ही उसने अपने महल की खिड़की खोली और सामने अपने आराध्य देव की मूर्ति देखी। फिर क्या था, वह तुरन्त ही नीचे उतर पड़ी और उसी नदी-तट पर उनकी प्रेम-लीला आरम्भ होगई।

राजकन्या के गाँव जाने की ख़बर सुन कर ड्यूक जोरिस भी वहीं के लिए रवाना हुआ। वहाँ पहुँच कर उसने राजकन्या का प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु स्टेफ़ी ने उसे दूर ही रक्खा। इधर तो जोरिस महाशय प्रेमाग्नि से जले जाते थे; उधर स्टेफ़ी और पाल के दिन आनन्द से कटते थे। क्योंकि अब वे दोनों नित्य-प्रति गुप्त रीति से मिला और बाग़-बाग़ीचों में घूमा करते थे। दोनों एक दूसरे को ख़ूब प्यार करते थे। अर्थात् "दोनों तरफ़ से आग बराबर लगी हुई" थी। परन्तु अब तक राजकन्या को अपने प्रेमी की असली अवस्था का ज्ञान न था।

जोरिस को कुछ शक होने लगा। वह गुप्त रीति से राजकन्या की देख-भाल करने लगा। एक दिन उसने राजकन्या को बेरोनी के साथ देख भी लिया। ड्यूक यह न जानता था कि बेरोनी वास्तव में राजकुमार है। इसलिए जब उसने देखा कि एक साधारण आदमी राजकन्या का प्रेमी बन रहा है, तब उसे बड़ा अचम्भा हुआ। उसने अपने आदमियों को हुक्म दिया कि उस आदमी को पकड़ लाओ, जो एक साधारण मनुष्य होकर भी, जन्म की राजकन्या से प्रेम करता है। पाल पकड़ लिया गया।

उसके छुटकारे के विषय में जोरिस ने राजकुमारी से कहा कि यदि तुम मेरे साथ विवाह कर लो तो मैं उसे छोड़ दूँ। कन्या ड्यूक के दुष्ट स्वभाव से परिचित थी। वह अपने प्रेमी की मुक्ति के लिए बलि-प्रदान होने के लिए राज़ी हो गई। बड़ी वीरता

के साथ उसने ड्यूक से कहा कि यदि आप मेरे प्रेमिक को छोड़ देंगे तो मैं आपसे विवाह कर लूँगी।

जिस समय, इधर, ये शर्तें हो रही थीं उसी समय उधर पाल ने, अपने एक रक्षक की तलवार छीन कर और दूसरे रक्षकों को मार कर, अपनी स्वतन्त्रता आप ही प्राप्त कर ली थी। वह वीर पुरुष अपने रक्षकों से बच कर एक गढ़े में कूदने वाला ही था कि अन्य सिपाहियों ने आकर उसकी रस्सी काट दी और वह धड़ाम से गढ़े में जा गिरा। ऊपर से उस सिपाही ने उसके एक गोली भी मार दी। परन्तु इतनी चोट लगने पर भी वह किसी तरह बच कर मेरेनिया में अपने घर पहुँच गया।

जब जोरिस, राजकुमारी और उसकी दास-दासियों ने जेलख़ाने में जाकर देखा कि बन्दीगृह खुला पड़ा है तब जोरिस बहुत घबराया। उसने चौकीदार को तुरन्त बुलाया। पूछने पर उसे मालूम हुआ कि क़ैदी भाग गया है। यह सुन कर स्टेफ़्नी बहुत हँसी। उसने सब के सामने कह दिया कि मेरा प्रेमिक स्वयं मुक्त हो गया है। इस लिए जो शर्त मैंने जोरिस से की थी उसे पूरा करने के लिए मैं बाध्य नहीं। अब उस इक़रारनामे को रद समझना चाहिए।

ड्यूक ने जाकर सारा हाल राजा से कहा। राजा ने कन्या को महल में बुलाया और उसकी सगाई की तैयारी की। जिस दिन मँगनी होनेवाली थी उसके एक दिन पहले शाम को स्टेफ़्नी की दाई ने उसे एक पत्र दिया। यह पत्र दाई को पाल का एक मित्र दे गया था। उसमें लिखा था कि मैं अपने घर पहुँच गया हूँ, परन्तु चोट लग जाने के कारण ज़ख़मी पड़ा हूँ।

सवेरे, जब सब लोग मँगनी की तैयारी में लगे हुए थे, स्टेफ़्नी, मौक़ा पाकर, अपने प्रेमी से मिलने के लिए खिसक गई। राजकन्या की खोज होने लगी। जोरिस ने चारों ओर अपने आदमी भेजे। थोड़े से फ़ौजी सिपाही लेकर आप भी एक ओर को चल पड़ा। दैवयोग से उसके कुछ गुप्तचर भी उसे मिले। उन्होंने उसे राजकन्या का हाल बताया। वे बोले कि वह अभी अभी एक मकान के अन्दर गई है। जोरिस वहाँ गया। उसने राजकन्या और पाल को वहाँ पाया। पाल ने राजकुमारी को एक कोठरी में बन्द कर दिया और आप तलवार लेकर द्वार पर खड़ा हो गया। जोरिस की आज्ञा पाते ही उसके कई सिपाही पाल पर टूट पड़े। परन्तु उस वीर ने उन सब का काम तमाम कर दिया। जोरिस पर भी वह वार करना ही चाहता था कि जोरिस बोल उठा कि मैं एक राज-घराने का मनुष्य हूँ। मैं बाज़ारू आदमी से लड़ कर अपने हाथ न गन्दे करूँगा। पाल समझ गया कि यह दुष्ट इस बहाने बचना चाहता है। उसने कहा कि आपका कहना ठीक है। यद्यपि बेरोनी आपकी जोड़ का नहीं, तथापि लुकेनिया का राजकुमार तो आपकी जोड़ का है। आइए, राजकुमार से तो दो दो हाथ खेलिए। अब जोरिस के लिए कोई बहाना न रहा। उसे मजबूरन लड़ना पड़ा। उधर राजकन्या भी अपनी कोठरी से निकल कर वह द्वन्द्व-युद्ध देखने लगी। क्योंकि उसमें उसके प्रेमी की जान की बाज़ी लगी हुई थी।

तलवार चलाने में एक से एक बढ़ कर था। दोनों का उद्देश स्टेफ़्नी को प्राप्त करना था। इस लिए दोनों ही जीतोड़ कर लड़ते रहे। अन्त में पाल की जीत हुई और जोरिस धड़ाम से नीचे गिरा।

उधर राजा को भी सब बातों की ख़बर लग गई थी। इस लिए वे भी वहाँ पहुँचे। परन्तु उन्होंने वहाँ पहुँच कर देखा कि जोरिस मरा पड़ा है। यह देख कर उसके होश उड़ गये। अपने संरक्षकों की सहायता से वे भीतर पहुँचे और हुक्म दिया कि पाल को पकड़ लो। लेकिन ठीक उसी समय पाल का सच्चा

मित्र रोडन, जो सदा उसकी मदद करता रहा था, आगया। उसने सारा हाल कह सुनाया। जब राजा को यह मालूम हुआ तब वह पाल से अपनी कन्या का तुरन्त विवाह करने को राज़ी हो गया।

बड़ी धूमधाम से उन दोनों का विवाह हुआ। सब लोग बड़े प्रसन्न हुए कि राज्यकन्या को योग्य वर मिला और राजकुमार को योग्य वधू। उधर राजकुमार इसलिए प्रसन्न था कि मैंने ऐसी पत्नी पाई जो मुझ पर राजकुमार होने के कारण नहीं, किन्तु केवल प्रेम के कारण प्रेम करती थी।

नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी० ए०

कविता-चतुष्टय ।

(१)

पुनर्जन्म ।

महाकाल के हाथ,
अति श्रद्धा के साथ,
मैंने तुझको नाथ !
अपना जीवन भेंट किया।
पर तूने उसको न लिया,
यह क्या किया कि फेर दिया ?
हुई मुझी से भूल,
जीवन का क्या मूल ?
वह है झड़ता फूल
उसको औरों को दूँगा।
फल मैं आप न लूँगा,
तू लेना कृतार्थ हूँगा।

---

(२)

देना-लेना ।

अहो अखिल अन्तर्यामी !
तुम मुझको जो देते हो
फिर जब उसको लेते हो
तब सब कोई बतलाता है कि है भाग्य मेरा फूटा
किन्तु कहो मेरे स्वामी।
क्या तब मैं भी यही कहूँ
या यह कह कर शान्त रहूँ
कि लो, आज दायित्व-भार से अनायास ही मैं छूटा !

---

(३)

पुनरुज्जीवित ।

जी गया मैं जी गया।
जीवन तेरी थाती थी,
योंही खोई जाती थी।
मैं डरता था,
पर मरता था।
किसने मुझे जिलाया ?
तूने अमृत पिलाया।
पी गया मैं पी गया।
यदि आवश्यकता मेरी,
वह थोड़ी या बहुतेरी,
मर्त्यलोक में,
अवनि-ओक में,
तू समझा है स्वामी !
तो हे अन्तर्यामी !
धन्य है तेरी दया।
अब फिर आज्ञा दे मुझको,
मनोभीष्ट जो हो तुझको।
वही करूँगा,
नहीं डरूँगा।
सब विध प्रस्तुत हूँ मैं,
क्योंकि अमृत सुत हूँ मैं।
मृत्यु का भय भी गया॥

---

(४)

यथेष्ट दान ।

दूँगा सब मैं न्यारे न्यारे।
कुछ भी पास न रक्खूँगा मैं,
तभी त्याग-फल चक्खूँगा मैं।

घर घर को, बाहर बाहर को, आज आज को, कल कल को,
जल-थल जल-थल को, नभ नभ को, अनिलानल अनिलानल को।
और तुम्हें क्या दूँगा प्यारे ?
जो तुम माँगोगे सो दूँगा,
बदले में कुछ कभी न लूँगा।
बतला दो सङ्कोच छोड़ कर तुम किसमें प्रसन्न होगे ?
मुझसे अपने को लोगे तुम अथवा मुझको ही लोगे ?

मैथिलीशरण गुप्त

हिन्दी-विनयपत्रिका और मराठी-केकावलि ।



कावलि के कर्त्ता (श्रीयुत मोरोपन्त अर्थात् मयूर-कवि) महाराष्ट्र-देश के निवासी थे। बारामती उनका जन्म-स्थान था। मराठी उनकी मातृ-भाषा थी। तथापि वे हिन्दी के कैसे प्रेमी थे और उनके अन्तःकरण में हिन्दी-कवियों के विषय में कितना आदर था, यह नीचे लिखे उदाहरणों से भले प्रकार जाना जाता है—

देखिए, "मयूर" कवि, एक जगह अपनी रामरीति नामक पुस्तक में, हिन्दी के विषय में, अपना अभिप्राय इस तरह व्यक्त करते हैं—

हिन्दुस्थानी भाषा ग्वालेरी गोड तीहि पञ्जाबी ।

अर्थात् हिन्दी, ग्वालेरी—बुँदेलखण्डी—तथा पञ्जाबी भाषायें मधुर हैं। साधारण मनुष्य भी, जब तक वह किसी भाषा से परिचित न हो, उसकी उत्तमता या अनुत्तमता के विषय में, प्रायः अपना अभिमत स्पष्टतया प्रकाशित करने की धृष्टता नहीं करता। तब मयूर कवि के सदृश मर्मज्ञ और मातृ-भाषाभिमानी कवि विदेशी भाषाओं के 'मधुर' होने का सार्टिफिकट बिना देखे-पढ़े क्योंकर दे सकता है ?

मयूरजी के पूर्वकालीन किसी मराठी-कवि ने हिन्दी के दोहा और सोरठा छन्दों में अपनी कविता की रचना नहीं की। इन छन्दों से मराठी-काव्यों को भूषित करने का सौभाग्य पहले पहल मयूरजी को ही मिला है।

सामान्य कवि, चाहे वे किसी भाषा के हों, प्रायः अपनी भाषा के प्रचलित छन्दों में ही अपनी कविता की रचना किया करते हैं। इसका कारण है। अन्य अपरिचित छन्दों की अपेक्षा इन परिचित छन्दों में वे बड़ी सुगमता से काव्य-रचना कर सकते हैं। उनकी लय और तुक उनको सिद्ध सी होती है। पर मयूर कवि की सत्ता तो मराठी के प्रचलित और अप्रचलित तथा हिन्दी के छन्दों पर भी थी। हिन्दी-छन्दों को अपनाने के लिए मयूरजी ने हिन्दी-काव्यों का परिशीलन अवश्य किया होगा। स्वयं उन्हीं का रचा हुआ एक दोहा देखिए—

महाराष्ट्र भाषेंत ही दोहा रीति नवीच ;
रची मयूरेश्वर इला मनीं धरील कवीच

विठ्ठलस्तुति १

अर्थात् मराठी में दोहा-छन्द की रचना नई है। इसी छन्द में मयूर ने रचना की है। जो कोई कवि होगा वही इसका आदर करेगा।

इससे जान पड़ता है कि स्वयं मयूरजी को भी इस छन्द की अपरिचितता और नवीनता के कारण यह आशङ्का थी कि सामान्य भाषाभिज्ञ शायद इसका आदर न करें। हाँ, कवि अलबत्ते करेंगे।

महात्मा सूरदास, तुलसीदास, कबीर, माधवदास, नरसी मेहता, नाभाजी इत्यादि उत्तरी भारत के भिन्न भिन्न कवियों की कविता का अवलोकन मयूरजी ने ज़रूर किया होगा। उनके बनाये स्तवनों और फुटकर कविताओं से यह भली भाँति प्रमाणित होता है। हिन्दी-कवियों के विषय में उनकी एक आदर-प्रदर्शक उक्ति देखिए—



श्रीमती एनी बेसेंट।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

श्री सूरदास, तुलसीदास कबीरादि सुकवि कवनांतें।
सोडुनि, लावील कवण रसिक दुजाशीं रिकोनि नव नातें।
रामरीति ८

अर्थात् वह कौन (अभागा) रसिक होगा जो महात्मा सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास इत्यादि सुकवियों के वाक्यों को छोड़ कर दूसरों से नया नाता जोड़े?

"तुलसीदासस्तव" की नीचे उद्धृत की गई कुछ आर्याओं से ज्ञात होगा कि मयूरजी के अन्तःकरण में गोस्वामीजी के विषय में कितना आदर था—

श्रीरामपदाब्ज-अलि तुलसीदास हा सदा गावा (१)

तुलसीदासजी मानो श्रीरामचन्द्रजी के चरण-कमल का रस चूसने वाले भ्रमर हैं। सो हमें उनकी निरन्तर स्तुति करनी चाहिए।

श्रीवाल्मीकि च झाला श्रीतुलसीदास, राम-यश गाया;
तरिच प्रेम रसाची खाणी वाणी तशीच वशगा या (२)

रामयश का गान करने में श्रीतुलसीदास मानो मूर्तिमान् श्रीवाल्मीकि ही हो गये हैं। इसी लिए उनकी वाणी, जो प्रेम-रस की खानि थी, महाकवि वाल्मीकि की वाणी के ही सदृश उनके वश में थी।

तुलसीदासें रचिलीं श्रीमद्रामायणें स्वयें सप्त;
ज्यांच्या श्रवणें निवतो संसारी जीव, जो सदा तप्त (३)

तुलसीदासजी ने स्वयं सात रामायणों की रचना की है, जिनके श्रवण से त्रय-तापदग्ध प्राणी संसार में शान्ति प्राप्त करता है।

अब, देखिए, गुसाईंजी के काव्य के सम्बन्ध में उनकी उक्ति क्या ही सरस, मार्मिक और यथार्थ है—

याचें सुप्रेम-भवन-कवन निववितें सदा बुधा सरसें;
हें जों जों सेवावें, तों तों हेव्यचि गमे, सुधा-सरसें। (६)

इनका काव्य मानो उत्तम प्रेम-मन्दिर है, जो ज्ञानियों और पण्डितों को निरन्तर अपनी सरसता से—शोभा और सुन्दरता से—तृप्त करता है; क्योंकि, ज्यों ज्यों इस मन्दिर का भोग किया जाय—ज्यों ज्यों इसके प्रेमभक्ति-पूर्ण काव्यरस का सेवन किया जाय—त्यों त्यों वह अमृत की तरह सेव्य ज्ञात होता है। अर्थात् पीयूष-पान का सा आनन्द मिलता है।

बापा तुलसीदासा! तुलसी ददासामरद्रु रामासीं;
तैसेंचि तूझें नाम प्रभुच्या झालें समान नामा सीं (१०

तुलसीदासजी महाराज! जिस प्रकार आपने भक्तों के कल्प-वृक्ष श्रीरामचन्द्रजी से तुलना पाई—उनके सदृश महत्ता या पूज्यता प्राप्त की—उसी प्रकार आपका नाम भी श्रीरामचन्द्रजी का समानशील हो गया। अर्थात् श्रीरामचन्द्र के नाम की तरह आप का नाम भी पावन और स्मरणीय हो गया है।

श्रीकृष्णमूर्ति जेणें केली, श्रीराममूर्ति, सज्जन हो,
राम-सुत मयूर म्हणे, त्याच्या सुयशोमृतांत मज्जन हो" (१४)

"तुलसीदास-स्तव" की यह अन्तिम आर्या है। इसमें उत्कट राम-प्रेम और उसका प्रभाव प्रकट करते हुए कवि अपने को भी श्री तुलसीदास के अर्पण कर देता है। राम-सुत मयूर कवि उक्त आर्या में कहते हैं कि सज्जनो! जिन्होंने (अपनी उत्कट भक्ति के बल पर) कृष्ण-मूर्त्ति को राम-मूर्त्ति बना दिया; उन (तुलसीदासजी) की उत्तम कीर्त्ति के अमृत-समुद्र में मैं सदा निमज्जन करूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

अब प्रधान विषय पर आइए। मराठी के कविराज "मयूरजी" का "केकावलि" नामक काव्य अनुपम-ग्रन्थ है। उसमें कवि ने, संसार की कठिनाइयों और बुढ़ापे की यातनाओं से त्रस्त और अधीर होकर, अपने उद्धार के लिए परमात्मा की प्रार्थना की है। इस काव्य में १२१ पद्य पृथ्वी-छन्द में हैं। मोर की वाणी का नाम केका है। कवि का नाम भी था मयूर अर्थात् मोर। मोर पृथ्वी का आधार लिये हुए अपनी केका सुनाता है। कवि-मयूर ने भी इसी से पृथ्वी-छन्द का आश्रय लिया है। मयूरजी के एक केकार्द्ध के हिन्दी-अनुवाद से यही बात मालूम होती है—

यम-सेना की विमल ध्वजा अब जरा दृष्टि में आती है।
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है।

यह अनुवाद हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का किया हुआ है।

विस्तृत रामायण की रचना कर चुकने पर भी गोस्वामीजी के चित्त को सन्तोष न हुआ; उन्हें शान्ति न मिली। भक्ति-रस का परिपोष जितना स्वतन्त्र और अधिक होना चाहिए था, रामायण में नहीं हो पाया। तब उन्होंने भक्तिरस से सराबोर विनयपत्रिका की रचना की। इस तरह उन्होंने रामायण की यह न्यूनता पूर्ण की। इससे उनके चित्त को अचल शान्ति प्राप्त हुई। मयूरजी ने भी रामायण, भारत, भागवत आदि मिला कर कोई एक लाख पद्यों की सृष्टि की। पर गोस्वामीजी की तरह उनके भी चित्त को वह शान्ति और सान्त्वना न प्राप्त हुई जिसके लिए वे सदैव तरसा करते थे। इस लिए उन्होंने अपनी केका-ध्वनि से अपने उपास्य-धन श्रीरामचन्द्रजी की प्रार्थना की।

विनय-पत्रिका गोस्वामीजी की विलक्षण बुद्धिमत्ता का परिचय कराती है। केकावलि भी अपने स्वतन्त्र और प्रगल्भ विचारों से कवि का बुद्धि-वैभव प्रकट करती है। हिन्दी में जिस प्रकार विनय-पत्रिका उपास्य-उपासक-भाव के प्रकटीकरण का श्रेष्ठ नमूना समझी जाती है उसी प्रकार मराठी-साहित्य में सेव्य-सेवक के प्रेममय सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली पुस्तकों में केकावलि सर्वोत्तम मानी जाती है। विनयपत्रिका किसी ग्रन्थ के आधार पर नहीं लिखी गई। केकावलि का भी यही हाल है। उसकी भी रचना स्वतन्त्र है। दोनों पुस्तकें "यम-सेना की शुभ्र ध्वजा, जरा, को फहराते हुए" देख कर और "जीवन-अवधि अतिनेरे" जान कर लिखी गई हैं। दोनों कवियों ने अपने पातित्य और परमात्मा की पावनता, दृष्टान्तों के द्वारा दिखा कर, अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करने के सिवा कुछ नहीं लिखा। दोनों में भक्ति और करुण-रस कूट कूट कर भरा हुआ है। दोनों कवियों में मुमुक्षा अतीव उत्कटता के साथ वास करती थी। दोनों का हृदय दीनता और सन्तों के प्रति आदर-भाव से पूर्ण था। दोनों परम राम-भक्त थे। दोनों का ध्येय एक ही—राम-चरण-रति—था। जहाँ दोनों पुस्तकों में पूर्वोक्त बातों का सादृश्य देख पड़ता है वहाँ दोनों में क्लिष्टता भी एक सी नज़र आती है। विनयपत्रिका अपनी क्लिष्टता के कारण जैसे सर्वत्र प्रचार न पा सकी वैसे ही केकावलि की भी पहुँच रसिकमण्डली के बाहर नहीं, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। सामान्य मनुष्य दोनों काव्यों के गूढ़ विचारों को सहसा नहीं समझ सकता। विनयपत्रिका में जैसे सन्धियों और समासों का ताँता पाया जाता है वैसे ही केकावलि में भी सन्धि-समासों की बहुलता है। जैसे—(१) "कवीश्वर-मनःपयोनिधि-सुता-स्तुति", (२) भवच्चरण-कन्यकाआपगा, (३) नतावन-धृत-व्रत, (४) शाश्वत-प्रकृति-रंक, (५) इन्दिरा-बृहदुरोज-संगा, (६) कविता-वधू-स्वीकृति, (७) पृथुक-तन्दुल-प्रसूति" इत्यादि।

यहाँ तक केकावलि और विनयपत्रिका के बहिरङ्ग का साम्य दिखलाया गया। अब उनकी आन्तरिक कल्पनाओं या उक्तियों की एकता देखिए—

विनयपत्रिका—तुलसिदास अपनाइए, कीजै न ढील अब,
जीवन-अवधि अति नेरे (२७३)

हे नाथ! तुलसीदास को अपना लीजिए। अब ढील न कीजिए। मेरा जीवन-काल—अन्त समय—बहुत समीप आ गया है।

केकावलि—"कृतान्त-कटकामलध्वज जरा दिसे लागली;
पुरःसर गदां सवें झगड़तां तनू भागली। (४६)
कृतान्त शिवला नसे तंव, दिसे वरें पावणें (४७)

यम-सेना की धवल ध्वजा—वृद्धता—दिखाई दे रही है—पास आ पहुँची है। सामने समुपस्थित रोगरूप सैनिकों से झगड़ते झगड़ते शरीर थक गया; अर्थात् बुढ़ापे की व्याधियों के कारण शरीर निस्त्राण हो गया। इसलिए, मृत्यु के स्पर्श करने के पहले ही आप मुझे अपना लें।

विनय-पत्रिका—तुम तजि हौं का सों कहौं और को
हितू मेरे (२७३)

प्रभो रामचन्द्र ! ऐसे समय में आपको छोड़ कर और किससे कहूँ ? किसकी शरण जाऊँ ? मेरा भला करनेवाला आपके सिवा और कौन है ?

केकावलि—सहाय दुसरा नसे तुजविणें बळें आगळा (४६)

इस समय मेरी सहायता करने वाला सामर्थ्य-शाली तुम्हारे सिवा दूसरा कौन है ?

केकावलि—तरेन तुमच्या बळें भव-महानदी नाविका ;
तुम्हीं च मग आतरास्तव मला सुदीना विका (२२)

विनयपत्रिका—कीजै दास, दास तुलसी अब
कृपा-सिन्धु बिनु मोल बिकाऊँ (१२३)

मयूरजी ने अपने को भव-नदी पार उतारने की प्रार्थना की; पर जब उनको यह स्मरण हुआ कि नाव का किराया देने के लिए तो मेरे पास कुछ भी नहीं तब अपने उपास्यदेव से कहते हैं कि आप मुझ दीन को बेच डालें और नाव की उतराई वसूल कर लें।

गुसाईं जी कहते हैं कि मुझे अपना दास बना लीजिए—ख़रीद लीजिए—(और जो कहो कि ऐसे नीच को मोल लेने से क्या लाभ, तो) हे कृपा-सिन्धु ! मैं बिना ही मोल के बिकने को तैयार हूँ—बिना स्वार्थ के आपका दास होना चाहता हूँ।

बिकने की कल्पना तथा पर्याय-उद्देश्य दोनों के एकही हैं। दोनों में श्रीराम-प्राप्ति का स्वार्थ विद्यमान है। मयूरजी ने अपने स्वार्थ को स्पष्ट कर दिखाया है। गोस्वामीजी के बिन मोल बिकने में भी आन्तरिक स्वार्थ—इच्छा—अवश्य है। वे भी यही चाहते हैं कि, किसी न किसी तरह, रामचरण तक पहुँच हो जाय।

केकावलि—पटुत्व सकलेन्द्रियीं मनुजता सुवंशीं जनीं (१२)

विनयपत्रिका—साधन-धाम विबुध दुर्लभ तनु मोहिँ कृपा
करि दीन्हों (१७८)

यहाँ दोनों ही दुर्लभ मनुष्य-तन पाकर अपने को परमात्मा का कृतज्ञ मानते हैं।

केकावली—भवन्मतिस आवडे जरि धनादिकां लागिं तें
मदीय गुण कीर्तन श्रवण कां तरी त्यागिते (५१)

विनयपत्रिका—जो मोहिँ राम लागते मीठे।
तो नव रस षट्रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। (१६९)

मयूरजी अपने उपास्यदेव के वकील बन कर कहते हैं कि यदि तुझे मेरी चाह होती तो तेरी बुद्धि मेरे गुणों के कीर्तन और श्रवण से विमुख होकर धनादि विषयों में क्यों निरत रहती ? अर्थात् तुझे अब तक विषय प्यारे लगते हैं। जब तक वे तुझे प्यारे लगेंगे मैं कड़ुआ ही लगूँगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि जो मुझे रामजी मीठे लगते तो शृङ्गारादि नव रस और मधुर-अम्लादि षट्रस सब नीरस और फीके लगते।

इससे पाया जाता है कि दोनों कवियों पर विषय-वासनाओं का प्रभाव एकसा था। उससे छुटकारा पाने के लिए दोनों ही ने अपने अपने ढँग से रामचन्द्र से प्रार्थना की है।

केकावलि—नमस्कृति परां बरें स्वधन सर्व ही अर्पितां (२८)

केवल सप्रेम अन्तःकरण से नमस्कार करने-वाले को तुम अपना अच्छा से अच्छा धन (चारों मुक्तियाँ), अर्पण कर देते हो।

विनयपत्रिका—सकुचत सकृत प्रणाम सो
साखी ताको विदित विभीषण बैठो है
अविचल धाम सो (१५७)

तुम एक बार के प्रणाम मात्र से सकुचा जाते हो कि, मैं इसके बदले प्रणाम करनेवाले का क्या भला करूँ। इसका साक्षी विभीषण है, जो तुम्हारी शरण में आते ही लङ्का के अचल धाम में जा बैठा है—लङ्का का राजा चिरकाल के लिए होगया है।

केकावलि—दयाब्द वळशील तूं, तरि न चातकां सेवकां
उणें किमपि; भाविका उबगशील तू देव कां।
अनन्यगतिका जना निरखितांचि सोपद्रवा
तुझेंचि करुणार्णवा, मन धरी उभोपद्रवा (२०)

विनयपत्रिका—जीवन को दानी घन कहा ताहि चाहिए
प्रेम-नेम को निबाहे चातक सराहिए (१७८)

यहाँ भक्तों को 'चातकों' की ओर उपास्य को 'मेघ' की उपमा देते हुए मयूरजी कहते हैं—

हे दयाघन! तुम चातकों (भक्तों) की ओर झुकोगे तो उन को किसी बात की भी न्यूनता न रहेगी और तुम उनकी उपेक्षा (उनकी ओर झुकने में सङ्कोच) करोगे भी क्योंकर? क्योंकि तुम स्वयं जानते हो कि चातकों का जीवन तुम्हारे ही हाथ है। अतएव उनको "अनन्यगति" जान कर, तुम बिना माँगे ही वर्षा करते हो।

अब गोस्वामीजी के भाव को देखिए। पानी का देने वाला 'मेघ' चातकों से क्या चाहता है? निःस्वार्थ भाव से ही वह चातकों को जल देता है। मेघ की यह उदारता चातकों को प्रेम और नेम की प्रशंसा का अवसर देती है।

यहाँ दोनों कवियों ने यह भाव बड़ी उत्तमता से दिखाया है कि यदि चातकों के चित्त में मेघ के साथ प्रेम और नेम न हो तो भी मेघ अपनी स्वार्थ-रहित उदारता से उस प्रेम और नेम को (जो चातकों में होना चाहिए) प्रकट कर दिखाता है। इसी तरह परमात्मा भी अपने जनों की भक्ति को (उनमें न हो तो भी) अपने कृपा-प्रसाद से प्रस्फुटित कर देता है। या यों कहिए कि अनन्यगति भक्तों पर बिना भक्ति और प्रेम के भी परमात्मा प्रसन्न होता है।

× × × × ×

मराठी में मयूरजी का एक विस्तृत जीवन-चरित है। उसमें यह दिखाया गया है कि मयूर-कवि ने हिन्दी-काव्यों का अवलोकन किया था और उन्हें लिपिबद्ध भी कर लिया था। चरित-लेखक ने उनके पूर्व-कालीन मराठी और संस्कृत-कवियों की समानार्थक कल्पनाओं के उदाहरण देकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि मयूर-कवि ने संस्कृत और मराठी काव्यों का बहुत परिशीलन किया था; पर हिन्दी-काव्यों के ऐसे ही दृष्टान्त देकर आपने उनके हिन्दी-कविता-ज्ञान का ज्ञान पाठकों को नहीं कराया। ढूँढ़ने वाले को मयूरजी की कविता में हिन्दी-कवियों की कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब अवश्य मिलेगा। क्योंकि, "मयूरेश्वरभृङ्ग" ने हिन्दी-भाषा-कमल से भी मधुर रस का पान किया था।

विनय-पत्रिका और केकावलि की कुछ मिलती-जुलती कल्पनायें आपके सामने हैं। आपकी दृष्टि में यह सादृश्य ठीक ठीक और आदरणीय प्रतीत हो तो मैं यह कहने की धृष्टता कर सकूँगा कि हो न हो हिन्दी-विनय-पत्रिका की देखा-देखी ही मयूरजी को मराठी-केकावलि रचने की स्फूर्ति हुई होगी।

पूर्वोक्त जीवन-चरित्र में उसके लेखक पाङ्गारकर महाशय ने केकावलि की उत्पत्ति के विषय में यह कहा है कि मराठी "कृष्ण-विजय" के ईशस्तुति-विषयक बहुतेरे श्लोक पृथ्वी-छन्द में हैं। उसके कुछ श्लोक केकावलि के ढँग के हैं। मयूरजी को ईशस्तवन के लिए पृथ्वी-छन्द पसन्द था। इसलिए इस कथन-मधुर और सुयोग्य वृत्त में मौलिक काव्य निर्माण करने की उन्हें इच्छा हुई। अतः केकावलि का बीज कृष्ण-विजय की रचना के समय प्रस्फुटित हुआ।

यह विचार भी एक मर्यादा तक ठीक है। परन्तु मैं कहता हूँ कि कृष्ण-विजय की अपेक्षा विनय-पत्रिका में केकावलि की उत्पत्ति के कारण अधिक मिल सकते हैं। दोनों कवियों के पूर्वोक्त कल्पना-साम्य इसके साक्षी हैं। कृष्ण-विजय और केकावलि में छन्द तथा रचना के ढँग की समता के सिवा और कोई कारण नहीं पाया जाता।

रामचन्द्र गोविन्द काटे।

नोट—काटे महाशय ने बड़ी कृपा करके मोरोपन्त की केकावलि का अनुवाद हिन्दी में कर डाला है। आशा है किसी दिन वह भी हिन्दी-प्रेमियों के दृष्टिगत होगा। स० स०

———

खुशामदी टट्टू ।

सुनिए प्रेम समेत आप सिद्धान्त हमारा—
अति अद्भुत है और बृहत् वृत्तान्त हमारा ।
हम हैं परम प्रसिद्ध खुशामदवाले टट्टू ;
लिखे पढ़े हम नहीं, रहे बस अक्षरचट्टू ॥१॥

जिससे कुछ मिल जाय उसी का गुण गाते हैं;
निन्दा से हम तनिक न मन में भय खाते हैं ।
चिन्ता करके अशुभ स्वामि-शुभचिन्तक बनते;
होकर भी अति अधम अकड़ कर हम हैं चलते ॥२॥

भरते हैं निज पेट अन्य के घर को भर के,
घर पर हैं पर बने हुए हम पर के घर के ।
जाति हमारी दुखी न हो यदि हाथ हमारे,
पक्षपात का पङ्क लगे तो माथ हमारे ॥३॥

देश रसातल चला जाय पर हमें न ग़म है;
हमें तरक़्क़ी मिले देह में जब तक दम है ।
अपने सुख से सुखी जानते हैं हम सब को;
अपने दुख से दुखी जानते हैं हम सब को ॥४॥

वेदों के भी भेद खोल कर हम धर देते ;
शास्त्रों की भी कठिन समस्या हल कर देते ।
कवि, कोविद, वर विज्ञ लगे कहलाने हम हैं;
मन्त्र तन्त्र से कभी .खुशामद क्या कुछ कम है ? ५॥

जिससे निकले काम बड़ाई उसकी करते;
उसके मुख पर विविध बुराई सब की करते ।
अपने कुल से मेल बाहरी हम रखते हैं ;
पर उसका अपकार सदा छिप कर करते हैं ॥६॥

हमें वही है वन्द्य, निन्द्य कहता जग जिसको ;
स्तवन सुना कर तुष्ट किया करते हैं उसको ।
चाहें तो हम तुच्छ काच को रत्न बना दें ;
चाहें तो हम निशा-तिमिर में मिहिर दिखा दें ॥७॥

निर्गुणियों को गुणी बनाते फिरते हैं हम ;
जान बूझ कर पाप-गर्त्त में गिरते हैं हम ।
वाल्मीकि ने असुर बनाया था ब्राह्मण को ;
हमने सुर से श्रेष्ठ बनाया राक्षस-गण को ॥८॥

पर कुरसी पर गये न अब तक हम बैठाये ;
किसी तरह यदि बैठ गये, तो गये उठाये ।
सबसे बढ़ कर नाम हमारा हुआ न अब तक ;
किसकी किसकी करें .खुशामद हा हम कब तक ॥९॥

एक दिवस हम खड़े हुए निज प्रभु के आगे ;
पूर्व-जन्म के कर्म हमारे मानो जागे ।
ईश्वर से भी अधिक उन्हें हम लगे बनाने ;
और ऊपरी भक्ति दिखा, जय लगे मनाने ॥१०॥

प्रभु से बढ़ कर और नहीं है कोई जग में ;
श्रीश ईश से बीस आप होंगे पग पग में ।
प्रभु से ऊँचा अधिक ताड़ भी कभी न होगा ;
बली आप से अधिक साँड़ भी कभी न होगा ॥११॥

चतुर्वर्ग को आप लुटा देते हैं मुख से ;
सदा आपके दास जेब भरते हैं सुख से ।
बना रहे सरकार ! सदा दरबार तुम्हारा ;
कारबार भी बना रहे घरबार तुम्हारा ॥१२॥

देश, वेश, धन, धर्म रिहन है पास आपके ;
देह, गेह, सत्कर्म रिहन है पास आपके ।
कठपुतली के तुल्य नचाते रहिए हम को ;
जो जी चाहे आप डाट कर कहिए हम को ॥१३॥

पीट दीजिए आप, हमें परवाह नहीं है ;
बने रहें हम दास चित्त में चाह यही है ।
सत्तू देकर हमें, आप मृदु मेवा चखिए ;
तो भी हम हैं मस्त नाथ ! यदि भूखे रखिए ॥१४॥

चन्द्र, सूर्य मिट जायँ मिटे रत्नाकर खारा ;
सारा जग जल जाय जले सर्वस्व हमारा ।
बने रहें पर आप ताप चाहे हमको हो ;
जो कहिए हम करें पाप चाहे हमको हो ॥१५॥

जब से प्रभु का चरण-कमल अवनी पर आया—
तब से ही देवत्व सभी मनुजों ने पाया ।
विरसा थी यह भूमि तुरत सरसा हो आई ;
सूख गई थी शस्य-पंक्ति झटपट हरियाई ॥१६॥

लोहा भी हो गया कनक, छूकर प्रभु पग को ;
झट जीवित कर दिया आपने मुर्दा जग को ।
कल्पवृक्ष तृण किया, किया हीरा कङ्कड़ को ,
किया निशा को दिवस, किया अति चेतन जड़ को ॥१७॥

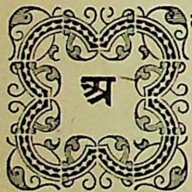
यदि गुलाब-जल-जलधि बीच में स्नान करें हम;
और यत्न कर सुधा-सरोवर पान करें हम ।

वाणी पर भी जीभ हमारी करे चढ़ाई,
कर सकते हम नहीं आपकी तदपि बड़ाई ॥१८॥
पत्थर पर भी कमल खिलानेवाले तुम हो;
नभ में भी उद्यान लगानेवाले तुम हो।
यदि चाहें तो आप जलधि में आग लगा दें,
भाग्य जगा दें, और देश के दुःख भगा दें ॥१९॥
आप करें अपकार, हमीं उपकार करेंगे;
अपमानित हों क्यों न, तदपि सत्कार करेंगे।
सुखद स्वत्व सर्वस्व निछावर हम कर देंगे;
नाथ! मानिए सत्य अन्न मुट्ठी भर लेंगे ॥२०॥
सदा बढ़े नाथ! प्रताप आप का;
मुझे न होवे डर झूठ पाप का।
तुम्हें मिले कीर्ति-लता हरी भरी;
मुझे मिले उत्तम उच्च नौकरी ॥२१॥

रामचरित उपाध्याय

सन्तू।

(१)



अतीत भारत के अतीत गौरव-चिह्नों को अपने सुविशाल वक्षस्थल पर धारण कर उज्जयिनी नगरी आज भी अपना मस्तक ऊपर किये खड़ी है। सुभग-सलिला भगवती सिप्रा भूतनाथ भगवान् महाकाल के चरणों को स्पर्श करती हुई अनन्त में मिलने के लिए चली जा रही है। उसका यह क्रम इसी प्रकार अव्याहत चला जाता है। संसार-चक्र भी भविष्यत् को वर्तमान बनाता तथा वर्तमान को अतीत के गर्भ में डालता हुआ अबाधित चला जाता है। इसी से कहना पड़ता है कि "दुरतिक्रमणीयो हि कार्य्यधारापातबन्धः।" सिप्रे! उज्जयिनी की चिरसङ्गिनी सिप्रे! तुम्हारी इन तरल और उत्ताल तरङ्गों ने अनेक दुःखित आत्माओं को शान्ति दी होगी। तुम्हारे इस कर्ण-मधुर कलकल-निनाद ने अनेक उत्साह-शून्य आत्माओं में कार्य्यकारिणी शक्ति का सञ्चार किया होगा। तुम्हारे इस वृक्षाच्छादित निर्जन कूल पर अनेक संसारविरत महानुभावों ने बैठ कर उस अनन्त का साक्षात्कार किया होगा। सरल-तरले सिप्रे! ग्रीष्म-ऋतु में किसी न किसी दिन महाराज भर्तृहरि अवश्य तुम्हारे तट पर आये होंगे। सान्ध्य प्रकाश का दृश्य भी उन्होंने वहीं से देखा होगा; और, फिर देखा होगा चन्द्रालोकित नैश गगन। मन्द मन्द वायु के झकोरों ने जब उनके हृदय में नाना प्रकार के भाव जागृत कर दिये होंगे तब क्या उनके श्रीमुख से—

"मन्दो मरुत् सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं
ग्रीष्मे मदञ्च मदनञ्च विवर्धयन्ति"—

ये उद्गार सहसा न निकल पड़े होंगे? इन्हें अवश्य ही तुमने सुना होगा। क्या तब तुम्हारे आनन्द की कुछ भी सीमा रही होगी? भगवति सिप्रे! एक दिन काली निशा से तुम्हारे दुकूल व्याप्त हुए होंगे। उस दिन उन्हीं भर्तृहरि के हृदयाकाश में वैराग्य का सूर्य्य उदित हुआ होगा। क्या तुमने उनको—"धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च"—कहते सुना था? मा! क्या कह सकती हो कि उन्होंने इन्हीं तटद्वय पर कितनी रात्रियाँ निशीथ-चिन्ता में व्यतीत की होंगी? जाने दो, मा! कदाचित् यह अतीत गाथा तुमको चर्वित-चर्वण प्रतीत हो।

एक एक करके दस बज गये। देखते देखते सब दीपक बुझ गये। कोलाहल शान्त हो गया। उज्जयिनी प्रशान्ति की प्रतिमूर्ति बन गई। उस स्तब्ध नगरी के भव्य मस्तक पर भगवान् रजनीनाथ उदित हो गये। क्या सङ्कुचित गलियों में और क्या राजमार्ग पर, सब कहीं, गृहावलियाँ चुपचाप खड़ी थीं। सब अपनी अपनी सुख-शय्या पर सो रहे थे। पर, दूर, कोई अपने कलकण्ठ-कण्ठ से गा रहा था—

"सोओ सुखनिँदिया प्यारे ललन......"

एक कमरे में दीपक जल रहा था। एक शुभ्र पलँग पर एक सप्तदशवर्षीय रुग्ण युवक लेटा हुआ था। उसका मुख मुरझाया हुआ तथा शरीर अत्यधिक कृश था। उसकी विशाल आँखें अन्दर धँस गई थीं। सिरहाने एक और युवक बैठा था। रोगी का सिर युवक की गोद में था। रोगी ने कहा—"दादा, पानी। गला सूखा जाता है। पानी। देखते क्या हो?"

युवक ने बड़े ही मीठे और करुण स्वर में कहा—"भैया, सन्तू, पहले यह दवा पीलो, फिर तुम्हें जल देंगे।"

सन्तू बोला—"विमल दादा, अब मैं दवा अवा न लूँगा। पानी।"

विमल ने कहा—"क्यों भैया, ऐसा हठ क्यों करते हो?"

सन्तू शान्ति से कहने लगा—"विमल दादा, अब तो "औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः।"

विमल कुछ न बोला। सन्तू ने आँख मूँद ली। फिर आँखें खोल कर विमल की ओर बड़ी करुण दृष्टि से देखने लगा। विमल को यह दृष्टिपात बड़ा हृदय-भेदक जान पड़ा। उसने बड़ी कठिनता से अपने आँसुओं को रोका।

सन्तू फिर कहने लगा—"दादा! आप दुराशा की आस किये बैठे हैं। मेरी यह बीमारी साधारण नहीं। आप........अरे! आप रोते हैं?"

विमल बालकों के सदृश रोने लगा। कमला पास ही खड़ी थी।

सन्तू बोला—"भाभी, देख तो भैया को न जाने क्या हो गया है?"

कमला ने इसके पहले कभी विमल की आँखों में आँसू न देखे थे। आज उसने देखा कि विमल के दृढ़ हृदय ने धैर्य्य का दिवाला निकाल दिया।

वह विमल से बोली—"यह क्या? यदि आप उनके सामने यों बच्चों के से आँसू बहावेंगे तो..."

विमल बोला—"नहीं कमला, रोता कहाँ हूँ।"

विमल ने अपने आँसू पोंछ डाले।

सन्तू ने कहा—"अच्छा लाओ, यदि मेरे दवा न पीने से आपको कुछ कष्ट होता हो तो पीलूँ।"

विमल ने दवा की कटोरी उसके ओठ से लगा दी। वह दवा पी गया।

फिर वह बोला—"अब तो पानी दो।"

विमल ने कमला को गरम किया हुआ पानी लाने का इशारा किया। कमला ने विमल के हाथ में एक गिलास दे दिया। उसने सन्तू से कहा—"लो"। सन्तू ने एक घूँट पीकर मुँह फेर लिया—

"अरे! भाई यह तो गरम है। ठण्डा लाओ।"

कमला बोली—"लाला, आप समझदार होकर ऐसी बातें करते हैं। अभी यही पी लो।"

विमल बोला—"भैया, ठण्डा जल सुबह देंगे।"

यह सुन कर सन्तू मानों किसी आन्तरिक भाव से प्रेरित हो कहने लगा—

"कब दादा? सुबह? पर किसे?"

यह कह कर वह चुप हो गया। उसके चेहरे पर थोड़ी सी मुसकुराहट दिखाई दी। इन शब्दों को सुन कर और उस भावभरी मुसकान को देख कर विमल सिहर उठा! सन्तू! क्या प्रातःकाल के पूर्व ही तुम किसी महान् अज्ञेय पथ के पथिक हो जावगे? क्या सचमुच तुम इस मुसकुराहट से यह जता रहे हो कि अभागे तूने तो शीतोदक से मेरी तृषा तक न बुझाई!

(२)

"टन्, टन्, टन्"—विमल ने चौंक कर घड़ी की ओर देखा। तीन बजा कर मिनिट की सूई आगे चली गई। सन्तू की आँख कुछ लग गई थी। विमल कमरे के बाहर आया। उसने देखा कि निद्रादेवी सारे जगत् पर अपना मोह-जाल फैलाये हुए है। शीतल मन्द समीरण बह रहा है। माता प्रकृति प्राणि-मात्र को थपकियाँ दे दे कर सुला रही है। चन्द्रदेव ने सहचरी रजनी को अपनी कौमुदी का स्वच्छ पट पहना दिया है। वे अपने करों से गोपाल-मन्दिर तथा महाकाल-मन्दिर के उच्च शिखरों का स्पर्श करके मानो हँस रहे हैं। सहचरी यामिनी घुल घुल कर चन्द्र से बातें कर रही है। तारकायें इस प्रेमालाप को सुन कर खिली पड़ती हैं। कैसा सुन्दर शान्त समय है। किन्तु उत्तप्त हृदय को शान्ति कहाँ? कभी कभी पहरेवाले "जागते रहना"—कह कर चिल्ला उठते हैं। पासवाले इमली के पेड़ पर दिवान्ध देवता कभी कभी अपनी कर्कश बोली से इस स्तब्धता को भङ्ग कर देते हैं। विमल इधर उधर शून्य दृष्टि से देखने लगा। याद आता है, बहुत दिन नहीं हुए, तब विमल एक रात को इसी तरह आकाश की ओर मुँह किये देख रहा था। उस दिन उसने अपने एक अभिन्न-हृदय को खो दिया था। उस दिन उसे सर्व संसार शून्य दिखाई देता था। आज उसका प्राणों से प्यारा भाई मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ था। उस दिन वह नैराश्यपूर्ण अन्धकार में भटक रहा था। और आज? आज वह घने अँधेरे में एक क्षीण ज्योति को देख रहा था। आज वह बड़ी दुबिधा में था। उसे उस जीवन-ज्योति के बुझने की बड़ी आशङ्का थी। उसने अपने आप पूछा—"अगर ज्योति बुझ गई तो?" ओफ़! कैसा भयानक प्रश्न है! इसका उत्तर उसे न मिला। वे दिन रोज़े के थे। एक फ़क़ीर दूर पर गा उठा—

"चुन चुन मिट्टी महल बनाया, कोई कहे घर मेरा है।
ना घर तेरा ना घर मेरा, चिड़िया रैन बसेरा है॥"

विमल ने इसे सुना या नहीं सो हम नहीं जानते।

पीछे से किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। इस कोमल करस्पर्श से विमल चैांक उठा। देखा कि कमला मुँह लटकाये खड़ी है।

विमल ने पूछा "क्यों कमला ?"

कमला ने धीरे से कहा—"वे न जाने क्या बर्रा रहे हैं।"

विमल बिना कुछ कहे वहाँ से चल दिया। कमरे में आकर देखा कि सन्तू नींद में कुछ बर्रा रहा है। वह झट उसके पास जाकर बैठ गया। सन्तू नींद में कह रहा था—"... मेरा... का...म ...देश ...से ...वा ...र ...ह ...भ ...ग...नू"

विमल ने पुकारा—"सन्तू !"

सन्तू चैांक उठा।

विमल ने पूछा—"सन्तू! क्या बर्राते थे ?"

सन्तू चुप रहा। वह विमल के मुख की ओर देखने लगा। कुछ देर बाद सन्तू को ज़ोर से हिचकियाँ आने लगीं। कमला ने यह देखा। उसने दौड़ कर नौकर से कहा—डाक्टर को बुला लाओ। नौकर आज्ञापालन करने दौड़ा।

थोड़ी देर तक किसी तरह आँखों द्वारा अपने भाव प्रकट करते हुए सन्तू बोला—

"दादा, अब मैं चलने पर हूँ। किन्तु एक बात कहता हूँ। आपको मेरे जीवन का कार्य्य-भार अपने ऊपर लेना होगा।"

यह कह कर वह विमल की ओर देखने लगा। विमल चुप थे।

सन्तू फिर बोला—"मुझे अत्यन्त दुःख है कि मैं इस कार्य्य को पूर्ण किये बिना ही जाता हूँ। यदि आप उसे पूर्ण करने का वचन दें तो मैं सुख से प्रयाण कर सकूँ।"

विमल फिर चुप रहा। उसने अपने निर्बल हृदय पर हाथ रक्खा। वह ज़ोर से धड़क रहा था। सामने देखा कि छोटे भाई सन्तू का कार्य्य एक विशाल पर्वत के सदृश है। विमल ने अपने हृदय से पूछा—

"निर्बल! क्या तुम इस इतने बड़े अनुष्ठान के साधन में फलीभूत हो सकोगे ?"

कुछ उत्तर न मिला। विमल को इस प्रकार मौन देख कर सन्तू उत्तेजित हो उठा।

वह बोला—"विमल दादा! तो क्या मुझको इस प्रकार निराश ही जाना पड़ेगा ? अच्छा, यह भी ठीक ही है। यदि इसी प्रकार प्रबल पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए मैं अपने प्राणविसर्जन कर सकूँ तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं अपने इस कार्य्य को जन्मान्तर में अवश्य पूर्ण कर सकूँगा। विमल दादा, आप इसका भार अपने ऊपर न लें। अब... मु...झे...जाने...दें।"

विमल अपने अल्पवयस्क भाई के इस अद्भुत साहस को देख कर प्रारम्भिक उत्साह से उत्तेजित हो उठा।

वह बोला "भैया सन्तू! तेरा कार्य्य मैं करूँगा।"

सन्तू लड़खड़ाती ज़बान से कहने लगा—"नहीं दादा...प्रणाम...मेरा...का...र्य...मे...रे...साथ...भाभी ...दादा...देख...ना...प्र...ण।......" (एक हिचकी) और बस!!!

कमला चीख़ मार कर गिर पड़ी। चीखें सुन कर डाक्टर बाबू उलटे पैर लैाट गये। विमल के नीचे से पृथ्वी खिसक गई! सर्वत्र अन्धकार!

(३)

सन्तू इस संसार में नहीं। उसे गये बहुत दिन हो गये। किन्तु सृष्टि के सब कार्य्य ज्यों के त्यों चले जा रहे हैं। सूर्य्योदय होता है, सूर्य्यास्त होता है; दिन आता है, रात जाती है। शीतला सिप्रा भी कलकलनाद करती हुई उसी प्रकार अष्ट प्रहर बहती चली जा रही है। उज्जैन-निवासियों के सारे कार्य्य आनन्द से चल रहे हैं। महाकालेश्वर के मन्दिर में "हरो३म् हर" की ध्वनि अब भी प्रातः-सायं उसी प्रकार कर्णगोचर होती है। सन्ध्या के समय आर० एम० रेलवे भी निश्चित रूप से स्टेशन पर आ जाती है। सन्तू के बिना कोई भी कार्य्य रुका सा दिखाई नहीं देता।

सायङ्काल का समय है। अस्ताचल-सन्निकटवर्ती भगवान् अंशुमाली अपने आरक्त करों से उज्जयिनी नगरी के उच्च सौध-शिखरों को स्पर्श कर रहे हैं। विमल इस समय म्युनि-सिपल-पार्क में एक बेञ्च पर बैठा है। वह आकाश की ओर देख रहा है। उसने देखा कि आकाश अनन्त है और मैं भी अनन्त के गर्भ में स्थित हूँ। सन्तू की आत्मा भी इसी



राजा वीरबल, नंबर (१)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।





अकबर बादशाह के मुसाहिब दानिशवर राजा वीरबल, नं० (२)
इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

अनन्त के गर्भ में स्थित है। फिर मैं सन्तू को क्यों नहीं पाता? हाँ, अवश्य पाऊँगा। किन्तु कब? अनन्त के गर्भ में अनन्त वस्तुयें हैं। सन्तू भी उन अनन्त वस्तुओं में से एक है। मैं भी एक हूँ। अतः मैं एक इन अनन्त में से उस एक को किस प्रकार ढूँढ़ सकता हूँ? क्या करूँ? इसके लिए मुझे भी अनन्त होना पड़ेगा। बस। तब सन्तू और मैं एक हो जाऊँगा। फिर सन्तू के ढूँढ़ने की आवश्यकता ही क्या? इतने में उसका ध्यान टूट गया। पास ही देखा कि "चना जोर गरम" की आवाज़ लग रही है।

फिर उसने देखा कि सूर्यास्त हो चुका। कौवे आमने सामने के दो वृक्षों पर बैठ कर काँव काँव कर रहे हैं। उनकी काँव काँव से विमल को सन्तू की एक बात का स्मरण हो आया। वह अपने आप कहने लगा—"सन्तू! ठीक इसी समय, इसी स्थान पर, इन्हीं कौओं के रव को सुन कर तुमने एक दिन मुझसे कहा था कि इधर के कौवे तो उदार-दल के (Liberals) हैं और उधर के अनुदार-दल के (Conservatives). ये इस समय आयरलेंड के स्वराज्य-सम्बन्धी प्रश्न को हल कर रहे हैं। बालक! तुम्हारे इस अपरिमित ज्ञान पर मैं उस रोज़ मोहित हो गया था। किन्तु वही बात आज मुझे शूल सी क्यों चुभती है।"

विमल उठ कर घर गया। सिर-दर्द का बहाना करके वह बिना भोजन किये ही पलँग पर पड़ गया। कमला पास बैठ कर धीरे धीरे सिर दबाने लगी। इसी दशा में विमल को नींद आ गई। निद्रादेवी ने भी उसे विचार-तरङ्गों से मुक्त न किया। वह स्वप्न देखने लगा। मानो वह एक दुर्गम वन में चला जा रहा है। आकाश में सघन मेघ आ आ कर घिरने लगे। ठण्ढी हवा ख़ूब ज़ोरों से चलने लगी। देखते देखते आकाश मेघों से व्याप्त हो गया। धीरे धीरे अन्धकार और घना होता गया। अब मूसलधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। अँधेरा यहाँ तक बढ़ा कि हाथ को हाथ न सूझने लगा। इतने में बिजली चमकी। उसके प्रकाश में देखा कि सन्तू उस मूसलधार पानी में बाल-स्वभाव-जन्य कलोलें कर रहा है। उसने यह भी देखा कि वह ख़ूब ठण्ढा जल पी रहा है। विमल नींद में बोल उठा—

"सन्तू, यह क्या? पानी में मत खेलो। बीमार हो जावगे।"

सन्तू ने मुसकरा कर कहा—"अभागे विमल दादा, तुमने तो ठण्ढे जल से मेरी प्यास न बुझाई"!

इसके बाद विमल अपना हृदय मसोस कर आगे बढ़ा। वह एक बार ज़ोर से पुकारने लगा—

"सन्तू! तुम कहाँ हो? सन्तू! तुम कहाँ हो?"

पर उस झञ्झा-वायु से क्षुब्ध अरण्य में केवल यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी—"सन्तू तुम कहाँ हो? !!!"

अब मानो विमल इस जङ्गल से पार होने की चेष्टा करने लगा। धीरे धीरे बादल फटने लगे। यत्र तत्र तारे चमकने लगे। भगवान् शर्वरीनाथ ने अपना सुन्दर मुख फिर दिखाया। अबके विमल ने देखा, मानो निर्जन वन में एक पहाड़ के नीचे दो नदियों का सङ्गम है। वहाँ एक सुन्दर वाटिका है। उस वाटिका में एक कुटीर है। एक ओर एक नदी, कदली-कुञ्ज में क्रीड़ा करती हुई, सुन्दर शुभ्र स्फटिक शिलाओं से टकराती हुई, वृक्षों की टहनियों से छेड़ छाड़ करती हुई, दूसरी नदी में अपनी वक्र धारा को मिलाती हुई, उसके वक्षस्थल पर विश्राम लेती हुई, दृग्गोचर होती है। उस शान्ति-कुटीर में एक युवा संन्यासी बैठा है। विमल ने इस पुष्प-वाटिका के भीतर जाना चाहा। इस पर उसके हृद्गत भावों को जान कर ही मानो संन्यासी बोला—

"विमल दादा, यह पवित्र स्थान आरम्भ-शूरों के लिए नहीं। अभागे विमल! तुमने केवल आरम्भ-शौर्य्य के वशीभूत होकर मेरा यह महत्तम अनुष्ठान करने का प्रण किया था। जाओ। अपने दायित्व-भार को समझो!"

विमल ने चौंक कर कहा—"ओफ़! सन्तू!!"

विमल की आँख खुल गई। उसने सिरहाने कमला को बैठे देखा। वह उठ कर बैठ गया।

सारा शरीर पसीने से तर था। कमला ने मीठे स्वर से पूँछा—

"क्या है?"

विमल ने काँपती हुई भर्राई आवाज़ से कहा—"कमला! यदि हृदय एञ्जिन का बाइलर होता तो भक् से फट जाता!!!"

नवीन

विविध विषय

१—संयुक्त प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा की दशा।

गत अक्तोबर की सरस्वती में—म्यूनीसिपैलिटियों में मुफ़ और अनिवार्य्य शिक्षा—नाम का एक नोट प्रकाशित हुआ है। उसमें यह भी लिखा गया है कि मुफ़ और अनिवार्य्य शिक्षा के विषय में रिपोर्ट करने के लिए गवर्नमेंट ने एक कमिटी सङ्गठित करना स्वीकार कर लिया है। पर १७ नवंबर १९१७ के प्रान्तिक गैज़ट में कौंसिल की कारवाई का जो लेखा प्रकाशित हुआ है उसे देखने से मालूम हुआ कि हमसे अपने पूर्वोक्त नोट में एक भूल होगई है। माननीय मुंशी नारायणप्रसाद अस्थाना का प्रस्ताव तो मुफ़ और अनिवार्य्य शिक्षा के विषय में ही था। पर गवर्नमेंट ने उस प्रस्ताव को जिस संशोधित रूप में मंज़ूर किया है उसमें "मुफ़" (Free) शब्द नहीं, केवल "अनिवार्य्य" (Compulsory) शब्द है। अर्थात् जो कमिटी सङ्गठित होगी वह केवल इस बात पर विचार करेगी कि म्यूनीसिपैलिटियों की हद में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य्य करने के लिए क्या कारवाई करनी चाहिए। अस्तु। कौंसिल में अपना प्रस्ताव उपस्थित करते समय पूर्वोक्त मुंशी जी ने इस प्रान्त की प्रारम्भिक शिक्षा की अवस्था का मिलान अन्यान्य प्रान्तों की अवस्था से कर के संयुक्तप्रान्त की निरक्षरता का बड़ा ही भीषण चित्र दिखाया। आबादी के लिहाज़ से यही प्रान्त भारत में सबसे बड़ा है, क्योंकि यहाँ की मनुष्य-संख्या ४ करोड़ ७१ लाख से भी अधिक है। पर निरक्षरता के लिहाज़ से यही सब से पीछे है। आश्चर्य्य और दुःख की बात तो यह है कि शिक्षा की इतनी कमी होने पर भी उसके लिए यहाँ, और प्रान्तों के मुक़ाबले में, बहुत ही कम ख़र्च किया जाता है। देखिए, ७ वर्ष पूर्व, भारत के मुख्य मुख्य प्रान्तों में फ़ी एक हज़ार आदमी पीछे कितने आदमी साक्षर थे—

बङ्गाल में ७७	मदरास में ७५
बिहार में ३९	पञ्जाब में ३७
बम्बई में ६९	संयुक्त-प्रान्त में ३४

और कुल भारत में फ़ी एक हज़ार पीछे केवल ६२ आदमी साक्षर थे। इसका यह अर्थ हुआ कि भारत में फ़ी सदी केवल ६·२ और संयुक्तप्रान्त में फ़ी सदी केवल ३·४ आदमी कुछ गोद गाद लेते हैं। अब, देखिए, लड़कों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए नीचे के प्रान्तों में मदरसे कितने थे—

मदरास में २४,०४४	बङ्गाल में ३६,३४२
बम्बई में ११,६०९	संयुक्तप्रान्त में ९,२५४

यह हिसाब १९११-१२ ईसवी का है। इसके अनुसार मदरास में संयुक्तप्रान्त के ढाईगुने और बङ्गाल में कोई चौगुने लड़के थे!

पढ़ने योग्य उम्र के लड़कों में से फ़ी सदी कितने लड़के प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले मदरसों में थे, इसका हिसाब नीचे देखिए—

मदरास में २८.४	मध्य-प्रदेश में २२·३
बम्बई में ३०.३	पञ्जाब में १४.५
बङ्गाल में २८.१	संयुक्तप्रान्त में १३·८

अर्थात् संयुक्तप्रान्त में जहाँ १०० लड़कों को प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए वहाँ केवल लगभग १४ को मिलती है; बाक़ी ८६ लड़के मदरसे का मुँह तक नहीं देखते!

निरक्षरता का तो यह हाल है। अब लड़कों की प्रारम्भिक शिक्षा में किये गये वार्षिक ख़र्च का हाल सुनिए—

	रुपये
मदरास में	३७, ७४,०००
बम्बई में	५०, ०२,०००
बङ्गाल में	३०, ०७,०००
संयुक्तप्रान्त में	१९, ४३,०००

किस प्रान्त में कितने छात्र प्रारम्भिक मदरसों में थे, यह भी देखिए—

बङ्गाल में	११, २४, ८५४
मदरास में	९, ४०, ६८९
बम्बई में	६, ७२, ३६१
संयुक्तप्रान्त में	४, ८०, ५४४

प्रारम्भिक शिक्षा की इस हीनता पर विचार करके इस प्रान्त का कौन सा समझदार सज्जन दुःख और शोक से सन्तप्त न होगा? अशिक्षा ही सारे क्लेशों की जड़ है।

सारे दुखदर्दों का प्रधान कारण वही है। उसे दूर नहीं, तो बहुत कुछ कम, कर देने से भी अनेक आपदाओं से उद्धार हो सकता है। धन्यवाद है गवर्नमेंट को जिसने बहुत कहने सुनने से म्यूनीसिपैलिटियों की हद में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य्य करने के इरादे से कमिटी बनाना तो मंजूर कर लिया। सर्वत्र न सही, बड़े बड़े शहरों और क़सबों में ही स्कूल जाने योग्य सभी लड़कों को तब तक शिक्षा मिले। निरक्षरता का सबसे बड़ा अड्डा गाँवों में ही है, शहरों में नहीं। देहाती लड़कों को बलात् शिक्षा देने का न मालूम कब समय आवेगा।

२—मातृभाषा के द्वारा शिक्षा-विस्तार की आवश्यकता।

गत आक्तोबर में कलकत्ते के एक पुस्तकालय का वार्षिक अधिवेशन था। उसके सभापति थे माननीय सर आशुतोष मुखोपाध्याय सरस्वती। उस अवसर पर बाबू प्रमथनाथ चौधरी ने बँगला भाषा के द्वारा शिक्षा दी जाने के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा। उसमें उन्होंने और और बातों के सिवा यह भी कहा कि जब तक विद्यालयों में वङ्ग-भाषा का पूर्ण प्रवेश न हो जायगा और जब तक सारे शिक्षणीय विषय उसी भाषा में न सिखाये जायँगे तब तक वङ्ग-भाषा अपनी यथार्थ मर्य्यादा और प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सकेगी। आपने कहा, एक समय था जब अँगरेज़ी पढ़े लिखे शिक्षित बङ्गाली बँगला लिखना तो दूर रहा, बँगला में बातचीत करना तक हीनता-सूचक और मानहानिकर समझते थे। आरम्भ में सभी अनुन्नत भाषाओं की यही दशा होती है। जिस अँगरेज़ी भाषा का आसन आज इतना ऊँचा है, उसकी भी, किसी समय, यही दशा थी। वह भी गँवारों की भाषा समझी जाती थी। इसीसे लार्ड बेकन को अपनी विज्ञान-विषयक पुस्तक—Novum Organum—लैटिन में लिखनी पड़ी थी। पर यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रहती। जैसे जैसे लोगों को अपनी भाषा की उन्नति से होनेवाले लाभों का ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उनके पूर्व विचार बदलते जाते हैं। बेचारी हिन्दी की भी इस समय वही दशा है जो किसी समय अँगरेज़ी और बँगला की थी। अँगरेज़ीदाँ उसे कुछ कुछ अपनाने अवश्य लगे हैं। पर अपने समकक्ष सुजनों के सामने अधिकांश लोग उसके द्वारा अपने मन के भाव प्रकट करते झिझकते हैं। यदि वे हिन्दी बोलते भी हैं तो बीच बीच में अँगरेज़ी शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करके अपनी अँगरेज़ीदानी का प्रमाण अवश्य देते जाते हैं।

चौधरी महाशय का निबन्ध सुन कर सर आशुतोष ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। आपने कहा—प्रबन्धपाठक की सम्मति बहुत ठीक है; उनके विचार प्रशंसनीय हैं। पचीस तीस वर्ष पहले अँगरेज़ीदाँ सचमुच ही बँगला भाषा को गँवारू भाषा समझते थे।। आपने इसका एक उदाहरण भी दिया। आप बोले—तीस वर्ष हुए, विलायत से लौटे हुए एक भद्र पुरुष से मैं मिलने गया। वे लगे अँगरेज़ी बोलने। मैंने उनसे बँगला में कहा—हम दोनों ही बङ्गाली हैं। अतएव हमें मातृभाषा में ही बातचीत करनी चाहिए। किसी अँगरेज़ के साथ अँगरेज़ी बोलना अनुचित नहीं; किन्तु बङ्गाली के साथ अँगरेज़ी बोलने की चेष्टा करते समय मेरी जीभ, मुँह के भीतर, जड़ीभूत सी होजाती है। इस पर विलायत-प्रवासी उस सज्जन ने कहा—आपका कहना ठीक है। पर बँगला भाषा तो सम्मान की दृष्टि से देखी ही नहीं जाती। इसीसे लाचार होकर मुझे अँगरेज़ी में बातचीत करनी पड़ती है। तथापि, तब से वे बँगला ही बोलने लगे। याद रहे, ये महाशय बड़ी ही सुन्दर बँगला भाषा बोलना जानते थे। बँगला को तुच्छ समझने के कारण ही वे उसके सम्पर्क से दूर रहते थे।

सर आशुतोष की राय है कि स्कूलों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं वे सब वङ्ग-भाषा ही के द्वारा पढ़ाये जाने चाहिए। अँगरेज़ी को सिर्फ़ भाषा की दृष्टि से पढ़ाना चाहिए। कालेजों में भी बँगला का प्रचार धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व सूत्रधार की यह सम्मति बड़े महत्त्व की है। पर इस प्रान्त के सुशिक्षितों और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों पर शायद ही इसका कुछ असर हो।

३—गाँधीजी के मातृभाषा प्रेम का एक उत्कृष्ट उदाहरण।

गाँधीजी मातृभाषा के कितने प्रेमी और हिन्दी-प्रचार के कितने पक्षपाती हैं, यह बात उनके लेखों और वक्तृताओं से अच्छी तरह प्रकट है। इस बात को वे देशोद्धार और देशोन्नति का प्रधान साधन समझते हैं। यही राय अन्य

अनेक देश-भक्तों की है। पर औरों की राय से गाँधीजी की राय बहुत अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि गाँधीजी के जितने काम होते हैं, उनके गभीर विचारों के निष्कर्ष के आधार पर होते हैं। बिना ख़ूब गहरा विचार किये, बिना दूर तक सोचे, बिना परिणाम पर अच्छी तरह ध्यान दिये, वे न तो कोई राय ही क़ायम करते हैं और न कोई काम ही करते हैं। इसीसे उन्हें अपने प्रयत्नों और उद्योगों में कामयाबी होती है। वे बड़े विवेकशील हैं। अतएव जब वे यह कहते हैं कि देश के पुनरुद्धार की चेष्टा करनेवालों को मातृभाषा का पक्षपाती और प्रेमी होना चाहिए तब मन यही कहता है कि उनका कथन अवश्य ही सच होगा। उनके मातृभाषा-प्रेम का एक उदाहरण सुनिए। उन्होंने गुजराती भाषा में एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने जेल के अपने अनुभवों का वर्णन किया है। इसी पुस्तक में एक जगह उन्होंने लिखा है कि निष्क्रिय-प्रतिरोध के कारण जब वे एक बार दक्षिणी अफ़रीक़ा के एक जेल में थे तब उन्हें उनकी धर्म्मपत्नी की बीमारी का सूचक तार मिला। यदि वे जुरमाना अदा कर देते तो उन्हें जेल से छुटकारा मिल जाता और वे अपने घर जाकर अपनी पत्नी के औषधोपचार आदि का प्रबन्ध कर सकते। पर ऐसा करना उन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल समझा। अतएव जेलर की आज्ञा प्राप्त करके अपनी पत्नी को उन्होंने गुजराती में एक पत्र लिखा। इस पत्र को देख कर जेलर चौंका, क्योंकि वह उसे पढ़ न सका। ख़ैर, उसे तो उसने जाने दिया। पर हिदायत की कि गाँधीजी अपने अगले पत्र अँगरेज़ी में लिखें। गाँधीजी ने कहा, मेरे हाथ के गुजराती पत्र, इस बीमारी की दशा में, मेरी पत्नी के लिए दवा का काम देंगे। इस कारण, आप मुझे गुजराती में ही लिखने की आज्ञा दीजिए। पर जेलर ने न माना। फल यह हुआ कि गाँधीजी ने अँगरेज़ी में लिखने से इनकार कर दिया। मेरी रोगाक्रान्त और आसन्न-मरण पत्नी को मेरे पत्र मिलें चाहें न मिलें, पर मैं अँगरेज़ी में उन्हें पत्र न लिखूँगा! ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ और ऐसे मातृभाषा-भक्त को इन्दौर के आठवें सम्मेलन ने अपना सभापति बना कर बहुत ही अच्छा काम किया है—

रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन

हर्ष की बात है, इन प्रान्तों के निवासी, अँगरेज़ी के नये पदवीधर, भी अपनी मातृभाषा हिन्दी के महत्त्व को समझने लगे हैं, और उसमें कभी कभी लेख भी लिखने लगे हैं। पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाने, और, शायद हम जैसों के हृदय में आतङ्क उत्पन्न करने, के लिए अपने पत्र वे अँगरेज़ी ही में लिखना पसन्द करते हैं—सभी नहीं, कोई कोई। ये कोई कोई महाशय १० सफ़े का लम्बा लेख तो हिन्दी में लिख भेजेंगे, पर उसके साथ का पत्र अँगरेज़ी में! और, उस अँगरेज़ी पत्र का उत्तर हिन्दी में जाने पर उसका प्रत्युत्तर फिर भी अँगरेज़ी ही में लिखेंगे! ऐसों में से यदि किसी उदारात्मा ने हिन्दी-पत्र का उत्तर हिन्दी में लिखा भी तो नीचे दस्तख़त ज़रूर ही अँगरेज़ी में करेंगे। आज ही एक राव-बहादुर का एक पत्र मिला। वह है तो हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि में, पर नीचे आपके दस्तख़त हैं अँगरेज़ी में! हम लोगों को यह आदत भी छोड़ देनी चाहिए।

४—कुछ प्राचीन वैद्यक-ग्रन्थ।

कलकत्ते के कविराज विरजाचरण गुप्त कविभूषण ने अँगरेज़ी में एक छोटी सी पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—An Account of the Principal Works of the Atreya School of Medicine. इस पुस्तक की एक कापी आपने कृपा करके हमें भी भेजी है। प्राचीन समय में महर्षि अत्रि और उनके अनुयायी रोगों की चिकित्सा विशेष करके ओषधियों ही द्वारा करते थे। इस कारण ये लोग आत्रेय शाखा के चिकित्सक कहलाते थे। महर्षि धन्वन्तरि और उनके शिष्यादि, जो फोड़े, फुन्सी आदि की चिकित्सा शस्त्रप्रयोग द्वारा करते थे, धन्वन्तरि-शाखा के अन्तर्गत माने जाते थे। कुछ चिकित्सक ऐसे भी थे जो इन दोनों प्रणालियों के द्वारा रोग-नाश का उपाय करते थे। ये पिछले लोग शालाक्य कहाते थे। कविभूषणजी ने अपनी इस छोटी सी पुस्तक में पहली शाखा के प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्राचीन वैद्यों के ग्रन्थादि का विवरण दिया है और उनके विषय में अन्यान्य ज्ञातव्य बातें भी लिखी हैं। इन प्राचीन वैद्यों के विषय में कई विद्वानों के लेखों से कुछ भ्रम उत्पन्न होगये हैं। आपने उनका भी निरसन किया है। आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु-आत्रेय इन तीनों को आपने पृथक् पृथक् तीन चिकित्सक सिद्ध किया है। अत्रि के पुत्र आत्रेय को ही आपने सबसे पुराना माना है। उनके ६ शिष्य थे—अग्निवेश, भेल, जातुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि।

इन सबने अपने अपने तन्त्र अलग अलग निर्म्माण किये। उन सब में अग्निवेश-तन्त्र सर्वाधिक माननीय हुआ। वह अब प्राप्य नहीं। चरक मुनि ने उसी तन्त्र के आधार पर—उसे घटा बढ़ा कर—अपने ग्रन्थ चरक-संहिता की रचना की। पर उसमें अग्निवेश-संहिता के चिकित्सा, कल्प और सिद्धि-स्थान के कुछ अध्याय छोड़ दिये। अर्थात् उनका सारांश अथवा संशोधितांश उन्होंने अपने ग्रन्थ में नहीं रक्खा। इस कमी को पञ्जाब के निवासी दृढबल नामक एक वैद्य ने पूरा किया। मतलब यह कि वर्त्तमान चरकसंहिता में अग्निवेश, चरक और दृढबल इन तीनों की कृतियों का मिश्रण है। इसके सिवा उसमें और और वैद्यों ने भी यत्र तत्र क्षेपक सन्निविष्ट कर दिये हैं। इन सब बातों पर कविभूषणजी ने विद्वत्तापूर्ण बहस की है और अपनी सम्मतियों को प्रमाणों और युक्तियों से परिपुष्ट किया है। आपने आत्रेय शाखा के अन्यान्य वैद्यों—वाग्भट, माधव, वृन्द, चक्रपाणिदत्त, वङ्ग-सेन, शार्ङ्गधर, भावमिश्र—और उनके ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। इस शाखा के वैद्यों के ग्रन्थों के टीकाकारों के भी नाम आदि आपने दिये हैं।

आपने अपना यह निबन्ध बड़ी खोज से लिखा है। अँगरेज़ी जाननेवाले वैद्यों को इसे अवश्य देखना चाहिए। आपका पता है—४४, बीडन स्ट्रीट, कलकत्ता।

५—गड़ा हुआ ख़ज़ाना।

रुपया-पैसा और सोना-चाँदी गाड़ रखने की चाल बहुत पुरानी—हज़ारों वर्षों की—है। इस चाल के लिए लोग अकसर इसी देश को अधिक बदनाम करते हैं। पर बात ऐसी नहीं। और देशों में भी—उन देशों में जिनको अपनी सभ्यता का गर्व है—सोने-चाँदी के ज़ेवर और सिक्के गड़े हुए अब तक पाये जाते हैं। राज्यक्रान्ति के समय लोगों को अपना धन-धान्य लुट जाने का भय, पूर्वकाल में, बहुत था। चोरी और डाकेज़नी भी बहुधा हो जाया करती थी। लूट-मार की कमी न थी। बैंकों का कहीं पता न था। इस दशा में लोग करते क्या? अपनी मूल्यवान् वस्तुओं को गाड़ रखने के सिवा उनकी रक्षा का और कोई अच्छा उपाय ही न था। इस तरह गाड़ा गया धन अकसर अचानक मिल जाता है। रुपये-पैसे की तो बात ही नहीं, प्राचीन समय में कौड़ियाँ भी बड़े मूल्य की चीज़ समझी जाती थीं। हज़ारों वर्ष की गड़ी हुई ढेरों कौड़ियाँ भी कहीं कहीं मिली हैं। ऐसी कौड़ियाँ बहुत देर तक अपने असली रूप में नहीं रह सकतीं। हवा लगने पर वे चूर चूर हो जाती हैं। कुछ ही देर में उनका ढेर एक प्रकार के चूने में परिवर्तित हो जाता है। सोने-चाँदी के सिक्के और आभूषण अलबत्ते नहीं बिगड़ते। चिरकाल तक गड़े रहने पर भी वे प्रायः अपने पूर्व रूप में बने रहते हैं। अभी, कुछ समय हुआ, मदरास-प्रान्त में एक बहुत बड़ी निधि, गड़ी हुई, प्राप्त हुई है। नेलोर ज़िले में एक मौज़ा कोदूर है। यह जगह समुद्र के पास है। किसी समय यहाँ अच्छी बस्ती थी। यह एक छोटा सा बन्दरगाह था। धनी व्यापारी यहाँ रहते थे। उनके मकानों के कुछ कुछ चिह्न अब तक यहाँ पाये जाते हैं। इसी मौज़े के पास, एक बाग़ में, ताँबे और मिट्टी के कई घड़ों में भरी हुई पुरानी अशरफियाँ मिली हैं। इन अशरफियों की संख्या १६,८८६ और मूल्य कोई १ लाख १६ हज़ार रुपया है। ये अशरफियाँ पश्चिमी शाखा के चालुक्य-वंशीय नरेशों के समय की हैं। कुछ बहुत पुरानी हैं, कुछ कम। पर पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद की एक भी नहीं। अतएव सभी, कम से कम, छः सात सौ साल की पुरानी अवश्य हैं। इस गड़े हुए धन के विषय में पुरातत्त्व-विभाग के कर्म्मचारी कृष्णशास्त्री ने एक रिपोर्ट लिखी है। उसमें इसका विस्तृत वर्णन है। मदरास की गवर्नमेंट ने इस रिपोर्ट का प्रकाशन करके इसकी प्राप्ति का विवरण सर्वसाधारण को सुलभ कर देने की कृपा की है। पुराने ज़माने की इतनी अधिक अशरफियाँ, एकही जगह गड़ी हुई, इसके पहले शायद और कहीं नहीं प्राप्त हुईं।

६—बड़ोदे में पहलवानों के अखाड़े।

बड़ोदे में जुम्मादादा-व्यायामशाला नाम का एक अखाड़ा है। उसके प्रोफ़ेसर माणिकराव ने अपने एक मराठी-लेख की पुस्तकाकार छपी हुई एक कापी भेजी है। उसमें लिखा है कि बड़ोदे में मल्लविद्या का आदर बहुत समय से—कोई १०० वर्ष से—है। १८१६ ईसवी में तत्कालीन गायकवाड़-सरकार के यहाँ ६ पहलवान थे। धीरे धीरे उनकी संख्या १२१ और ख़र्च ७३,४०० रुपये वार्षिक हो गया। महाराज खण्डेराव के शासन-समय में इस विद्या का आदर और

भी बढ़ा और कोई ढाई लाख रुपया वार्षिक ख़र्च होने लगा।

महाराज स्वयं व्यायामशील थे। उन्होंने अपने महल ही में एक अखाड़ा बनवाया था। उसकी मिट्टी में "सैकड़ों मन" इत्र डाला गया था। वहीं आप कसरत करते और कुश्ती लड़ते थे। अनेक नामी नामी पहलवान आप ने रख छोड़े थे। उनमें से आठ पहलवान "वज्रमुष्टि" कहाते थे। महाराज ने अपनी दिनचर्या प्रति दिन के लिए अलग अलग निश्चित कर दी थी। किसी दिन आप कनकौवे-बाज़ी कराते थे। किसी दिन मुरग़ों की लड़ाई और किसी दिन हाथियों की मुठभेड़ देखते थे। किसी दिन फ़ौज की निगरानी, किसी दिन तैराकों की तैराई और किसी दिन दङ्गल देखने जाते थे। एक बात आप और भी कराते थे। आप के यहाँ वज्रमुष्टि-उपाधिधारी जो पहलवान थे उनको द्वन्द्व-युद्ध आप हर छठे महीने देखते थे। ये पहलवान सींगों के वज्रमुष्टि-नामक पञ्जे हाथ में लेकर अखाड़े में उतर पड़ते थे। इनका एक एक जोड़ नियत हो जाता था। ये एक दूसरे पर उसी पञ्जे से आघात करते थे। ऐसा करने से इनके शरीर लोहू-लोहान हो जाते थे। व्याकुल क्या म्रियमाण हो जाने पर जब दो में से एक कह देता था कि मैं "हार गया" तब यह युद्ध बन्द होता था। खण्डेराव महाराज इस युद्ध को देख कर बड़े प्रसन्न होते थे और वज्रमुष्टि-पहलवानों को बड़े बड़े उपहार देते थे। रोमन-साम्राज्य के समय, रोम में, ग्लैडिएटर (Gladiator) नामधारी नरों के द्वन्द्व-युद्ध देख कर रोम के नर-नायक भी बहुत आनन्दित होते थे। उनके युद्ध तभी बन्द होते थे जब दो में से एक या कभी कभी दोनों ही गिर कर मर जाते थे। यह बात बड़ोदे में न होती थी। बड़ोदे के वज्रमुष्टियों को प्राणों से हाथ न धोना पड़ता था। दोनों में यही भेद था। महाराज मल्हारराव गायकवाड़ के समय में केवल २२५ पहलवान रह गये थे और ख़र्च घट कर ७० हज़ार रुपया वार्षिक हो गया था। वर्त्तमान महाराज गायकवाड़ ने इन संख्याओं में बहुत अधिक कमी कर दी है। अब केवल २३ सरकारी पहलवान हैं। दङ्गल होली, दिवाली के दिनों में ही होते हैं।

७—इँगलेंड की सैनिक-बल-वृद्धि।

संयुक्त-प्रान्त की गवर्नमेंट कृपा करके एक विलायती मासिक पत्र सरस्वती के लिए भेजती है। उसका नाम है—(The War Pictorial) उसमें केवल युद्ध-सम्बन्धी चित्र रहते हैं। इन चित्रों को देख कर वर्त्तमान युद्ध की भीषणता बहुत ही अच्छी तरह ध्यान में आजाती है। इस पत्र का कोई कोई चित्र देख कर हृदय पर कड़ी चोट लगती है; क्योंकि जर्मनी की सेना गिरजाघरों पर ही गोले बरसा कर सन्तोष नहीं करती; वह क़बरिस्तानों तक को नहीं छोड़ती। एक चित्र में यह दिखाया गया है कि क़बरें टूटी फूटी पड़ी हैं। उन पर लगे हुए नाम-निर्देश-सूचक पत्थर चूर चूर हो गये हैं। गोलों के आघात से गड़ी हुई लाशें ऊपर निकल आई हैं और हड्डियाँ तथा खोपड़ियाँ इधर उधर बिखर गई हैं! इस मासिक पत्र की जूलाई और अगस्त १९१७ की कापियों और उनके साथ बाँटे गये—The War of Munitions—नामक पत्रक से ज्ञात होता है कि इँगलेंड ने अपनी सैनिक शक्ति किस सीमा तक बढ़ा दी है। यह वृद्धि स्थगित नहीं, दिन पर दिन अधिकाधिक हो रही है। कुछ उदाहरण लीजिए—युद्ध के पहले इँगलेंड की सेना में केवल २,७५,००० जवान थे। पर अब उनकी संख्या ५० लाख से भी अधिक हो गई है! जल-सेना में पहले १,४६,००० सैनिक थे; अब हैं ३,५०,०००! १९१४ की जूलाई में केवल ३ शस्त्रागार और शस्त्रास्त्र बनाने के कारख़ाने थे। अब एक सौ से भी अधिक हैं!

गोला-बारूद आदि बनाने के कारख़ानों में इस समय कोई २५ लाख आदमी काम कर रहे हैं। उनमें से लगभग २३ लाख के स्त्रियाँ हैं। बम के गोलों की तैयारी ३३ गुनी हो गई है। तोपों के गोले इतनी अधिकता से बनते हैं कि हफ़्ते में बने हुए गोलों का वज़न २,७०,००० टन से भी अधिक हो जाता है! कुछ विशेष प्रकार के गोलों की तैयारी तो सौगुनी अधिक हो गई है! बड़ी बड़ी तोपें पहले से दस गुनी और मैशीन-गनें बीस गुनी बन रही हैं। पूर्वोक्त पत्रक में लिखा है कि जब तक जर्मनी का दर्प चूर्ण न हो जायगा तब तक इँगलेंड अपना सैनिक बल और अपनी युद्धसामग्री इसी तरह बढ़ाता चला जायगा। तथास्तु।

८—अकबर बादशाह निरक्षर था या साक्षर?

बहुत कम लोगों को शायद यह बात ज्ञात होगी कि

जिस अकबर बादशाह के सुशासन की इतनी ख्याति है वह टीपू सुलतान के सदृश बिलकुल ही निरक्षर था। इस विषय में बँगला के भारतवर्ष नामक पत्र में बहुत कुछ "भवति न भवति" हुई है। बाबू नरेन्द्रनाथ लाहा, एम० ए०, बाबू अमृतलाल शील और मौलवी वाहिदहुसैन ने अनेक प्रमाणाभासों के द्वारा यह दिखाने की चेष्टा की कि अकबर साक्षर था, निरक्षर नहीं। पर बाबू व्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने उनके सारे तर्क और युक्ति-समूह को काट दिया है। उन्होंने बड़ी योग्यता और बड़ी गवेषणा से यह सिद्ध किया है कि अकबर इतना निरक्षर था कि उसे अपने हाथ से अपने हस्ताक्षर बनाना भी न आता था। अपने इस निर्णय को उन्होंने परिपुष्ट प्रमाणों से सत्य और विपक्षियों की एक एक युक्ति को निःसार सिद्ध कर दिखाया है। इसमें सन्देह नहीं कि वन्द्योपाध्याय महाशय के प्रमाण और तर्क निर्भ्रान्त से मालूम होते हैं। उनका लेख पढ़ने पर यही धारणा होती है कि अकबर को अक्षर-ज्ञान न था। आज तक, जैसे और बादशाहों के हस्ताक्षर प्राप्त हुए हैं, अकबर का कोई हस्ताक्षर प्राप्त नहीं हुआ। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विन्सेंट स्मिथ ने भी अकबर को अक्षर-ज्ञान-शून्य बताया है। यह बात उन्होंने अपने एक नये ग्रन्थ में लिखी है। इस ग्रन्थ में अकबर का जीवन-चरित है। इसे प्रकाशित हुए कुछ ही समय हुआ। यही क्यों, परलोकवासी मुहम्मदहुसैन (आज़ाद) ने भी अपनी पुस्तक—दरबार—ए—अकबरी—के आरम्भ ही में लिखा है कि अकबर को लिखना-पढ़ना न आता था। अतएव अक्षर-ज्ञान न होने पर भी देश का समुचित शासन करना और बड़े बड़े विद्वानों के साथ धर्म्म तथा विद्या-विषय में आलाप कर सकना, अकबर के लिए कुछ कम प्रशंसा की बात न थी।

९—दिसम्बर का अन्तिम सप्ताह।

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में कलकत्ते में बहुत अधिक चहल पहल रही। समस्त भारत के शिक्षित जन-समुदाय के चुने हुए सहस्रशः सज्जन वहाँ एकत्र हुए। राजनीति, समाज-सेवा, धर्म्मानुराग, विद्या-प्रेम आदि की प्रेरणा से बड़े बड़े नामी पुरुषों ने कई दिनों तक कलकत्ते को तीर्थ-स्थान की पदवी को पहुँचा दिया। सुनते हैं, इस दफ़े की जातीय महासभा का अधिवेशन, उपस्थिति तथा अन्य दृष्टियों से भी, अभूतपूर्व ही हुआ। उसकी प्रेसिडेंट श्रीमती एनी बेसंट थीं। उन्होंने कांग्रेस में तो अपनी विस्तृत वक्तृता सुनाई ही। उसके अनुवाद भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध नगरों में भी, २६ दिसम्बर को, सुनाये गये। श्रीमती ने भारतवासियों को अपना "सन्देश" भी सुनाया और उसे सर्वत्र प्रकाशित कराया। कांग्रेस के सम्बन्ध में यह बात इस वर्ष बिलकुल ही नई हुई।

१०—राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन।

हिन्दी के पत्र, हिन्दी की पत्रिकायें और हिन्दी के प्रेमी बरसों से हिन्दी प्रचार की चेष्टा कर रहे हैं। पर उनकी चेष्टा विशेष फलवती नहीं हुई। हाँ, जबसे इस विषय की चर्चा महामना गान्धी ने आरम्भ की है—जबसे उन्होंने इस बात पर ज़ोर देना आरम्भ किया है कि बिना अपनी भाषा के प्रचार और आदर के अपनी यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती—तबसे इस चर्चा में अवश्य ही जान सी आगई है। बात यह है कि चरित्र-बल बहुत बड़ा बल है। साधारण आदमियों के मुख से निकली हुई वही बातें उतना असर नहीं रखतीं जितना असर किसी चरित्रवान्, सर्वसाधारण की श्रद्धा के भाजन और नामी पुरुष के मुख से निकली हुई रखती हैं। आज कोई दो वर्ष से गान्धी जी ने देशी भाषाओं के प्रचार की आवश्यकता बताना आरम्भ किया है। जहाँ कहीं आप कुछ बोलते हैं भाषा के विषय में भी कुछ न कुछ कहे बिना बहुधा नहीं रहते। वे अब दिन पर दिन इस मार्ग पर अधिकाधिक आगे बढ़ रहे हैं। जिन देशहितैषियों को अपनी भाषा के प्रचार का प्रयत्न करना चाहिए था, पर जिन्होंने अब तक ऐसा नहीं किया, उनको अब वे खुल्लम खुल्ला झाड़-फटकार बताने लगे हैं। गान्धी जी के सदृश कर्तव्यनिष्ठ, आत्माभिमानी और देशभक्त की फटकारें भूले हुओं को मार्ग पर लाने के लक्षण दिखा रही हैं। उस दिन कलकत्ते में जो राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन हुआ उसमें गान्धी जी के वचनाङ्कुशों के प्रहार खाकर कितने ही राजनीति-विशारद सोते से जाग से पड़े हैं। इसका फल बहुत अच्छा, और बहुत शीघ्र, होने की पूर्ण सम्भावना है। भगवान् करे गान्धी जी को जो यह लगन लगी है, उत्तरोत्तर वृद्धि करती जाय। वे अपनी धुन के पक्के हैं। इसीसे आशा होती है कि उन्होंने जो इस काम को हाथ लगाया है तो इसे, उपाय भर, पूरा करके ही छोड़ेंगे।

पुस्तक-परिचय ।

१—सार्थ सुभाषितरत्नसन्दोह—यह पुस्तक मोटे काग़ज़ पर बड़े और सुन्दर टाइप में छपी है। ऊपर मनोहर जिल्द है। मूल्य २½ रुपया है। आकार बड़ा और पृष्ठ-संख्या कुछ कम तीन सौ है। इसका प्रकाशन—भारतीय-जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था ने किया है। पता है—९ विश्वकोश लेन, बाग़-बाज़ार, कलकत्ता। उसी को लिखने से यह मिलती है। यह पुस्तक कोई ९०० वर्ष की पुरानी है। इसके कर्त्ता का नाम है—जैनाचार्य्य अमितगति। ये धारा-धिपति मुञ्ज-महीप के समय में विद्यमान थे। पुस्तकान्त में इन्होंने स्वयं ही लिखा है—

> समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे ।
> सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ॥
> समाप्ते (? समाप्त) पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ ।
> सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना विक्रम-संवत् १०५० में हुई थी। पुस्तक ३२ प्रकरणों में विभक्त है। उनमें सदाचार, धर्म्म, संसार की अनित्यता, सम्यक्‌ज्ञान, जन्म, मरण, जरा, मद्य-मांस-काम-द्यूत-निषेध आदि का निरूपण है। कवि ने इन विषयों का वर्णन अनेक प्रकार के वृत्तों में किया है। उसकी कविता रसवती और प्रसादगुण-पूर्ण है। कुछ अंशों को छोड़ कर कवि ने अन्यत्र सर्वसाधारण ढँग से विषय-निवेचन किया है, जैनधर्म्म के तत्त्वों का आश्रय नहीं लिया। जहाँ लिया है वहाँ भी सब धर्म्मों के अनुयायी कवित्व-गत रस का एक सा आस्वादन कर सकते हैं। इसके सुभा-षितों के दो एक नमूने सुनिए। भोगतृष्णा के विषय में कवि कहता है—

> असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः
> कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः ।
> जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्ण-
> स्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ?

क्रोध के विषय में कवि का कथन है—

> धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेन
> रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरम् ।
> धर्म्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं
> कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥

अर्थात् भूतग्रस्त, कामी और शराबी की जो दशा होती है वही दशा क्रोधी की भी होती है।

यह सुभाषित-काव्य बम्बई की काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है। पर वहाँ वह मूलमात्र है।

प्रस्तुत पुस्तक में पण्डित श्रीलाल काव्यतीर्थ ने मूल का भाव भी हिन्दी में लिख दिया है। यह इसकी विशेषता है। कवि का आशय अच्छी तरह समझाने के लिए अनुवादक महाशय ने अपनी तरफ़ से भी कहीं कहीं कुछ शब्द बढ़ा दिये हैं। यह उन्होंने अच्छा ही किया है। इसके कुछ पद्यों का भाव अन्यत्र भी मिलता है। इसका एक श्लोक है—

> जातु स्थैर्य्याद्विचलति गिरिः शीततां याति वन्हि—
> र्यादोनाथः स्थितिविरहितो मारुतः स्तम्भमेति ।
> तीव्रश्चन्द्रो भवति दिनपो जायते चाग्रतापः
> कल्पान्तेऽपि व्रजति विकृतिं सज्जनो न स्वभावात् ॥

इसे पढ़ने पर—

> (१) उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे ।
> प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वन्हिः ॥

और

> (२) न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते सज्जनानाम् ।

आदि पद्यों का स्मरण हो आता है। मतलब यह नहीं कि अमितगति ने ही इन पद्यों की छाया ली है। सम्भव है (१) और (२) पद्यों के रचयिता अमितगति के बाद हुए हों और उन्हीं ने अमितगति का भाव लिया हो। पहला पद्य शायद भोजप्रबन्ध नामक पुस्तक में है। भोज का समय मुञ्ज के बाद है। यदि वह पद्य भोज के शासनकाल में ही बना होगा तो उसी का कर्त्ता अमितगति का ऋणी है।

पुस्तक के प्रूफ़-संशोधन में कहीं कहीं असावधानता हुई है। उदाहरणार्थ, पद्य नंबर ४१७ में, "जैनतत्त्वे" की जगह "जैने तत्त्वे" और पद्य नंबर ९२१ में "पृथ्वीतले संमुदं" की जगह "पृथ्वीतले संमदं" छप गया है। अथवा, सम्भव है, यह हमारा ही भ्रम हो।

❋

२—नारीरत्न—तीस चालीस पृष्ठों की इस पुस्तक की एक कापी किसी ने हमारे नाम भेजने की कृपा की है। पुस्तक अच्छे काग़ज़ पर, सुन्दर टाइप में, छपी है। मूल्य इसका "श्रद्धा" है। इसे ज़िला उन्नाव की करदहा-रियासत के तअल्लुके-दार पण्डित चन्द्रभाल वाजपेयी की पत्नी ने लिखा है।

आरम्भ में वाजपेयीजी का एक हाफ़-टोन चित्र है। इसे देख कर जितना अचम्भा और आनन्द हुआ, पढ़ कर उससे कई गुना अधिक हुआ। कान्यकुब्जों में समयोचित स्त्री-शिक्षा! फिर तअल्लुक़ेदारों के यहाँ!! तिस पर भी पुस्तक-रचना!!! निःसन्देह समय की गति बड़े वेग से बदल रही है। यह नहीं कि कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों में पढ़ी लिखी स्त्रियाँ न हों। कहीं कहीं हैं अवश्य। पर समयानुकूल शिक्षा पाई हुई बहुत ही कम हैं। पढ़ लिख कर पुस्तकें लिखनेवाली—और यथार्थ में उपयोगिनी पुस्तकें लिखनेवाली—कहीं कोई विरली ही होंगी। इस पुस्तक की भाषा जैसी सुन्दर है, भाव उससे भी बढ़ कर सुन्दर है। इसमें लेखिका ने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता, स्त्री-शिक्षा कैसी हो, पुत्रियों को उपदेश, बहू के कर्तव्य और माता का धर्म्म—इन विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। मालूम नहीं, लेखिका को गृहिणी, बहू और माता के पदों का कितना अनुभव है; पर बातें जो उन्होंने लिखी हैं, सभी उत्तम, अतएव लाभदायक हैं। बहू के कर्तव्य का वर्णन करते समय, दूसरे पाराग्राफ में, श्रीमती ने जो उपदेश दिया है वह अनमोल है।

आशा है, पुस्तक की भाषा और भाव लेखिका महाशया के ही हैं। इस पुस्तक के भीतरी टाइटिल पेज पर, नीचे, छपा है—"सर्वाधिकार संरक्षित"। यह क्यों? किसी व्यवसायी की पुस्तक तो है नहीं। अतएव अवध के क़ानून लगान (रेंट ऐक्ट) की छाया यदि इस पर न पड़ती तो अच्छा था। क्योंकि उपयोग की सीमा को इजारा कम कर देता है। इसी से डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु ने अपने विज्ञान-मन्दिर में प्रवेश करनेवालों के लिए किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं रक्खा।

❋

३—साहित्यसम्मेलन का कार्य्य-विवरण—सातवाँ सम्मेलन, नवंबर १९१६ में, जबलपुर में हुआ था। उसी का यह विवरण है। दो भागों में है। आकार ख़ूब बड़ा है। छपाई अच्छी है, विशेष कर दूसरे भाग की। पहले भाग की पृष्ठ-संख्या १०५ और मूल्य ६ आने है। दूसरे की पृष्ठ-संख्या २१२ और मूल्य १० आने है। अतएव दोनों भाग ख़ूब सस्ते हैं। पहले भाग में सम्मेलन की कारवाई की रिपोर्ट आदि और दूसरे में आये हुए लेखों का संग्रह है। दोनों भाग लेने, पढ़ने और संग्रह में रखने लायक़ हैं। इस सम्मेलन का कार्य्य-विवरण पढ़ने से यह भावना हुए बिना नहीं रहती कि इसके कार्य्य-कर्त्ताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कुछ का कारण हृदय की कमज़ोरी, कुछ का समझ का फेर और कुछ का स्वेच्छाचार था! तिस पर भी कार्य्य-निर्वाहक सज्जनों और अन्य हिन्दी-प्रेमियों ने बड़े ही दृढ़ निश्चय और उदार-भाव से काम किया। फल यह हुआ कि सम्मेलन निर्विघ्न होगया। यही क्यों, इसने कितनी ही विशेषताओं का परिचय भी दर्शकों और प्रतिनिधियों को कराया। इन विशेषताओं का उल्लेख भी विवरण में किया गया है। इस विवरण का दूसरा भाग बड़े महत्त्व और बड़े मोल का है। उसमें भिन्न भिन्न लेखकों के १८ लेख हैं। उनमें से पहले के ५ लेख समधिक विशेषत्वपूर्ण हैं। उनमें इस बात का विस्तृत वर्णन है कि सिक्खों, जैनियों, बङ्गालियों, महाराष्ट्रों, गुजरातियों और मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य की कितनी सेवा की है और उसे अपने ग्रन्थों और लेखों से कितना सजाया है। नाटकों और उपन्यासों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों के भी अधिकांश विचार युक्ति-सङ्गत हैं। उनसे भी बहुत बातें सीखी जा सकती हैं। इस प्रान्त में—नागरी-प्रचार की अवस्था और उद्योग की आवश्यकता—नामक लेख अनेक ज्ञातव्य बातों से परिपूर्ण है। सारांश यह कि इस भाग के पाठ से हिन्दी-विषयक बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है और कितनी ही नई नई बातें मालूम हो सकती हैं। साहित्य-सम्मेलन-कार्य्यालय, जबलपुर, को लिखने से ये दोनों भाग मिलते हैं।

❋

४—प्रताप प्रेस, कानपुर, की दो पुस्तकें।

इस प्रेस से दो पुस्तकें अभी हाल में निकली हैं। पहली का नाम है—**देवी जोन अर्थात् स्वतन्त्रता की मूर्ति**। इसकी पृष्ठ-संख्या, सौ के लगभग और मूल्य ८ आने है। आकार मँझोला है। यह एक बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। इसमें फ़्रांस देश की वीरबाला जोन आव आर्क का चरित है। इस इतिहास-प्रसिद्ध देवी ने अपने देश की भक्ति से प्रेरित होकर अलौकिक वीरता दिखाई और ख़ुशी ख़ुशी अपने प्राण दे दिये। बड़ी अच्छी पुस्तक है। दूसरी पुस्तक का नाम है—**मेरे जेल के अनुभव**। इसकी भी पृष्ठ-संख्या

उतनी ही है; मूल्य भी आठ ही आने है। महात्मा गान्धी ने दक्षिणी अफ़रीक़ा में तीन दफ़े जेल जाकर जो अनुभव वहाँ किये थे उन्हीं का वर्णन इसमें है। यह उनकी गुजराती पुस्तक का अनुवाद है। जिस अन्याय, अत्याचार, निष्कारुण्य आदि का उल्लेख इसमें है उसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं और गान्धीजी की सहनशीलता और सुनीति का समुज्ज्वल चित्र नेत्रों के सामने दिखाई सा देने लगता है। इसे पढ़ने से गान्धीजी के विषय में पहले ही से उत्पन्न श्रद्धा का भाव और भी अधिक हो जाता है।

❋

५—फ़िजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष। इस पुस्तक की एक कापी पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने देने की कृपा की है। इसकी पृष्ठ-संख्या २५० के ऊपर है, पर मूल्य केवल ६ आने है। फ़ीरोज़ाबाद के भारती-भवन को लिखने से मिलती है। यह पण्डित तोताराम सनाढ्य की लिखी हुई है। इसमें द्वीपान्तरवासी भारतीय कुलियों की हृदयद्रावक करुण-कहानी है। यह इसका दूसरा संस्करण है। पहले संस्करण की आलोचना सरस्वती में निकल चुकी है। इसके विषय में नामी नामी पुरुषों और पत्रों की आलोचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं। अतएव इस पर और अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं।

❋

६—ओंकार-प्रेस की दो पुस्तकें। इन दोनों पुस्तकों का आकार मँझोला, छपाई और काग़ज़ साधारण, और मूल्य पाँच पाँच आने है। एक का नाम—**रमेशचन्द्र-दत्त** है। इसकी पृष्ठ-संख्या १३६ है। इसे पण्डित शीतला-चरण वाजपेयी, बी० ए०, ने लिखा है। दूसरी का नाम—**ईश्वरचन्द्र विद्यासागर** है। इसकी पृष्ठ-संख्या १२५ है। इसके लेखक हैं—पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयी। जिनके जीवन-चरित इन पुस्तकों में हैं वे दोनों ही नामी विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता थे। वे तो भारत के रत्न थे। उन्हें कौन नहीं जानता और कौन ऐसा है जो उनके चरित पढ़ने का पुण्य सम्पादन करना न चाहे? दोनों पुस्तकें ओङ्कार-प्रेस, इलाहाबाद, से मिल सकती हैं।

७—लोकमान्य तिलक की ज़मानत। इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या साढ़े तीन सौ के लगभग, छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य १।) है। एक मराठी और अँगरेज़ी पुस्तक के आधार पर, पीलीभीत के पण्डित व्रज-नन्दनप्रसाद मिश्र ने, इसकी रचना की है। यह अनुवाद है। इसमें पहले राजद्रोह-विषयक क़ानून पर एक लेख है। वह पण्डित नृसिंह चिन्तामणि केलकर के एक लेख का अनुवाद है। लेख ख़ूब विद्वत्तापूर्ण है। मान्यवर तिलक से जो ज़माानत माँगी गई थी उसी के सम्बन्ध में केलकर महाशय ने उसमें बहस की है। तदनन्तर पूने के मेजिस्ट्रेट के सामने, और अपील करने पर बम्बई के हाईकोर्ट में, तिलक के पूर्वोक्त मुक़द्दमे के दौरान में जो काररवाई हुई थी उसकी विस्तृत रिपोर्ट है। अन्त में तिलक के वे तीनों व्याख्यान हैं जिनके कारण उनसे ज़मानत माँगी गई थी। उनका जीवन-चरित भी है। इस पुस्तक के पाठ से इस मुक़द्दमे का पूरा पूरा हाल मालूम हो सकता है और राजद्रोह-विषयक क़ानून का पेचीदापन और उसकी बारीकियाँ भी अच्छी तरह ज्ञात हो सकती हैं। पुस्तक की भाषा कहीं कहीं आक्षेप-योग्य है, यथा—

> उदारहृदय तिलक ने + + भारत की रक्षा के लिए सैनिक भरने का जो तोड़ उद्योग किया। पुस्तकान्त, पृष्ठ १३९

"सैनिक भरना"—यह हिन्दी का मुहावरा नहीं। पुस्तक मिलने का पता—रसायन-प्रचारक औषधालय, पीलीभीत।

❋

८—स्वराज्य-साहित्य—कानपुर के प्रताप प्रेस के मालिक एक स्वराज्य-साहित्य-माला निकाल रहे हैं। इस मालिका की इतनी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) **स्वराज्य**—लेखिका, श्रीमती एनी बेसंट; मूल्य डेढ़ आना

(२ और ३) स्वराज्य की आवश्यकता और दुर्बल देश पर भारी बोझ—इनमें से पहली के लेखक श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि और दूसरी के लाला लाजपतिराय हैं; मूल्य ३ आने

(४) स्वराज्य-सङ्गीत—मूल्य २ आने

(५) स्वराज्य की व्याख्या—यह बाबू अम्बिकाचरण मजूमदार की एक वक्तृता का अनुवाद है; मूल्य ३ आने

(६) स्वराज्य की कसौटी—लखनऊ-निवासी पण्डित जगतनारायण मुल्ला की वक्तृता का अनुवाद; मूल्य २ आने

(७) स्वराज्य का सन्देश—यह पण्डित मदनमोहन मालवीय का एक व्याख्यान है; मूल्य १ आना

(८) स्वराज्य-नाद—यह पुस्तक पद्य में है; मूल्य १ आना

(९) मिसेज़ बेसंट का अन्तिम पत्र—यह वह पत्र है जिसे श्रीमती बेसंट ने नज़रबन्द होने के पहले लिखा था; मूल्य १ आना

(१०) स्वराज्य पर मालवीयजी—यह पुस्तक ६४ सफ़े की है। इसमें पण्डित मदनमोहन मालवीय के स्वराज्य-विषयक ६ व्याख्यान हैं; मूल्य ४ आने

ये सभी पुस्तकें स्वराज्य-प्रेमियों के पढ़ने लायक़ हैं। प्रताप-प्रेस, कानपुर, को लिखने से मिलती हैं।



९ श्रीदुर्गाचरित्र—आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या ७२, छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य ६ आने। दुर्गा-सप्तशती स्तोत्र का यह पद्यात्मक अनुवाद है। अनुवादक हैं—साहित्योपाध्याय पण्डित शिवदत्त काव्यतीर्थ। आप अजमेर के गवर्नमेंट-हाई-स्कूल में अध्यापक हैं। आपही को लिखने से यह पुस्तक मिलती है। इसमें आपने दोहा, चौपाई आदि प्रचलित छन्दों में सप्तशती का हिन्दी-अनुवाद किया है। भाषा नई और पुरानी का मिश्रण है। कविता का नमूना—

"सूर्यपुत्र सावर्णि सुजाना—अष्टम मनु जो जाय बखाना
उसकी जन्म कथा विस्तारा—मुझसे समुझ मुनीश कुमारा"

अच्छा हुआ, अब लोगों को मालूम हो जायगा कि "दुर्गापाठ" में लिखा क्या है।



१०—किरातार्जुनीय महाकाव्यम्—आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या २३१, छपाई और काग़ज़ अच्छा, मूल्य १ रुपया, टीकाकार—पण्डित गतिनाथ शर्म्मा, रियासत गिद्धौर, ज़िला मुङ्गेर, से प्राप्य। यह काव्य संस्कृत पढ़नेवाले छात्रों का पाठ्य ग्रन्थ है। उन्हीं के सुभीते के लिए पण्डित गतिनाथ ने इसके ९ सर्गों की सरल संस्कृत टीका लिख कर और साथ ही हिन्दी में भी श्लोकों का अर्थ देकर इस पुस्तक को समूल सुलभ कर दिया है। पहले पाँच सर्ग और बीच के ग्यारहवें से चौदहवें तक—बस इस काव्य का इतना ही अंश प्रायः पढ़ाया जाता है। इस कारण पूर्वोक्त दोनों टीकायें भी इतने ही सर्गों की की गई हैं। विद्यालयों के छात्र इससे अवश्य लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी-टीका की भाषा कहीं कहीं चिन्त्य है।



११—राजा और रानी—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ११०, छपाई साफ़-सुथरी, मूल्य ६ आने, लेखक पण्डित शिवसहाय चतुर्वेदी। वैद्य अमृतलाल सुन्दरजी पढ़ियार की एक गुजराती-पुस्तक के आधार पर इसकी रचना, अच्छी भाषा में, की गई है। इसमें सम्राट् पञ्चम जार्ज और उनकी महारानी का जीवनचरित है। चरित में विशेष करके ऐसी ही ऐसी बातों और घटनाओं का उल्लेख किया गया है जिनसे सदुपदेश और सुशिक्षा मिलती है। प्रकाशक का वक्तव्य है—"जिन अंशों से चरित्रनायक का महत्त्व प्रकट होता है वे ही अंश हमारे हृदयों को उत्साह और स्फूर्ति से भरते एवं उच्च आदर्श सन्मुख रखते हैं"। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए—राजभक्ति, स्वदेशप्रीति, कर्तव्यनिष्ठा, पर-दुःख-कातरता, प्रवास-प्रियता, दीनहितैषणा आदि गुणों का ग्रहण करने के लिए—यह पुस्तक लिखी गई है। इसकी एक कापी इसके प्रकाशक पण्डित नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, दीक्षितपुरा, जबलपुर, ने भेजने की कृपा की है।

१२—भट्टजी की पुस्तकें—बम्बई में गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी के आश्रय में भट्ट श्रीरमानाथ शर्म्मा नाम के कोई विद्वान् हैं। हमें उनकी लिखी हुई दो पुस्तकों का परिचय पाठकों से कराना है। दोनों पुस्तकें बड़े सुन्दर टाइप में छपी हैं। आकार दोनों का मँझोला है। एक का नाम है—शुद्धाद्वैतसिद्धान्तसार। इसकी पृष्ठ-संख्या ३६

और मूल्य ३ आने है। इसमें भट्टजी ने शुद्धाद्वैत-मत के सिद्धान्तों का सार, हिन्दी में, योग्यतापूर्वक लिखा है। जो बातें इस मत के अनेक ग्रन्थों का मन्थन करने से मालूम हो सकती हैं वही इस छोटी सी पुस्तक के पाठ से जानी जा सकती हैं। दूसरी पुस्तक है—शुद्धाद्वैतदर्शन, द्वितीय भाग। इसमें ८३ पृष्ठ हैं। मूल्य है ८ आने। यह भी हिन्दी में ही है। पर खण्डन-मण्डन के जटिल जाल से यह आवेष्टित है। मायावाद और "अनुग्रह"-वाद के ज्ञाता ही इसके रहस्य का रसास्वादन कर सकते हैं।



नीचे जिन पुस्तकों के नाम दिये गये हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—एनी बेसेंट—लेखक, पण्डित चन्द्रभाल वाजपेयी, करदहा, उनाव।
२—प्रेमपिण्ड—लेखक, बाबू मनमोहन ठाकुर, ज़ि० मुज़फ़्फ़रपुर।
३—स्वामी विवेकानन्द यांचें चरित्र, भाग तिसरा—सम्पादक, पं० भास्कर विष्णु फड़के, बम्बई।
४—गीता तात्पर्य्य }
५—न्यासादेशः } प्रेषक, पं० हरिकृष्ण शर्म्मा, बम्बई।
६—ज्वरनाशक कथा
७—भ्रमण
८—अकबर बादशाह की कूटनीति
९—स्तुति
} प्रेषक—पण्डित शिवप्रसाद त्रिपाठी, ब्यावर।

चित्र-परिचय।

(१)

भगवती।

इस संख्या का भगवती नामक रङ्गीन चित्र महाराज रणजीतसिंह के राज्य-काल का बना हुआ है। नालागढ़-रियासत के एक रईस ने इसे गुरुमुखसिंह नाम के एक तत्कालीन चित्रकार से बनवाया था। नाहन के पण्डित मौक्तिकनाथ योगविशारद की कृपा से यह हमें प्राप्त हुआ है। भगवती अम्बिका का वाहन सिंह, नित्य के नियमानुसार, उनके चरणों पर सिर रख कर प्रणाम कर रहा है—वह पूछ सा रहा है कि आज कहीं चलना तो नहीं ? भगवती अपना वरद हस्त उठा कर उसके अभिवादन का उत्तर दे रही हैं। यही भाव चित्र में दिखाया गया है।

(२)

पतिव्रता।

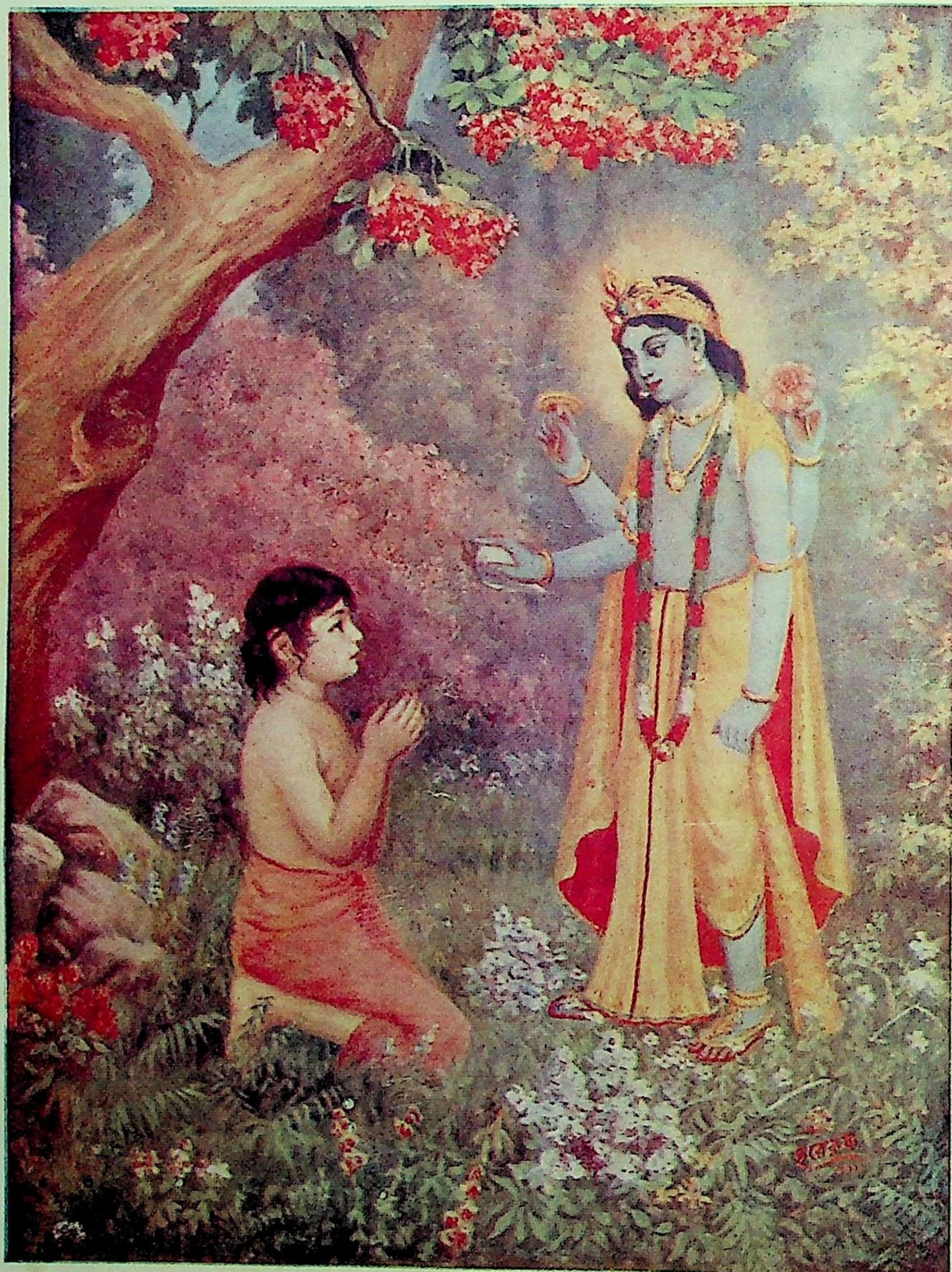
पति विदेश में है। पतिव्रता पत्नी घर पर है। स्नानादि से निश्चिन्त होकर पतिव्रता ने मन ही मन पति को प्रणाम किया। फिर खिड़की के पास बैठ कर उसी मार्ग की तरफ़ उसने अपनी दृष्टि फेरी जिससे पति के आने की आशा थी। हृदय में पति का ध्यान करती हुई वह सोचने लगी कि क्या मेरे पति-देवता को भी मेरा स्मरण होगा और क्या वे मुझे दर्शन देने के लिए आते होंगे ? इन्हीं पवित्र भावों को चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा ने इस चित्र में बड़ी ख़ूबी से झलकाया है।

(३)

राजा वीरबल।

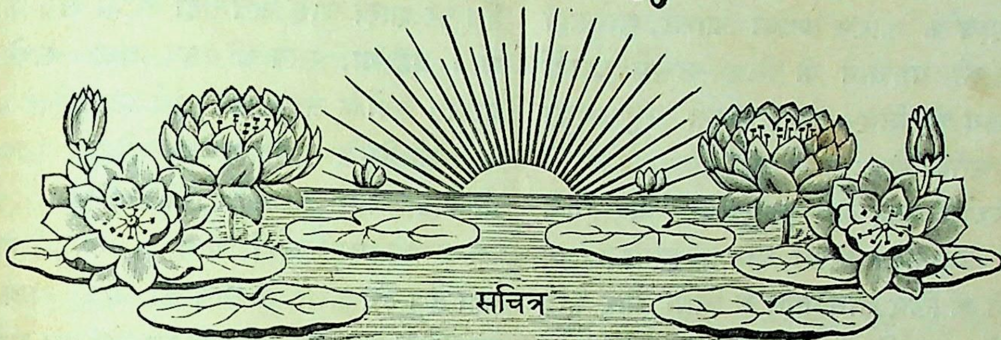
इस संख्या में राजा वीरबल के दो चित्र प्रकाशित हैं। नंबर (१) चित्र चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा का भेजा हुआ है। यह चित्र चित्रकार महाशय के ही किसी पूर्व-पुरुष का बनाया हुआ है और उन्हीं के संग्रह में था। वर्म्मा महाशय कहते हैं कि उनके वे पूर्वज उस समय अकबर बादशाह के आश्रित चित्रकार थे। दूसरा चित्र, नंबर (२) जोधपुर के मुन्शी देवीप्रसादजी ने अपने संग्रह से भेजा है। मुन्शीजी के यहाँ भी प्राचीन समय के चित्रों और पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। इन दोनों चित्रों के आकार-प्रकार और वेशभूषा में अन्तर है। दोनों एकही पुरुष के चित्र नहीं मालूम होते। सम्भव है, समय-भेद के कारण शरीराकृति आदि में भेद हो गया हो।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.



इंडियन प्रेस, प्रयाग। ध्रुव की तपस्या-सिद्धि। चित्रकार—श्रीहरेकृष्ण साहा।

सरस्वती



सचित्र

मासिक पत्रिका।

भाग १९, खण्ड १] फ़रवरी १९१८—माघ १९७४ [संख्या २, पूर्ण संख्या २१८

विनय ।

दलो भारत-दुख नन्द-कुमार,
बना हुआ है यह कायरता-कटुता-कुमति-अगार ।
खो निजत्व भूला गुण-गण से करना हर दम प्यार ॥१॥
बुरी रूढ़ियों को अपना कर त्यागे उच्च विचार ।
सार-ग्रहण से दूर भागता भाता इसे असार ॥२॥
रत्नों से यह भूल न भरता निज विद्या-भाण्डार ।
करता है पर ऐक्य-नाश के नित नव आविष्कार ॥३॥
कला-कुशलता कल्प-लता से कर के घृणा अपार—
अर्क-मञ्जरी दास-वृत्ति को किया गले का हार ॥४॥
जमा लिया है दैन्य-असुर ने ऐसा निज अधिकार ।
और सुखों की तो क्या चर्चा दुर्लभ वस्त्राहार ॥५॥
मृतप्राय हो रहा दया-निधि गया सभी आधार ।
जीवित इसे करो बरसा कर नाथ कृपामृत-धार ॥६॥

स्वामीदयाल श्रीवास्तव

गीता में अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का समन्वय ।



सृष्टि और लय, आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखनेवाला समग्र ज्ञान प्राप्त कर लेना ज्ञानार्जन की पराकाष्ठा है । अकेला सृष्टि-शब्द इतना व्यापक है कि जड़-चेतन, जो कुछ हमारी ज्ञानेन्द्रियों का विषय हैं, सभी का समावेश उसमें हो जाता है । तिनके से लेकर पर्व्वत तक, पिपीलिका से लेकर विशालकाय हाथी तक, तारका से लेकर सूर्य्य-मण्डल तक सभी सृष्टि के अन्तर्गत है । क्षुद्र से क्षुद्र वस्तु का भी सर्वाङ्गीण ज्ञान प्राप्त करना जब मनुष्य के लिए असम्भव सा है तब इस सारे विश्व का यथार्थ ज्ञान कोई कैसे प्राप्त कर सकता है । पर

उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। क्योंकि ईश्वर ज्ञानमय है और मनुष्य ईश्वर ही का अंश है। मनुष्य ही क्यों, जहाँ जहाँ ज्ञान का अंश—चाहे वह कितना ही अल्प क्यों न हो—पाया जाता है वहाँ वहाँ, सर्वत्र, ईश्वरांश का अस्तित्व समझना चाहिए। अतएव अपने ज्ञानोद्भव के कारण अथवा आकर, ज्ञानरूपी जगदीश्वर, की पहचान के लिए—उसमें अपनी आत्मा के लय के लिए—चेष्टा करना मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है।

सृष्टि-स्थिति आदि के नियम समझने और उनके द्वारा स्रष्टा के अस्तित्व की भावना हृत्पटल पर अङ्कित करने के लिए ज्ञान-प्राप्ति के सिवा और कोई साधन नहीं। प्रकृति के नियमों में ज्ञानवानों को सदा एकसी सत्यता का अनुभव होता है। ज्ञान और सत्य प्रायः पर्य्यायवाची शब्द हैं। क्योंकि प्राकृतिक नियमों में सत्य का अनुभव होना ही ज्ञान का अनुभव कहा जाता है। बात यह है कि सत्य की उपलब्धि ही ज्ञान की प्राप्ति है। किसी भी नियम से सम्बन्ध रखनेवाले सत्य का अनुभव हो जाना ही उस उतने ज्ञान का अनुभव करना है। यदि किसी को समस्त प्राकृतिक नियमों की सत्यता का ज्ञान हो जाय तो समझना चाहिए कि उसके लिए कुछ भी जानना बाक़ी नहीं रहा। अतएव असत्य के आवरण को हटा कर—माया के बन्धन को तोड़ कर—वह मुक्त हो गया; वह ज्ञानमय ईश्वर की सदृशता को पहुँच गया। वह स्वयं ही ईश्वर हो गया।

भारतवर्ष के ज्ञानी ऋषि-मुनि ऐसे ही सत्य की खोज में सदा निरत रहते थे। उन्होंने ज्ञान का बहुत कुछ अंश स्वायत्त कर लिया था। जिसके हृदय में सत्य ज्ञान के अंश का जितना ही अधिक उद्भव हुआ था वह उतना ही अधिक ईश्वर के पास पहुँच सा गया था। उन ज्ञानियों के ग्रन्थों से उनके ज्ञानांश के अनुरूप ही सत्य की उपलब्धि होती है।

इन सब ज्ञानान्वेषियों की ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग बहुत करके जुदा जुदा थे। इसका कारण रुचि, स्वभाव और संस्कार की विचित्रता के सिवा और कुछ नहीं। जिसे जो मार्ग अच्छा लगा उसने उसी मार्ग से अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए उद्योग किया। एक से अधिक शास्त्रों के निर्म्माण का यही कारण है। पर शास्त्र चाहे जितने हों उद्देश सब का एक ही था। वह था, सत्य की उपलब्धि—सच्चे ज्ञान की प्राप्ति। क्योंकि जन्म की सार्थकता और परम-पुरुषार्थ की सिद्धि इसी पर अवलम्बित समझी जाती थी और अब भी समझी जानी चाहिए।

हमारे षड्-दर्शनों और उपनिषदों का साध्य यही है। उन सभी में सत्य की खोज, सत्य की पहचान और सत्य की प्राप्ति के साधनों का वर्णन भिन्न भिन्न प्रणालियों से है। प्राणिशास्त्र, शरीरशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, मानसशास्त्र आदि जितने आधुनिक शास्त्र हैं उन सब का प्रधान साध्य यद्यपि यह नहीं, पर वे भी सत्य की खोज और उपलब्धि के साधन आदि का ही वर्णन करते हैं। और सत्य सदा अव्यभिचारी है। देश, काल और पात्र-भेद के कारण उसमें भेद नहीं हो सकता। यही कारण है जो योरप, अमेरिका, चीन और जापान के चिन्ताशील विद्वान् भी सत्य की खोज करते करते उन्हीं सिद्धान्तों पर पहुँचे हैं जिन पर भारत के दार्शनिक विद्वान् और अन्य विषयों के पहुँचे हुए पण्डित पहुँचे थे। सत्य यदि अव्यभिचारी न होता—ज्ञान का यदि एक ही रूप न होता—तो यह बात कदापि न होती। भारतीय विद्वानों का सिद्धान्त है कि आकाश अनन्त है। यह निर्बाध सत्य है। इसी से भिन्न भिन्न देशों के सत्यशोधक विद्वान् भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं।

पदार्थों के दृश्य आकार भिन्न भिन्न होने पर भी उनकी उत्पत्ति, स्थिति और संहृति के नियम एक ही प्रकार के सत्य-सूत्र से अनुस्यूत हैं। इसी से विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र वसु जो वनस्पति-

शास्त्र-सम्बन्धिनी खोज करने लगे तो कभी प्राणि-शास्त्र की सीमा के भीतर पहुँच गये, कभी शरीर-शास्त्र की सीमा के भीतर और कभी मानसशास्त्र की सीमा के भीतर। तभी उन्होंने जाना और परीक्षा द्वारा संसार को बता दिया कि सब की जड़ में एक ही सत्य विद्यमान है; सब का नियमन और संहरण एक ही प्रकार के नियमों से होता है; चाहे जहाँ आप खोज कीजिए, सत्य ज्ञान सब कहीं एक ही सा पाया जायगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में जिस ज्ञान का निरूपण है वह चाहे श्रीकृष्ण का किया हुआ हो, चाहे व्यास का, चाहे और किसी का; उसका निरूपणकर्त्ता यदि पूर्ण ज्ञानी नहीं, तो बहुत बड़ा ज्ञानी अवश्य था। सत्य ज्ञान के आलोक से उसका हृत्सरोज अच्छी तरह विकसित था। ज्ञान-प्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्ग उसे अच्छी तरह अवगत थे। क्योंकि उसने गीता में, अपने समय में ज्ञात, उन सभी मार्गों का निर्देश किया है और बताया है कि मार्ग भिन्न होने पर भी साध्य सब का एक है। मार्ग-भेद केवल अधिकारि-भेद का सूचक है। अर्जुन के लिए गीताकार ने निष्काम-कर्म्म का अधिकारी समझा। इसी लिए उसने अर्जुन को उसी मार्ग से अपनी इष्ट-सिद्धि करने पर ज़ोर दिया। पर साथ ही उसने अन्य मार्गों का भी निरूपण कर दिया। यह इस लिए कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति—जिसे दूसरे शब्दों में मुक्ति या मोक्ष भी कह सकते हैं—और मार्गों से भी हो सकती है। पर उपस्थित अवसर और पात्र-विशेषत्व के विचार से अर्जुन के लिए उसने अन्य मार्गों के अवलम्बन की ज़रूरत नहीं समझी। उनके लिए कर्म्म-योग नामक मार्ग से ही अपना साध्य सिद्ध करना उसने प्रशस्त समझा।

उपनिषद्, न्याय, मीमांसा, वेदान्त और योग-शास्त्रों की आलोचना, और गीता-निरूपित सिद्धान्तों से उन शास्त्रों के सिद्धान्तों की तुलना, करने से यही सिद्ध होता है कि साध्य सब का एक ही है; न्यूनाधिक मात्रा में सत्य ज्ञान की उपलब्धि सब में एक ही सी है। यदि ऐसा न होता तो उन उन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्त गीता के सिद्धान्तों से इतना न मिलते। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्म्मित शास्त्रों के सिद्धान्तों के मिलान से भी यही बात, बहुत दूर तक, प्रमाणित होती है। भिन्न भिन्न देशों में, भिन्न भिन्न समयों में, भिन्न भिन्न दृष्टियों से भी, ये शास्त्रकार, अनेकांश में, उन्हीं परिणामों पर पहुँचे हैं जो परिणाम गीता तथा अन्य भारतीय शास्त्रों की सम्पदा हैं। यदि सत्य सब कहीं और सदा अबाध न होता तो यह बात कदापि सम्भव न थी।

षट्दर्शनों, उपनिषदों और पाश्चात्य शास्त्रों के सिद्धान्तों में गीता के सिद्धान्तों से कहीं कहीं जो भेद पाया जाता है उसका कारण है। ज्ञान की मात्रा सब में एक सी नहीं होती। ज्ञानांश की इयत्ता के अनुसार ही सत्य की खोज में मनुष्य कृतकार्य्य हो सकता है। इस दशा में यत्र तत्र भेदभाव हो जाना बहुत ही सम्भव है। किसके सिद्धान्तों में कितना और कहाँ कहाँ भ्रम या प्रमाद है, यह बताना विज्ञानाचार्य्यों ही का काम है। बहुत सम्भव है कि ये शास्त्र मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि, अवस्था, शिक्षा और संस्कार के विचार से रचे गये हों। अतएव जो भेद और विरोधाभास हमें देख पड़ते हैं वे वास्तव में अधिकारि-भेद के सूचक हों।

गीता में प्रायः सभी शास्त्रों के ज्ञान का समन्वय देख कर यही कहना पड़ता है कि ज्ञानान्वेषियों के परिशीलन के लिए उससे अधिक उपयोगी ग्रन्थ दूसरा नहीं। श्रीकृष्ण का कथन है—

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

जनसमुदाय से हमारी प्रार्थना है—

अन्यज्ञानं परित्यज्य गीताज्ञानं त्वमाप्नुहि।

आर्य्यों का आदिम निवास-स्थान और उनकी सभ्यता का विकाश।

कई पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों का मत है कि भारतीय आर्य्यों का आदिम निवास-स्थान भारतवर्ष नहीं। वे तो विदेशी थे और जेता होकर सप्त-सिन्धु-देश में आये। दस्यु, दास, असुर, राक्षस आदि, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, इस देश के आदि निवासी थे। हमारे ऋग्वैदिक काल के पूर्वजों ने उन्हें पराजित किया था। कई लोगों का विचार है कि आर्य्यों का केन्द्र-स्थान मध्य-एशिया था। महात्मा तिलक आदि कुछ विद्वान् यह समझते हैं कि हमारे पूर्वज आर्य्य उत्तरी ध्रुव से आये। कतिपय पश्चिमी विद्वानों का यह भी कथन है कि आर्य्य लोग योरप से एशिया की ओर गये हैं, इत्यादि। परन्तु हमारे विशाल संस्कृत-साहित्य में तो इस बात का सङ्केत तक नहीं है कि आर्य्य लोग भारतवर्ष के लिए विदेशी थे। संस्कृत-साहित्य ही में नहीं, बल्कि संसार भर के साहित्य में प्रायः ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनसे यह सिद्ध हो कि प्राचीन आर्य्यों ने देशान्तरवासी होकर भारतवर्ष में साम्राज्य स्थापन किया। बड़े बड़े इतिहास-लेखकों तथा विद्वानों ने भी खुले हृदय से इस विचार को स्वीकार किया है। यह बड़े गौरव की बात है। एक विख्यात इतिहास-लेखक, लार्ड एल्फिन्स्टन, कहते हैं—

"It is opposed to their (Hindus') foreign origin that neither in the code of Manu, nor, I believe, in the Vedas, nor in any book that is certainly older than the code, is there any allusion to a prior residence, or to a knowledge of more than the name of any country out of India. Even mythology goes no further than the Himalayan chain, in which is fixed the habitation of the gods."

अर्थात् न तो मनुस्मृति में, न वेदों में और न किसी अन्य पुस्तक में, जो मनुस्मृति से भी प्राचीन हो, आर्य्यों के भारतवर्ष के बाहर निवास करने का तथा उन्हें अन्य देशों के ज्ञान होने का सङ्केत मिलता है। यहाँ तक कि पुराण भी देवताओं की भूमि को हिमालय-पर्वत के आगे नहीं ले जाते। यह बात हिन्दुओं के विदेशी होने के विरुद्ध है।

इसी प्रकार डाक्टर जे० म्यूर लिखते हैं—

"I must, however, begin with a candid admission that, so far as I know, none of the Sanskrit books, not even the most ancient, contain any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indians."

अर्थात् मैं साफ़ साफ़ स्वीकार करता हूँ कि जहाँ तक मुझको ज्ञात है, किसी संस्कृत-ग्रन्थ में—प्राचीनतम ग्रन्थों में भी—भारतवासियों के विदेशी होने का कोई उल्लेख अथवा सङ्केत नहीं है।

इसके अतिरिक्त क्रूजर नाम के एक फरासीसी विद्वान् लिखते हैं—

"If there is a country on earth, which can justly claim the honour of having been the cradle of human race, or at least the scene of primitive civilization...that country assuredly is India."

अर्थात् यदि पृथ्वी में कोई देश है, जो न्याय-पूर्वक मनुष्य-जाति तथा प्राचीन सभ्यता के उत्पत्ति-स्थान होने की प्रतिष्ठा का अधिकारी हो सकता है.........तो वह देश निस्सन्देह भारतवर्ष है।

और भी देखिए, लुई जैकोलियट नामक एक पश्चिमी विद्वान् क्या कहते हैं—

"India is the world's cradle; thence it is that the common mother...has bequeathed us the legacy of her language, her laws, her moral, her literature, and her religion."

अर्थात् भारतवर्ष संसार का जन्म-स्थान है।......यहीं से हम सब की माताओं ने अपनी भाषा, अपनी नीति, अपना सदाचार, अपना साहित्य और अपने धर्म की पैतृक सम्पत्ति हमको दी।

अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि यदि मान लिया जाय कि आर्य्य लोग भारतवर्ष में कहीं अन्यत्र से नहीं आये तो भारत के किस प्रान्त में उनकी उत्पत्ति हुई और इसका

प्रमाण क्या है। उत्तर में हम यही कहेंगे कि समस्त मनुष्य-जाति की, कम से कम आर्य्य-जाति की, उत्पत्ति तो अवश्य ही

सरस्वती-नदी के प्रान्त में

हुई। प्रमाण के लिए हम ऋग्वेद, श्रुति, स्मृति तथा अन्य प्राचीन धर्म्म-पुस्तकों की सहायता लेंगे। सरस्वती-नदी वैदिक कथाओं में अत्यन्त पवित्र मानी गई है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि वह सप्तसिन्धुओं में श्रेष्ठ मानी गई है; दूसरे यह कि उसका प्रान्त मनुष्यों के जीवनाभिनय का प्रथम दृश्य माना जाता था। वैदिक भूगर्भ-शास्त्रवेत्ताओं के मत के अनुसार प्रकृति ने जीव-सृष्टि का कार्य्यारम्भ सरस्वती-नदी के आसपास से ही आरम्भ किया। उनकी राय में मनुष्य, सृष्टि-क्रम में, प्रकृति के कई शताब्दियों के निरन्तर उद्योग का अन्तिम फलस्वरूप था; जैसा कि ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है—

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम् (ऋग्वेद २—४१—१७)

अर्थात् हे सरस्वति, तू देवीरूप है। सब प्राणी तुझी से जीवन पाते हैं।

जब मनुष्य उत्पन्न हो गया तब उसके निवास तथा कृषि-कार्य्य के लिए भूमि की आवश्यकता हुई। ऋग्वेद (६–६१–६) में लिखा है—"उत क्षितिभ्योऽवनीर-विन्दः" अर्थात् (हे सरस्वति) तूने मनुष्यों के लिए भूमि प्राप्त की। इन्हीं कारणों से सरस्वती को हमारे पूर्वजों ने "नदीतमे", "अम्बितमे", "देवितमे" इत्यादि शब्दों से, ऋग्वेद (२–४१–१६) में, सम्बोधन किया है। ऋग्वेद के इस मन्त्र से सरस्वती में प्राचीन आर्य्यों की परम भक्ति प्रकट होती है—

सरस्वत्यभिनो नेषि वस्यो मा परफरीः पयसा मा न आधक्,
जुषस्व न सख्यावेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानिगन्म॥
(ऋग्वेद ६–६१–१४)

अर्थात् हे सरस्वति, हमको यश और प्रताप की बढ़ाने-वाली सम्पत्ति की ओर ले चल। अपने दुग्ध से हमको वञ्चित न कर। न हमको अपने से अलग कर। प्रसन्नता से हमारी मैत्री तथा सेवा स्वीकार कर। हमको अपने पास से अन्यत्र जाने न दे।

हमारे पूर्वजों ने जो सरस्वती से यह अनन्य-भक्तियुक्त हार्दिक प्रार्थना की है उससे प्रकट होता है कि प्राचीन आर्य्य यह जानते थे कि सरस्वती-प्रान्त में ही मनुष्यों की आदि-सृष्टि हुई। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरी-यसी" जिनका मूलमन्त्र था वे स्वभावतः ही इस नदी को "देवितमे" कहेंगे। यही कारण है कि सरस्वती एक छोटी सी साधारण नदी होने पर भी जगद्विख्यात "सप्तसिन्धवः" में श्रेष्ठ गिनी जाती थी। ऋग्वेद में कहा है—"उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजष्टा सरस्वती स्तोम्याभूत्" अर्थात् सातों बहनों में जो प्रियतर है वह कृपायुता सरस्वती हमारी स्तुति की अधिकारिणी है। ऋग्वेद के आरम्भ में ही "पावका नः सरस्वती" मन्त्र प्रयोग किया गया है।

हमारे कुछ आर्य्य-समाजी भाई यह समझते हैं कि पूर्वोक्त "सरस्वती" शब्द नदी-विशेष का नाम नहीं। उसका तो कुछ यौगिक अर्थ है। हमारी समझ में यह खींचातानी है। ऋग्वेद में संयुक्त-प्रान्त और पञ्जाब की नदियों के नाम साफ़ साफ़ लिखे हैं। वे नदियाँ अभी तक विद्यमान हैं। फिर हम यह कैसे कहें कि ये नदियों के नाम नहीं हैं। देखिए, ऋग्वेद में इन नदियों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जिकीये शृणुह्या सुषोमया ॥५॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥६॥

अर्थात् हे गङ्गे, यमुने, सरस्वति और शुतुद्रि (सतलज) परुष्णी (रावी) के सहित मेरी स्तुति स्वीकार करो। हे मरुद्वृधे! असिक्नी (चनाब) तथा वितस्ता (झेलम) के साथ और हे आर्जिकीया (व्यासा) सुषोमा के साथ मेरी स्तुति स्वीकार करो ॥५॥ अपने मार्ग में पहले तृष्टामा, सुसर्तु, रसा और श्वेती इन नदियों से संयुक्त हो। हे सिन्धो! तू कुभा (काबुल) गोमती (गोमल) क्रुमु (कुरम) से मेहत्नु के सहित सङ्गम करती है और उनके साथ मानों एक ही रथ पर आगे बढ़ती है।

पूर्वोक्त मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि आर्य्य लोग पहले गङ्गा से पश्चिम की ओर गये हैं; न कि काबुल से पूर्व की ओर। क्योंकि गङ्गा का नाम पहले आया है और क्रुमु-कुभा का अन्त में। मनुष्य स्वभावतः उसी का नाम पहले लेता है जो प्रियतर होता है और जिसको वह पहले

जानता है; जैसे माँ-बाप का नाम। इन प्रमाणों से आर्य्यों का बाहर से भारत में आना सिद्ध नहीं होता।

आधुनिक अन्वेषण से पश्चिमी तथा पूर्वी सभी विद्वानों ने, एकमत होकर, यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद पृथ्वी भर में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसके सामने प्राचीन तथा नवीन इञ्जील (Old and New Testaments) कल की निर्माण की हुई प्रतीत होती है। रेगोजिन नामक विद्वान् ने ऋग्वेद को "Book of Books" अर्थात् पुस्तकाधिराज की पदवी दी है। इसी प्रकार मैक्समूलर ने कहा है—

"The Vedas, I feel convinced, will occupy scholars for centuries to come and will take and maintain for ever its position as the most ancient of books in the library of mankind."

अर्थात् मेरा विश्वास है कि शताब्दियों तक विद्वान् वेदों का मनन करते रहेंगे। वेद मनुष्य-जाति के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ समझा जायगा।

मिस्टर हेलबेड, हिन्दुओं के चार युगों के विषय में लिखते हुए, कहते हैं—

"To such antiquity, the Mosaic creation is but as yesterday, and to such ages the life of Methuselah is no more than a span."

अर्थात् ऐसे प्राचीन काल के सामने मूसा की वर्णन की हुई सृष्टि कल की घटना प्रतीत होती है और ऐसे युगों के सामने मेथुसीला का जीवन अल्पकालिक जान पड़ता है। अतएव ऋग्वेद के सदृश प्राचीनतम ग्रन्थ में सरस्वती के इस प्रकार वर्णन का आशय कुछ न कुछ अवश्य है। यह आश्चर्य्य की बात है कि मध्य-एशिया की बड़ी बड़ी नदियों को छोड़ कर ऋग्वेद में भारत की एक साधारण नदी की स्तुति इतनी गाई गई है। विद्वज्जन इसका कारण स्वयं समझ सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आर्य्य लोग सरस्वती-प्रान्त से पहले किस ओर गये और उसका प्रमाण क्या है। ऋग्वेद देखने से प्रतीत होता है कि पहले आर्य्य लोग—

सरस्वती-प्रान्त से पूर्व की ओर गये।

हमारे पूर्वज, प्राचीन आर्य्य, यज्ञादि कर्मों से बड़ा प्रेम रखते थे। अतएव अपने साथ साथ यज्ञादि क्रिया का सब सामान, अग्नि आदि, भी वे पूर्व की ओर लेगये और सदानीरा नदी तक बस गये; जैसा कि शतपथ-ब्राह्मण (१-४-१-१०) की इस कथा से प्रकट होता है—

तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम्। सतत एव प्राङ् दहन्नभी यायेमां पृथिवीम्। तं गोतमश्च रहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः। स इमाः सर्वा नदीरतिददाह। सदानीरेत्युत्तराद्गिरेर्निर्धावति। तां ह एव नातिददाह। तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति।

अर्थात् विदेघ माथव तब सरस्वती में था। अग्नि ने इस पृथ्वी को दहन करते हुए पार किया और पूर्व की ओर प्रयाण किया। ज्यों ज्यों अग्नि आगे बढ़ती गई, विदेघ माथव और गौतम रहूगण ने (जो विदेघ माथव का पुरोहित था) उसका अनुसरण किया। अग्नि ने सब नदियाँ तो पार कीं, किन्तु हिमालय से निकली हुई सदानीरा को पार न किया। पहले ब्राह्मण लोग उसके पार न गये; क्योंकि अग्नि-वैश्वानर उसके आगे न गई।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में लिखा है—अग्ने त्वा पूर्वमनयन् (ऋग्वेद १-३१-४) अर्थात् हे अग्ने! तुझे पहले पूर्व की ओर लेगये। फिर ऋग्वेद के "आऽपं पुनः" मन्त्र से प्रतीत होता है कि सदानीरा से आर्य्य लोग फिर सरस्वती की ओर लौट गये। पश्चात् उन्होंने उत्तर, दक्षिण और पश्चिम की ओर प्रस्थान किया।

ऋग्वेद में अग्नि की उत्पत्ति का भी वर्णन है। अग्नि को पहली वार, भरत के पुत्र देववात और देवश्रवा ने सृञ्जय के मकान में प्रकट किया—"अयं यः सृञ्जये...समिध्यते" (ऋग्वेद ४-१५-४) यह स्थान सरस्वती-नदी के निकट था, जैसा कि ऋग्वेद के इस मन्त्र से ज्ञात होता है—

नित्वा दधे वर आपृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुस आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥ (ऋग्वेद ३-२३-४)

अर्थात् हे अग्ने! देववात ने तुझको एक शुभ दिन पृथ्वी के रमणीक स्थान, इला की भूमि, में इस भूमण्डल की दृषद्वती, अपायू और सरस्वती-नदी के प्रान्त में स्थापित किया। इसलिए, हे अग्ने! अपने प्रकाश से शोभायमान हो।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आर्य्यों का आदिम स्थान भारत ही में था और यहीं उन्होंने प्रथम वार अग्नि को प्रकट किया।

ऋग्वेद के अतिरिक्त महाभारत में भी सरस्वती-प्रान्त में सृष्टिक्रम के आरम्भ होने का सङ्केत है। महाभारत-काल में,

तथा उसके पूर्व भी, सरस्वती और दृषद्वती इन दो नदियों के बीच के प्रान्त में सृष्टिक्रम के प्रथम दृश्य होने के भाव ने प्राचीन आर्य्यों के हृदय में जड़ जमा ली थी। इस कारण लोग उस देश को "देव-निर्मित" कहते थे। यों तो समस्त भूमण्डल ही देव-निर्मित है; किन्तु विशेष करके उस प्रान्त को ही सादर और भक्ति-पूर्वक देव-निर्मित कहना अवश्य ही कुछ गूढ़ आशय रखता है। प्राचीन आर्य्यों के इस परम्परागत भाव से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि सृष्टि केवल आर्य्यावर्त में हुई, अन्यत्र नहीं। महाभारत (अ० १३/१६) में एक और श्लोक है जो हमारे कथन की पुष्टि करता है—"यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः"। इसका आशय यह है कि इस देश के आचार यहीं प्रादुर्भूत हुए; किसी अन्य देश से उद्धृत तथा अनुकृत—नक़ल किये हुए—नहीं हैं। यदि वैदिक-कालीन हमारे पूर्वजों ने, जैसा कि कतिपय विद्वानों का मत है, ख़ैबर की घाटी से प्रवेश करके सप्त-सिन्धु-देश पर आक्रमण किया होता तथा खड्ग के बल से इस देश के आदि-निवासियों को अपने अधीन किया होता तो बड़े गर्व से वे इसका वर्णन, कहीं न कहीं, अपने साहित्य में अवश्य करते; कम से कम सङ्केत तो कर ही देते। किन्तु जब यह घटना आर्य्यों के इतिहास में हुई ही नहीं तब इसके विषय में कोई परम्परागत कथा या भारत में आने के पहले किसी देश का वर्णन, वैदिक अथवा अवैदिक पुस्तकों में, कैसे मिल सकता है। अपने पूर्वोक्त कथन की पुष्टि में अब मैं वैदिक तथा पारसियों के ग्रन्थों से क्रमशः प्रमाण देने का प्रयत्न करूँगा।

स्मृति का प्रमाण।

महात्मा मनु ऋग्वेद के "योनिं देवकृतं" वाक्य का अनुसरण करते हुए ब्रह्मावर्त, आर्य्यावर्त और म्लेच्छ-देश की सीमा का वर्णन करते हैं। इन देशों में केवल ब्रह्मावर्त ही देवनिर्मित कहा गया है। ब्रह्मावर्त-देश की सीमा मनुजी ने इस प्रकार स्थापित की है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥

अर्थात् सरस्वती, दृषद्वती इन दो देवनदियों के बीच जो भूमि है वह देव-निर्मित है। उसी को ब्रह्मावर्त कहते हैं। आर्य्यावर्त-देश की सीमा इस प्रकार स्थिर की गई है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् जिस देश के उत्तर में हिमालय-पर्व्वत, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र है उसे विबुध लोग आर्य्यावर्त कहते हैं। फिर मनुजी कहते हैं—"म्लेच्छदेशस्त्वतः परः" अर्थात् इसके परे म्लेच्छ-देश है। यह विचारने योग्य बात है कि यदि आर्य्य लोग भारत में विदेशी होते तो मनुजी "म्लेच्छदेशस्त्वतः परः" कभी न कहते। फिर उपर्युक्त देव-निर्मित देश को ब्रह्मावर्त कहने से यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने यहीं मनुष्यों की प्रथम सृष्टि की और ब्रह्मावर्त-देश से आदि-मनुष्य शनैः शनैः आर्य्यावर्त-देश में फैल गये।

कर्जन नामक एक पश्चिमी विद्वान् प्राचीन आर्य्यों के विषय में लिखते हैं—

कल्पना कीजिए कि आर्य्य लोग भारतवर्ष में अन्य देश से आये। अब यह विचार करना आवश्यक है कि वे किस मार्ग से आ सकते थे? क्या उन्होंने उत्तर-पश्चिम से प्रवेश किया? प्राचीन फ़ारसी तथा ज़िन्द भाषा की परीक्षा करने से प्रतीत होता है कि ये भाषायें संस्कृत से निकली हैं। इनका सम्बन्ध संस्कृत से वही है जो पाली और प्राकृत का उससे है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईरानी लोग आर्य्यों के वंशज थे। मत-भेद होने के कारण, भारत त्याग कर वे पश्चिम की ओर चले गये। दूसरे यह कि क्या आर्य्य लोग उत्तर या पूर्व से आये? उत्तर और पूर्व में रहनेवाली जातियों की भाषा तथा रहन-सहन का ढंग देखने से प्रतीत होता है कि आर्य्यों से उनका कुछ भी मेल नहीं। आर्य्यों को उनका वंशज कहना सरासर भूल है।

रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल में उक्त विद्वान् ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकाशित की है—

"From these considerations it follows that there is not sufficient foundation for the hypothesis that the ancient Aryans, Indians, or Hindus, entered India proper from some external region; on the contrary, the facts above delineated point to the conclusion that the rise, progress, advance in the arts and civilization of these remarkable people, are the growth of their own land, developed during the course of long ages and communicated to other nations."

अर्थात् इस बात की कल्पना करने के लिए कोई यथेष्ट आधार नहीं कि प्राचीन आर्य्य या यों कहिए कि हिन्दू लोग किसी अन्य देश से भारत में आये। इसके विरुद्ध पूर्वोक्त घटनाओं से तो यही सिद्ध होता है कि इन अलौकिक मनुष्यों

ने कला-कौशल तथा सभ्यता की उन्नति अपनी ही भूमि में की। बहुत काल तक उसकी वृद्धि होती रही। उन्होंने सभ्यता और कला-कौशल दूसरी जातियों को सिखलाया।

एक और पश्चिमी विद्वान् मौन्सिग्नर डेलवैास पक्षपात छोड़ कर कहते हैं—

"The influence of that civilization, worked out thousands of years ago in India, is around us and about us everyday of our lives. It pervades every corner of the civilized world. Go to America and you find there, as in Europe, the influence of that civilization, which came originally from the banks of the Ganges."

अर्थात् उस सभ्यता का प्रभाव, जिसका विकाश सहस्रों वर्षों तक भारतवर्ष में होता रहा, हमारे जीवन में प्रतिदिन हमें परिवेष्टित कर रहा है। वह सभ्य संसार के कोने कोने में व्यापक है। आप अमरीका जाइए। योरप के समान आप वहाँ भी उस सभ्यता का प्रभाव देखेंगे, जो पहले पहल गङ्गा के तट पर उत्पन्न हुई थी।

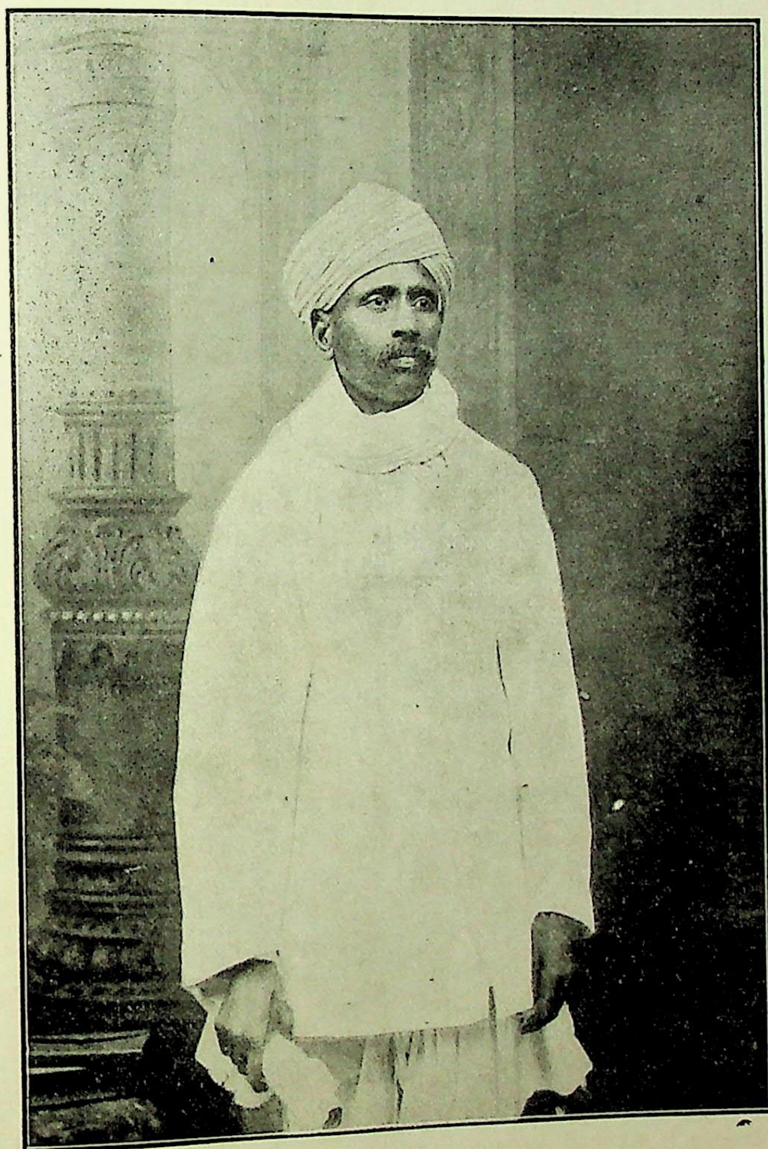
वैदिक प्रमाण।

वैदिक काल के आर्य्य प्रकृति-निरीक्षण में बड़े प्रवीण थे। जो दृश्य उन्होंने पहली बार देखा, अत्यन्त रोचक भाषा में उसका वर्णन वेदों में स्पष्टतया किया है। सरस्वती-प्रान्त में जन्म लेकर आर्य्यों ने जब पहले पहल मेघों से जल बरसते देखा तब ऋग्वेद में उसका वर्णन, कथा के रूप में, इस प्रकार किया—इन्द्र ने, सृष्टि के आरम्भ में, वृत्रासुर-रूपी मेघ को अपने वज्र से मारा। उसके विनष्ट होने पर जो जल उसने अब तक अपने बल से रोक रक्खा था शनैः शनैः गिरने लगा। ऋग्वेद में यह मन्त्र इस प्रकार है—प्रथमजो महीनां ......अहन्नेनं......वृत्रं वृत्रतरं इन्द्रो वज्रेण।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि आर्य्यों ने प्रकृति के इस दृश्य को पहले कहाँ देखा? ऋग्वेद में लिखा है—"इन्द्रो......मायाविनं वृत्रं"—इत्यादि। अर्थात् इन्द्र ने सिन्धु-नदी पर स्थित मायावी वृत्र को नीचे गिरा कर मारा। या यों कहना चाहिए कि सिन्धु-नदी पर जब मेघ भ्रमण कर रहे थे तब विद्युत् अर्थात् इन्द्र के वज्र ने उनको भेद कर जल बरसाया। इन्द्र ने यह वीर कर्म सिन्धु-नदी के तट पर सरस्वती-प्रान्त में ही सम्पादित किया। इस कारण ऋग्वेद में सरस्वती का सम्बोधन "वृत्रघ्नी" है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में हम देखते हैं कि इन्द्र का दूसरा वीरोचित कार्य्य उषःकाल और सूर्य्य को उत्पन्न करना है। हमारे पूर्वजों ने सीधी बोलचाल की भाषा में लिखना छोड़ कर अपनी ओजस्विनी भाषा में लिखा है—"यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनां आत्सूर्य्यं जनयन्द्यामुषासम्" (ऋग्वेद १-३२-४) अर्थात् वृत्र को मार कर इन्द्र ने सूर्य्य और उषा की सृष्टि की। ऋग्वेद के रचयिता ऋषि वामदेव लिखते हैं—"महीयमानामुषासमिन्द्रसंपिणक्" (ऋग्वेद ४—३०—९) अर्थात् अभिमानी उषा को इन्द्र ने कुचल डाला। फिर आगे, लिखा है—"एतदस्या अनःशये सुसम्पिष्टं विपाश्या। ससारसीं परावतः" (ऋग्वेद ४—३०—११) अर्थात् उषा का रथ विपाशा अथवा आधुनिक व्यास नदी पर टूट कर गिर गया। तब वह वहाँ से पलायन कर गई। अर्थात् सीधी भाषा में हम इसे यों कहेंगे कि सूर्य्य की तीव्र किरणों ने उषःकाल को नष्ट कर दिया। मध्य-एशिया को आर्य्यों का आदिम निवास-स्थान माननेवाले विपक्षी यह प्रश्न करेंगे कि आप यह कैसे कहते हैं कि इन्द्र का यह वीरोचित कार्य्य आदिम-निवासी आर्य्यों के लिए हुआ है? इसका उत्तर ऋग्वेद ही में है—"इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः" (ऋग्वेद ४—२८—१८) अर्थात् इन्द्र ने आदि-पुरुष मनु के लिए नदियों में जल बहाया। इनके सिवा ऐसे कई उदाहरण हैं जिनका उल्लेख, स्थानाभाव से, यहाँ नहीं किया जा सकता।

आर्य्यों का आदिम निवास-स्थान ब्रह्मावर्त है, यह प्रमाणित करने के लिए सोमयज्ञ की व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। महात्मा तिलक कहते हैं कि सोमयज्ञ बहुत प्राचीन यज्ञ है। पारसी-धर्म्म-ग्रन्थों में भी इसके समकक्ष याग का विधान है। ऋग्वेद में सोम को "यज्ञस्य पूर्व्यः" (ऋग्वेद १—२—१०) अर्थात् यज्ञ के पूर्व स्थिति रखनेवाला, "दिवः पीयूषं पूर्व्यं" (ऋग्वेद ९—११०—८) अर्थात् स्वर्ग से आया हुआ प्राचीन अमृत और "पिता देवानां" (ऋग्वेद ९—८६—१०) अर्थात् देवताओं का पिता इत्यादि भक्ति और आदर-सूचक शब्दों से सम्बोधन किया है। वैदिक ऋषि सोम का जो इतना सत्कार करते थे, इसका कारण यह था कि वह "जनिता



अध्यापक धोंडो केशव कर्वे, बी० ए० ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।



मतीनाम्'' (ऋग्वेद ९—९६—५) अर्थात् बुद्धि का उत्पादन करनेवाला और "बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्य्य" (ऋग्वेद ९-११३-५) अर्थात् बल वीर्य्य का देनेवाला था। सोम की उत्पत्ति मुञ्जवत-पर्वत पर हुई। इसी लिए इस मन्त्र में मुञ्जावत सोम का विशेषण रक्खा गया है—"सोमस्येव मौञ्जवतस्य भक्षः" (ऋग्वेद १०-३४-१) मुञ्जवत-पर्वत की स्थिति महाभारत में इस प्रकार लिखी है—"गिरिहिंमवतः पृष्ठे मुञ्जवान्नाम पर्वतः" (महाभारते १४-८-११) अर्थात् हिमालय पर्वत के पृष्ठ-भाग में मुञ्जवान् नाम का पर्वत है। दूसरा स्थान, जहाँ सोम उत्पन्न होता था, कुरुक्षेत्र में स्थित शर्य्यणावत नामक सरोवर है—"शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा" (ऋग्वेद ९-११३-१)

पूर्वोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सोम भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता था। जब आर्य्य लोग पृथ्वी में दूर दूर तक फैल गये तब यज्ञ के लिए सोम भारत ही से जाता था। वैदिक अथवा अवैदिक ग्रन्थों में मध्य-एशिया तथा उत्तरी ध्रुव में सोम होने का कोई भी प्रमाण नहीं। हिमकाल (Glacial Age) के पूर्व, जब हमारे पूर्वज उत्तरी ध्रुव की ओर गये तब, वहाँ यज्ञ की आवश्यकता पूरी करने के लिए सोमलता का ख़ूब व्यापार होता था, जिससे उसके कृषकों को बहुत लाभ होता था। ऐतरेय-ब्राह्मण में सोम के व्यापार का वर्णन है; जैसे "प्राच्यां वै दिशि देवाः सोमं राजानमक्रीणंस्तस्मात्प्राच्यां दिशि क्रीयते" अर्थात् देवताओं ने राजा सोम को पूर्व-दिशा में क्रय किया। तब से वह प्राच्यदिशा ही में क्रय किया जाता है। उत्तरी ध्रुव, योरप तथा मध्य-एशिया वाली कल्पना के प्रतिवादी कहते हैं कि भारत में आने के पूर्व आर्य्य लोग इन स्थानों में सोम-यज्ञ करते थे, यद्यपि सोम भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता था। विचार करने की बात है कि जब सोम मध्य-एशिया इत्यादि स्थानों में होता ही न था तब वहाँ आ किधर से गया?

ज़िन्द-अवस्ता के प्रमाण।

आधुनिक पारसी तथा ईरानी लोग प्राचीन आर्य्यों की सन्तान थे। वे पहले आर्य्यों के साथ आर्य्यावर्त ही में रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे। क्योंकि शब्दशास्त्रवेत्ताओं ने अब सिद्ध कर दिया है कि हप्तहिन्दु, होम, अहुरमज़्द इत्यादि ज़ेन्द-भाषा के शब्द क्रम से सप्तसिन्धु, सोम, असुरमेधावी इत्यादि संस्कृत-शब्दों के अपभ्रंश हैं। केवल धर्म्म-सम्बन्धी मतभेद होने के कारण आर्य्यों में परस्पर अनबन हो गई। कुछ लोग यज्ञादि कर्मों के विरोधी हो गये। बस, युद्ध का डङ्का बज गया। ऋग्वेद में कहा है—"इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकीर्षुर्न प्रपित्वम्।" (ऋग्वेद ३-५३-२४) अर्थात् हे इन्द्र! यह भरत की सन्तान पृथक् होना जानती है, एकता करना नहीं। दैववश यज्ञ के विरोधी युद्ध में पराजित हुए। तब भारतवर्ष को छोड़ कर वे अन्य देशों को चले गये; जैसा कि ऐतरेय-ब्राह्मण (३-३९) में कहा है—"देवा वै असुरैर्युद्धमुपप्रापयन् विजयाय"। इन विपक्षियों में कुछ लोग यज्ञ के अवलम्बियों के आक्रमण से बचने के लिए ईरान की ओर चले गये। आर्य्य इन विपक्षियों के लिए असुर, राक्षस, दास, कृष्णत्वक्, कृष्णयोनि इत्यादि घृणासूचक शब्द प्रयोग करने लगे। इधर विपक्षियों ने भी देव, हिन्दू इत्यादि आर्य्य-शब्दों को बिगाड़ने में कुछ कमी न की। यहाँ तक कि यह विरोध जीवन के प्रत्येक कार्य्य में बद्धमूल हो गया। संस्कृत-लिपि के विरुद्ध फ़ारसी-लिपि दाहिनी ओर से लिखी जाने लगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आर्य्यों में यह परस्पर विरोध क्या भारत ही में हुआ? यदि हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है? उत्तर में हम ऋग्वेद का प्रमाण देंगे। वह मन्त्र इस प्रकार है—"य ऋक्षादंहसो मुचद्यो वार्यात्सप्तसिन्धुषु" अर्थात् इन्द्र ने आर्य्य-शत्रुओं से सप्तसिन्धु देश की रक्षा की। यहाँ पर यह समझना आवश्यक है कि प्राचीन आर्य्य लोग इन्द्र की सहायता प्रत्येक कार्य्य में लेते थे।

पूर्वोक्त घटनाओं से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि आर्य्य लोग ईरान से अथवा अन्य देश से भारत में नहीं आये, बल्कि भारत से ईरान तथा अन्य देशों की ओर गये हैं।

अब यह सुनिए कि—

दास, दस्यु, असुर, राक्षस आदि कौन थे।

स्कूलों और कालिजों में प्रचलित इतिहास पढ़ने से प्रायः ज्ञात होता है कि आर्य्य लोग उत्तर-पश्चिम की राह भारत में आये और यहाँ के आदि-निवासी कोल, द्रविड़, भील,

इत्यादि थे। इन जङ्गली जातियों को परास्त करके वे यहाँ बस गये। पराजित असभ्य जातियों को आर्य्य असुर, राक्षस, दस्यु इत्यादि कहते थे। पर यह मानना उन पुस्तक-रचयिताओं की सरासर भूल है। पहले दस्यु शब्द को लीजिए। यह दस् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है नष्ट करना। दस्यु शब्द की व्याख्या है—"दस्यवः अनुष्ठातृणामुपक्षपयितारः शत्रवः" अर्थात् यज्ञ करनेवालों के शत्रु दस्यु कहलाते हैं। "दस्युमवृतं" (ऋग्वेद १-४१-२) इत्यादि। इसी प्रकार दास शब्द भी शत्रु-वाचक है। "दासाः कर्महीनाः शत्रवः", "दासः कर्मकरः शूद्रः" इत्यादि। और भी कई शब्द दस्यु और दास के अर्थ-बोधक वैदिक-साहित्य में पाये जाते हैं। महाभारत, शान्ति-पर्व, में हम देखते हैं कि द्विज लोग भी यज्ञादि कर्म न करने से कर्महीन शूद्र कहे गये हैं—

स्वधर्म्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यताङ्गताः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रताङ्गताः॥

इस श्लोक से यह ज्ञात होता है कि शूद्र शब्द पराजित-व्यक्ति-वाचक नहीं, बल्कि कर्महीन-शत्रु-वाचक है। फिर देखिए, मनुजी ने काम्बोज के रहने वाले आर्य्यों को भी दस्यु कहा है। महाभारत में भी लिखा है—"दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हन्तुमर्हति"। यहाँ भी यज्ञादि-क्रियाओं से रहित मनुष्यों को दस्यु कहा है। इसलिए दस्यु और दास, कर्महीन होने से, कालान्तर में अनार्य्य कहलाये और इनकी एक अलग जाति बन गई। ऐसी दशा में वैदिक काल के भारतवासियों को आर्य्य और आदि-निवासियों में विभक्त करना स्पष्टतया न तो स्वाभाविक, न प्राचीनकालिक ही जान पड़ता है, बल्कि कृत्रिम और आधुनिक ज्ञात होता है। वैदिक काल के हमारे पूर्वज, अपने अतिरिक्त, किसी भिन्न जाति को भारत का आदि-निवासी न जानते थे। इसलिए उन्होंने दस्यु और शूद्र लोगों को कहीं भी आदि-निवासी नहीं कहा, बल्कि कर्महीन तथा शत्रु शब्दों से सम्बोधन किया है।

कतिपय विद्वानों का यह भी कथन है कि वर्ण-व्यवस्था भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। इससे यह विदित होता है कि भारत में पहले असभ्य जङ्गली जातियाँ रहती थीं। उनको आर्य्यों से भिन्न रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। क्योंकि इन विद्वानों के मतानुसार वर्ण का अर्थ रङ्ग है। मिस्टर डेलाफ़ोस, मार्स्डन आदि भले ही इस शब्द का मनमाना अर्थ करें। किन्तु भारतीय विद्वानों का यह अर्थ-स्वीकार नितान्त असह्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक काल में वर्णभेद का अभिप्राय रङ्गभेद ही से है। समय यही कह रहा है। आप जहाँ देखेंगे, यही भेद पावेंगे। किन्तु सौभाग्यवश प्राचीन काल में वर्णभेद का आशय यह न था। वर्ण शब्द वृ धातु से निकला है, जिसका अर्थ है छाँटना। मनुष्य अपनी रुचि-पूर्वक अपने लिए विशेष वृत्ति छाँट लिया करते थे। कोई वाणिज्य-कर्म करता था, कोई सेना में प्रवेश करके क्षत्री कहलाता था, इत्यादि। ऋग्वेद के इस मन्त्र से भी यही प्रकट होता है—

"नानानं वा उनोधियो विव्रतानि जनानाम्" ऋग्वेद ९--११२-१

अर्थात् हमारे विचार और प्रयत्न तथा मनुष्यों की वृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। यदि वर्ण का अर्थ रङ्ग माना जाय तो चार वर्णों के मनुष्य चार भिन्न भिन्न रङ्गों के होने चाहिए। पर इसके मानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है। पक्षान्तर में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि क्षत्रियों ने ब्राह्मण-वृत्ति स्वीकार कर ली और ब्राह्मण क्षत्री तथा वैश्य-कर्म में प्रवृत्त हो गये।

यदि आर्य्य लोग भारत में बाहर से आये होते तो वे आदि-निवासियों के रक्खे हुए नदी, पर्व्वत, नगर इत्यादिकों के नाम कुछ बिगाड़ कर अपनी भाषा में बदलते; जैसे कि ग्रीक लोगों ने, सिकन्दर के समय, भारत के कई नदी-नगरों के नाम बिगाड़ कर अपनी भाषा में बदल दिया। यथा—विपाशा (व्यास) नदी को विपैसिस, चन्द्रगुप्त को सैन्ड्रोकोटोस, पाटलिपुत्र को पोलीबोत्रा इत्यादि। किन्तु यहाँ तो, इसके विरुद्ध, प्रत्येक वस्तु के शुद्ध नाम ज्यों के त्यों विद्यमान हैं—जैसे गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, रसा, मुञ्जवत, सोम, दर्भ, इत्यादि। इन शब्दों में मिलावट का लेश भी नहीं है।

राक्षस शब्द भी इसी प्रकार भिन्न जाति-वाचक नहीं, बल्कि शत्रु-वाचक है। वाल्मीकि-रामायण में लिखा है "पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः··· (उत्तरकाण्ड ७-३-४) जनयामास··· रक्षोरूपं···दशग्रीवं"... (७-९-२८, २९) इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मर्षि पुलस्त्य की सन्तान होने पर भी रावण कर्महीन होने से राक्षस कहलाया।

अनार्य्य शब्द भी भिन्न जाति का वाचक नहीं। यह

शब्द तो उस व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाता था जो आर्य्यों के समान सदाचारी न था। जैसे, रामायण में रावण अनार्य्य कहा गया है वैसेही कैकेयी भी अनार्य्या कही गई है।

असुर शब्द की व्याख्या शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार है—"ते असुरा आत्त वचसो हे अलवो हे अलव इति वदन्तः पराबभूवुः" अर्थात् असुरगण "हे अरयः" न कह कर "हे अलवः" कहते हुए पराजित किये गये।

असुरों के संस्कृत बोलने का भी प्रमाण वेदों में है—"इल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान्सः..." अर्थात् राक्षस इल्वल संस्कृत बोलता हुआ ब्राह्मणों को निमन्त्रत करता था। इससे विद्वज्जन स्वयं समझ सकते हैं कि असुर, राक्षस आदि भारत के आदि-निवासी न थे, बल्कि यज्ञादि क्रियाओं के विरोधी आर्य्य ही थे।

कई विद्वानों को यह भी शङ्का है कि भारतीय राक्षसों की उत्पत्ति यदि आर्य्यों ही से मान ली जाय तो यह प्रश्न होता है कि आफ्रिका के निग्रो तथा चीन-निवासियों की उत्पत्ति कहाँ से हुई? क्योंकि इनका शारीरिक गठन तथा चेहरे का ढाँचा आर्य्यों से भिन्न है। इसलिए इन जातियों को आर्य्यों का वंशज कहना सरासर भूल है, इत्यादि। इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि संसार भर के भिन्न भिन्न मत जैसे हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई सृष्टि का होना एकही स्त्री-पुरुष से मानते हैं; यद्यपि उत्पत्ति-स्थान का निश्चय वे ठीक ठीक नहीं करते। बाइबिल में लिखा है कि अदन का बाग़ एशिया में कहीं पर था। आदम के निकाले जाने पर वह बाग़ लोप हो गया। इस मत के अनुसार भारत में अदन के बाग़ का होना सम्भव हो सकता है। इन आदि-पितरों की सन्तान भिन्न भिन्न स्थानों में रहने से रङ्ग में, क़द में, तथा स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न होगई। जो लोग ठण्डे देशों में रहने लगे वे गोरे ही रहे; जो उष्ण-प्रदेशों में निवास करते थे वे काले होगये। बाहरी संसर्ग में जल-वायु, भोजन तथा जीवन-वृत्ति अपना प्रभाव मनुष्य पर पूरा पूरा डालती है। अधिक शीतप्रदेश के मनुष्य नाटे क़द के होते हैं; जैसे लाप-लैंड के निवासी। इसी प्रकार मङ्गोलियन तथा निग्रो और दक्षिण के द्राविड़ों के शारीरिक गठन का कारण समझना चाहिए। यह परिवर्तन एक दो शताब्दियों में नहीं हुआ। विकाश-सिद्धान्त के अनुसार यह परिवर्तन मनुष्य की जीवन-लीला में शनैः शनैः सहस्रों वर्षों में होता है। यह अनुमान सत्य हो सकता है; क्योंकि मङ्गोलियन, द्रविड़, आर्य्य, निग्रो आदि जातियों की सृष्टि आदिकाल में भिन्न भिन्न होने का कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत सब मतों का यही सिद्धान्त है कि सृष्टि एक ही माता-पिता से और एक ही स्थान पर हुई है; वह स्थान चाहे जहाँ हो।

प्राचीन आर्य्यों की सभ्यता का विकाश दिखलाने के लिए संक्षिप्त रूप से यह वर्णन करना आवश्यक है कि आर्य्य लोग अपने आदिम स्थान, भारत, से निकल कर कहाँ कहाँ तक गये तथा

प्राचीन हिन्दू-साम्राज्य

पृथ्वी में कहाँ तक फैला हुआ था। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि हमारे पूर्वज आर्य्य अद्भुत बुद्धिशाली तथा बलवान् थे। ऋग्वैदिक काल के आर्य्यों में ये गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। निर्भीक तथा साहसी होने पर उनकी इच्छा नये नये देश देखने तथा उनको अपने अधीन करने की हुई। तदनुसार उन्होंने, हिमकाल के पूर्व ही, उत्तरी ध्रुव की ओर प्रस्थान किया। वहाँ वे लोग प्रकृति का अद्भुत दृश्य और बड़े बड़े दिनों तथा रात्रियों का अनुभव करते हुए बहुत काल तक रहे; जैसा कि ऋग्वेद (५-५४-५) से विदित होता है—"दीर्घं ततान सूर्यो न योजनम्।" दीर्घ रात्रि के विषय में लिखा है—"न यस्कः पारं ददृशे।" (अथर्ववेद) ऐसे आश्चर्य्यकारक दृश्य देख कर उन्हें कहना पड़ा—"महद्देवानां सुरत्वमेकं" (ऋग्वेद ३-५५-१६) अर्थात् देवताओं की लीला अपार है। उन दिनों उत्तरी ध्रुव, आज कल की तरह, हिमाच्छादित न था; बल्कि, इसके विरुद्ध, वहाँ का जल-वायु निवास के अनुकूल तथा मनुष्यों के लिए हितकर था। ऋग्वेद-काल के ऋषि "शश्वत्पुरोषा" अर्थात् अनन्त उषाकाल का वर्णन करते हुए कहते हैं—"विसूर्य्यो मध्ये अमुचद्रथं" (ऋग्वेद १०-१३८-३) अर्थात् सूर्य्य आकाश के मध्य अपने रथ के घोड़ों को छोड़ देता था। तैत्तिरीय-ब्राह्मण (३-९-२२-१) में लिखा है—"एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः" अर्थात् एक वर्ष देवताओं का एक दिन है। पारसियों के प्राचीन ग्रन्थों में भी इसी प्रकार दीर्घ रात्रि का वर्णन है। हिमकाल के आने पर आर्य्यों को ध्रुव-देश

छोड़ना पड़ा। इस घटना का सङ्केत उनको पहले ही हो चुका था; जैसा कि शतपथ-ब्राह्मण में मत्स्यावतार की कथा से प्रकट होता है। यही कथा, कुछ बिगड़ कर, बाइबिल में नोह के तूफ़ान (Flood of Noah) के नाम से प्रसिद्ध हुई है। ग्रीस आदि देशों में भी यही कथा दुहराई गई है। मिश्र-देश में भारतीय आर्य्यों के बसने के विषय में कुक-टेलर साहब कहते हैं कि मिश्र-देश और भारतवर्ष में प्रचलित कई बातों के मेल से विदित होता है कि हिन्दुओं ने कभी मिश्र-देश को अपने अधीन किया था। ग्रीस में भी आर्य्यों के उपनिवास का बहुत कुछ पता मिलता है। ग्रीक और संस्कृत भाषा के मिलान से तथा देवताओं के नाम अथवा धर्म्म-सम्बन्धी विचारों की तुलना से यही प्रतीत होता है। मैक्समूलर साहब का कथन है कि आयरलेंड में भी किसी समय आर्य्यों की बस्ती थी। क्योंकि "आयर" शब्द आर्य्य का अपभ्रंश है। अमरीका में आर्य्यों के उपनिवास के विषय में कोलमैन साहब कहते हैं कि मध्य अमरीका की प्राचीन इमारतें भारत की इमारतों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं और अमरीका में हिन्दुओं के चिह्न अभी तक मिलते हैं। डाकृर जरफी लिखते हैं कि हमको अमरीका में हिन्दू-ढँग के बहुत से मन्दिरों का पता मिला है। यह तो सभी जानते हैं कि प्राचीन मैक्सिकन लोग हाथी की सी सूँड़ तथा मनुष्य-देह-धारी देवता को पूजते थे। यह देवता हिन्दुओं के गणेश से बहुत मिलता था। यह और भी आश्चर्य्य की बात है कि पेरू के निवासी राम-सीता के नाम से एक बड़ा उत्सव मनाते थे। इससे यह जाना जाता है कि मर्य्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी की कथा अतीत काल से भूमण्डल में व्याप्त है तथा हमारे पूर्वज आर्य्य लोगों का प्रभुत्व समस्त अमरीका पर था। १८४१ ईसवी में ओहियो (अमेरिका) में जो खुदाई हुई थी उसमें कई पत्थर ऐसे मिले थे जिनमें राम-कृष्णादि देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में हमारे साम्राज्य का वर्णन मिलता है। वह कोई दन्त-कथा नहीं है; बल्कि प्राचीन घटनाओं का एक सच्चा भाण्डार है। युधिष्ठिर का राजसूय-यज्ञ केवल भारत-विजय का सूचक नहीं, किन्तु पृथ्वी भर में हिन्दुओं के साम्राज्य की घोषणा कर रहा है। टाइम्स आव् इंडिया ने भी हिन्दू-साम्राज्य के विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित करते हुए कहा है कि भारतीय द्वीपसमूह और फ़िलिपाइन-द्वीपपुञ्ज में हिन्दुओं के आधिपत्य के बहुत से चिह्न स्पष्ट मिलते हैं। वहाँ के प्राचीन हिन्दू-मन्दिर, अपनी टूटी-फूटी अवस्था में, मानों यह कह रहे हैं कि यहाँ भी कभी ऋग्वेद, सामवेद, महाभारत, रामायण इत्यादि संस्कृत-ग्रन्थ पढ़े जाते थे। बाम्बे गैज़ेट ने टाइम्स आव् इंडिया की सम्मति को प्रतिध्वनित करते हुए कहा है कि आधुनिक अन्वेषण से भारतीय आर्य्यों के साम्राज्य का होना प्राच्य दिशा में भी स्पष्टतया प्रतीत होता है। सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, कम्बोड़िया इत्यादि द्वीपों पर हिन्दुओं का पूरा पूरा अधिकार था। उन द्वीपों में जो खुदे हुए पत्थर मिले हैं उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कभी वहाँ संस्कृत ही राज-भाषा थी। वहाँ की प्राचीन इमारतों में भारतीय निर्माण-शैली को देख कर दङ्ग होना पड़ता है। इसी प्रकार आरमीनिया, ज़ंज़ीबार इत्यादि स्थानों में हिन्दुओं के उपनिवास के चिह्न अभी तक पाये जाते हैं। टेरियन डी-लेकुपेरी नामक एक फरासीसी विद्वान्, चीन की सभ्यता के विषय में लिखते समय, कहता है कि चीन पहले हिन्दुओं के अधिकार में था, इसके बहुत से प्रमाण हैं। उन लोगों ने वहाँ अपना सिक्का भी चलाया था।

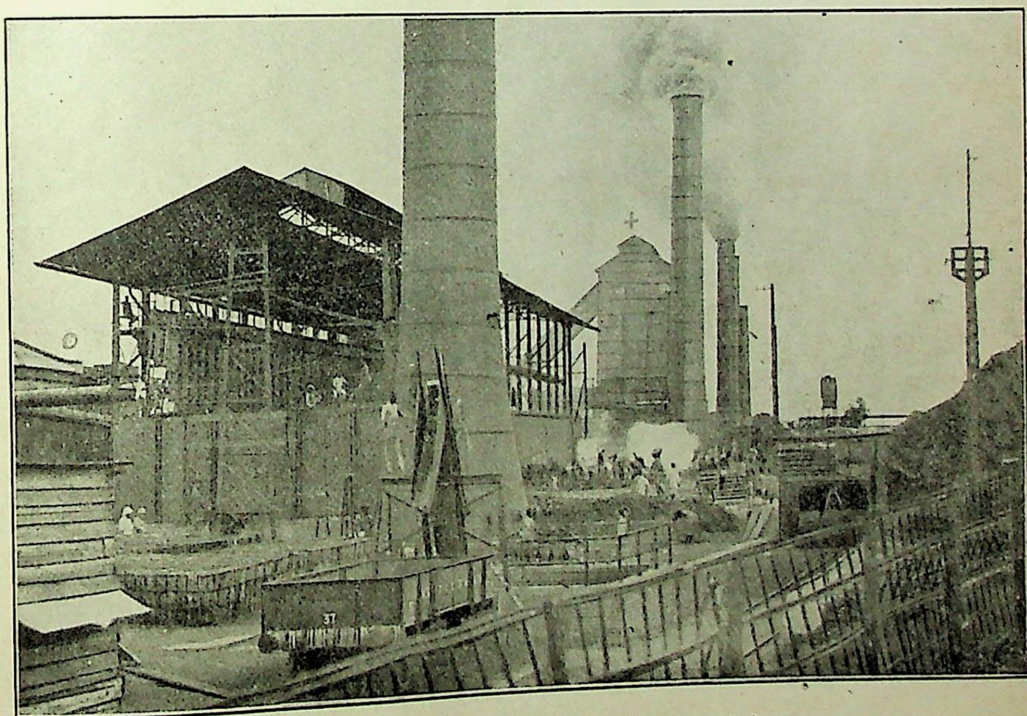
उपर्युक्त घटनायें हमारे प्राचीन पूर्वजों का गौरव, वीरत्व, राजनीतिज्ञता, निर्माण-शक्ति, राष्ट्रीयता, आत्मावलम्बन, विदेशगमन और अद्भुत युद्ध-कौशल का दिग्दर्शन करा रही हैं। इतना ही नहीं, किन्तु आधुनिक छिन्न-भिन्न अवस्था भी यह घोषणा कर रही है कि कभी ऐसा भी समय था जब हमारे पूर्वजों ने पृथिवी के विशाल राज्यों को अपने अधीन करके उनमें अपनी सभ्यता का प्रचार किया था और ऐसा साम्राज्य स्थापित किया था जिसमें सूर्य्य कभी अस्त न होता था।

इस वर्णन से यह स्पष्टतया विदित होता है कि भारत का प्राचीन इतिहास संसार का इतिहास है और आधुनिक सभ्यता, राजनीति, दर्शन-शास्त्र, धर्म्म-शास्त्र, विज्ञान, कला-कौशल आदि भारत ही में पहले पहल प्रादुर्भूत हुए थे।

राव-बहादुर नारायण भवनराव पावगी ने अँगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—The Aryavartic Home and the Aryan Cradle in the



श्रीयुत जे० एन० ताता की मूर्ति (साकची)।



कोक नामक कोयला बनाने के नये भट्ठे (साकची)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।



Sapta Sindhus—यह लेख इसी के आधार पर लिखा गया है। अतएव इसमें प्रकट किये गये विचार पावगीजी के ही हैं।

देवीदत्त भट्ट

दर्शनीय दोहे।

(सिरनेत-नौसई से उद्धृत)

नीति।

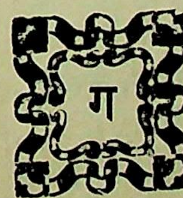
जनमे यदपि सुवंस में खल तउँ दुखद कराल।
चन्दन हूँ की आग ते दहै देह ततकाल ॥१॥
भल अनभल दोउन किये यश बड़ेन के हाथ।
वसन बढ़ाइ चुराइ ज्यों सुजसी जग यदुनाथ ॥२॥
उपजे कहा कपूत के बरुक नास निज होय।
धूम होय सिरनेत घन नासत अनल भिजोय ॥३॥
घटत बढ़त सम्पति निरखि सुजन करहिं नहिँ मन्द।
पच्छ दुहूँ सिरनेत ज्यों जग-सुखदायक चन्द ॥४॥
मँगिबो सम कुकरम नहीं करत बुद्धि-बल सेस।
चोरयौ सिय सिरनेत लखु बनि भिच्छुक लंकेस ॥५॥
कछु न कठिन नर धीर ढिग सुन सिरनेत प्रमान।
धरनि गिरत घन धाइ धरि तरनि ग्रस्यो हनुमान ॥६॥
मानी दीन न हो सके बरुक प्रान दे खोय।
बिना बुझे सिरनेत क्यों पावक सीतल होय ॥७॥
धीरज, उद्यम, बुद्धि, बल, साहस, सक्ति, सुनीत।
सुखद दसौ सिरनेत ये सुतिय, सुपूत, सुमीत ॥८॥
अरुन, पीत, नीले वरन बहै वारि छवि देत।
उत्तम मध्यम अधम की सङ्गति लहि सिरनेत ॥९॥
बिन बड़ेन सिरनेत नहिं होत बड़ेन को काज।
बिना ऊँट मेंटे न ज्यों ऊँट-कण्ठ की खाज ॥१०॥
धन-सज्जन लै सूम धन हरखि लुटाये देत।
वारिधि वारिहिं करखि ज्यों बरखत घन सिरनेत ॥११॥
को दानी घन सरिस जिहिं पट तरिये सिरनेत।
बिनु माँगे बिनु समहिं जो घर घर जीवन देत ॥१२॥

शान्त।

दीनराज मो सो न कोउ तो सो दीन-निवाज।
जुरयो जोड़ सिरनेत भल, को जीते रघुराज ॥१॥
जग से रूखे रहत रखि जे केवल हरि हेत।
तिन के पग की रेत से दृग आँजत सिरनेत ॥२॥
बुधि नहिं, बल नहिं, वित्त नहिं समुझ न ब्रह्म-विलास।
पतित-नृपति सिरनेत को राम रावरी आस ॥३॥
गहि अञ्जलि सिरनेत यह माँगत बार करोर।
क्यों हूँ ढरकि परे रहैं राम रावरी पैर ॥४॥
परिजन, पुर, बानी, वसन त्यागे नारि, निकेत।
धन-आसा नासी न जो कुल नासे सिरनेत ॥५॥
हिये राम, दृग राम-छवि, जीह राम को नाम।
राम-स्वामि सिरनेत जन नहिं निरगुन ते काम ॥६॥
बल, विद्या, वैभव, वरन इनते चले न काम।
लियो परखि सिरनेत हैं प्रेम-पियासे राम ॥७॥
धिग जोगी बिनु ज्ञान के दान बिना धिग दाम।
धिग नारी पति धर्म बिनु धिग जीवन बिनु राम ॥८॥
जलचर, थलचर, साखचर, नभचर, निसिचर तारि।
जो न हरज इक नरहुँ की सुनिये गरज मुरारि ॥९॥
हरिन बध्यो बाँध्यो नहरि भज्यो न हरि कत चेत।
आसा बस सब दिन गये धिग जीवन सिरनेत ॥१०॥
रघुवर करजुग रावरे निज सरबस सिरनेत।
अरपि गरज कहि देत प्रभु नित रहिये सुधि लेत ॥११॥
चकई दृग ज्यों रवि बसै ज्यों कुल-तिय-दृग लाज।
त्योंही तुम सिरनेत* दृग नित निबसहु रघुराज ॥१२॥

रामचरित उपाध्याय।

अनुस्वार और अनुनासिक।



त नवम्बर की "सरस्वती" में अनुस्वार और अनुनासिक-विषयक एक उत्तम लेख छपा है। लेखक महाशय ने उत्तम और उपयोगी प्रश्न उठा कर विशेष खोज से अपने सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। विषय विचारणीय है। अतएव उस पर कुछ निवेदन यहाँ किया जाता है। उक्त लेख में विसर्ग का विचार नहीं

* "सिरनेत" मेरा ही नामान्तर है। लेखक

किया गया है। परन्तु इस लेख में उस पर भी विचार किया जायगा। विचारणीय बातें ये हैं—

(१) अनुस्वार, विसर्ग और अनुनासिक स्वतन्त्र वर्ण हैं अथवा अन्य वर्णों की विशेष ध्वनियाँ हैं?

(२) इनके उच्चारण में अन्तर क्या है?

(३) अनुस्वार और अनुनासिक का यथा-योग्य प्रयोग होता है या नहीं? और

(४) अनुस्वार और ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, के उच्चारण में क्या भेद है तथा इनका कहाँ तक यथोचित प्रयोग होता है?

१—(क) पहले अनुनासिक को लीजिए। यह न तो पृथक् वर्ण है और न विशेष ध्वनि का नाम ही है। जो वर्ण नासिका और मुख से उच्चारण किये जाते हैं उन्हीं वर्णों को अनुनासिक कहते हैं—"मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः"। अनुनासिक शब्द का अर्थ ही है—जो नासिका से बोला जाय। जब अ, इ, उ आदि स्वर-वर्णों को नासिका और मुख से बोलते हैं तब वे अनुनासिक कहलाते हैं। जैसे—भाँति, कुँवर आदि। इन शब्दों में 'आँ' और 'उँ' अनुनासिक हैं। अर्थात् आ और उ, इन स्थलों में मुख और नासिका से बोले जाते हैं। 'चाह' शब्द के आ और उ केवल मुख से बोले जाते हैं। इसलिए ये "निरनुनासिक" हैं अर्थात् नासिका से नहीं बोले जाते। इस प्रकार अ से लेकर ऐ तक वर्ण अनुनासिक और निरनुनासिक दोनों प्रकार के होते हैं। व्यञ्जनों में केवल य, व, ल, अनुनासिक और निरनुनासिक होते हैं। जैसे—संयोग, सँय्योग; संवत्सर, सँव्वत्सर; संलय, सँल्लय। इन स्थलों में यँ, लँ, वँ, अनुनासिक हैं; अर्थात् नासिका और मुख से बोले जाते हैं। और य्, व्, ल्, निरनुनासिक हैं; अर्थात् ये केवल मुख से बोले जाते हैं।

इनके सिवा ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, भी अनुनासिक कहलाते हैं। ये निरनुनासिक नहीं होते; अर्थात् ये केवल मुख से कभी नहीं बोले जाते। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि ये केवल नासिका से भी नहीं बोले जाते।

इससे यह जाना जाता है कि अनुनासिक कोई पृथक् वर्ण नहीं। किन्तु जो वर्ण नासिका से बोला जाय वही अनुनासिक कहलाता है। इसीलिए शिव-सूत्रों में इनका उपदेश नहीं किया गया। "अ इ उ ण्" आदि सूत्रों में केवल ह्रस्व वर्ण ही समाविष्ट हैं; परन्तु उनसे जिस प्रकार दीर्घ वर्णों का भी ग्रहण होता है उसी प्रकार अनुनासिक वर्णों का भी ग्रहण होता है।

(ख) अनुस्वार और विसर्ग को दूसरे वैयाकरण क्या मानते हैं, इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस लेख में केवल वैयाकरणों के कुल-गुरु, व्याकरण के नवयुग-विधाता, पाणिनि महाराज की ही बात प्रामाणिक मानी जायगी। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार तिरसठ या चौंसठ वर्ण हैं—

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳵपौ चापि पराश्रयौ।
दुःस्पृष्टश्चापि विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥

अर्थात्—प्राकृत और संस्कृत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण हैं। यह स्वयं ब्रह्मा का कथन है। उनमें से इक्कीस स्वर हैं। उनका ब्योरा यह है—अ, इ, उ, ये प्रत्येक ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार ये बारह हुए। लृ का दीर्घ और प्लुत नहीं होता। पूर्वोक्त बारह स्वरों में लृ जोड़ने से तेरह स्वर हुए। ए, ऐ, ओ, औ प्रत्येक दीर्घ और प्लुत-भेद से दो दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार ये आठ और पूर्व के १३ मिल कर कुल इक्कीस स्वर हुए।

पच्चीस स्पर्श वर्ण—'क' से लेकर 'म' तक

अक्षरों को स्पर्श-वर्ण कहते हैं। यादि आठ हैं—य, व, र, ल, श, ष, स और ह, ये यादि वर्ण कहाते हैं।

चार यम हैं। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय—ᳵक, और उपध्मानीय—ᳶप भी। ऌकार का प्लुत भी होता है। इस प्रकार ये सब मिल कर तिरसठ हुए। परन्तु ह्रस्व और दीर्घ-भेद से अनुस्वार दो प्रकार का होता है। ह्रस्व अक्षर के आगे का अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ अक्षर के आगे का अनुस्वार दीर्घ होता है। इस रीति से समस्त वर्ण चौंसठ हुए।

इससे सिद्ध हुआ कि अनुस्वार और विसर्ग पृथक् वर्ण हैं। ये न तो स्वर हैं और न व्यञ्जन; किन्तु तीसरे ही प्रकार के वर्ण हैं जो अयोग-वाह कहलाते हैं। देखिए, महाभाष्य में भी यही लिखा है—

इमे ऽयोगवाहा न क्वचिद् उपदिश्यन्ते, श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीय—जिह्वामूलीयो-पध्मानीया-नुस्वार-यमाः। कथं पुनरयोगवाहाः? यद्युक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। (हयवरट्)

अर्थात्—इन अयोगवाहों का कहीं उपदेश नहीं किया गया। परन्तु इनका काम पड़ता है। इसलिए इन्हें कार्य के निर्वाह के लिए शिवसूत्रों—अक्षर-समाम्नाय—में पढ़ना चाहिए। अच्छा, तो फिर अयोगवाह हैं कौन से? वे हैं—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और यम। इन्हें अयोगवाह कहते क्यों हैं? क्योंकि ये शिवसूत्रों के साथ योग-सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु कार्य करते हैं और पढ़ने लिखने में आते हैं।

व्याकरण के आचार्य, अनुस्वार और विसर्ग को पृथक् वर्ण मानते हैं, यह पूर्वोक्त वचनों से स्पष्ट सिद्ध होगया।

(२) अनुस्वार और अनुनासिक का भेद अब स्पष्ट समझ में आ जायगा। अनुस्वार पृथक् वर्ण है; परन्तु अनुनासिक नहीं। अनुस्वार केवल नासिका से बोला जाता है; पर अनुनासिक मुख और नासिका से। पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार सिद्धान्त-कौमुदी में कहा भी है—"नासिकाऽनुस्वारस्य" अर्थात्—अनुस्वार का स्थान नासिका है।

जब अ, इ आदि स्वर नासिका से भी बोले जायँ तब वे अनुनासिक होते हैं। पर जब अ, आ, इ आदि स्वरों के उच्चारण के अनन्तर नासिका से ध्वनि निकले तब वे अनुस्वार होंगे। जैसे—भाँति, कुँवर—और मैं, हैं, में। पहले उदाहरणों में केवल स्वर ही नासिका से बोले गये हैं; परन्तु पिछले उदा-हरणों में स्वर का उच्चारण हो चुकने पर नासिका से ध्वनि निकलती है। अर्थात्—मैं, हैं आदि शब्दों में ऐ के उच्चारण के अनन्तर नासिका से ध्वनि निक-लती है; ऐ को ही नासिका से नहीं बोलते। यदि ऐ का ही उच्चारण नासिका से होता, तो हम इस प्रकार हैँ, मैँ आदि लिखते।

विसर्ग—(:)—भी स्वतन्त्र वर्ण है, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। विसर्ग का स्थान है कण्ठ। अर्थात्—इसका उच्चारण कण्ठ से होता है। "अकुह-विसर्जनीयानां कण्ठः" यह भी पूर्वोक्त कौमुदी का ही वचन है। इसका अर्थ है—अ, कवर्ग, ह और विसर्गों का स्थान कण्ठ है। पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जिस स्वर के अनन्तर विसर्ग होगा उसी स्वर के सदृश उसका उच्चारण होगा। जैसे—रामः, हरिः। पहले शब्द में विसर्ग का कण्ठ से उच्चा-रण होगा; पर दूसरे शब्द में तालू से। क्योंकि पिछले शब्द में विसर्ग, इकार के अनन्तर है और इकार का स्थान तालू है।

(३) संस्कृत-भाषा में अनुस्वार का अधिक प्रयोग होता है, अनुनासिक का बहुत कम। इसका यह कारण नहीं है कि संस्कृत मृत भाषा है। प्रत्युत यह भाषा के उच्चारण की साधुता सिद्ध करता

है। बच्चे, अपढ़ और देहाती लोग नाक से अधिक बोलते हैं। खड़ी बोली में भी अनुनासिक का प्रायः अभाव ही है। तथापि कुछ लेखक, जो ठेठ हिन्दी के ज्ञाता हैं, या जो देहात के रहनेवाले हैं, अपने पूर्व-अभ्यास के अनुसार अनुस्वार के स्थान में अनुनासिक का प्रयोग करने लगते हैं। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण यह है कि अभी तक खड़ी बोली के शब्दों को हिन्दी-अक्षरों में स्थिर रूप नहीं मिला। इसलिए एक ही शब्द कई प्रकार से लिखा जाता है। जैसे—आयगा, आएगा, आयेगा।

तुलसीदासजी की रामायण में, उस समय की उच्चारण-प्रथा के अनुसार, अनुस्वार और अनुनासिक का उचित प्रयोग हुआ है। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

"मैं, सकें, नहिं, मिलीं, गईं, देखीं"।

ये रूप खड़ी बोली के अनुसार हैं। अनुनासिक के जो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं वे खड़ी बोली के उच्चारण से नहीं मिलते—

"माँगु, जहाँ, पूँछ, सुनाऊँ, भूँख, हँसि, पहुँच, पाँच।"

खड़ी बोली में पूँछ के स्थान में पूछ और भूँख के स्थान में भूक या भूख उच्चारण होता है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। अतएव अब शेष शब्दों पर विचार करना चाहिए।

लिपि-भेद से खड़ी बोली के दो भेद हैं—हिन्दी और उर्दू। प्रायः यह सर्व-सम्मत है। उच्चारण के अनुसार शब्द लिखे जाते हैं और लेख से उच्चारण का ज्ञान होता है। अतएव हमें देखना चाहिए कि उर्दू में ये शब्द किस प्रकार लिखे जाते हैं। उर्दू में नकार को "नून" कहते हैं और उसे यों ں लिखते हैं। नून के बीच के बिन्दु को नुक़्ता कहते हैं। यदि शब्द के अन्त में नून आवे तो उसमें बिन्दु नहीं देते और उसे ग़ुन्ना बोलते हैं। यदि शब्द के बीच में नून—नकार—आता है तो उस पर ऐसा (ٮ)—चिह्न लगाते हैं। उसे भी ग़ुन्ना कहते हैं। इसका दृष्टान्त लीजिए—

جہاں - وہاں - کہاں - یہاں - سناؤں
جاؤنگا - آؤنگا - کھاؤنگا - سناؤنگا
چاند - کھانڈ - دانت - اونت - گھونت -
سونتھ - ھینگ - سینگ - منہہ - ھنسی -
بانکا - بانس - سونڈ - پہنچا -

अब हमें यह देखना चाहिए कि यह ग़ुन्ना अनुस्वार है या अनुनासिक। हमारी सम्मति में यह अनुस्वार है, अनुनासिक नहीं। इन सभी शब्दों में स्वर के अनन्तर नासिका से ध्वनि निकलती है और इसी के अनुसार स्वर के अनन्तर ग़ुन्ना लिखा गया है। इसकी जाँच करनी हो तो किसी स्कूली बालक से इनका उच्चारण कराइए और ध्यान से सुनिए। आपको ज्ञात हो जायगा कि वह इन शब्दों के स्वरों का उच्चारण नाक से नहीं करता; किन्तु स्वर के अनन्तर नाक से ध्वनि निकालता है। एक और प्रमाण लीजिए। उर्दू में संयुक्त-अक्षर बनाने के लिए संयोग के आदि अक्षर पर ऐसा—(ٛ) चिह्न लगाते हैं। जैसे—सस्ता—سسْتا—यह सभी जानते हैं कि संयोग के आदि अक्षर के आगे स्वर नहीं होता। उर्दू में 'महँगा' शब्द में हकार के आगे स्वर नहीं रहता; किन्तु उस पर संयुक्त-अक्षर का चिह्न रहता है— जैसे—مہْنگا—और हकार के आगे ग़ुन्ना है। इससे ज्ञात होता है कि यह ग़ुन्ना अनुस्वार है, अनुनासिक नहीं। यदि यह अनुनासिक होता तो हकार के आगे किसी स्वर का रहना आवश्यक होता। अतएव इन शब्दों को इस प्रकार लिखना चाहिए—

यहां, वहां, कहां, जहां,।
सुनाऊंगा, जाऊंगा, आऊंगा।
चांद, खांड, ऊंट, घूंट, होंट, सोंठ,
हींग, मुंह, हंसी, बांका, पहुंचा।
सूंड, पांच, आदि।

अर्थात्—इन सब शब्दों में अनुस्वार होना चाहिए, अनुनासिक नहीं। महँगा शब्द भी इस प्रकार—मह् ंगा—लिखा जाना चाहिए।

एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है। हैं, मैं, देखीं, गईं आदि शब्द खड़ी बोली में अनुस्वार से लिखे जाते हैं। उर्दू में इन्हें पूर्वोक्त शब्दों के समान ग़ुन्ना—अनुस्वार—से ही लिखते हैं। तब हिन्दी में यह दोरङ्गी क्यों?

(४) अनुस्वार और ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पञ्चम वर्णों के प्रयोग में तो बहुत ही गड़बड़ की जाती है। संस्कृत-वैयाकरण भी लाघव (बचत) के विचार से या असावधानी से 'पण्डित' के स्थान में 'पंडित' ही लिखेंगे। तुलसीकृत-रामायण के आरम्भवाले श्लोकों में भी अनुस्वार ही का प्रयोग अधिक किया गया है, जो व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है। यहाँ कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं—

अशुद्ध	शुद्ध
मंडन	मण्डन
खंडन	खण्डन
रंजन	रञ्जन
भंजन	भञ्जन
वंदित	वन्दित
पतंति	पतन्ति
भजंति	भजन्ति
यांति	यान्ति
पठंति	पठन्ति

संस्कृत-भाषा में अनुस्वार का उतना प्रयोग नहीं होता जितना पञ्चम वर्णों का। इसका कारण यह है कि अनुस्वार मुख्य वर्ण नहीं, किन्तु स्थानापन्न है। अर्थात् वह किसी वर्ण के स्थान में आता है। न-कार म-कार का पूरा उच्चारण न करके जहाँ उनका केवल आधा उच्चारण होता है वहाँ अनुस्वार का प्रयोग होता है। न् और म् को नासिका और मुख से बोलना चाहिए। परन्तु अनुस्वार केवल नासिका से ही बोला जाता है। यही न् म् का आधा उच्चारण है। किस स्थल में अनुस्वार का होना उचित है, इसके कुछ नियम नीचे लिखे जाते हैं—

यदि न् और म्, शब्द के मध्य में हों और उनका अग्रिम-अक्षर श, ष, स, ह में से कोई एक हो, तो अनुस्वार होगा। "नश्चापदान्तस्य झलि"। जैसे—वंश, हंस, सिंह, आदि।

(२) यदि किसी शब्द का अन्तिम वर्ण म् हो, और उसके आगे श, ष, स, ह में से कोई अक्षर हो तो वहाँ अनुस्वार होना चाहिए। "मोऽनुस्वारः"। जैसे संस्कृत, संशय, संहति आदि।

(३) यदि शब्द के मध्य में अनुस्वार हो और उसके आगे श्, ष्, स्, ह् में से कोई अक्षर न हो तो जैसा उसका अग्रिम-वर्ण रहेगा उसी के अनुसार अनुस्वार के स्थान में पञ्चम वर्ण होगा। अर्थात्—

क-वर्ग—क्, ख्, ग्, घ्—में से कोई वर्ण होगा तो ङ् होगा।

च-वर्ग—च्, छ्, ज्, झ्—में से कोई वर्ण होगा तो ञ् होगा।

ट-वर्ग—ट्, ठ्, ड्, ढ्—में से कोई वर्ण रहेगा तो ण् होगा।

त-वर्ग—त्, थ्, द्, ध्—में से कोई वर्ण होगा तो न् होगा।

प-वर्ग—प्, फ्, ब्, भ्—में से कोई वर्ण रहेगा तो म् होगा।

"अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः"। जैसे—अङ्क, अङ्ग; चञ्चल, रञ्जन; खण्डन, मण्डन; वन्दित, मन्द; अम्ब, कम्बु।

(४) यदि शब्द के अन्त में अनुस्वार हो तो पञ्चम वर्ण विकल्प से होंगे—"वा पदान्तस्य"—जैसे—संतोष, सन्तोष; संपदा, सम्पदा; संचार, सञ्चार; संगति, सङ्गति आदि दोनों प्रकार से लिखे जा सकते हैं।

स्मरण रहे, अनुस्वार की गणना अनुनासिकों में नहीं। परन्तु पञ्चम वर्ण शुद्ध अनुनासिक हैं। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इस सूत्र का पाठ कीजिए। एक बात और ध्यान देने योग्य है। पञ्चम वर्ण—ञ्, म्, ङ्, ण्, न्—चाहे संयोग के आदि में हों चाहे अन्त में सदैव मुख और नासिका से बोले जायँगे। इनका स्थान केवल नासिका नहीं।

अनुशील

नव रस।



हम लोगों को प्रायः यह कहते हुए सुनते हैं कि अमुक कवि की कविता में बड़ा रस है। वह रस क्या वस्तु है, कैसे उत्पन्न होता है, उसके सहायक कौन हैं, और उसके कितने भेद हैं, इसका वर्णन सुनिए—

संस्कृत में नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रस-गङ्गाधर, रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी आदि ग्रन्थ हैं, जिनमें रस का वर्णन बड़ी उत्तमता से किया गया है। प्रायः उन सब में रस का लक्षण यह दिया गया है—

जब कोई भी स्थायी भाव (रति, हास आदि) अपने कारणों, कार्य्यों और सहायकों की सहायता से काव्य में प्रकट होता है तब उसे रस कहते हैं। इन कारणों, कार्य्यों और सहायकों के नाम क्रम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या सञ्चारी हैं।

अभी यह लक्षण सर्व्वसाधारण की समझ में आने योग्य नहीं। जब तक इसमें प्रयुक्त शब्दों का पूरा पूरा विवरण न दिया जाय तब तक यह लक्षण शब्दाडम्बर ही प्रतीत होता है।

उदाहरण से चलिए। किसी पुरुष का विशेष प्रेम अपनी स्त्री पर है। वह स्त्री उस प्रेम का 'आलम्बन' हुई। उद्यान, चन्द्रमा आदि ऐसे पदार्थ हैं जिनसे वह प्रेम भड़क उठता है। इसलिए ये पदार्थ 'उद्दीपन' हुए। इन्हीं आलम्बन और उद्दीपन-कारणों से वह प्रेम उत्पन्न हुआ। इन कारणों का नाम 'विभाव' है। जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसका नाम है 'रति'। यही रस का मूलरूप है। इसी का नाम है—'स्थायी भाव'। प्रेम या रति के होने से उसके कार्य्य दिखाई देने लगे। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्य्य हैं। इन्हीं से उस प्रेम या रति की प्रतीति हुई। इन कार्य्यों का नाम है 'अनुभाव'। अब उस रति की पुष्टता की आवश्यकता रही, सो उत्कण्ठा आदि के द्वारा पूर्ण हुई। इन पुष्टिकारक वस्तुओं का नाम है 'सञ्चारी' या 'व्यभिचारी' या 'सहकारी'। इन कारणों, कार्य्यों, और सहायकों से रति-भाव स्पष्टतया प्रतीत होने लगा और 'रस' कहलाने के योग्य हुआ। इस उदाहरण में शृङ्गार रस है।

अब एक प्रश्न उत्पन्न होता है। कल्पना कीजिए कि हमारे उदाहरण में नायक श्रीराम और नायिका सीता हैं। तब उपर्युक्त विभावों, अनुभावों और सहकारियों से प्रकटित शृङ्गार-रस श्रीराम में होगा। पर जब नाटक में उनका चरित्र दिखलाया जाता है तब नट में झूठा अनुकरण देख कर हमें क्यों आनन्द होता है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सर्प के अभाव में भी सर्प समझी गई रस्सी से भय उत्पन्न होता है उसी प्रकार, यद्यपि, नट श्रीराम नहीं है और उसमें सीता-विषयक रति का अभाव है तथापि उसकी चतुरता से रति उसमें प्रतीत होती है और रसज्ञ दर्शक के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है। इस लिए ऐसा चमत्कार भी रस ही है।

अभी हमने ऊपर कहा है कि रस तब उत्पन्न होता है जब विभाव आदिकों के द्वारा स्थायी भाव प्रकट होता है। यहाँ पर 'प्रकट' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। अँधेरे में रक्खी हुई कोई वस्तु दीप ले जाने से प्रकट हो जाती है। इस वाक्य से 'प्रकट' शब्द का जो अर्थ है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। क्योंकि यह प्रकटता बतलाती है कि वह वस्तु प्रथम ही से सिद्ध थी; केवल अन्धकार के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती थी। रस के प्रकट होने का अभिप्राय यह है कि नाटक देखनेवालों या काव्य पढ़नेवालों की वासना, प्रतीति-सम्बन्ध से, रस कहलाती है। अर्थात् रति आदि स्थायी भाव जब सामाजिकों के ज्ञान के विषय हो जाते हैं तब रस कहलाते हैं। जैसे पाक करने से पहले जिस वस्तु का नाम तण्डुल (चावल) होता है वही वस्तु पकाने पर ओदन (भात) कहलाती है। इसी

प्रकार, रति आदि की प्रतीति या ज्ञान जब तक सामाजिक के हृदय में न हो तब तक उसकी रस-संज्ञा कदापि नहीं हो सकती। काव्य या नाटक में जिस नायक की चरित्र-चर्चा की जाती है उसमें रत्यादिक भाव तो पूर्वसिद्ध ही होते हैं; परन्तु सामाजिक (नाटक देखनेवाले या काव्य पढ़नेवाले) के हृदय में जब तक उनका ज्ञान नहीं होता तब तक उसके लिए उनकी रस-संज्ञा नहीं होती। एक बात यह भी है कि यदि कोई भाव (रति, हास, शोक आदि) रसावस्था को पहुँचने के योग्य न हो अर्थात् उसमें यदि इतना बल न हो कि अन्य भावों को दबा कर अपना ही रङ्ग सब पर चढ़ा दे तो उस दशा में वह भाव स्थायी भाव नहीं कहा जा सकेगा।

इन सब बातों का निचोड़ यह है कि रस का अस्तित्व उस समय तक नहीं होता जब तक कि उस का आस्वादन (चखना, मज़ा लेना) न हो। जब उसका आस्वादन होता है तब मन में रजोगुण, तमोगुण नहीं रहता; सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है; आत्मा प्रकाशित हो उठती है; आनन्द का अखण्ड प्रवाह बहने लगता है—"मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना"—उस समय किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता; एक अलौकिक चमत्कार से चित्त तन्मय हो जाता है। इस प्रकार का रसास्वादन पुण्य से मिलता है।

यदि हम रस को सुखराशि ही समझते हैं तो शोक-प्रधान करुण-रस (राम-वनवास, सीता-हरण आदि), जुगुप्साप्रधान बीभत्स-रस, भयानक-रस आदि से क्या सुख होता है? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि सहृदय समझनेवालों का अनुभव देख लीजिए। इन रसों से यदि दुःख होता तो कोई उनके निकट जाने की इच्छा भी न करता। शोक-हर्ष के लौकिक कारणों से लौकिक शोक-हर्ष होता है, परन्तु काव्य में अलौकिक भावों से सुख ही उत्पन्न होता है, दुःख नहीं। हरिश्चन्द्र आदि का चरित सुनने से अश्रुपात तक होता है। यह इस बात का पूरा प्रमाण है कि रस के प्रभाव से चित्त पिघल उठता है।

रसास्वादन के लिए सामाजिक की वासना का होना आवश्यक है। उसी वासना का यह फल है कि रसास्वादन के समय सामाजिक के हृदय में अपने और नायक के बीच कोई भेद नहीं लक्षित होता। रससागर में पड़ा हुआ सामाजिक अपने आप को भी भूल जाता है। उस समय उसे इस बात का चेत नहीं रहता कि नायक और मैं एक ही हूँ, या पृथक् पृथक् हैं।

हम कह चुके हैं कि रसोत्पत्ति के लिए विभाव कारण हैं, अनुभाव कार्य्य हैं और सञ्चारी-भाव सहायक हैं। इसका यह अर्थ है कि विभावों से रत्यादिक स्थायी भावों में ऐसी योग्यता आ जाती है कि विशेष रूप से उनका आस्वादन हो सके। ऐसी योग्यता आ जाने पर उन्हीं रत्यादिक स्थायी भावों का आस्वादन रस-रूप से होता है। तब उसके जो लक्षण प्रतीत होते हैं उनका नाम अनुभाव है। सञ्चारी भाव का काम रस को पुष्ट करना, अर्थात् आस्वादन-सुख को विस्तृत और दृढ़ करना, है।

विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के उपर्युक्त लक्षण केवल लोकदृष्टि से, समझने ही भर के लिए, दिये गये हैं; परन्तु यदि अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे सभी रसों का उद्बोधन करते हैं। इसलिए हम उन सब को रसोद्बोध का कारण कह सकते हैं। पर वे रसोद्बोध का कारण इस प्रकार नहीं हैं जिस प्रकार चारपाई का कारण उसके पाये, पट्टियाँ, निवाड़ होती है; क्योंकि ऐसी दशा में इन सब अङ्गों का ज्ञान अलग अलग होता है। विभावादिकों का मेल दही, दूध, शर्करा, मिर्च, इलायची के सम्मेलन से बनाये गये प्रपाणक (पन्ने) की तरह होता है। वह प्रपाणक न तो दही ही है, न दूध ही है, न शर्करा ही है; किन्तु सब का संयोग है जिसका आस्वादन अपूर्व होता है। विभावादिकों के मिलने से भी एक अपूर्व ही रस का अनुभव होता है।

रस पूर्ण होने के लिए इन सब भावों की आवश्यकता है। तथापि, कभी कभी, काव्य में दो ही भाव मिलते हैं, कभी एकही भाव मिलता है। ऐसे स्थलों में, प्रकरणवश, शेष भाव भी समझ लिये जाते हैं।

ये तो रस के निरूपण की मोटी मोटी बातें हैं। साहित्य-ग्रन्थों में बड़ी महीन बातें भी दिखलाई गई हैं। हर एक का प्रमाण तर्क समेत दिया गया है—जैसे, रस नायक की सम्पदा नहीं है, रस नट की सम्पदा नहीं है, रस ज्ञाप्य (जनाये

जाने योग्य वस्तु) नहीं है, रस कार्य्य नहीं है, रस नित्य नहीं है, रस भविष्यत्कालवर्त्ती नहीं है, रस वर्त्तमान-कालवर्त्ती नहीं है, रस निर्विकल्पक ज्ञान नहीं है, रस सविकल्पक ज्ञान नहीं है, रस साक्षात् वस्तु नहीं है, रस परोक्ष वस्तु नहीं है, रस वाग्विषय-गोचर नहीं है, रस लक्षणाजन्य ज्ञान नहीं है, इत्यादि। इन सूक्ष्मताओं को सिद्ध करके ग्रन्थकारों ने दिखलाया है कि रस एक अलौकिक पदार्थ है, जिसका अनुभव सहृदय लोग ही कर सकते हैं।

इन बारीकियों को अपने बोल-चाल की भाषा में दिखलाना हमारे लिए सरल नहीं। फिर भी यदि हम उद्योग करें तो लेख-बाहुल्य-दोष हो जायगा। कदाचित् हमारे सभ्य पाठक भी इसे पसन्द न करें। इसी लिए इस भाग को यहीं छोड़ कर हम आगे बढ़ने का उद्योग करते हैं।

स्थायी भाव—ऊपर अनेक स्थलों में यह शब्द आया है। इसका अर्थ समझाने की भी चेष्टा की गई है। इसका प्रधान लक्षण यही है कि अन्य भाव चाहे इसके अनुकूल हों चाहे प्रतिकूल, इसे दबा नहीं सकते और यह रस के आस्वादन का मूल रूप है। काव्य-नाटक में आठ स्थायी भाव माने गये हैं। वे ये हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय। इनके साथ एक नवाँ भाव, शम, भी कभी कभी गिन लिया जाता है।

विभाव—जो वस्तु रत्यादिक स्थायी भावों को भड़का कर आस्वादन-योग्य बनाती है उसका नाम काव्य में विभाव है। विभाव दो प्रकार का होता है—(१) आलम्बन—जिसके आलम्ब या सहारे से रस प्रकट होता है; जैसे—रति के लिए नायक या नायिका, हास के लिए कोई विकृत वस्तु, क्रोध के लिए शत्रु आदि; (२) उद्दीपन—जो रस को प्रज्वलित करते हैं, जैसे रति के लिए चन्द्रमा, चन्दन, उपवन आदि।

अनुभाव—अन्तःकरण में, विशेष कारणों से, जो रत्यादिक भाव उत्पन्न होते हैं उन भावों को बाहर प्रकट करनेवाले विकार अनुभाव कहाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि विभाव कारणरूप हैं और अनुभाव कार्य्य-रूप हैं। अनुभाव के कुछ उदाहरण ये हैं—हाव, भाव, औदार्य्य, अङ्गविक्षेप, हँसी, रोमाञ्च, कम्प आदि।

व्यभिचारी या सञ्चारी—ये रस को सहायता देते हैं और स्थायी भाव में डूबते-उतराते रहते हैं। साहित्यदर्पण के निम्नलिखित श्लोक में इनकी संख्या ३३ कही गई है—

> निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः,
> स्वप्नापस्मारगर्वामरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः।
> औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसन्त्रासलज्जा,
> हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलताग्लानिचिन्तावितर्काः॥

इनके अतिरिक्त रति, हास, क्रोध आदि जो स्थायी भाव बतलाये गये हैं वे भी जब स्थायी रूप से नहीं आते तब व्यभिचारी ही होते हैं। जैसे—शृङ्गार-रस में हास, वीर-रस में क्रोध व्यभिचारी होते हैं।

रस—काव्य और नाटक में रस आठ होते हैं, जिनके स्थायी भाव क्रम से रति, हास, शोक आदि पहले ही कहे गये हैं। वे रस ये हैं—

(१) शृङ्गार [स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रेम दिखलानेवाला। इसके दो भेद हैं—एक सम्भोग, जिसमें दोनों प्रेमी एक दूसरे का दर्शन, स्पर्शन, आदि करते हैं; दूसरा विप्रलम्भ, जिसमें उत्कृष्ट प्रेम होते हुए भी विरह ही रहता है, अर्थात् एक दूसरे को नहीं मिलते।] (२) हास्य [बिगड़े हुए आकार, वचन, चेष्टा आदि से उत्पन्न।] (३) करुण [इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्ति आदि से उत्पन्न।] (४) रौद्र [शत्रु पर क्रोध आदि से।] (५) वीर [उत्साह से उत्पन्न—इसके भेद दानवीर, धर्मवीर, दयावीर, युद्धवीर।] (६) भयानक [जिससे डर पैदा हो] (७) बीभत्स [दुर्गन्ध, रुधिर आदि घृणा उत्पन्न करनेवाले पदार्थों से] (८) अद्भुत [विस्मय उत्पन्न करनेवाले पदार्थों से।] इनके अतिरिक्त एक नवाँ रस शान्त है, जिसका स्थायी भाव शम है। नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत-मुनि ने एक और भी रस कहा है। वह है वत्सल-रस। पुत्रादिकों का स्नेह इसका स्थायी भाव है।

अब हम निम्न-लिखित सारिणी में इन रसों का कुछ विवरण देते हैं—

क्रम-संख्या	रस	स्थायी भाव	विभाव		अनुभाव	व्यभिचारी
			आलम्बन	उद्दीपन		
१	शृङ्गार	रति	नायक, नायिका	चन्द्र, चन्दन, भ्रमर, झङ्कार आदि	अङ्गविक्षेप, कटाक्ष आदि	स्वप्न, औत्सुक्य, शङ्का, चिन्ता, लज्जा आदि
२	हास्य	हास	बिगड़ा आकार आदि, जिसको देखने से हँसी आवे	हास्यजनक व्यक्ति की चेष्टा आदि	अक्षिसङ्कोच, मुसकराना, हँसना आदि	हर्ष, आलस्य आदि
३	करुण	शोक	शोच्य वस्तु	दाहादि अवस्था	दैवनिन्दा, रोना, गिर गिर पड़ना, दीर्घश्वास, बेहोशी आदि ।	मोह, ग्लानि, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता, व्याधि आदि
४	रौद्र	क्रोध	शत्रु	श ु की चेष्टा, चुनौती, प्रहार आदि	मस्तक सिकोड़ना, ओठ काटना, ताल ठोकना, प्रहार करना, कम्प आदि	आक्षेप, मोह आदि
५	वीर	उत्साह	जिसके जीतने की इच्छा हो, शत्रु आदि	शत्रु आदि की चेष्टा	सहाय ढूँढ़ना आदि	धैर्य्य, मति, गर्व, तर्क, रोमाञ्च आदि
६	भयानक	भय	जिससे भय उत्पन्न हो	भयजनक वस्तु की चेष्टा	चेहरे का रङ्ग उड़ जाना, घिग्घी बँधना, कम्प, बेहोशी आदि	आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, भ्रान्ति, मृत्यु आदि
७	बीभत्स	जुगुप्सा	रक्त, मांस, मल, मूत्र, कृमि आदि	दुर्गन्ध आदि	थूकना, नाक सिकोड़ना, मुँह सिकोड़ना आदि	मोह, व्याधि, आवेग आदि
८	अद्भुत	विस्मय	आश्चर्य्यकारी वस्तु	आश्चर्य्यकारी काम या गुण	स्तम्भ, पसीना, रोमाञ्च, घिग्घी, भ्रम, नेत्र-विकास आदि	हर्ष, तर्क, आवेग आदि
९	शान्त	शम	परमात्मा का स्वरूप, संसार की निःसारता	पवित्र आश्रम, तीर्थ, सत्सङ्ग आदि	रोमाञ्च आदि	निर्वेद, हर्ष, भूत-दया आदि
१०	वत्सल	प्रेम	पुत्र, भाई आदि	पुत्रादि की विद्या, शूरता, गुण आदि	देखना, चूमना, आलिङ्गन, आनन्दाश्रु आदि	हर्ष, गर्व, अनिष्ट-शङ्का आदि

लेख-विस्तर-भय से अब अधिक विवरण न देकर कुछ उदाहरणों ही से समाप्ति की जाती है। सब उदाहरण रामचरितमानस ही से लिये गये हैं।

[१ शृङ्गार]

(१) करत बतकही अनुज सन, मन सिय-रूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरन्द-छवि, करत मधुप इव पान॥

[आलम्बन-सीता। उद्दीपन-रूप, छवि। अनुभाव-टकटकी। व्यभिचारी-उत्सुकता। सम्भोग-शृङ्गार।]

(२) राम-वियोग कहा सुनु सीता। मोकहँ सकल भयो विपरीता॥
नूतन किसलय मनहुँ कृशानू। कालनिशा सम निशि शशि भानू॥
कुवलय विपिन कुन्त वन सरिसा। वारिद तप्त तेल जनु बरिसा॥
जेहि तरु रहीं करत सो पीरा। उरग-श्वास-सम त्रिविध समीरा॥
कहहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहीं यह जान न कोई॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहिँ पाहीं। जानु प्रीति रस इतने माहीं॥

[आलम्बन-सीता। उद्दीपन-किसलय, निशा, शशि, कुवलय, वारिद, तरु, समीर। अनुभाव—विरहाग्नि-जनित अङ्ग-विक्षेप आदि गुप्त हैं। व्यभिचारी—मन का प्रेम-तत्व जानना 'मति' है, और मन का सीता-समीप रहना 'चिन्ता' है। यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस है]

[२ हास्य]

मुनिहित कारण कृपानिधाना। दीन कुरूप न जाय बखाना।
करहिँ कूट नारदहिँ सुनाई। नीकि दीन्ह हरि सुन्दरताई॥
रीझिहि राज-कुँवरि छवि देखी। इनहिँ वरिहि हरि जानि विशेखी॥
पुनि पुनि मुनि उसकहिँ अकुलाहीं। देखि दशा हर-गण मुसुकाहीं॥
तब हर-गण बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर विलोकहु जाई॥

नारदजी के हृदय में शृङ्गार-रस की लहरें उठ रही थीं; क्योंकि वे उस राजकन्या पर आसक्त थे। हरगणों के लिए यह दृश्य हास्य-रसोत्पादक था। आलम्बन-नारद। उद्दीपन-कुरूप अर्थात् वानर का सा मुख, मुनि का उसकना और अकुलाना। अनुभाव—कूट कहना, मुसकराना। व्यभिचारी—हर्ष आदि गुप्त हैं।]

[३ करुण]

ममहित लागि तजेउ पितु-माता। सहेउ विपिन हिम आतप वाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठउ न सुनि मम वच विकलाई॥
यथा पङ्ख बिनु खगपति दीना। मणि बिनु फणि करिवर करि-हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोहीं। जो जड़ दैव जियावै मोहीं॥
बहु विधि सोचत सोच-विमोचन। स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन॥
प्रभु-विलाप सुनि कान, विकल भये वानर-निकर।
आइ गये हनुमान, जिमि करुणा महँ वीर-रस॥

[आलम्बन—लक्ष्मण। उद्दीपन—शक्ति लगने के घाव आदि गुप्त। अनुभाव—वचविकलाई, दैव-निन्दा, अश्रु-प्रवाह। व्यभिचारी—पुरानी बातों का स्मरण, (सहेउ आतप वाता), आवेग (मृतक से उठने की प्रार्थना), दीनता (यथा पङ्ख बिनु आदि)। करुण-रस।

[४ रौद्र]

क्रुद्धे कृतान्त-समान कपि तनु स्रवत शोणित राजहीं।
मर्द्दहिँ निशाचर-कटक भट बलवन्त जिमि घन गाजहीं॥
मारहिँ चपेटन काटि दाँतन डारि लातन मीजहीं।
चिक्करहिँ मर्कट भालु छलबल करहिँ जेहि खल छीजहीं॥

[आलम्बन—राक्षससेना। उद्दीपन—राक्षसों का प्रहार आदि गुप्त। अनुभाव—मर्द्दना, गर्जना, मारना, काटना, मींजना, चिक्करना। व्यभिचारी—'बलवन्त जिमि घन गाजहीं' से गर्व सूचित होता है, 'जेहि खल छीजहीं' से 'मति' प्रकट होती है। 'क्रुद्धे' से क्रोध-भाव स्थायी है। रौद्र-रस है। आगे के उदाहरण में क्रोध प्रधान नहीं है, किन्तु उत्साह प्रधान है।

[५ वीर]

धाये विशाल कराल मर्कट भालु काल-समान ते।
मानहुँ सपक्ष उड़ाहिँ भूधर-वृन्द नाना बान ते॥
नख दशन शैलन करन द्रुम गहि सबल शङ्क न मानहीं।
जय राम रावण मत्त गज मृगराज सुयश सुनावहीं॥
दुहुँ दिशि जय जयकार करि, निज निज जोरी जानि।
भिरे वीर इत रघुपतिहिँ, उत रावणहिँ बखानि॥

[सबल शङ्क न मानहीं, जयजयकार आदि शब्दों से उत्साह प्रकट होता है। इस लिए यहाँ वीर-रस है। आलम्बन—शत्रु-सेना। उद्दीपन—शत्रु-सेना के प्रहार आदि गुप्त। अनुभाव—धावना, नख आदि के प्रहार, जयजयकार, भिड़ना। व्यभिचारी—'शङ्क न मानहीं' से धैर्य्य, गर्व आदि। युद्ध-वीर-रस।]

[६ भयानक]

प्रेरित मन्त्र ब्रह्म शर धावा। चला भाजि वायस भय पावा॥
भा निराश उपजी हिय त्रासा। यथा चक्र-भय ऋषि दुर्वासा॥
जिमि जिमि भाजत शक्र-सुत, व्याकुल अति दुख दीन।
तिमि तिमि धावत राम-शर, पाछे परम प्रवीन॥

[आलम्बन—ब्रह्मशर । उद्दीपन—मन्त्र-प्रेरित होना, पीछे धावना। अनुभाव—वायस का भागना। व्यभिचारी—निराश होना, त्रास, व्याकुलता, दीनता। भय स्थायी भाव है; भयानक रस है।]

[७ बीभत्स]

मज्जहिं भूत पिशाच बैताला। केलि करहिं योगिनी कराला॥
काककङ्क धरि भुजा उड़ाहीं। एक ते एक छीनि धरि खाहीं॥
खैंचहिं आँत गृध्र तट भये। जनु वनशी खेलत चित दये॥
बहु भट बहे चढ़े खग जाहीं। जिमि नावरि खेलहिं जल माहीं॥
जम्बुक निकर तहाँ कटकटहीं। खाहिं अघाहिं हुआहिं दपटहीं॥
कोटिन रुण्ड मुण्ड-बिनु डोलहिं। शीश परे महि जय जय बोलहिं॥

[आलम्बन—कटे हुए भुजा, आँत, रुण्ड, शीश आदि। उद्दीपन—भूत, पिशाच आदि, काक, गृध्र, जम्बुक आदि, तथा इन सब की विविध चेष्टायें। अनुभाव—गुप्त हैं। व्यभिचारी—गुप्त हैं।]

[८ अद्भुत]

दिखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति राजहिं, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥
तनु पुलकित मुख वचन न आवा। नयन मूँदि चरणन सिर नावा॥
विस्मयवन्त देखि महतारी। भये बहुरि शिशुरूप खरारी॥

[आलम्बन—श्रीरामजी का विराटरूप। उद्दीपन—रोम रोम में अनेक ब्रह्माण्डों का होना। अनुभाव—तनुपुलक (रोमाञ्च), मुखवचन न आना (गद्गद स्वर), नयन मूँदना। व्यभिचारी—भगवद्विषयक भक्ति (चरनन सिर नावा)।]

[९ शान्त]

मो सम दीन न दीन-हित, तुम समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंशमणि, हरहु विषम भव-पीर॥
कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
ऐसे होइ कब लागिहो, तुलसी के मन राम॥

[आलम्बन—रघुवीर, कवि की दीनता, विषम भव-पीर। उद्दीपन—गुप्त। अनुभाव—गुप्त। व्यभिचारी—भव-पीर-जनित निर्वेद, अपनी दीनता का ज्ञान। तुलसी का एकाग्र होकर राम में लगना स्थायी भाव है। शान्त रस]

[१० वत्सल]

इहि विधि सबहीं देत सुख, आये राज-दुआर।
मुदित मातु परछिनि करहिं, बधुन समेत कुमार॥
करहिं आरती वारहिं वारा। प्रेम प्रमोद लहै को पारा।
भूषण मणि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगणित भाँती।
बधुन समेत देखि सुत चारी। परमानन्द-मगन महतारी॥
पुनि पुनि सीय-राम-छवि देखी। मुदित सफल जगजीवन लेखी॥

[आलम्बन—बधुन-समेत कुमार। उद्दीपन—विवाहोत्सव, सीयरामछवि। अनुभाव—परिछन, आरती, निछावरि। व्यभिचारी—हर्ष (मुदित, प्रमोद, परमानन्दमगन)]

चन्द्रमौलि सुकुल

प्रश्नावली।

तुमने किया है कभी कोई बड़ा काम नहीं;
फूल रहे फिर क्यों वृथा ही तुम मन में ?
दूर किया नेक दुख-दारिद किसी का नहीं;
कहो फिर क्या रहा तुम्हारे बहु धन में ?
किया किसी खल का कदापि गर्व खर्व नहीं;
क्या न कुछ बल है तुम्हारे इस तन में ?
लोक-हित-सौरभ न प्राप्त तुमसे है हुआ;
है फिर भला क्या रस जीवन-सुमन में ? ॥१॥
तुच्छ स्वार्थ-शत्रु तुम्हें वश में किये हैं खूब;
तुममें ज़रा भी क्या चरित्र का न बल है ?
हृदय-कमल कैसे नेक भी तुम्हारा खिले ?
उसको जलाता सदा ईर्षा का अनल है।
तुमको स्वतन्त्र हम कहो किस भाँति कहें ?
दास सा बनाये तुम्हें इन्द्रियों का दल है।
सींचे बिना देश-प्रेम-जल से तुम्हें क्या कहीं।
दुर्लभ न जीवन-विटप का सुफल है ? ॥२॥

गोपालशरणसिंह

अध्यापक धोंडो केशव कर्वे, बी० ए०।



दक्षिण के कोंकण-प्रान्त में शेरवली नाम का एक गाँव है। यहीं कर्वे महाशय का जन्म हुआ। आपकी जन्म-तिथि है १७ मई १८५८। आपके पिता का नाम श्रीयुत केशव था। आप दक्षिणी कोकणस्थ ब्राह्मण हैं। आपकी मातृ-भाषा मराठी है।

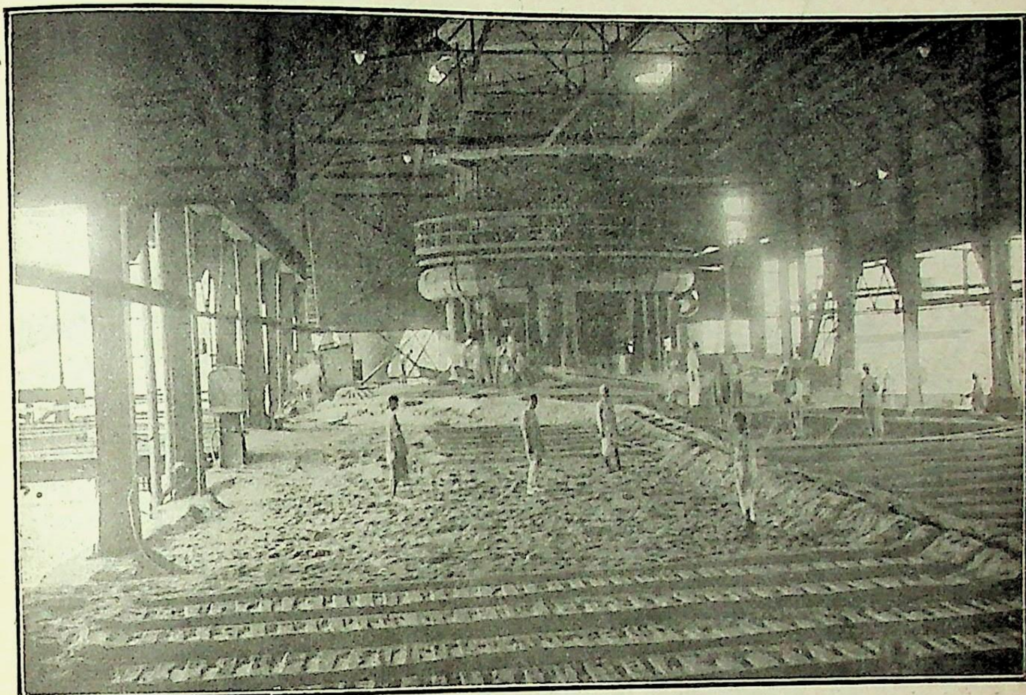
श्रीयुत विनायक लक्ष्मण सोमण के पास आपने मराठी का अभ्यास किया। आप सोमण महाशय के बड़े प्रेम-पात्र थे। गणित में लड़कपन ही से आपकी अभिरुचि है। आपने संस्कृत का भी अध्ययन किया। राम-विजय, हरि-विजय, शिवलीलामृत, गुरुचरित्र आदि मराठी भाषा के प्रसिद्ध कविताबद्ध ग्रन्थों को भी आप चाव से पढ़ते थे। बाल्यकाल में आपने वेद का भी थोड़ा बहुत अध्ययन किया। कर्वे महाशय का कण्ठ-रव बहुत मधुर है। आपको लड़कपन ही से सङ्गीत के ढँग पर कवितायें गाने का शौक़ है।

जब आप मराठी की शिक्षा पा चुके तब अँगरेज़ी भाषा आपने शुरू की। आपके बड़े भाई श्रीयुत भिकाजी-पन्त ही की उत्तेजना से आप अँगरेज़ी में शिक्षा ग्रहण कर सके। रत्नागिरी और बम्बई में रह कर आपने अँगरेज़ी सीखी। आपकी आर्थिक अवस्था अच्छी न थी। अतएव विद्याध्ययन में उस समय आपको अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। पर आपने कष्टों की परवा न की। आप अपने ध्येय की सिद्धि में लगे ही रहे। अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा आपने बम्बई के विलसन और एलफिन्सटन कालेज में प्राप्त की। आप बी० ए० तक ही पढ़ पाये। अनेक विघ्नों के कारण आगे नहीं पढ़ सके। बी० ए० पास होने के बाद आप लड़के पढ़ा कर अपना निर्वाह करने लगे। इस व्यवसाय से आपको १५०) से १७५) तक मासिक आमदनी हो जाती थी।

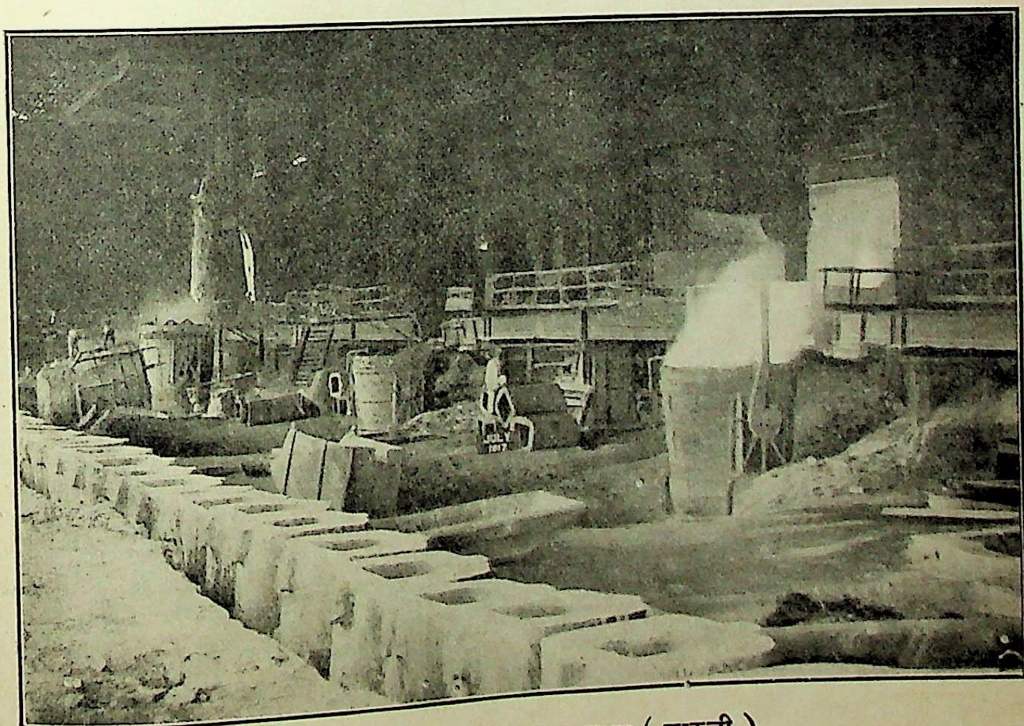
जब आप बच्चे थे तभी से आपकी प्रवृत्ति देश-कार्यों की ओर हो चली थी। अपने मराठी-शिक्षक सोमणजी की प्रेरणा से आप एक मन्दिर में बैठ कर लोगों को समाचार-पत्र पढ़ कर सुनाया करते थे। आपके जन्म-स्थान के पास ही मुरुड़ नाम का एक क़सबा है। वहाँ आपने मुरुड़-फण्ड नाम की एक संस्था भी स्थापित की। इस संस्था का उद्देश था सहयोगिता के बल पर सार्वजनिक काम करना। इस समय इस फण्ड में ३५००) की रक़म जमा है। इस संस्था के द्वारा अनेक लोकोपयोगी कार्य किये गये। आपको वज़ीफ़े अथवा पढ़ाई से जो आमदनी होती थी उसमें से फ़ी रुपया एक पैसा के हिसाब से आप धर्म-कार्य्यों के लिए रख छोड़ते थे। मुरुड़ के पाठशाला-गृह, शिक्षणोत्तेजक मण्डली, स्नेह-संवर्धक मण्डली आदि संस्थाओं की स्थापना करने में भी आपने बहुत श्रम किया।

स्वर्गीय माननीय गोखले महोदय की प्रेरणा से आप बम्बई से पूना आये। सन् १८९१ के नवम्बर महीने से आप फर्गुसन कालेज में गणित के अध्यापक का काम करने लगे। अप्रेल १८९२ में आप दक्षिण-शिक्षा-समिति (Deccan Education Society) के आजीवन सदस्य (Life Member) हुए।

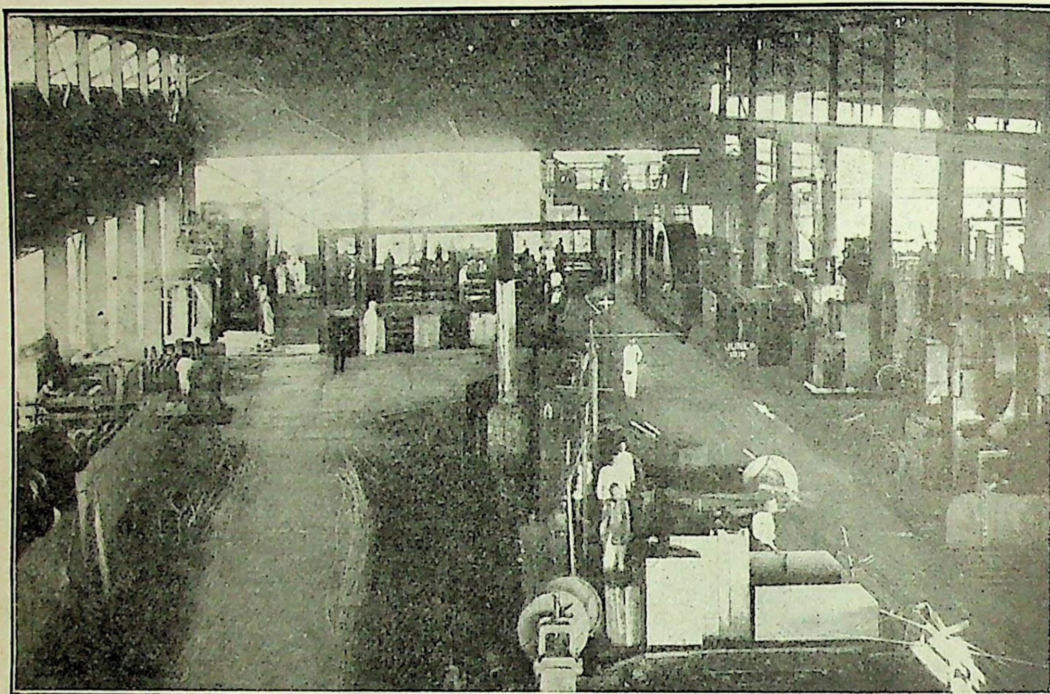
जिन दिनों आप पूने आये, आपकी धर्मपत्नी श्रीमती राधाबाई का देहान्त हो गया। समाचार-पत्रों को पढ़ पढ़ कर आपका विश्वास दृढ़ हो गया था कि विधवा-विवाह करना सत्कार्य है। सन् १८८३ में मराठी के केसरी नामक पत्र में विधवाओं की दुर्दशा पर एक कविता प्रकाशित हुई। आपको वह इतनी पसन्द आई कि उसे आपने झट याद कर लिया। आप बहुधा उसे गाया भी करते थे। श्रीमती राधाबाई की मृत्यु के अनन्तर आपने निश्चय कर लिया कि विवाह करूँगा तो विधवा से ही। यदि माता-पिता ने ऐसा करने की अनुमति न दी तो पुनर्वार विवाह ही न करूँगा। आपका अटल निश्चय और मनोधैर्य देख कर माता-पिता ने भी हठ न की। इच्छानुसार विवाह करने की अनुमति आपको मिल गई। यद्यपि उस समय विधवा-विवाह बहुत कम प्रचलित था—अपनी विधवा लड़कियों का पुनर्विवाह करने के लिए बहुत ही थोड़े कुटुम्ब तैयार थे—तथापि आपने अपना सङ्कल्प पूरा कर ही लिया। आपका सिद्धान्त है कि जिस काम को करने के लिए अपना अन्तःकरण गवाही दे और उसे उचित समझे उसको अवश्य ही करना चाहिए।



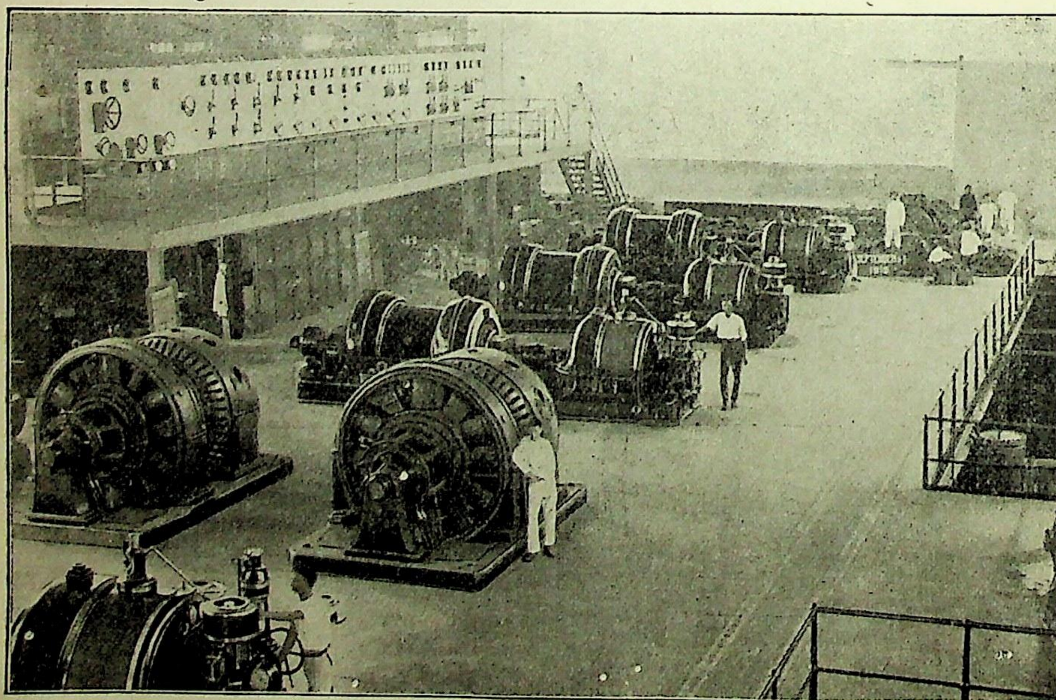
वात-भट्ठा—भीतरी दृश्य (साकची)



ईसपात के कुन्दे ढालने का कारख़ाना (साकची)



छड़ बेलने का कारख़ाना (साकची)



विद्युच्छाला—(बिजली उत्पन्न करने का कारख़ाना, साकची)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

इसी विचार के अनुसार आपने निर्भय होकर समाज-सुधार के इस विकट और कँटीले मार्ग में अपना पैर बढ़ाया। श्रीयुत नरहरपन्त जोशी, बी० ए०, एल-एल० बी० की विधवा बहन, श्रीमती गोदूबाई, से आपने विवाह किया। जोशी महाशय आपके परम मित्र हैं। यह विवाह पूने में ही हुआ। अनेक समाचार पत्रों ने आपके मनोधैर्य की प्रशंसा की और आपको बधाई दी। पर विधवा-विवाह को धर्म-निषिद्ध कह कर धर्म-पण्डितों ने आपको जाति से अलग कर दिया। उन्होंने आपका छुआ पानी पीना और आपके साथ भोजन करना बन्द कर दिया। इससे कर्वे महाशय को बहुत तङ्ग होना पड़ा। आपको अनेक मानसिक यन्त्रणायें सहनी पड़ीं। पर आपने धैर्य न छोड़ा। सोने को जितना ही अधिक तपाइए, उतनी ही अधिक कान्ति उसकी बढ़ती है। कर्वेजी का भी यही हाल हुआ। इस घटना से समाज-सुधार-सम्बन्धी आपका उत्साह और भी बढ़ गया।

पुनर्विवाह के बाद ही आपने विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली नाम की एक सभा स्थापित की। आगे चल कर इसका नाम विधवा-विवाह-प्रतिबन्ध-निवारक मण्डली रक्खा गया। इस प्रकार आपने विधवा-विवाह के पक्ष को पुष्ट करने का प्रयत्न किया। पुनर्विवाहित परिवारों में परस्पर हेल-मेल बढ़ाने की भी युक्तियाँ आपने निकालीं। इन सब प्रयत्नों में कर्वे महाशय को बहुत कुछ सफलता हुई।

यह कर चुकने के उपरान्त आपका ध्यान विधवा-विवाह-प्रचार की अपेक्षा विधवा-शिक्षा की ओर अधिक झुका। अनाथ-बालिकाश्रम नाम की संस्था, आपकी इसी सत्प्रवृत्ति और उद्योगशीलता का फल है। सन् १८९६ ई० में आपने इस संस्था की स्थापना की। इसकी उन्नति के लिए आपने अविराम परिश्रम किया। व्याख्यान दिये। चन्दा इकट्ठा किया। घूमे, फिरे, परेशान हुए। अपमान सहा। पर काम करते ही गये। संस्था को आपने खूब पुष्ट कर दिया। फल यह हुआ कि इस समय महाराष्ट्र देश ही में नहीं, समग्र भारत में स्त्रियों को उन्नति की राह दिखानेवाली इससे बढ़ कर दूसरी संस्था नहीं है। इस संस्था पर आज तक अनेकों सङ्कट आये; पर आपने उन सभी से इसकी रक्षा की।

यह तो विधवाओं के शिक्षा-सम्बन्धी आपके कामों की बात हुई। सर्वसाधारण स्त्रियों के लिए भी आपने एक संस्था निर्माण की है। उसका नाम है महिला-विद्यालय। उसका उद्देश है—स्त्रियों को सुशिक्षित करना। उसमें स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे वे गृहिणी के कर्तव्य का पालन अच्छी तरह कर सकें। यह विद्यालय भी खूब उन्नति कर रहा है।

निष्काम-कर्म-मठ नाम की एक और भी संस्था आपने स्थापित की है। स्वार्थ-त्यागी देश-सेवक स्त्री-पुरुषों का सङ्घ निर्माण करना, उसका उद्देश है। उसका जन्म हुए इस समय कोई ६ वर्ष हुए। कितने ही स्वार्थ-त्यागी स्त्री-पुरुष उसके सभासद हैं।

मालूम होता है, भारतीय स्त्रियों का कल्याण करने ही के लिए भगवान् ने कर्वे जैसा रत्न उत्पन्न किया है। एक दरिद्र और साधारण स्थिति के व्यक्ति के लिए इतना काम कर दिखाना कुछ कम आश्चर्य की और कुछ कम पराक्रम की बात नहीं। तथापि कर्वे महाशय का जी इतने ही लोकोपयोगी काम करके नहीं भरा। अनेक पुराणों की रचना व्यासजी ने कर डाली। पर उनकी तृप्ति न हुई। तब उन्होंने श्रीमद्भागवत जैसे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इससे उनकी आत्मा को असीम शान्ति मिली। यह असन्तोष-वृत्ति—यह अतृप्ति—बहुत ही स्तुत्य है। इसी की प्रेरणा से मनुष्य अलौकिक काम कर सकता है। कर्वेजी ने एक और भी महत्त्व का काम करने के लिए बीड़ा उठाया है। आप भारतवर्षीय महिला-विद्यापीठ (Indian Women's University) स्थापन करने

की धुन में हैं। यह कार्य आप ही जैसे धीर, दृढ़-निश्चय और सुयोग्य सज्जन के हाथों से हो सकता है। आप इस काम के पीछे हाथ धोकर पड़ गये हैं। आशा है, इसमें भी शीघ्र ही आपको सफलता प्राप्त होगी।

हम अकर्मण्यों को कर्वेजी के जीवन-क्रम से शिक्षा लेनी चाहिए। कर्वे घर के अमीर नहीं। आज कल संसार में श्रेष्ठता प्राप्त करने के जो साधन समझे जाते हैं उनमें से एक भी कर्वेजी को प्राप्त नहीं। केवल निज के सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों के बल पर ही वे भारत में प्रसिद्ध हो रहे हैं; भारतीय स्त्रियों के एकमात्र सच्चे सहायक समझे जा रहे हैं। किसी काम को पूरा करने के लिए—उसमें सफलता पाने के लिए—धैर्य, उद्योग, आत्म-विश्वास, दृढ़-निश्चय आदि जितने गुणों की ज़रूरत है, कर्वेजी की आत्मा में वे सभी मौजूद हैं। किसी का मन न दुखाते हुए किस प्रकार इच्छित काम किये जा सकते हैं, इसकी कुञ्जी आपही के पास है। सुधार का दम भरनेवाले और गभीर नाद करते हुए व्याख्यान देनेवाले, पर सुधार का काम आ पड़ने पर दुम दबानेवाले, सुधारकों की तरह आप बातूनी सुधारक नहीं। आप अमली सुधारक हैं—सच्चे सुधारक हैं। आप काम करना जानते हैं; बातें बनाना नहीं, डींगें हाँकना नहीं। आप जो कुछ कहते हैं, कर दिखाते हैं। आप कर्मवीर हैं।

यों तो समाज-सुधार-सम्बन्धी जितने अच्छे अच्छे काम हैं सभी के साथ आपकी सहानुभूति है; तथापि आपके जीवन का अधिकांश स्त्रियों ही की उन्नति साधने में बीता है। आपका नियम है कि—

एकहि साधे सब सधे सब साधे सब जाय।

दिसम्बर १९१६ में जो सामाजिक परिषद् बम्बई में हुई थी उसके सभापति के आसन को आपही ने सुशोभित किया था। आपके सदृश आदरणीय सभापति के मिल जाने से उस दफ़े की परिषद् बहुत ही सफलतापूर्वक समाप्त हुई।

भारतवर्ष में कर्वे जैसे मध्यश्रेणी के कुटुम्बों में जन्म लेने वाले ही अधिक हैं। वे आपके चरित्र को आदर्श मान कर यदि आपके अनुयायी बनें तो समाज की दशा सुधरते देर न लगे।

"महाराष्ट्र"

पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं में विभिन्नता, तथा स्वदेशी साहित्य का महत्त्व।

इस भूतल पर अब तक अनेक राष्ट्र बने और बिगड़े। प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी अपनी सभ्यता का गीत गाया। अनन्त आकाश में उनका भी लोप हो गया। अब, इस समय, पश्चिमी सभ्यता कसौटी पर कसी जा रही है। परीक्षक संसार है। बहुत दिनों से संसार उसकी मनोमोहिनी छटा से मन्त्रमुग्ध होकर विचार-शून्यता के प्रवाह में बहा जाता था। जिस शर्व-शक्तिमान् को समस्त संसार की चिन्ता है, वह इस स्थिति को न देख सका। अतएव, पश्चिमी सभ्यता परीक्षा की अग्निभूमि पर ज़बरदस्ती ढकेल दी गई है। यूरोप के विचारशील तत्त्वज्ञों का कथन है कि इस अग्नि-परीक्षा से बचने की योग्यता उसमें नहीं है। उसके बड़े बड़े अभिमानियों की भी दृष्टि अब उसके पोलेपन की ओर जा रही है। एक बृहत् मानव-समूह जिस सभ्यता के जहाज़ पर जीवन-समुद्र की यात्रा कर रहा था वह जहाज़ अब डगमगा रहा है। यह तो मालूम हो गया है कि जहाज़ में छिद्र कहाँ पर है, परन्तु अब रक्षा और प्रतीकार का कोई साधन देख नहीं पड़ता। सभी जगह पश्चिमी सभ्यता का सङ्कुचित रूप प्रकट हो रहा है। संसार के नेत्रों पर से मोहनी मन्त्र का परदा उठ गया है। अब उस छबीली सभ्यता में मानव-जाति को मोहित और आत्म-ज्ञान-रहित कर रखने की शक्ति नहीं। कई शताब्दियों से जिस पश्चिमी सभ्यता का डङ्का बज रहा था उसकी प्रभुता जाती रही। अब उसकी जन्मभूमि में ही उसका तिरस्कार हो रहा है। बोध होता है कि यह सभ्यता

संसार की रङ्गभूमि से पदच्युत हो जायगी और अपने से किसी बड़े अधिकारी के लिए स्थान ख़ाली कर देगी।

इतना ही नहीं, कुछ वर्षों के पहिले पश्चिमी देशों में जिस पूर्वी सभ्यता का स्मरण कुत्सित शब्दोच्चार से किया जाता था उसका स्वागत करने के लिए आज विचारशील पश्चिमी हृदय लालायित और उत्कण्ठित हो रहा है। अब भारतवर्ष की सभ्यता मानव-समाज के लिए अत्यन्त कल्याण-कारिणी समझी जा रही है। उसका सन्मान करने के लिए पश्चिम-निवासी अग्रसर हो रहे हैं। ज्ञान-चक्षु ने साथ देना मंज़ूर किया है। समय के आदेश को सुन कर केवल चर्म-चक्षु से काम लेना कोई नहीं चाहता।

तो क्या सचमुच पाश्चात्य सभ्यता का अधःपतन हो रहा है? क्या भारतीय सभ्यता कभी यूरोप में जाकर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेगी? क्या पाश्चात्य सभ्यता की सङ्गठन-नीति में सचमुच ही कुछ भयङ्कर दोष है? क्या भारतीय सभ्यता के आधार-तत्त्व में कोई विशेष गुण है? यदि ऐसा नहीं है तो आज विचारशील संसार के विचारों में इस तरह परिवर्तन क्यों हो रहा है? पश्चिमी सभ्यता के बहिष्कार किये जाने के अनेक कारण हैं, जिन से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि संसार की सुख-शान्ति और श्री-समृद्धि के लिए वह बिलकुल अनुपयोगिनी है। साथ ही, भारतीय सभ्यता में कुछ ऐसी विशेषता है, जिसके द्वारा वह मानव-जाति का अनन्त उपकार कर सकती है।

किसी राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का ज्ञान होने के लिए उसके साहित्य, आचार-विचार, शिक्षा-पद्धति, धर्मतत्त्व, गृहजीवन, नेता, समाज, आदर्श, आकांक्षा आदि बातों का ज्ञान लेना परम आवश्यक है। जब तक इन बातों का सम्यक् ज्ञान न हो तब तक उस राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का कुछ विचार अथवा उस पर कुछ निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। भारतीय और पश्चिमी सभ्यताओं का तुलनात्मक विचार करने से यह बात भली भाँति विदित हो सकती है कि इन सभ्यताओं की जड़ किन तत्त्वों के आधार पर स्थित है और इनमें कितनी दृढ़ता तथा दीर्घ-जीवन-शक्ति है। इतना ज्ञान हो जाने पर यह जानने में कोई कठिनाई न होगी कि पश्चिमी सभ्यता कैसी मोहक, नीरस और नाशकारिणी है; * तथा हमारी सभ्यता कितनी उपयोगिनी और संसार का समावेश अपने में करके उसकी कितनी सुख-शान्ति बढ़ानेवाली है। शोक है, अधिकांश अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त हमारे बन्धुगण उस मायाविनी सभ्यता का पूरा पूरा अनुकरण करने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं और इसी नशे में रातदिन मस्त होकर अपनी विदीर्णहृदया भारतमाता के दुःखित हृदय पर कुठारा-घात किया करते हैं! राष्ट्रीयता के सङ्गठन में इस अनुकरण-प्रेम के कारण जो असहनीय हानि हो रही है उसका उदाहरण आज का हमारा 'तरुण भारतवर्ष' ही है। विषयान्तर न करके यहाँ पर स्पष्ट शब्दों में कह देना उचित होगा कि भारतवर्ष के अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए लोग उस दूषित सभ्यता की नक़ल करना शीघ्र ही छोड़ दें और अपनी प्राचीन सभ्यता के महत्त्व को अच्छी तरह से समझ लें। सरस्वती के पाठक पी० जे० मेहता, एम० डी०, बारिस्टर, के नाम से तथा देशीभाषाओं के महत्त्व के विषय में उनके विचारों से परिचित हैं। हाल में उन्होंने अपनी स्वराज्यमाला की दूसरी संख्या प्रकाशित की है। नाम वही है जो पहली संख्या का था—"Vernaculars as Media of Instruction in Indian schools and colleges"—अर्थात् "हिन्दुस्तान के स्कूलों और कालेजों में देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना।" इसमें दोनों सभ्यताओं का यथार्थ चित्र खींचा गया है। हम यह लेख इसी पुस्तिका के आधार पर लिख रहे हैं। भारत की भलाई चाहनेवाले अँगरेज़ी भाषा के ज्ञाता समस्त सज्जनों से हमारी प्रार्थना है कि वे इस पुस्तिका को एक बार अवश्य पढ़ें।

---

* इँगलेण्ड में जो अध्यात्म-रहित शिक्षा प्रचलित है उसके विषय में प्रोफ़ेसर पेरी का कथन है—"Every clever man, who has gone to a public school and to Oxford and Cambridge, worships the system which has taken from him his spiritual birth-right, his individuality, his common-sense, his power to think for himself—yes and, I may say, his belief in himself. He has become too much like a sheep, ready to follow the bell-wether; *he is a man who has greatly lost his soul.*" (Speech delivered at the Educational Section of the British Association, in 1915.)

पश्चिम और पूर्व की प्रायः सभी बातों में भिन्नता पाई जाती है। पहले साहित्य ही को लीजिए। सभ्यता और समाज पर साहित्य का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। किसी राष्ट्र का सम्बन्ध उसके साहित्य से इतना घनिष्ठ रहता है जितना कि वस्तु-विशेष और उसकी परछाईं का रहता है। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि भाफ़ और बिजली की शक्ति के वर्तमान ज़माने के पहले भारतीय सभ्यता कैसी थी तो आप को भारतवर्ष के साहित्य-सागर में ख़ूब गहरा गोता लगाना पड़ेगा और उसके भग्नावशेष मन्दिरों, ऐतिहासिक और धार्मिक स्थानों, और चित्रकारी तथा खुदाई के अनन्त नमूनों को देखना पड़ेगा। भारत की प्राचीन सभ्यता आप को इन्हीं वस्तुओं में छिपी हुई मिलेगी। इनको देखने से सहज ही में मालूम हो जायगा कि भारतवर्ष जो कुछ करता है वह केवल ईश्वर और धर्म के नाम पर। धर्म ही हिन्दू-जाति के दैनिक जीवन का आधार है। यह एक अटल सिद्धान्त है कि मन को जैसा भोजन मिलता है उसी के अंश को लेकर वह बढ़ता है। जिस समाज में सदा ईश्वर और धर्म की ही चर्चा होती है, और जिस समाज का साहित्य इन्हीं बातों से भरा पड़ा है, वह समाज स्वाभाविक ही धर्मभीरु और ईश्वर-निष्ठ हो जाता है। भारतवर्ष और हिन्दूजाति का यही हाल है। हिन्दू के दैनिक जीवन के कार्यक्रम में बड़ी कठिनाई से ऐसा एक-आध घण्टा व्यतीत होता होगा जब धर्म और नीति की बातें न होती हों। हिन्दुओं की कुटुम्ब-प्रणाली और गृह-जीवन भी सदा इन्हीं बातों को पुष्ट किया करता है और घर की इस व्यावहारिक शिक्षा का असर उनके जीवन पर बड़ा भारी होता है। परिणाम यह होता है कि भारतवासी बिना प्रयास के ही दयालु, शान्तिप्रिय, उदार और सत्य-प्रेमी हो जाते हैं।

पश्चिमी देशों में यह बात नहीं पाई जाती। वहाँ के कुटुम्बियों का सम्बन्ध आवश्यकता और इच्छा के अनुसार जोड़ अथवा तोड़ लिया जाता है। आदर्श के बदलने में कुछ देर नहीं लगती। शिक्षा-सम्बन्धिनी संस्थाओं का भी विचित्र हाल रहता है। इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर मिस्टर एच० फ़ील्डिंग हाल साहब लिखते हैं कि वहाँ "पाठशाला के लड़कों को सच बोलना नहीं सिखलाया जाता; सत्य की इच्छा ही उनमें उत्पन्न नहीं की जाती। पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उस के शुद्ध स्वरूप में जान लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। सिखलाया केवल यह जाता है कि मौक़ा पड़ने पर वह बात अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह कैसे काम में लाई जा सकती है *।" भारतवर्ष में बच्चों को जो सब से पहली बात सिखाई जाती है वह है "सत्यान्नास्ति परो धर्मः।" "सत्यमेव जयते" का पाठ पढ़ा हुआ बालक आगे चल कर झूठ से बहुत डरता है; परन्तु जो बचपन ही से असत्यता और चालाकी की शिक्षा पाता है वह भविष्य में सत्य-प्रेमी कभी नहीं हो सकता। हमारे देश में किसी मनुष्य की सभ्यता के विषय में इस प्रकार जाँच की जाती है:—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥

अर्थात् जिस तरह सुवर्ण की परीक्षा उसे कसौटी पर रगड़ने से, काटने से, तपाने से और पीटने से की जाती है, उसी तरह पुरुष की भी परीक्षा उसके अध्ययन, आचरण, उत्तम कर्म और गुणों के द्वारा की जाती है।

भारतवर्ष और यूरोप आदि पश्चिमी देशों के आदर्शों में भी बड़ी भिन्नता है। भारतवर्ष का वायु-मण्डल सदैव आध्यात्मिकता से तर रहा करता है। भारतीय समाजों में नीति, धर्म और कर्तव्य की चर्चा सदैव हुआ करती है। योरोप आदि पश्चिमी देश कोरे भौतिक-वादी हैं। वहाँ के समाजों में सदा सम्पत्ति, फ़ौज, लड़ाई, क्रिकेट, फुटबाल, खान-पान, मनुष्य के अधिकार आदि बातों की ही चर्चा रहती है। भारतीय राष्ट्र का प्राण यदि धर्म कहा जा सकता है तो पश्चिमीय राष्ट्रों का आधार एकमात्र स्वार्थ कहने में

* C. F.:—"No English school-boy is ever taught to speak the truth, for the very simple reason that he is never taught to desire the truth. From the very first he is taught to be totally careless as to whether a fact is a fact; he is taught to care only whether the fact can be used on his side, when he is engaged in playing the game."
—*Passing of the Empire.*

कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पहले में क्षमा, दया, न्याय और परोपकार है; दूसरे में अधिकार और स्वत्व की डंडेबाज़ी है। पहला स्वर्गीय है, दूसरा लौकिक। आधुनिक सभ्यता ने समस्त योरोप को एक बृहत् सैनिक छावनी का रूप दे रक्खा है। कोई छोटा या बड़ा राष्ट्र अपने को सुरक्षित नहीं समझता। न जाने कब एक पड़ोसी दूसरे का राज्य छीन ले! इसी लिए वहाँ के प्रत्येक नागरिक को सैनिक बनना पड़ता है। ऐसा एक भी दिन नहीं बीतता जो दिग्विजय, युद्ध और मारकाट की चर्चा से आरम्भ न किया जाता हो। भौतिक प्रभुता के लिए ख़ून की प्यासी रण-देवी ही वहाँ की उपास्य देवता है। क्या इस प्रकार सोते-जागते ख़ून की नदियाँ बहाने का विचार—फिर वह सभ्यता के नाम पर हो, या धर्म के नाम पर—दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना कार्य्य में परिणत हो सकता है? क्या किसी निन्दनीय स्वार्थ से सनी हुई महत्त्वाकांक्षा के बिना कोई मनुष्य अथवा राष्ट्र अपने पड़ोसी का गला घोटने को कभी तैयार हो सकता है? कभी नहीं। हम लोग जिस आधुनिक सभ्यता का, आँखें बन्द करके, अनुकरण कर रहे हैं उसका यथार्थ स्वरूप यूरोप के तत्त्वज्ञों की दृष्टि में ऐसा ही है।

यह न समझना चाहिए कि भारतवर्ष में कभी सङ्ग्राम न होते थे। यहाँ भी सङ्ग्राम हुआ करते थे; परन्तु यहाँ के प्रत्येक किसान को अपने कृषि-यन्त्रों को युद्ध के शस्त्रास्त्रों में परिणत करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, और न प्रत्येक मनुष्य ही युद्ध-भूमि में घसीटा गया। एक तरफ़ तलवार चला करती थी और दूसरी तरफ़ झोपड़ी में बैठ कर जुलाहा सूत कातता था। कृषकों के काम में शत्रुओं के द्वारा कोई बाधा नहीं डाली जाती थी। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार युद्ध का काम समाज के एक विशिष्ट भाग को सौंप दिया जाता था और कृषक तथा अन्य व्यवसायी लोग युद्ध-कार्य से सदा मुक्त कर दिये जाते थे। अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई रणक्षेत्र में नहीं घसीटा जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का वर्णन करते हुए मेगास्थनीज़ ने ऐसा ही लिखा है। सारांश यह है कि आर्यों की प्राचीन सभ्यता के उत्तर-काल में, भीषण सङ्ग्रामों के समय भी, समाज में जितनी सुख-शान्ति रहा करती थी उतनी योरोप आदि पश्चिमी देशों में कदाचित् शान्तिमय समय में भी नहीं रहती है।

हम लोग यह भी सुना करते हैं कि पश्चिमी देशों में प्रजा-तन्त्र शासन-प्रणाली है और इसे सुन कर हमारे मुँह में पानी आ जाता है। हम बार बार वहाँ की सुसङ्गठित जातीयता की प्रशंसा किया करते हैं और यह समझते हैं कि वहाँ छोटा बड़ा जो कार्य होता है वह फ़ी सदी निन्यानवे आदमियों की सम्मति से ही होता है। परन्तु हमारी यह समझ उतनी ही सच है जितनी कि सूर्य्य का पश्चिम में उदय होना। अधिक क्या कहें, किसी अनर्थकारी युद्ध की घोषणा तक वहाँ के कुछ चुने हुए दस-बीस अथवा कभी कभी तो एक ही दो मनुष्यों की इच्छा से हो जाती है। इस बात पर एकाएक विश्वास नहीं होता; पर बात ऐसी ही है। हम भारतवासियों को पश्चिमी देशों की सभ्यता के अभिनय के भीतरी परदों का हाल सदा मालूम नहीं होता। उसका बाहरी भाग राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, समानता, उपयोगिता आदि मनोमुग्धकारी नामों से सुवर्णाङ्कित होता है अवश्य; परन्तु भीतरी दृश्य कुछ निराला ही है। वहाँ भौतिक वासनाओं और स्वार्थ-बुद्धि की अमर्यादित तीव्रता ने आधुनिक सभ्यता को मृगजल की सृष्टि के समान भ्रामक तथा असम्भव सिद्ध करके उसकी मृत्यु की घण्टी बजा दी है। देखिए, इस विषय में हेनरी जार्ज ने अपने "*Progress and poverty*" नामक ग्रन्थ में लिखा है—"To base on the state of most glaring social inequality, political institutions, under which men are theoretically equal, is to stand a pyramid on its apex." अर्थात् जहाँ वस्तुस्थिति और व्यवहार में सामाजिक असमता की पराकाष्ठा है, वहाँ ऐसी राजनैतिक संस्थाओं का स्थापन कर सकना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं, जिनकी छाया में मनुष्य समानाधिकारी हो जायँ।

समस्त पश्चिमी देशों में प्रजातन्त्र-शासन के सम्बन्ध में अमेरिका का नाम सब से पहले लिया जाता है। परन्तु वहाँ भी ज़ोर-ज़ुल्म का दौरा कुछ कम नहीं है। प्रत्येक अमेरिकन को एक वोट देने का अधिकार है, पर इससे लाभ कुछ नहीं होता। लोग अपना सच्चा और स्वतन्त्र

मत किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में नहीं दे सकते। अभी यूनाइटेड स्टेट्स की हाल की प्रेसीडेन्ट–चुनाई में डाक्टर विलसन सफल हो गये। मिस्टर रूज़वेल्ट भी उसके लिए उम्मेदवार थे। परन्तु वहाँ आम तौर से यह बात प्रकाशित कर दी गई थी कि इनके चुने जाने के लिए नौ मिलियन डालर (क़रीब तीन करोड़ रुपयों) की आवश्यकता होगी। इतनी बड़ी रक़म इकट्ठा न हो सकी। आक्सफ़ोर्ड के एक कालेज के वाइस-प्रिन्सिपाल, डाक्टर एल० पी० जैक्स, इस विषय पर लिखते हैं—

"अमेरिका की व्यावहारिक राजनीति बहुत अधिक भ्रष्ट हो गई है। इस समय वह केवल नाम मात्र को स्वयं-शासित देश कहलाता है। चालाकी के साथ लोगों का मताधिकार छीन लिया जाता है और सब कुछ धनिकों के इच्छानुसार मनमाना किया जाता है। मुझे सर्वत्र ऐसे मनुष्य (अमेरिकन) मिले जो इस अत्याचारिणी पद्धति के कारण रो रहे हैं।"

अब पश्चिमी देशों की धार्मिकता और दयालुता का भी थोड़ा सा नमूना देखिए। बाइबिल में एक वाक्य है—"हिंसा मत करो।" परन्तु इसकी पूरी पूरी अवहेलना की जाती है। धर्म के नेताओं और महन्तों को भी रुधिर बहाने के काम में शामिल होना पड़ता है। वहाँ का क़ानून प्रत्येक नागरिक को युद्ध में शामिल होने के लिए बाध्य करता है। यदि कोई शामिल न हो तो फिर वहाँ की सरकार उसकी जान और माल की रक्षा नहीं करना चाहती। इसी प्रकार वहाँ के दयालुता-प्रचारक (Humanitarian) नेताओं को भी इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वे अपने पड़ोसी भाइयों का रुधिर बहाने के सम्बन्ध में कुछ उचित, परन्तु विरुद्ध, सम्मति दे सकें। शान्ति के समय तो वे लोग ख़ूब शान्तिपाठ पढ़ाते हैं, परन्तु युद्ध के समय उसमें उनका हिस्सा ठीक उतना ही रहता है जितना किसी बड़े सैनिक का रहता हो। फिर इस बात को कोई पूछना नहीं चाहता कि इस युद्ध से आप सहमत हैं अथवा नहीं, किंवा मनुष्य-संहार का काम अच्छा है अथवा बुरा; क्योंकि ऐसी बातें करना फ़ौजी क़ानून के अनुसार मना है। तात्पर्य यह कि चाहे धर्म हो चाहे परोपकार, प्रत्येक शक्ति को यूरोप की भौतिक सभ्यता-रूपी भयानक देवी की आराधना और उपासना करने के लिए पाशविक क्रिया में भी सदा सहायक होना पड़ता है।

सन् १८९५ ईसवी में चीन को पराजित कर के जापान ने इसी सभ्यता का अनुकरण किया है। बीस बाईस वर्ष के इस थोड़े से समय में जापान ऐसा दीख रहा है कि मानो वह भी पश्चिमी देशों में से एक बड़ा पुराना देश हो। उसकी पुरानी चीनी सभ्यता के स्थान में अब पश्चिमी-पन विराजमान है। इसका फल यह हुआ है कि जापान के सामने आज वे सब विकट और भयङ्कर प्रश्न खड़े हो गये हैं जो किसी समय योरोप में हुए थे और जो अब तक हल नहीं हो पाये हैं। व्यापारिक पूँजी और प्रतिद्वन्द्विता, फ़ौजी ख़र्च, मज़दूरी का झगड़ा, राष्ट्रीय ऋण, समाज की कभी न सुलझनेवाली उलझनें, स्वार्थ-पूर्ण और नित नई महत्त्वाकांक्षायें आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो शासकों और नेताओं को सदा भूलभुलैया में डालती रहती हैं। ये सब कठिनाइयाँ पुरानी सभ्यता का त्याग करने के ही कारण हुई हैं। इससे फ़ी सदी ९० मनुष्यों की जो हानि हो रही है उसका विस्तृत और हृदय-ग्राही वर्णन कई विद्वान् तथा सहृदय जापानी नेताओं ने किया है। अपने देश-भाइयों को सचेत करने के लिए, योरोपीय सभ्यता का वर्णन करते हुए, जापान के एक विद्वान्, मिस्टर यूचीमुरा, ने एक स्थान पर लिखा है—

"आख़िर पश्चिमी सभ्यता है क्या वस्तु? लोग कहते हैं कि वह ईसामसीह के अनुयायियों की सभ्यता है। क्या यह बात सच है? क्या यह सभ्यता सचमुच उसी की आत्मा के आधार पर रची गई है जो सूली पर चढ़ाया गया था? कभी नहीं। यह तो वही सभ्यता है जो उस महात्मा को सूली पर चढ़ानेवालों के आधार पर—शैतान या राक्षस के आधार पर—सङ्गठित की गई है।"

"युद्ध—बस, जहाँ देखो वहाँ युद्ध—केवल यही एक आवाज़ वहाँ (यूरोप में) सुन पड़ती है। यह कहना कि उनकी सभ्यता शान्तितत्त्वों के आधार पर है, ठीक नहीं है। आज योरोप में जो आग जल रही है वही इस बात का प्रमाण है। और, यह प्रमाण नरक की आग से आसमान पर लिखा गया है, जो पुकार पुकार कर यह बतला रहा है

कि उनकी सभ्यता नक़ली है—ऊपर से तो उसका स्वरूप मोहक है, परन्तु भीतर केवल हलाहल विष भरा है।"*

जापानियों की बातें छोड़ दीजिए। स्वयं यूरोप के विचारशील विद्वानों का भी यही मत है कि आधुनिक सभ्यता में दीर्घ-जीवन-शक्ति नहीं है और उसके पतन होने का समय आ गया है। स्थानाभाव से हम उन सब लोगों की सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते। सिर्फ़ अध्यापक हक्सले की राय सुनिए। आप भौतिक विज्ञान-शास्त्र के धुरन्धर ज्ञाता थे। इनके अनेक ग्रन्थों का पारायण करने का सौभाग्य हमारी पाठशालाओं और कालेजों के विद्यार्थियों को हो चुका है। ऐसे विद्वान् महाशय की सम्मति पश्चिमी सभ्यता के प्रेमी हिन्दुस्तानियों के लिए अत्यन्त महत्त्व की है—

"श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आधुनिक सभ्यता के अनुयायी इस मानव-समूह में भी मुझे किसी उत्तम आदर्श अथवा दीर्घ-जीवन-शक्ति का अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता। अधिकांश मानव-समाज की जो दशा आज है उसमें यदि कुछ अच्छा सुधार होने की आशा न हो; यदि ज्ञान-शक्ति के उत्तरोत्तर बढ़ने से, विज्ञान के द्वारा, प्रकृति पर अपनी सत्ता को दिनों-दिन अधिकाधिक बढ़ाते रहने से, और प्रकृति पर विजय करके इस सत्ता के द्वारा अपार सम्पत्ति के स्वामी बन बैठने से भी यदि हमारी तृष्णाओं की अधिकता और तीव्रता में कुछ भेद और न्यूनता नहीं आ सकती; और यदि यह सब प्रयत्न आपत्तिग्रस्त जनता की नैतिक तथा शारीरिक हीनता को केवल बढ़ाने में ही सहायक होता है; तो मुझे यह आशा करने में कोई शङ्का न करनी चाहिए कि भविष्य में ईश्वर किसी ऐसी दृढ़ शक्ति अथवा विभूति को भेजेगा, जो वर्तमान शोचनीय अवस्था का पूर्णतया परिवर्तन या नाश करके संसार का कल्याण कर सके।"

संसार में गत ५००० वर्षों में अनेक राष्ट्र पैदा हुए और मर गये—केवल भारतीय और चीनी राष्ट्र अब तक जीवित हैं। जो राष्ट्र अपने भौतिक-सत्ता-प्रेम को किसी मर्यादित सीमा के भीतर नहीं रख सकते उनका स्थायी अस्तित्व तो दूर रहा, अपने द्वेषी पड़ोसियों के कारण अधिक काल तक उनका जीवित रहना भी असाध्य हो जाता है। परन्तु भारत कभी भौतिक सत्ता से मदान्ध नहीं हुआ। यही उसके आज तक जीवित रहने का रहस्य है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष का बाह्य भौतिक शरीर युद्ध में कई बार जीता जा चुका है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा अभी तक अजेय रही है। और, जब कि अन्तरात्मा में भ्रष्टता नहीं आई है, तब लगातार शताब्दियों तक भी शारीरिक पराजय अनुभव करने से किसी राष्ट्र का बाल बाँका नहीं हो सकता। हिन्दू राष्ट्र ने अब तक अपना अस्तित्व क़ायम रखा है सही; परन्तु उसे भविष्य में किसी तरह की क्षणिक सुखदायी भौतिक सत्ता के मायाजाल में न फँसना चाहिए। इसके लिए केवल यही एक उपाय है कि हमारी नई पीढ़ी के तरुण विद्यार्थियों को भारतीय साहित्य का पूरा पूरा परिचय कराया जाय, उन्हें इस साहित्य का राष्ट्रीय महत्त्व भली भाँति समझा दिया जाय और वह उनके विद्याभ्यास का एक मुख्य तथा आवश्यक अङ्ग बना दिया जाय। परन्तु यह हेतु तब तक सिद्ध नहीं हो सकेगा, जब तक हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा न हो। सारांश, भारतीय राष्ट्र का भविष्य केवल दो बातों पर अवलम्बित है—एक तो भारतवासी अपने राष्ट्रीय साहित्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करें; और दूसरी बात यह है कि सभी शिक्षालयों तथा विद्यालयों में शिक्षा मातृभाषा के द्वारा दी जाय।

कैसे शोक की बात है कि भारतवासी अपने गृह-जीवन, शिक्षा, रीति-रस्म, खान-पान, पोशाक और रहन-सहन आदि

* C. F.:—"What is the Western Civilisation after all? They say it is the Christian Civilisation. But, is it? Is it a civilisation based upon the Crucified one? Certainly it is not. It is a civilisation based upon the Crucifying one, the Devil, a murderer from the beginning."

"War, war—war upon the slightest pretext—that is their cry and unborn propensity. To say that their civilisation is based upon the gospel of peace is the grossest falsehood. The present conflagration of Europe is the veriest evidence, written with hell-fire upon the face of the sky, that theirs is a sham civilisation, beautiful upon the surface, but within, dead Vacuity."

—*Japanese Journal, the Yorodzu.*

सभी बातों में उसी पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करना चाहते हैं जिसका वर्णन करते हुए उपर्युक्त भौतिक शास्त्र-वेत्ता हक्सले महाशय के भी खेद होता है। परन्तु जापान का ताज़ा उदाहरण हिन्दुस्तानियों के सामने है। इससे उन्हें शिक्षा लेकर सावधान होना चाहिए। इस समय भी कुछ अधिक देरी नहीं हुई; जो कुछ बिगड़ चुका है वह अब भी सुधर सकता है। भारतवासियों को अपनी सभी बातों में भारतीय होना चाहिए। ज्योंही वे अपने सब कार्यों में 'अपनेपन' का विकास करने लगेंगे, त्योंही उनके देश, समाज और समस्त मानव-जाति का कल्याण होने लगेगा। वर्तमान पश्चिमी सभ्यता, जो केवल स्वार्थमय और भौतिक है, हमारी प्राचीन दया और परोपकार-पूर्ण तथा शान्तिप्रिय सभ्यता का स्थान कभी नहीं ले सकती। और, यदि वह लेना चाहे तो हमें ऐसा न करने देना चाहिए। इन दोनों सभ्यताओं में उतनी ही विभिन्नता है जितनी कि आकाश और पाताल में हो सकती है। यह स्वतन्त्र बुद्धि से काम लेने का समय है और यदि इस समय हमने उचित मार्ग पर चलना फिर से आरम्भ कर दिया तो हमारा भविष्य बहुत ही उज्ज्वल और कल्याणप्रद होगा। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" का उपदेश हमें न भूलना चाहिए। आशा है कि रातदिन पश्चिमी सभ्यता की प्रशंसा के गीत गानेवाले, अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त हमारे अनुकरण-शील बन्धु-गण कुछ सतर्क होकर भारतीय राष्ट्र के निर्माण में सहायता देने के लिए अपनी प्राचीन सभ्यता का प्रचार करने में अग्रसर होंगे।

माधवराव सप्रे

साकची में लोहे का कारख़ाना।

पिछली मई की सरस्वती में मैं साकची का कुछ वर्णन कर चुका हूँ। आज कारख़ाने का कुछ दृश्य लिखता हूँ।

प्रायः सभी जानते हैं कि मनुष्य-समाज में लोहे की कितनी आवश्यकता है। प्राचीन-काल में भी लोग लोहे को अपने व्यवहार में लाते थे। कहते हैं कि पहले पहल चीनवालों ने इस धातु को अपने व्यवहार में लाना आरम्भ किया। परन्तु इसमें सन्देह है, क्योंकि भारत में तो शास्त्र... वैदिक काल के भी पहले लोहे का व्यवहार होता था।

यूनान के आदि-कवि, होमर, की पुस्तकों से ज्ञा... होता है कि प्राचीन यूनानी भी लोहा, सोना आदि धातु... को अपने व्यवहार में लाते थे। सोलहवीं सदी में स्... और स्पेन ने भी इस कार्य्य में हाथ लगाया। सब से पी... ग्रेटब्रिटेन ने लोहे को अपनाया। १६०२ ईसवी में इँगलि... स्तान में लकड़ी के रेल-पथ बनाये गये थे! परन्तु १७३... ईसवी में ह्वाइटहेवेन (White-heaven) नामक स्थान... जो कम्बरलैंड के अन्तर्गत एक क़सबा है, ईसपात का रे... पथ बन गया था।

जब से लोहे का अधिकतर प्रचार हुआ है तब... पृथ्वी के प्रत्येक कारोबार और व्यापार में बहुत बड़ा सुभी... हुआ है। यहाँ तक कि आज कल मनुष्य-जाति की सभ्य... इसी पर अवलम्बित है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी।

और देशों की तरह इस दरिद्र भारत के भी व्यवसा... में लोहा बड़ी ही आवश्यक वस्तु हो गई है। प्राचीन-का... में यहाँ भी लोहे की अनेक अद्भुत वस्तुयें तैयार की जा... थीं। पर आज, हम लोग, काल-गति के कारण, उन... स्मरण करने भर के अधिकारी हैं। तथापि, आनन्द के सा... कहना पड़ता है, अब, यहाँ भी लोहे तथा ईसपात ... दो-एक कारख़ाने देख पड़ते हैं। सब में प्रधान कारख़ाना ... श्रीमान् ताता का, जो साकची में स्थापित है। यह का... ख़ाना कैसे स्थापित हुआ, पहले इस का कुछ संक्षिप्त इति... हास सुनिए।

स्वनाम-धन्य स्वर्गीय श्रीमान् जे० एन० ताता के हृद... में, १८७५ ईसवी में ही, यह विचार उत्पन्न हो चुका... कि इस देश के खनिज लोहे को गला कर ईसपा... बनाने का एक कारख़ाना खोलना चाहिए। वे उसी सम... से इसके अन्वेषण में लगे रहे कि सब से उत्तम लोहे ... खान कहाँ पर है। इस अन्वेषण-कार्य्य में उनके कोई स... छः लाख रुपये व्यय हुए। अन्त में, छोटा नागपुर (बिहा... तथा मध्यप्रदेश में इस धातु की कुछ खानें मिलीं जिन... लोहा बहुतायत से पाया जाता है। अब तो और भी ... नई नई खानें मिल गई हैं।

पहले पहल कारख़ाने का मूल धन २,३१,७५,०००

झुका गया। लोगों की इच्छा थी कि यह कम्पनी इँग्लैंड में स्थापित हो; क्योंकि उन्हें सन्देह था कि शायद भारत में इतना धन एकत्र न हो सके। परन्तु वहाँ भी उन्हें सफलता न प्राप्त हुई। तब लोगों को यह बात सूझी कि यदि इँग्लैंड के धन से यह कारख़ाना खोला गया तो भारत को क्या लाभ होगा? अन्त में यह कम्पनी भारत में ही स्थापित हुई और १९०७ ईसवी में "दी ताता आयरन एंड स्टील कम्पनी लिमिटेड" के नाम से इसकी रजिस्ट्री हो गई। जब कारख़ाना खोलने के विषय में सलाह-मशवरा हो रहा था तब उसमें योरप तथा अमरीका के कई एक अन्वेषक शामिल थे; पर अमरीकन अन्वेषकों में श्रीयुत सी० पी० पेरिन साहब की राय सब से उत्तम तथा उत्साह-वर्द्धक ज्ञात हुई। इसलिए इन्हीं महाशय के परामर्शानुसार यह कारख़ाना स्थापित हुआ और चल भी रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि ये जी-जान से इस कारख़ाने की उन्नति चाहते हैं और सदा इसकी श्री-वृद्धि के लिए परिश्रम करते हैं।

जब से यह कम्पनी स्थापित हुई है तब से इसको हर साल कितना लाभ हुआ, इसका नक़शा नीचे देखिए—

साल	लाभ	प्रेफ़रेंस शेयर-होल्डरों को प्रति सैकड़ा सूद क्या मिला है। ऐसे हिस्सेदार ५० हज़ार हैं। प्रत्येक हिस्से का मूल्य १५०)	साधारण हिस्सेदारों को प्रति सैकड़ा क्या मिला। ऐसे हिस्सेदार दो लाख हैं। प्रति हिस्से का मूल्य ७५ रु० है।	डेफ़र्ड हिस्सेदारों को प्रति सैकड़ा क्या मिला। ऐसे हिस्सेदार २२½ हज़ार हैं। इनका मूल्य ३०) प्रति हिस्सा है।	कैफ़ियत
१९११-१२ ईसवी	२,५१,५७४)	६ %	—	—	१ जुलाई से ३० जून तक का साल होता है।
१९१२-१३ ,,	८,५८,५००)	६ %	—	—	
१९१३-१४ ,,	२२,६३,७००)	६ %	६ %	—	
१९१४-१५ ,,	२४,८३,०८८)	६ %	८ %	२५ %	
१९१५-१६ ,,	६८,२९,६००)	६ %	१५ %	१८०½ %	
१९१६-१७ ,,	१,१०,७६,६९२)	६ %	२० %	२९१ %	

यदि यह कम्पनी इंग्लैंड में स्थापित हुई होती तो यह सारा धन वहीं का हो गया होता।

३ करोड़ ६० लाख रुपये की लागत से यह कारख़ाना और भी बढ़ाया जा रहा है। इञ्जिनियर आदि अमरीका से आ गये हैं और काम भी आरम्भ हो गया है।

हाँ, तो अब चलिए, कारख़ाने का कुछ दृश्य देखिए। देखिए, यहीं श्रीमान् जे० एन० ताता की मूर्त्ति है। जिस सुविशाल कारख़ाने को स्थापित करने का विचार इन्होंने अपने मन में किया था, शोक के साथ कहना पड़ता है उसे वे अपने जीवनकाल में पूर्ण न कर सके। परन्तु हर्ष की बात है, इनके देश-भक्त और पितृ-सेवी सुपुत्रों (सर दोराबजी ताता तथा सर रतनजी ताता) ने इसे पूर्ण कर अपनी पितृ-भक्ति तथा देशभक्ति का उत्तम परिचय दिया है। देखिए, अपने सत्पुत्रों की सुकृति पर यह मूर्ति कैसी साभिमान प्रफुल्लित हो रही है।

कोक बनाने के भट्ठे ।

यहाँ से अब, आप, सीधे कोक की भट्ठियों (Coke Ovens) की ओर चलिए। भारत में पत्थर का कोयला बहुतायत से होता है। पर कोयले से कोक बनाने के कारखाने यहाँ बहुत कम हैं। इसलिए, इस कम्पनी ने, यहाँ पर, कोक बनाना भी आरम्भ कर दिया है। स्वयं इस कम्पनी को भी कोक की बड़ी आवश्यकता रहती है। इसके लिए कम्पनी ने पहले पहल १८० भट्ठियाँ तैयार कीं। पश्चात्, जब इनसे काफ़ी कोक न तैयार हो सका तब और भी ५० भट्ठियाँ, नये ढङ्ग की, बनाई गईं। उनके साथ ही साथ आनुषङ्गिक पदार्थोत्पादक (By-product Plant) यन्त्र भी लगाये गये, जिनमें कोयले की गैस से अलकतरे का तेल तथा सल्फेट आव् एमोनिया भी बनता है। प्रत्येक पुराने भट्ठे में सात टन कोयला, एक बार में, अँटता है और नये में नौ टन। पहले, कोयले को यन्त्र के द्वारा चक्कियों में पीस कर मैदा बना लेते हैं और एक बहुत ऊँचे स्थान पर ले जाकर एकत्र करते हैं। इस स्थान को बंकर (Bunker) कहते हैं। इसमें एक हज़ार टन कोयले का मैदा समाता है। इसी बंकर के दोनों ओर नब्बे नब्बे भट्ठियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक दो भागों में बटी हुई है। प्रत्येक बैटरी के लिए एक एक चिमनी है, जिसके द्वारा भट्ठी की गैस और धुआँ बाहर निकल जाता है। ये चिमनियाँ रात दिन ज्वाला-मुखी की तरह आग तथा धुआँ उगलती रहती हैं।

इन भट्ठों के ऊपर एक ठेला-गाड़ी बिजली की शक्ति से घूमती रहती है। उसके चार भाग हैं। उसे चार्जिङ्ग ट्राली (Charging Trolly) कहते हैं। जिस समय किसी भट्ठे में कोयले का मैदा देने की आवश्यकता होती है उस समय यह ठेला बंकर के नीचे जाकर खड़ा होता है। नीचे से बंकर का 'लीवर' खोल दिया जाता है। इससे कोई तीन ही मिनट में ठेले के चारों ख़ाने मैदे से भर जाते हैं। भर जाने पर वह भट्ठे की ओर दौड़ जाता है। बस, भट्ठे पर जाते ही उसमें सारा मैदा गिरा देता है। इस कार्य्य में अधिक से अधिक पाँच मिनट लगते हैं। एक भट्ठे को भर पेट भोजन देकर यह ठेला दूसरे भट्ठे की ख़बर लेने चला जाता है। भरा हुआ भट्ठा चारों ओर से बन्द रहता है। भट्ठों की दीवारें सदा धधकती रहती हैं। बस, कोल-मैदा गिरने भर की देर होती है कि झट मैदा भी अपना वही रूप बना लेता है। जब ये भट्ठे, किसी कारणवश, एक बार ठंढे कर दिये जाते हैं तब फिर से जारी करने के लिए १५ दिनों तक, बराबर, कच्चा कोयला इनमें जलाया जाता है। इससे ये स्वयं अग्नि-रूप हो जाते हैं। इनकी दीवारें ऐसी ईंटों की बनी हुई हैं जो आग की आँच से नहीं गलतीं।

अब, देखिए, ४० घण्टों के पश्चात् यह सात टन कोयला जल कर ४⅘ टन कोक बन गया। ३२ फुट लम्बे भट्ठे में से जलता हुआ कोक निकालना मनुष्य के लिए तो, मेरी समझ में, सर्वथा असम्भव है। इसीलिए, देखिए, इस कार्य्य के सम्पादन के लिए एक यन्त्र प्रस्तुत है। उसका नाम 'मेषयन्त्र' (Ram-machine) है। भट्ठों में पुल के सदृश, दोनों ओर, द्वार बने हैं। एक दरवाज़े से यह मेषयन्त्र जलते हुए भट्ठे में घुसता है और कोक के ३२ फुट लम्बे, ६ फुट ऊँचे, तथा कोई ५ फुट चौड़े देदीप्यमान एक पिण्ड को ढकेलते हुए दूसरे दरवाज़े से कोक-बेञ्च (Coke Bench) पर बाहर निकलाता है। ये कोक-बेञ्च लोहे की मोटी मोटी चद्दरों से पाटे गये हैं। यहाँ इस जलते हुए कोक पर नल द्वारा जल-वृष्टि की जाती है। फिर ठंढा हो जाने पर जहाँ उसकी आवश्यकता होती है वहाँ भेज दिया जाता है। अवशिष्ट एक निश्चित स्थान में एकत्र किया जाता है। मेषयन्त्र उसी रास्ते से पुनः पीछे हटता हुआ भट्ठे के बाहर निकल आता है।

शायद बहुतेरे पाठक इस विचार में निमग्न होंगे कि पत्थर के कोयले से कोक बनाने की आवश्यकता ही क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि कोयले की अपेक्षा कम कोक से अधिक गर्मी उत्पन्न होती है। कोयले में जो दोष हैं वे सब कोक में नहीं रहते; गैस बन कर निकल जाते हैं। कोक में लोहे को गलाने की शक्ति अधिक है तथा और ईंधनों से यह सस्ता भी पड़ता है। कोक की छाई, (?) अशुद्ध होने के कारण, कोक से पृथक् हो जाती है। वह बायलरों (Boilers) तथा रसोई-घरों में जलाने के काम आती है। यह सस्ती पड़ती है। अतएव यहाँ के निवासी विशेष करके इसी को जलाते हैं। कम्पनी के कुली ने एक टोकरी कोक की छाई पहुँचा दी। इसके लिए उसने केवल दो पैसे

आप से लिये। कोक की क़ीमत भी इन्हीं दो पैसों में शामिल है। इस एक टोकरी कोक की छाई से एक मनुष्य का भोजन कोई एक सप्ताह तक बन सकता है।

नये ढँग के भट्टे कुछ बड़े हैं। इनमें ९ टन कोयले का मैदा अँटता है। इन भट्टों का धुँआ तथा गैस निरर्थक नहीं जाने पाता। इस धुवें और गैस से अलकतरा तथा सल्फेट आव् एमोनिया और गैस बनती है।

इन भट्टों के कोक को भी उसी अर्थात् पुराने भट्टों के ढँग से बुझाते हैं। पर इनमें कुछ विशेषता भी है। इनके कोक-बेञ्च ऐसे बने हैं कि उनमें जल कोक को ठण्ढा करता है और छाई को अपने साथ लेता हुआ नीचे चला आता है। यहाँ पर एक बिजली के यन्त्र के द्वारा छाई जल से छान ली जाती है।

गन्धकाम्ल बनाने का यन्त्र

(Sulphuric Acid Plant)

इस यन्त्र के चार भाग हैं। ब्रिमस्टोन (Brimstone) नामक खनिज धातु जापान से तथा नाइटर (Nitre) नामक खनिज धातु दक्षिण अमेरिका के चिली देश से मँगा कर इस यन्त्र की मदद से गन्धकाम्ल बनाया जाता है। १३४ पौण्ड ब्रिमस्टोन तथा ३½ पौण्ड नाइटर प्रति घण्टा इस यन्त्र में लगता है। इससे जो तेज़ाब (Acid) बनता है वह सल्फ़ेट आव् एमोनिया में व्यवहार होता है।

वात-भट्ठा (Blast-Furnace)

इस विभाग में दो भट्ठे हैं। तीन और बन रहे हैं। इन दोनों से प्रतिदिन ३००—३२५ टन पिग आयरन (Pig Iron) अर्थात् कच्चा लोहा तैयार होता है। ये भट्ठे ७७ फुट ऊँचे हैं। इनके पेट का भीतरी व्यास २० फ़ुट है। इनके सिर पर एक एक छिद्र है। उन्हीं में से इनमें खनिज लोह-धातु (Iron Ore), लोह-द्रावक पत्थर (Dolomite) डोलोमाइट, कोक तथा चूने का पत्थर (Limestone) डाला जाता है। ये खनिज धातुयें इन भट्ठों में एक यन्त्र के द्वारा डाली जाती हैं। उस यन्त्र को स्किप्स (Skips) कहते हैं। वह भाफ (Steam) के द्वारा चलता है।

पहला भट्ठा २ दिसम्बर १९११ ईसवी तथा दूसरा २१ सितम्बर १९१२ ईसवी को पहले पहल जारी किया गया।

इन भट्ठों की और मनुष्य-शरीर की कृति में बहुत कुछ साम्य है। मनुष्य-देह की तरह इन भट्ठों के भी ऊपरी भाग में मुख है। उसके द्वारा खनिज धातु तथा कोक इनके पेट में स्वाहा होने के लिए जाता है। खनिज धातु तथा कोक पृथक् पृथक् स्थानों में रक्खा रहता है। उनका नाम है—स्टाक बिन्स और ट्रेसल्स (Stock Bins and Trestles) उनमें ख़ाने बने हुए हैं, जिनमें भिन्न भिन्न खनिज धातुयें—यथा लोहा, लोह-द्रावक पत्थर, चूने का पत्थर और कोक अलग अलग रक्खा रहता है। उनके पेंदों में छेद है। छेद पर एक ऐसा पर्दा लगा हुआ है जिसके डण्डे (Handle) को नीचे दबाने से छेद खुल जाता है और धातुयें नीचे गिरने लगती हैं। इसके निचले भाग में विद्युच्छक्ति से चलने वाला एक ठेला घूमता रहता है। जब ठेला इन ख़ानों के पेंदे के नीचे आता है तब एक मज़दूर पर्दे के डण्डे को नीचे दबाता है। बस उसका मुँह खुल जाता है और धातु ठेले में गिरने लगती है। ठेले में एक मापक यन्त्र भी लगा रहता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इसमें इतना पौण्ड माल गिरा। आवश्यक माल गिर जाने पर ठेले पर का मनुष्य ऊपरवाले मज़दूर को मना कर देता है। बस, उसने डण्डे को ऊपर उठाया नहीं कि माल गिरना बन्द होगया और ठेला चलता हुआ। फिर वह एक ऐसे स्थान पर जा खड़ा होता है, जिसके नीचे स्किप उसकी बाट देख रहा है। वहाँ पहुँचने पर इस ठेले के पेंदे का भी ढक्कन हटा लिया जाता है। इससे ठेले का पदार्थ स्किप्स में गिर जाता है। तब स्किप झपाटे से ऊपर चढ़ता हुआ भट्ठे के सिरे पर पहुँच जाता है और अपने पेट का सब माल भट्ठे के मुख के अर्पण कर देता है। इस कार्य्य के लिए प्रत्येक भट्ठे के पीछे दो दो स्किप्स हैं। स्किपों के जाने के लिए रेल के पथ, भट्ठे के शीर्ष से स्टाक बिन्स तक, बने हुए हैं। प्रत्येक स्किप में चार चार चक्के हैं। उनमें लोहे के मोटे मोटे रस्से लगे हैं। भाफ़ के बल से वह माल से लदा हुआ ऊपर चढ़ता है। जब एक स्किप ऊपर चढ़ने लगता है तब दूसरा स्किप नीचे उतरने लगता है।

भट्ठे के मुख के दो भाग हैं—एक कटोरा (Cup) और दूसरा कोन। कोन को भट्ठे के लोग ब्यल (Bell) कहते हैं। जब खनिज धातु कप में पहुँचता है तब ब्यल भट्ठे के मुख को बन्द किये रहता है कि भीतर की गैस बाहर न निकल सके। इतने में माल कप से ब्यल में गिर जाता है। इनके पेंदे ऐसे बने हैं कि यह कार्य्य मनुष्य की सहायता के बिना, आप ही आप, होता है। माल के गिर जाने पर कप का मुख बन्द हो जाता है और ब्यल के पेंदे का ढकन खुल जाता है। बस फिर क्या है, बेचारी खनिज धातुयें अग्निकुण्ड में पड़ कर अपना असली रूप, सदा के लिए, बदलने लगती हैं। इन भट्ठों की गर्मी १४००° तक होती है।

भट्ठे के पेट में जाने पर खनिज धातुयें तरल रूप ग्रहण करती हैं। भट्ठे के पेंदे के ऊपर पार्श्व में एक छेद रहता है। उसके द्वारा बाहर बालू की बनी क्यारियाँ हैं। जब पाचन-क्रिया समाप्त हो जाती है और कच्चा लोहा (Pig Iron) तैयार हो जाता है तब वह इन्हीं क्यारियों में आकर पानी की तरह बहता हुआ पट जाता है। उसी समय लोहे का मैल, जिसको स्लैग (Slag) कहते हैं, एक दूसरे रास्ते से बाहर खड़ी हुई एक गाड़ी (Ladle) में गिर जाता है। एक एंजिन इन गाड़ियों को खींच कर उस स्थान पर पहुँचाता है जहाँ यह मैल, ठण्डा होने के लिए, उड़ेल दिया जाता है। अँधियारी रात में जब यह स्लैग गिराया जाता है तब दो चार मिनट के लिए चाँदनी सी छिटक जाती है। उस समय यदि आकाश में मेघ के दो चार भी टुकड़े पूर्व दिशा में रहें तो सूर्य्योदय के सदृश लालिमा छाजाती है।

जब इन क्यारियों का कच्चा लोहा ठण्डा हो जाता है तब उन लोहखण्डों को उठा कर एक निश्चित स्थान में रख देते हैं। यह कच्चा लोहा (Pig Iron) जापान, चीन, मन्चूरिया, ब्रह्मा, स्ट्रेट सेटलमेंटस, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड, लङ्का, जावा, अमेरिका के संयुक्त राज्य तथा भूमध्य-सागर के अनेक द्वीपों में जाता है और प्रति मास ८—१० हज़ार टन यहीं, इस कारख़ाने में, ख़र्च होता है। यह ईसपात बनाने में काम आता है।

प्रत्येक वात-भट्ठे के लिए चार चार चूल्हे ऐसे हैं जिनमें हवा गरम की जाती है। उनका नाम है—हाट ब्लास्ट स्टोव्स (Hot-Blast-Stoves) विद्युच्छाला से ठण्डी वायु आकर इन्हीं स्टोवों में गरम होती है। यहाँ से वात-भट्ठे में जाकर वह उस स्थान में प्रविष्ट होती है जहाँ कोक जलता रहता है। ये स्टोव इसी वात-भट्ठे की गैस से गरम किये जाते हैं। स्टोवों की गर्मी ८००°—१०००° डिगरी तक रहती है। प्रत्येक आध घण्टे पर ये गैस के द्वारा गरम किये जाते हैं और विद्युच्छाला से हवा एक नल के द्वारा आकर इस गरमी को अपने साथ लेती हुई भट्ठे में चली जाती है।

इन स्टोवों की उँचाई ८० फुट और भीतरी पेंदे का ब्यास १० फुट है।

जब पिग आयरन अर्थात् कच्चा लोहा निकल जाता है तब भट्ठे के द्वार को कैसे बन्द करते हैं, यह सुनिए। भट्ठों को हवाई तोप से बन्द करते हैं। यह तोप स्टीम (भाफ़) से चलती है और गीली मिट्टी के गोले उगलती है। ये गोले जाकर भट्ठे के मुँह को बन्द कर देते हैं। जब यह तोप गोले बरसाने लगती है तब धड़ाका इतने ज़ोर का होता है कि दो तीन मील से भी अधिक दूर तक वह सुनाई देता है।

ईसपात बनाने के भट्ठे (Steel Works)

तरल पिग आयरन गाड़ियों (Ladles) में भर कर ब्लास्ट-फरनेस से ईसपात बनाने के भट्ठों में पहुँचाया जाता है। वहाँ लाकर इस तरल धातु को एक विशेष स्थान में रखते हैं। उसको मिक्सर (Mixer) कहते हैं। उसमें ३०० टन तरल धातु एक बार अँटती है। यहाँ पर ईसपात बनाने के ६ भट्ठे हैं। प्रत्येक भट्ठे से प्रति ८ घण्टे में ५०-६० टन तक ईसपात बनता है। इन भट्ठों में ३६००° डिगरी की गरमी रहती है। कच्चे लोहे (Pig Iron) में मैंगनीज़ (Manganese), चूने का पत्थर (Limestone), लोहे द्रावक पत्थर (Dolomite), खनिज-लोह-धातु (Iron Ore), अलकतरा (Tar) तथा टूटे फूटे पुराने ईसपात का चूर्ण मिलाकर ईसपात बनाते हैं। ईसपात बनाने में ३० प्रति सैकड़ा पुराना टूटा फूटा ईसपात, ८ प्रति सैकड़ा खनिज-धातु तथा ६२ प्रति सैकड़ा तरल कच्चे लोहे की आवश्यकता

पड़ती है। इस कारख़ाने में प्रति मास कोई १५ हज़ार टन ईसपात बनता है।

जब ईसपात तैयार हो जाता है तब उसे तरल अवस्था में ही ४० टन अटनेवाले कास्टिङ्ग लेडल (Casting Ladle) में ढालते हैं। फिर उसमें से छोटे छोटे साँचों में, जिनमें ३ टन ईसपात समाता है, ढाल कर ठण्ढा कर लेते हैं।

ईसपात के भट्ठे भी गैस ही के द्वारा गरम किये जाते हैं। जहाँ से गैस इन भट्ठों में आती है उस यन्त्र का नाम गैस-प्रोड्यूसर (Gas-producer) है। प्रत्येक ओपन हर्थ (खुली भट्ठी) के पीछे ४, ४ गैस प्रोड्यूसर लगे हुए हैं। इनमें कच्चे कोयले से गैस तैयार की जाती है। बड़े हर्ष की बात है कि आज कल इस विभाग के सब कर्म्मचारी भारतीय हैं। इसके प्रधान निरीक्षक (General Foreman) एक पारसी सज्जन हैं। आप का नाम है—श्रीयुत मानिकजी होमी। आप बम्बई-विश्व-विद्यालय के बी० ए० और एल-एल० बी० हैं। आप बड़े विद्या-प्रेमी हैं। कितने ही लड़कों को अपने पास से ख़र्च देकर पढ़ाते हैं।

इस कारख़ाने में रेल-स्टील (Rail Steel) और नरम ईसपात (Mild Steel) बनता है। रेल-स्टील कुछ कड़ा और दूसरा कुछ नरम होता है।

सोकिङ्ग पिट्स (Soaking Pits)

सोकिङ्ग पिट्स ईसपात के भट्ठों ही के साथ उनके पीछे बने हैं। यहाँ पर वही तीन तीन टन ईसपात के कुन्दे, रोलिङ्ग मिल (Rolling Mill) में जाने के लिए, गरम किये जाते हैं।

ब्लूमिङ्ग, रोलिङ्ग तथा बार-मिल्स (Blooming, Rolling and Bar Mills)

चलिए, अब दूसरा दृश्य देख आवें। आपने न जाने कितनी बार रेलगाड़ियों को रेल पर दौड़ते देखा होगा। आप स्वयं उस पर कई दफ़े चढ़े भी होंगे। पर रेल की पटरी बनती कैसे है, यह आप में से बहुत कम लोगों ने देखा होगा। मैं पहले कह चुका हूँ कि ३ टन लोहे का कुन्दा सोकिङ्ग पिट्स में गरम होता है। गरम हो जाने के पश्चात् वैद्युतिक क्रेन (Crane) के द्वारा वह निकाला जाता है, और फिर एक ठेले पर रक्खा जाता है। ठेला उस कुन्दे को लेकर वैद्युतिक शक्ति से ब्लूमिङ्ग मिल की ओर दौड़ पड़ता है। वहाँ जाकर वह कुन्दे को ब्लूमिङ्ग मिल के हवाले कर देता है। फिर वहाँ से पीछे भागता हुआ पुनः अपने स्थान पर आ जाता है।

कुन्दे बेलनों के द्वारा बेले जाते हैं। बेलन सब पृथक् पृथक् साँचे के हैं। किसी से रेल, किसी से बीम और किसी से चैनेल आदि बेले जाते हैं। ये बेलन १०-१२ हज़ार घोड़े की शक्ति से अपना कार्य्य करते हैं। जिन यन्त्रों पर रख कर कुन्दे बेले जाते हैं उन की भी बनावट बेलनों ही की तरह है। वे बराबर घूमते रहते हैं। इससे ईसपात का कुन्दा या रेल आदि, आप से आप, आगे पीछे दौड़ा करते हैं। जब कुन्दे कुछ ठण्ढे हो जाते हैं तब क्रेन द्वारा भट्ठों में भेज दिये जाते हैं। वहाँ वे गरम होते हैं। गरम होकर पुनः क्रेनों के द्वारा बेलने के स्थान पर आ उपस्थित होते हैं। वहाँ वे फिर बेले जाते हैं। जब रेल आदि वस्तुयें तैयार हो जाती हैं तब एक प्रकार की आरी से काटी जाती हैं। इसके बाद वे एक स्थान में भेज दी जाती हैं। वहाँ जाकर वे ठण्ढी होती हैं। कुछ ठण्ढी हो जाने पर, चाँप-यन्त्रों के द्वारा, सीधी की जाती हैं। उनमें से रेल को, एक ख़ास जगह पर ले जाकर, उस में छेद कर देते हैं। इस से दो रेलों को जोड़ने के समय सुभीता होता है।

यहाँ १४ पौण्ड से लेकर १०० पौण्ड तक के रेल बनते हैं। यह वज़न १ गज़ रेल के टुकड़े का है। इसके सिवा नीचे लिखी हुई वस्तुयें भी बनती हैं—ईसपात का कोन (Angles), चैनेल (Channels), बीम (Beams) तथा गोल और चौपहल छड़ इत्यादि।

रसायन-प्रयोग-शाला (Chemical Laboratory)

यहाँ दो रसायन-प्रयोग-शालायें हैं—एक सरकारी, दूसरी इस कम्पनी की। इन में यहाँ की बनी हुई सब प्रकार की वस्तुओं की रासायनिक जाँच होती है। सरकार प्रति वर्ष यहाँ से २० हज़ार टन ईसपात का सामान लेती है। इसलिए एक सरकारी रसायन-प्रयोग-शाला भी यहाँ है।

इसी के साथ एक फ़िज़िकल लेबोरेटरी (Physical Laboratory) अर्थात् भौतिक-प्रयोगशाला है, जिसमें

ईसपात की या अन्य किसी धातु की बनी वस्तुओं की जाँच होती है। कितने बोझ तथा बल से कोई वस्तु टेढ़ी हो सकती है या टूट सकती है, अथवा कितनी लम्बी हो सकती है, यह परीक्षा यहाँ की जाती है। यहाँ के यन्त्र १०० टन धातु की जाँच एक ही बार में कर सकते हैं।

विद्युच्छाला (Power House)

इस कारख़ाने में सब से अधिक प्रधानता बिजली को प्राप्त है। इसलिए इसके सम्बन्ध में भी दो एक बातें यहाँ कह देना अनुचित न होगा।

इस विभाग में ३ टर्बोब्लोअर (Turbo-Blowers) यन्त्र लगे हैं। वे वात-भट्टों में एक मिनट में ३२ हज़ार घन फुट वायु, एक वर्ग इञ्च पर १४½ पौण्ड के चाप से, पहुँचाते हैं। ये ब्लोअर-यन्त्र एक मिनट में तीन हज़ार चक्कर लगाते हैं।

इन के अतिरिक्त ३ टर्बो-जनरेटर (Turbo-Generators) हैं। इनमें से प्रत्येक १५०० घोड़ों की शक्ति रखता है। एक मिनट में ये भी ३ हज़ार चक्कर लगाते हैं। एक जेनेरेटर-यन्त्र लगा है, जिसका वैद्युतिक प्रवाह ३ हज़ार 'वोल्ट' (Volts) है। दो ट्रान्सफार्मर (Transformers) हैं, जिन में ३ हज़ार वोल्ट की शक्ति है। दो किलोवेटस मोटर जेनेरेटर (Kilowets Motor Generator) हैं, जिनमें ७५० घोड़ों की शक्ति है। वे २५० वोल्ट के वैद्युतिक प्रवाह से कार्य्य करते हैं। इन्हीं वैद्युतिक यन्त्रों से जो बिजली पैदा होती है उसी से कारख़ाने के कितने ही यन्त्र चलते हैं, और कारख़ाने में, दफ़्तरों में, साहबों के बँगलों में, रोशनी तथा पङ्खे अपना अपना कार्य्य सम्पादन करते हैं।

इस विभाग के भी सब कर्म्मचारी भारतीय है। चीफ़ एलेक्ट्रिकल इञ्जिनियर श्रीयुत एस० घोष नामक एक बङ्गाली सज्जन हैं। आप विलायत में अनेक पदवियाँ प्राप्त कर के यहाँ आये हैं। इतने बड़े बिजली के कारख़ाने को एक भारतीय के द्वारा सुचारु रूप से चलते देख कर किस भारत-सन्तान को आनन्द न होगा।

अन्य विभाग।

इस कारख़ाने में और भी कई विभाग हैं—यथा, मैशीन शाप (Machine Shop), साँचा बनाने का घर तथा बढ़ई-ख़ाना (Pattern and Carpenter Shop), लोहार-ख़ाना (Smith Shop), ढलाई-घर (Foundry) इत्यादि।

मैशीन शाप में इस कारख़ाने के बिगड़े हुए यन्त्र मरम्मत किये जाते हैं। साँचा बनाने के कारख़ाने में कलपुर्ज़ों के साँचे बनते हैं और उन्हीं साँचों के अनुसार ढलाई-घरों में ढलाई होती है।

कम्पनी अपने कर्म्मचारियों के लिए यहीं सोडा तथा बरफ और दूसरे प्रकार के पेय अर्थात् पीने योग्य जल तैयार करती है और कार्य्य करते समय कर्म्मचारियों को बिना मूल्य देती है। बाज़ारवाले दुकानदार यहीं से ले जाकर उन्हें बेचते हैं।

लोहा तोड़ने वाला यन्त्र—इसको अँगरेज़ी में स्कल-क्रैकर (Skull Cracker) कहते हैं। ईसपात की जो वस्तुयें ख़राब हो जाती हैं वे इसी यन्त्र के द्वारा तोड़ी जा कर ईसपात के भट्टों में डाली जाती हैं। चार टन वज़न का एक गोला क्रेन के द्वारा ऊपर उठा कर बहुत ऊँचे से छोड़ा जाता है। वही नीचे आकर ईसपात तथा लोहे की पुरानी और टूटी फूटी वस्तुओं के टुकड़े टुकड़े करता है।

जल-प्रबन्ध।

अपने पिछले लेख में मैं लिख चूका हूँ कि सुवर्णरेखा नदी से विद्युच्छक्ति के द्वारा यहाँ जल लाया जाता है और कारख़ाने के समीप एक बहुत बड़े तालाब में एकत्र किया जाता है। इस कारख़ाने में १ करोड़ ७० लाख गैलन पानी रोज़ ख़र्च होता है। इसके सिवा शहर में भी पानी स्वच्छ करके पहुँचाया जाता है। प्रत्येक घर में जल-कल लगी हुई है। एक और बड़ा भारी तालाब बन रहा है।

रेलवे-विभाग।

कम्पनी ने काली-माटी स्टेशन से कारख़ाने तक निज की रेल-लाइन तैयार की है। यह रेल-लाइन, अनेक शाखाओं में विभक्त होकर, इस कारख़ाने के प्रत्येक विभाग में गई है। कारख़ाने में सब रेल-लाइन मिलकर कोई १७ मील लम्बी है। कालीमाटी और कारख़ाने के बीच रेल लाइन में एक स्थान पर एक मापक यन्त्र लगा है। वह आने और जानेवाले सारे माल का वज़न करलेता है। कम्पनी के पास अपने निज के

एञ्जिन भी हैं। उनमें से ५ अमरीकन हैं। प्रत्येक १४१४ घोड़ों की शक्ति रखता है। कोई ५० माल-गाड़ियाँ तथा खुली गाड़ियाँ हैं। एक एञ्जिन ४० अश्व-शक्ति का है जो सुवर्ण-रेखा नदी के किनारे से बालू ढोता है। ६ क्रेनें हैं, जिनमें से दो अमरीकन हैं, शेष विलायती।

अन्य बातें।

इस कम्पनी की रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि इस कारख़ाने का बना माल स्काटलेंड, इटली, फिलिपाइन्स, जापान, चीन, अमरीका तथा और भी अनेक देशों को जाता है। भारत की अधिकांश रेलवे कम्पनियां यहीं से रेलें लेती हैं। वर्तमान युद्ध में इस कम्पनी ने सामान भेज कर राज-भक्ति का अच्छा परिचय दिया है।

आनुषङ्गिक-पदार्थोत्पादक विभाग

(By-product Plant.)

कुछ बातें जो पहले लिखनी थीं रह गईं। ख़ैर, अब लिखे देता हूँ। जब अधिक कोल की आवश्यकता पड़ी तब कम्पनी ने ५० और नये ढँग के भट्टे तैयार कराये। उन का नाम है—कापर्स पेटेण्ट रीजनरेटिव कोक ओवेन्स (Copper Patent Regenerative Coke Ovens) इनके साथ ही साथ आनुषङ्गिक-पदार्थोत्पादक-यन्त्र भी लगे हैं। इनके धुवें से अलकतरा (Tar), गैस (Gas) तथा सल्फ़ेट-आव् एमोनिया (Sulphate of Ammonia) तैयार होता है। शेफिल्ड के एक इञ्जिनियर ने ये भट्टे नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा तैयार किये हैं। इनके अन्दर ऐसे पर्दे लगे हैं कि, आवश्यकता पड़ने पर, जिस भट्टे को चाहें गरम या ठण्ढा कर सकते हैं। इन भट्टों में एक विशेष प्रकार के रेगुलेटर (Special Regulator) लगे हैं। उनके द्वारा भट्टों की गैस पूर्ण रूप से निकल आती है और थोड़े ही ईँधन से समुचित फल प्राप्त होता है।

प्रत्येक भट्टे में पृथक् पृथक् री-जेनेरेटर (Regenerator) लगे हुए हैं। इससे वायु, गैस से मिलने के प्रथम ही, गरम हो जाती है और कोयला जलने में भली भाँति सहायता पहुँचाती है। भट्टों की बैटरी में ऐसे यन्त्र लगे हुए हैं जिनसे एक मज़दूर गैस और वायु को, हर आध घण्टे पर, रीजेनेरेटर में ले जा सकता है।

प्रत्येक भट्टे के ऊपर एक एक खड़ा नल लगा है। उसका नाम एसेंसियन पाइप (Ascension Pipe) है। ये खड़े नल एक मोटे आड़े नल में जुड़े हैं। आड़े नल का नाम जल-पीडन यन्त्र (Hydraulic Main) है। इसी में समस्त खड़े नलों की गैस निकल कर चली आती है। यहाँ से वह गैस कण्डक्टिङ्ग-मेन (Conducting Main) के द्वारा कण्डेन्सर अथवा ट्यूबुलर कूलर्स (Tubular Coolers) में चली आती है। यहां पर गैस की गरमी ११०° से उतर कर ३५°c हो जाती है। तब अलकतरा यहीं जम जाता है और एमोनिकल लीकर (Tar and Ammonical liquor) तरलरूप में होकर आगे बढ़ जाता है।

हाइड्रोलिक-मेन में बहुत सी ठेपियाँ (Valves) लगी हैं। आवश्यकता पड़ने पर भट्टे की गैस के आने का मार्ग इन ठेपियों के द्वारा बन्द कर सकते हैं। इसकी आवश्यकता भट्टे को भरने या मरम्मत करने के समय पड़ती है।

पूर्वोक्त तरल पदार्थ एक रोटायरी एग्ज़ास्टर (Rotary Exhauster) के भीतर जाता है, जिसमें एक एक एक्सट्रैक्टर (Extractor) लगा है, जो अलकतरे की प्रत्येक बूँद को चूस लेता है।

अलकतरा और एमोनिकल लीकर बन जाने के पश्चात् जो गैस शेष बच जाती है, और जिसमें अलकतरा नहीं रहता उसे री-हीटर (Re-heater) के द्वारा ७०°–८०° डिगरी तक गरम करते हैं। फिर, उसमें चूने का पानी तथा गन्धकाम्ल मिलाने से एमोनिया पृथक् हो जाता है और शेष गैस, गैस रखने के पात्र में चली जाती है। यह गैस बायलर तथा कोक के भट्टों में ईँधन का काम देती है।

एमोनिकल लीकर जो कूलर्स में जमा होता है और वह अलकतरा जो एक्सट्रैक्टर और री-हीटर से बह कर कलेक्टिङ्ग-टैंक (Collecting Tank) में पम्प के द्वारा खिँच कर आता और स्वच्छ होता है, यहीं पर, तरल नोसादर (Ammonical liquor) जल से, अपने गुरुत्व के कारण, पृथक् हो जाता है और एक दूसरे पात्र में चला जाता है। अलकतरे को साइफन नामक यन्त्र के द्वारा कलेक्टिङ्ग टैंक से निकाल कर एक बड़े चहबच्चे में रखते हैं। उसका नाम स्टोरेज-टैंक (Storage Tank) है। उसमें १२० टन अलकतरा अँटता है।

तरल नोसादर बहता हुआ एमोनिकल स्टिल (Ammonical Still) में जाता है। तब उसमें चूने का पानी और गन्धकाम्ल पृथक् नलों के द्वारा छोड़ते हैं। इस से नोसादर का कठिन भाग गल जाता है। इस स्टिल में ये पदार्थ कुछ कुछ गरम भी किये जाते हैं। गले हुए नोसादर को एक दूसरे पात्र में लेजाते हैं, जिसका नाम लिकर-टैंक (Liquor Tank) है। एमोनिकल सल्फेट को वायु या भाफ़ के द्वारा एक मेज़ पर ले जाकर रख छोड़ते हैं, कि वह सूख कर नमक की तरह हो जाय। इसके बाद फिर उसे एक यन्त्र में डालते हैं कि उस का शेष जल भी सूख जाय। इस यन्त्र का नाम सेण्ट्रीफ्यूगल यन्त्र (Centrifugal machine) है। यह नोसादर का नमक (Sulphate of Ammonia) बड़े काम का है। यह गन्ने की खेती के लिए खाद के काम आता है तथा और अनेक कार्य्यों में व्यवहार किया जाता है। इससे कई एक वस्तुयें भी बनती हैं।

३६० टन कोयला इन भट्ठों में प्रति दिन जलता है। ऊपर जिन अद्भुत कार्य्यों का उल्लेख किया गया है वे सब यन्त्रों के द्वारा होते हैं। अतएव इनमें बहुत ही कम मनुष्यों की आवश्यकता होती है।

देखिए, यहाँ धुआँ भी निरर्थक नहीं जाने पाता।

चलिए, अब चलने का समय हुआ। देखिए, सूर्य्यदेव इस कारखाने को देख कर प्रसन्न-मुख पश्चिम को पधार रहे हैं। पश्चिम-दिशा ने भी उनके स्वागत के लिए कैसी तैयारी कर रक्खी है। भुवन-भास्कर, जाते हो? जाव। पर इस वृद्ध भारत को न भूलना। देखिए, आपके रहने से १२ घण्टों तक कैसा धड़ल्ले से कार्य्य होता रहा। आप बहुत ऊँचाई पर हैं। सम्पूर्ण भारत को आप निहारते हैं। ज़रा, कृपा कर, भारतीयों से कहते जाइए, चेतो! अपने प्राचीन यशोगौरव को पुनः प्राप्त करने का उद्योग करो। देश-भक्त ताता का अनुकरण करो। उनको अपना आदर्श बनाओ। अपने धन को ऐसे कार्य्य में लगाओ जिससे देश के कच्चे माल से पक्का माल यहीं पर तैयार हो। इसके लिए कारखाने खोलो। अच्छे अच्छे विद्यालय स्थापित करके अपने देश के बच्चों को सुशिक्षित करो। अपने विश्व-विद्यालय स्थापित करो। उनमें आवश्यक विषयों की शिक्षा दो। भारत के युवकों को विदेश भेज कर उद्योग-धन्धों और कला-कौशल में प्रवीण करो।

लो, अब सूर्य्यदेव छिप गये। चलिए, हम लोग भी उन्हें प्रणाम कर अपने आश्रम को चलें।

जोखू पाण्डेय (साकची)

तिलक और टीका।

चौतुका।

तुम भली चाह को समझ लो तिल, ताल होगा उसे बढ़ा लेना।
ताल तिल को न जो बना पाया, काम आया न तो तिलक देना॥१॥
दुख सहे, पर दूसरे का हित करे, वह रहा घिसता सदा ही इसलिए।
यह मरम जी में समाया जो नहीं, तो भला चन्दन लगाया किस लिए॥२॥
इस तरह के हैं कई टीके बने, जो कि तन के रोग देते हैं भगा।
जो न मन के रोग का टीका बना, तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा॥३॥
सोहते दिन रात माथे पर रहे, देखता हूँ बाल भी अब तो पके।
जो न केसर की कियारी जी बना, तो न केसर के तिलक कुछ कर सके॥४॥
जो न प्रभु के प्यार का रँग चढ़ सका, जो न चाही लालियों का सँग रहा।
जो चिरौरी चाह की होती रही, तो न रोरी के तिलक का रँग रहा॥५॥
छाप भल-मंसी लगा करके छला, दिन दहाड़े की ठगी धोखा दिया।
नटखटी का रङ्ग जो उतरा नहीं, तो किसी ने क्यों लगा टीका लिया॥६॥



१ प्रोफ़ेसर थकेदा,
तोकियो के विश्वविद्यालय में
हिन्दू-दर्शन-शास्त्र के अध्यापक

२ पं० हरिप्रसाद शास्त्री
महोपदेशक

३ मि० हरासीवा। अमेरिकन कालेज के ग्रेजुएट—
जापान के प्रसिद्ध चित्रकार

इंडियन प्रेस, प्रयाग।



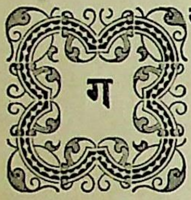
जो न उसमें झलक दिखायेंगी, सब भली चाहते ठिकाने से ।
आप के तो खिले हुए मुँह की, 'श्री' रहेगी न 'श्री' लगाने से ॥७॥
जब कि चोटें हों धरम पर चल रहीं, औ बनावट ने उसे हो ढक लिया।
तान ली तब आपने लम्बी अगर, तो तिलक लम्बा लगा कर क्या किया ॥८॥
तीन गुन के न जो तिकट टूटे, तुम रहे जो तिलोक से ऐंठे ।
तो तमाशा तुम्हें बनाने को, हैं तिकोने तिलक तुले बैठे ॥९॥
धूर्त हैं, गोल गोल बातों में, जो धरम का मरम छिपाते हैं ।
तुम करो गोलमाल मत ऐसा, नित तिलक गोल यह बताते हैं ॥१०॥
देख कर पाँव धर्म का उखड़ा, भूल कर भूख प्यास बाँध कमर ।
तू खड़ा रात और दिन न रहा, क्या किया तो खड़ा तिलक देकर ॥११॥
जो न तिरछी आँख से तिरछे रहे, कुछ न पाया तो तिलक तिरछे दिये।
धर्म के आड़े न आये जो कभी, तो तिलक आड़े लगाये किस लिये ॥१२॥
छोड़ करके सजी सरग की सेज, तू गया आग में नरक की लेट ।
धर्म की ओर फेर करके पीठ, दे तिलक पालता रहा जो पेट ॥१३॥
क्या किया देकर बड़े उजले तिलक, जो रहा मन मैल में सब दिन सना।
जो न जी में छींट पर-हित की पड़ी, तो हुआ क्या छींट माथे को बना ॥ १४ ॥
कुछ न छूआछूत से बच कर हुआ, किस लिये खटराग फैलाये बड़े ।
छूतवाले बन कपट की छूत से, जब तिलक पर लोभ के धब्बे पड़े ॥१५॥
हो भले देते बुरे का साथ हो, भूल कर भी तुम तिलक खुलते नहीं।
किस लिए लोभी न तुम से काम लें, तुम लहर से लोभ की धुलते नहीं ॥१६॥
हो भलाई के लिए ही जब बने, तब तिलक तुम क्यों बुराई पर तुले।
भेद छलियों के खुले तुम से न जब, भाल पर तब तुम खुले तो क्या खुले ॥१७॥
क्यों नहीं तुम बिगड़ गये उनसे, जो तुम्हें नित बिगाड़ पाते हैं ।
किस लिए हाथ से बने उनके, जो तिलक नित तुम्हें बनाते हैं ॥१८॥
की गई साँसत धरम के नाम पर, जी कड़ा कर कब तलक कोई सहे ।
किस लिए माथे किसी के पड़ गये, जब तिलक तुम नित बिगड़ते ही रहे ॥१९॥
हो धरम का रँग बहुत तुम पर चढ़ा, हो भले ही तुम भलाई में सने ।
पर तिलक जब है दुरङ्गी ही बुरी, तब भला क्या सोच बहुरङ्गी बने ॥२०॥
नेक के सिर पर पड़ी कठिनाइयाँ, नेकियों की ही लहर में हैं बही।
तुम तिलक धुलते व पुँछते ही रहे, पर तुम्हारी पूछ होती ही रही ॥२१॥
लोग उतना ही बढ़ाते हैं तुम्हें, रङ्ग जितने ही बुरे हों चढ़ गये ।
पर तिलक इस बात को सोचो तुम्हीं; इस तरह तुम घट गये या बढ़ गये ॥२२॥
हाथ में पड़ और के बिगड़े बहुत, रँग बदल कर सादगी से हट गये ।
हो सका कुछ भी न माथे पर चढ़े, जो तिलक तुम बीच ही में कट गये ॥२३॥
किस लिये यों बँधी लकीरें पर, हो बिना ही हिजे डुले अड़ते ।
है सिधाई नहीं तिलक तुम में, जब कि हो काट-छाँट में पड़ते ॥२४॥

हो तिलक तुम रूप रँग रखते बहुत, हैं तुम्हारा भेद पा सकते न हम।
रँग किसी बहरूपिये के रङ्ग में, हो किसी बहुरूपिये से तुम न कम ॥२४॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

विविध विषय।

१—"उच्छेद"-सम्बन्धिनी सफ़ाई।



त अक्तोबर में प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, सीतापुर में, हुआ था। "श्रीराधाचरण गोस्वामि, विद्यावागीश, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, श्रीवृन्दावन" उसके सभापति थे। आप की कृपा से हमें उस दिन आपका अभिभाषण पढ़ने को मिला। उसमें एक जगह आप कहते हैं—

यद्यपि सरस्वती को व्रजभाषा की कविता नापसन्द है और उसके उच्छेद करने में भी आपने त्रुटि नहीं की है, परन्तु तब भी हिन्दी-साहित्य का बड़ा अभाव पूर्ण हो रहा है। × × × खड़ी बोली के महाकवि श्रीधर पाठकजी, मैथिलीशरण गुप्त, लोचनप्रसाद पाण्डेय, आदि महोदयों ने समय समय पर कविता करके हिन्दी जगत् को आनन्दित किया है, वह छिपा नहीं है—! मैं व्रजवासी होने से अथवा अन्य किसी कारण से व्रजभाषा कविता का पक्षपाती और खड़ी बोली की कविता का प्रसिद्ध विरोधी हूँ परन्तु इसलिये खड़ी बोली के कवियों की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सक्ता। × × × इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली की कविता आगे की अपेक्षा बहुत सुधर गई है परन्तु अभी अगड़बम्ब कविता लिखनेवाले भी कम नहीं हैं।

आप की राय में व्रजमण्डल की बोली तो "व्रज-भाषा"; पर मध्यप्रदेश, संयुक्त-प्रदेश, बिहार आदि में प्रचलित हिन्दी केवल "बोली" या "खड़ी बोली"! व्रजवासी होने के कारण ही गोस्वामीजी को बोलचाल की भाषा में की गई कविता का विरोध न करना चाहिए। आपका अभिभाषण व्रज की बोली में नहीं, बोलचाल की हिन्दी में है। सभ्य समाज में बोलें तो आप प्रचलित हिन्दी और गद्य-लेख भी लिखें आप उसी हिन्दी में; केवल कविता के लिए किस युक्ति और किस तर्क से आप व्रज की बोली को ही उपयुक्त समझते हैं। "अगड़बम्ब" से आपका क्या अभिप्राय है, यह तो मालूम नहीं। पर यदि बोचलाल की भाषा में बुरी कविता हो सकती है तो क्या व्रज की बोली में नहीं हो सकती? आप की बोली में अण्डबण्ड चाहे जो कुछ लिख दिया जाय, क्या उस सभी के आप पक्षपाती हैं? व्रज में करीर अधिक होता है, तो क्या व्रजवासियों को आँख बन्द करके उसी के गीत गाने चाहिए? मारवाड़ में ऊँट अधिक होते हैं, तो क्या मारवाड़ियों को घोड़ों और हाथियों से नफ़रत करनी चाहिए? गोस्वामीजी के लेख से तो यह सूचित होता है कि आप कविता के मर्मज्ञ हैं। आप बतावें कि कविता का दारोमदार भाषा पर अधिक अवलम्बित है, या भाव पर? भाव प्रधान है, या भाषा? व्रज की बोली मधुर हो सकती है। तामील, तैलगू, मलयाली, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी भाषायें मधुरता-मयी होने का दावा नहीं करतीं। पर क्या इन भाषाओं में की गई कवितायें सभी "अगड़बम्ब" होती हैं? कविता का अच्छा या बुरा होना सर्वथैव कवि की योग्यता पर अवलम्बित है। क्या वयोवृद्ध गोस्वामीजी को यह बताने की भी ज़रूरत है? फिर आप बोलचाल की भाषा के "प्रसिद्ध विरोधी" क्यों? ख़ैर, अब तक आप विरोधी थे तो थे। अब तो आप को विरोध की मात्रा कम कर देनी चाहिए। क्योंकि अब तो आप अपने ही मुँह से बोलचाल की भाषा में एक नहीं कई, और कवि ही नहीं महाकवियों का होना तक स्वीकार करते हैं और उनके द्वारा हिन्दी-जगत् का आनन्दित होना भी मानते हैं। जिस भाषा में इतना शीघ्र महाकवि उत्पन्न हो जायँ और जिसकी कृपा से लोगों को आनन्द की प्राप्ति भी हो उसमें कविता की जाने का विरोध अब आपको अवश्य ही छोड़ देना चाहिए। न छोड़ने से आप दुराग्रह के दोषारोप से न बच सकेंगे।

आप का एक और भ्रम हम दूर कर देना चाहते हैं। यदि कविता अच्छी नहीं तो वह चाहे जिस भाषा में हो, सरस्वती को पसन्द नहीं। सरस्वती हर महीने यदि व्रज की बोली में दो कवितायें नापसन्द करती होगी, तो बोलचाल की भाषा में दस! आज तक उसने व्रज-बोली में लिखी

गई अनेक कवितायें प्रकाशित की हैं। अभी गत जुलाई की संख्या में भी "अपना गाँव" नामक एक कविता छापी है। उसने तो गँवारू भोजपुरी बोली तक में लिखी गई कविता का प्रकाशन किया है। इस समय भी सरस्वती के संग्रह में आप की बोली में लिखी गई दो एक कवितायें छापने के लिए रक्खी हैं। एक इस अङ्क में भी प्रकाशित है। अतएव, आपही कहें, क्या यह आपकी बोली की कविता का उच्छेद करना है? उसका उच्छेद न सरस्वती ने किया, न कर सकती है। उच्छेद यदि कोई करेगा तो समय ही करेगा। जो बात समय के अनुकूल नहीं वह बहुत दिन नहीं टिक सकती। तोड़े-मरोड़े हुए शब्दों से जटिल प्रान्तिक बोली में लिखी गई चीरहरणलीला या नखसिख-वर्णन प्रकाशित करके हिन्दी के पत्र और पत्रिकायें अपने पाठकों का मनोरञ्जन नहीं कर सकतीं। उपयोगी और समयानुसारी विषयों पर आप सरल और भावमयी कविता कामवन, महावन, नन्दगाँव, गोवर्द्धन की गवांरू भाषा में भी यदि लिखेंगे तो लोग उसका अवश्य आदर करेंगे। अतएव, महाराज, अपनी प्यारी कविता के उच्छेद का दोष सरस्वती पर न लगा कर समय पर या अपने कवियों पर लगाइए। याद रखिए, यदि बोलचाल की भाषा में कुछ गुण न होता और समय उसके पक्ष में न होता तो, आपके सदृश महाबाहु विरोधी के रहते भी, उसका इतना अधिक प्रचार न हो जाता।

२—पञ्जाब के कौंसिल में उर्दू।

बड़े लाट के और प्रान्तीय कौंसिलों में भी जो कारवाई होती है, सब अँगरेज़ी में होती है। तिस पर भी संयुक्त-प्रान्त, पञ्जाब, और शायद अन्य प्रान्तों के कौंसिलों में भी, कुछ मेम्बर ऐसे भी पहुँच जाते हैं, और इस समय भी हैं, जो अँगरेज़ी नहीं जानते या जानते भी हैं तो बहुत कम। इन माननीय मेम्बरों की समझ, सूझ, आत्म-मर्य्यादा और अपने भाइयों की हित-चिन्ता का विचार करके किसे रंज और अफ़सोस न होगा। जिस जगह चार आदमी बैठे अँगरेज़ी बोल रहे हों वहाँ पर वह भाषा न जाननेवाला आदमी कभी बैठना पसन्द न करेगा; हाँ, उसे अपनी मर्य्यादा का ख़याल होना चाहिए। और लोग बैठे बैठे अँगरेज़ी छाँटें; हम उनका मुँह ताकते, कठपुतली के समान गूँगे बने, बैठे रहें! आत्मप्रतिष्ठा का कुछ भी ख़याल रखनेवाला मनुष्य कभी इस प्रकार अपनी मान-हानि न करावेगा। पर, देखते हैं, माननीय बनने का लोभ, तथा कभी कभी और भी कुछ कारण, मान की हानि करनेवाले नहीं, मान बढ़ानेवाले कल्पना कर लिये जाते हैं। अतएव अँगरेज़ी न जाननेवाले भी ख़ुशी ख़ुशी कौंसिल के मेम्बर बनते हैं और कौंसिल में बैठे दूसरों का मुँह ताका करते हैं। अपने पक्ष का इशारा पाते ही "वोट" देने के समय उनके हाथ पैर ज़रूर हिल उठते हैं। बस, वे कौंसिल में बैठ कर इतना ही काम करते हैं। पर अब इस तमाशे से लोग कुछ उकताने लगे हैं। इसी से २१ दिसम्बर को, पञ्जाब के कौंसिल में, माननीय मिस्टर मख़दूम रज्जनशाह ने एक प्रस्ताव पेश किया। उसमें आपने कहा कि कौंसिल की कारवाई उर्दू में हुआ करे। माननीय मिस्टर फज़लहुसैन और मिर्ज़ा इकरामुल्लाख़ां ने आपके प्रस्ताव का अनुमोदन और समर्थन किया। प्रस्ताव अवश्य ही "पास" न हुआ। पर इससे एक बात यह सिद्ध हुई कि अँगरेज़ी न जाननेवालों को कौंसिल में चुपचाप बैठना अब खटकने लगा है। उन्हें अपने घर की भाषा के प्रचार की आवश्यकता भी अब पहले से अधिक मालूम होने लगी है। सम्भव है, इन भावों का अब दिन पर दिन प्राबल्य ही होता जाय।

३—एक रुपये के नोट से देवनागरी लिपि का बहिष्कार।

एक रुपये का नोट निकले कई महीने होगये। उसकी पीठ पर नोट का दाम आठ प्रकार की लिपियों और भाषाओं में दिया गया है। फ़ारसी-अरबी लिपि को प्रधानता दी गई है। उनमें नोट का मूल्य दो दफ़े दिया गया है। एक तो नोट की दाहिनी तरफ़, दूसरे नोट के बीच में। दाहिनी तरफ़ फ़ारसी में है "यक रूपया" (یک روپیہ) और बीच में उर्दू में है—"एक रुपया" (ایک روپیہ) बीच में उर्दू के सिवा सात लिपियाँ तथा भाषायें और भी हैं—कैथी, बँगला और गुजराती। रहीं चार, सो वे बरमी, तामील, तिलैगू आदि अन्य प्रान्तों की लिपियाँ हैं। जिस समय दस रुपये का नया नोट जारी हुआ था उस समय उसकी लिपियों के विषय में बहुत कुछ चर्चा हुई थी। गवर्नमेंट से प्रार्थना भी की गई थी कि कृपा करके देवनागरी लिपि को भी दाद दी जाय, क्योंकि

इसी लिपि के जाननेवाले इस देश में अधिक हैं। बड़े लाट के कौंसिल में प्रश्न भी पूछे गये थे। यद्यपि उस समय गवर्नमेंट ने देवनागरी लिपि के समर्थकों की इच्छा-पूर्ति नहीं की, तथापि आशा हुई थी कि आगे यदि कभी फिर वैसा मौक़ा आवेगा तो वह अधिकांश प्रजा के सुभीते का अवश्य ख़याल रक्खेगी। पर इस दफ़े भी उसे ख़याल नहीं रहा। या तो वह हम लोगों की पूर्व-प्रार्थना भूल गई, या जिन लोगों ने इस नये नोट के आकार-प्रकार की कल्पना की है उन्हें इस बात की ख़बर ही नहीं कि नागरी भी कोई लिपि है और वह भी भारत में प्रचलित है। यदि यही बात है तो भी गवर्नमेंट का उत्तर-दायित्व कम नहीं हो सकता; क्योंकि उसका कर्तव्य था कि वह बताती कि कौन कौन लिपियाँ इस नोट पर रक्खी जायँ। मनुष्य-गणना की रिपोर्टों के अनुसार किस भाषा के बोलने वाले कितने हैं, यह देखिए—

(१) हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी को छोड़ कर)	८,४४,२६,०००
(२) मराठी	१,९८,०७,०००
(३) बिहारी	२,४६,९५,०००
(४) बँगला	४,८३,६७,०००
(५) तामील	१,८१,२९,०००
(६) तिलैगू	२,३५,४३,०००

पहली तीनों भाषायें बोलनेवाले सभी लोग देवनागरी लिपि पढ़ सकते हैं। (१) और (२) भाषायें बोलनेवाले ही कोई १०१/२ करोड़ हैं। परन्तु, इन इतने आदमियों के सुभीते का ख़याल नहीं किया गया। जिन लिपियों के जाननेवाले इनके आधे तिहाई भी नहीं, उनके सुभीते का ख़याल रखने की बड़ी आवश्यकता समझी गई है। सरकारी रिपोर्टें ख़ुद ही कह रही हैं कि कोई प्रान्त ऐसा नहीं जहाँ हिन्दी बोलने और समझनेवाले ही नहीं, किन्तु हिन्दी लिखनेवाले भी मौजूद न हों। उनमें से अधिकांश लोग देवनागरी लिपि पढ़ भी सकते हैं। फिर समझ में नहीं आता कि गवर्नमेंट क्यों इस लिपि को नोटों में स्थान नहीं देती। यह कैथी लिपि कौन बड़ी प्रसिद्ध लिपि है। क्या बिहार में नागरी लिपि का भी प्रचार नहीं? फिर उसकी जगह यदि नागरी को दे दी जाती तो क्या हानि थी? संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश और मध्य-भारत के देहात में क्या (ایک روپیہ) पढ़ सकनेवाले ही अधिक हैं? यदि हैं भी तो उसके दुहराने की क्या ज़रूरत थी? नोट के बीच में जो जगह उसे दुबारा दी गई है वह नागरी को दे दी जाती तो क्या उस लिपि का मान कुछ कम हो जाता? अरबी या फ़ारसी लिपि मुग़लों के ज़माने से सिक्कों पर चली आती है। वह बनी रहे, किसी और ही अल्पप्रचलित लिपि की जगह देवनागरी को दी जाय। बड़े कौंसिल के किसी मेम्बर को इस विषय में फिर एक आध प्रश्न पूछना चाहिए। उससे विशेष लाभ तो होगा नहीं। क्योंकि गवर्नमेंट कोई उड़ता हुआ उत्तर दे देगी। तथापि उसका वक्तव्य तो मालूम हो जायगा और सर्वसाधारण को समर्थशालिनी सरकार पर हठ करने का इलज़ाम लगाने का अवसर तो न मिलेगा।

४—हाकिमों के दौरे।

ज़िले के हाकिमों के दौरे से लाभ भी हैं, हानि भी। हानि से मतलब तकलीफ़ से है, जो मुआमले-मुक़द्दमेवालों को बहुधा मिलती है। हाकिम यदि समझदार और हमदर्द हुआ तो तकलीफ़ कम मिलती है, नहीं अधिक। कभी कभी ऐसा होता है कि इश्तहार में डिपटी साहब या सुपरिंटेंडेंट साहब का मुक़ाम कहीं लिखा रहता है, पर आप मिलते कहीं और ही जगह हैं। समन में १८ तारीख़ को यदि गोपीगञ्ज लिखा है तो विराजते आप गोपालगञ्ज में हैं। सदर से गोपीगञ्ज २० मील है तो गोपालगञ्ज ४० मील। गोपीगञ्ज में यदि आप रहे भी तो कचहरी के वक़्त १० बजे मुक़ाम पर ग़ैरहाज़िर। पूछने पर पता लगता है कि हुज़ूर पास के दरिया में घड़ियाल का शिकार खेल रहे हैं या ढाक के जङ्गल में चिड़ियाँ मार रहे हैं! शाम को आप लौटे, तो रात को १० बजे तक कचहरी! मुख़्तार, वकील, गवाह, मुलज़िम, पुलिसवाले सब पड़े सड़ रहे हैं। जाड़ों का मौसिम है; रहने को जगह नहीं; खाने पीने की चीज़ें मिलती नहीं। किसी बाग़ में पेड़ों के नीचे पड़े अपने भाग्य को कोसा कीजिए। गवर्नमेंट इस कुव्यवस्था से अपरिचित नहीं। इसे दूर करने के लिए उसने कितने ही हुकुमनामे निकाले, पर उनकी ठीक पाबन्दी या तो कभी कभी हो ही नहीं सकती, या कुछ लोग करना ही नहीं चाहते। इस कारण, समय समय पर, इस विषय की शिकायतें गवर्नमेंट के कानों में पहुँचा करती हैं। कौंसिल में भी पूछ पाछ होती है। कुछ

समय से इस तरह की शिकायतें कुछ अधिक हो गई थीं। इस कारण गवर्नमेंट ने अपने पुराने हुकमों की पुनरावृत्ति भी की है और प्रजा के सुभीते के लिए कुछ नूतन प्रबन्ध भी किया है। प्रान्तीय गैज़ट के २२ दिसम्बर १९१७ वाले अङ्क में गवर्नमेंट ने, इस विषय में, अपना मन्तव्य प्रकाशित किया है। सुदिन आने पर एक अलग अफ़सर ज़िले में रहा करेगा। बड़े बड़े मुक़द्दमे उसी के इजलास में पेश होंगे। वकीलों और मुख़तारों आदि को परगना-अफ़सर के पीछे दौरे में न दौड़ना पड़ेगा। जब तक वैसा समय न आवेगा तब तक ६० दिनों के बदले ४५ से ७५ दिनों तक ये अफ़सर दौरे पर रहेंगे और बीच बीच में सदर लौट आया करेंगे। इनके साथ दौरे पर २ छोलदारियाँ रहेंगी। एक इनके लिए, दूसरी वकीलों और मुक़द्दमेवालों के लिए। जहाँ तक हो सकेगा महीने में १० दिन या तो ये सदर में रहेंगे या किसी ऐसी जगह जहाँ लोग आसानी से पहुँच सकें और आराम से रह सकें। जहाँ तक सम्भव होगा रात को कचहरी का काम न किया जायगा और जिस दिन जिस जगह रहने का नोटिस होगा उस दिन उसी जगह रहना पड़ेगा। दौरे के मुक़ामात का नोटिस डिस्ट्रिक्ट गैज़ेट में छापा जायगा। थानों और तहसीलों में भी चस्पां कर दिया जायगा। अगर मुक़ामात की तारीख़ों में कुछ फेरफार किया जायगा तो इस बात की ख़बर सबको दे दी जायगी। नक़लों के लिए दरख़्वास्तें भी दौरे पर ली जायँगी। समन इत्यादि भी वहीं से निकाले जा सकेंगे और ख़र्च, फ़ीस आदि भी वहीं जमा करा ली जायगी।

आशा है, इस नये प्रबन्ध से लोगों की तकलीफ़ें बिलकुल ही दूर नहीं, तो बहुत कुछ कम अवश्य हो जायँगी।

५—महकमा पुलिस की रिपोर्ट।

१९१६ से सम्बन्ध रखनेवाली जो रिपोर्ट, महकमा पुलिस की, निकली है उसमें लिखा है कि उस साल इस महकमे में—

सब इन्स्पेक्टर	२,०५२
हेड-कान्स्टेबल	३,६३१ और
कान्स्टेबल	३०,११३

थे। १९१५ में केवल ८,०१८ आदमी पढ़े लिखे थे; १९१६ में उनकी संख्या ८,२४२ हो गई थी। मतलब यह हुआ कि ⅕ कान्स्टेबल पढ़े लिखे और ⅘ अपढ़ थे। इन लोगों की यह निरक्षरता ही पुलिस के अनेक दोषों की सब से मोटी जड़ है। साक्षरता के साथ ही थोड़ी बहुत सभ्यता ज़रूर आ जाती है। पर विद्यमान अवस्था में अधिक पढ़े लिखे लोगों का मिलना मुश्किल है। एक तो तनख़्वाह कम, दूसरे पुलिस बदनाम।

अफ़सरों की संख्या २,३६८ थी। इनमें से १० निकाले गये, और १०९ ने सज़ायें पाईं। ३४,१४१ आदमियों में से २४८ तो बरख़ास्त किये गये और २१७ को सज़ायें मिलीं। रिश्वत लेने के कारण हरदोई के पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी बरख़ास्त हुए। जिस महकमे के इतने कर्म्मचारी हर साल निकाले जायँ और इतनों को सज़ायें मिलें उससे भला प्रजा कहाँ तक प्रसन्न रह सकती है और उसके कर्म्मचारी अपना काम कहाँ तक ईमानदारी से कर सकते हैं। सन्तोष की बात इतनी ही है कि पुलिस की कालिमा धीरे धीरे धोई जा रही है। रिपोर्ट के लेखक, इन्स्पेक्टर जनरल, पुलिस, ने लिखा है—

In spite of a terrible load of incompetence and dishonesty among subordinates, which occasionally depresses even the keenest officers, abuses are diminishing; and most superintendents are confident that much more can be done.

जिस दिन पुलिस के छोटे कर्म्मचारी अपने को सर्वसाधारण के स्वामी नहीं, सेवक समझेंगे वह दिन इस देश के लिए बड़े ही सौभाग्य का होगा।

रिपोर्ट के साल हेड-कान्स्टेबलों और कान्स्टेबलों की तनख़्वाहें कहीं कहीं बढ़ा दी गईं। इस बढ़ती के कारण लोग पुलिस में अधिक भरती होने लगे हैं। पर जितने और जिस तरह के आदमी इस महकमे को चाहिए अभी तक काफ़ी नहीं मिलते। लोग ज़रा ज़रा सी बात पर इस्तेफ़ा दे देते हैं। कुछ तो बिना सूचना दिये ही नौकरी छोड़ कर चल देते हैं। इसी से कोई १००० जगहें, १९१६ के अन्त में, ख़ाली पड़ी थीं। ये जगहें बहुत करके कान्स्टेबलों की ही ख़ाली रही होंगी।

१९१६ में उसके पिछले साल की अपेक्षा चोरी भी कुछ कम हुई और सेंधें भी कम लगाई गईं। डकैतियाँ बढ़ीं, पर क़त्ल के मुआमिले कुछ कम हो गये। डाकुओं ने बन्दूक़ों और तमंचों से अधिक काम लिया। इस कारण पुलिस का कहना है कि क़ानून-हथियार में संशोधन करने

के लिए यदि कोई तजवीज़ की जाय तो इस बात पर ज़रूर ध्यान दिया जाय। मतलब यह कि डाकुओं को अब भी हथियार मिल जाते हैं। क़ानून ढीला कर देने से और भी मिलेंगे। फिर और भी अधिक डकैतियाँ होंगी। जो लोग इस विषय को प्रजा की दृष्टि से देखते हैं वे, इसके जवाब में, यही कहेंगे कि हथियार रखने की इजाज़त अधिक मिलने पर डाकुओं को फिर हमला करने का उतना हौसला न होगा। निःशस्त्र लोगों पर हमला करना अभी उनके लिए बहुत सहल है। गाँव में यदि एक भी बन्दूक़ हुई तो उस एक से भी डाकुओं पर फ़ैर की जा सकती है और गाँव-वालों की बहुत रक्षा हो सकती है। अभी तो बन्दूक़ की फ़ैर सुनते ही बेचारे देहाती अपने अपने घरों में छिप रहते हैं। उन्हें बाहर निकलने का साहस ही नहीं होता। बन्दूक़ें मिलने पर यह बात कदापि न होगी। फिर वे लोग डाकुओं का मुक़ाबला करके अपना माल-असबाब बचाने की चेष्टा करेंगे।

६—मादकता-निवारण के लिए उद्योग।

सुनते आते हैं कि इस देश के शिक्षित लोगों को शराब पीने की जो लत पड़ गई है उसका विशेष कारण पश्चिमी सभ्यता की छाया है। जो लोग पश्चिमी रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि की नक़ल करते हैं वे शराब भी पीने लगते हैं। यह बात अधिकांश में सत्य है। क्योंकि पहले से यहाँ के नीच जाति के आदमी ही देशी शराब पीते आये हैं। उन्हीं में नशेबाज़ी का अधिक प्रचार है। सभ्यों और सुशिक्षितों में यह आदत बहुत कुछ पश्चिमी सभ्यता की कृपा ही का फल है। पर जो पश्चिमी सभ्यता मादकता के कारण इतनी बदनाम है उसने अब, सैकड़ों वर्षों के बाद, करवट बदली है। इसका विशेष कारण वर्त्तमान युद्ध है। रूस में वोदका नामक शराब का बनाना, बेचना, पीना पहले ही क़ानूनन् बन्द हो चुका है। अमेरिका की कुछ रियासतों ने भी, बहुत पहले ही, शराब बनाने और बेचने आदि के साधनों को कम कर दिया था। अब ख़बर आई है कि वहाँ की संयुक्त-रियासतों के छोटे और बड़े दोनों कौंसिलों ने एक व्यापक क़ानून बना कर शराब बनाना और बेचना एकदम बन्द कर दिया है। कनाड़ा ने भी बाहर से शराब मँगाने और अपने यहाँ बनाने का निषेध कर दिया है। सो अब इन देशों से नशेबाज़ी दूर ही हुई समझिए। भारतीय सभ्य-शिरोमणियों को भी अमेरिका के इस काम से अब सबक़ सीखना चाहिए। दरिद्र भारत का बहुत सा रुपया मद्य-सेवन में व्यर्थ जाता है और नाना प्रकार के दुःखोद्भवों का कारण होता है। चीनवालों को हज़ारों वर्षों से अफ़ीम खाने और पीने का चसका था। उसे वे छोड़ रहे हैं। भारतीय ही क्यों अपना धन और आरोग्य नशे के पीछे नष्ट करें? गवर्नमेंट भी हमारी सहायता करने के लिए, धीरे धीरे, क़दम बढ़ा रही है। १९१६ के एक्साइज़ महकमे की रिपोर्ट पर प्रान्तीय गवर्नमेंट ने जो मन्तव्य प्रकाशित किया है उससे, इस विषय में, उसकी सदिच्छा, अच्छी तरह, प्रकट होती है। गाँजा, भङ्ग, चरस, अफ़ीम, शराब आदि प्रायः सभी चीज़ों पर उसने अपना टिकस बढ़ा दिया है। इस कारण ये चीज़ें महँगी हो गई हैं। अतएव थोड़ी आमदनी के आदमियों के लिए वे अब सुलभ नहीं। शराब, ताड़ी, गाँजा-भङ्ग और अफ़ीम की दूकानें, दो सौ के ऊपर, उसने बन्द कर दी हैं। विदेशी शराब पर पहले ६।≈) फ़ी गैलन महसूल पड़ता था। वह अब ११।) कर दिया गया है। मादकता दूर करने के लिए वह और भी कई प्रतिबन्ध कर रही है। कुछ उसने कर भी दिये हैं। इस कारण आमदनी में विशेष कमी हो गई है। गाँजा, चरस और भङ्ग की ही आमदनी में फ़ी सदी १६ की कमी हुई है। यदि गवर्नमेंट की प्रतिबन्धकता इसी तरह बढ़ती गई तो, आशा है, धीरे धीरे इन प्रान्तों में मादकता बहुत कम हो जायगी। पर जिनके पास पैसा है उनके विषय में गवर्नमेंट के प्रतिबन्ध विशेष कारगर नहीं हो सकते। क्योंकि वे एक रुपये की चीज़ के चार दे सकेंगे। मनोनिरोध और संयम से ही वे नशे से बच सकते हैं। उन्हें चाहिए कि वे मादकता की हानियों पर विचार करें और अपने शरीरारोग्य और धन की रक्षा के लिए संयमशील बनें। तभी उनका कल्याण है।

७—पुस्तकालयों के अध्यक्षों की सभा।

जनवरी १९१८ के आरम्भ में, लाहोर में, एक बिलकुल ही नई सभा हुई। सभा थी भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों और नगरों में अवस्थित पुस्तकालयों के अध्यक्षों की।

सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुस्तकालयों के प्रतिनिधि इस सभा में शामिल हुए। बड़ोदा और माइसोर तथा एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालयों के अधिनायक भी इसमें उपस्थित थे। गवर्नमेंट आव् इंडिया के शिक्षा-विषयक सलाहकार शार्प साहब सभा के अधिवेशनों के सभापति थे। जिन विषयों पर विचार हुआ उनमें प्रधान विषय यह था कि क्या किया जाय जो एक प्रान्त के पुस्तकालयों की पुस्तकें पढ़नेवालों को दूसरे प्रान्तों के पुस्तकालयों की पुस्तकों से भी लाभ उठाने का मौक़ा मिले। इस देश में एक तो अच्छे पुस्तकालय ही बहुत कम हैं। जो हैं उनमें सब प्रकार की पुस्तकों का संग्रह नहीं। किसी में किसी प्रकार की पुस्तकें अधिक हैं, किसी में किसी प्रकार की। यदि किसी को भारतीय दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना है और वह कलकत्ते में रहता है तो उसे अपनी अभीष्ट पुस्तकों में से कुछ ही वहां मिल सकती हैं। अन्य पुस्तकें इस देश में हैं तो, पर बिखरी हुई पड़ी हैं। यदि कुछ कलकत्ते में हैं तो कुछ प्रयाग में, कुछ काशी में, कुछ पूने में, कुछ बड़ोदे में, कुछ मदरास में। सभा के सभ्यों ने विचार किया कि किस तरह यह दुरवस्था दूर की जाय और किस तरह प्रत्येक विषय के पाठक को उसकी इच्छित पुस्तकें दूसरे पुस्तकालयों से भी मिल सकें। निश्चय हुआ कि गवर्नमेंट से प्रार्थना की जाय कि वह भारत के सारे पुस्तकालयों की एक सूची तैयार करे। उसमें इस बात का विवरण रहे कि कौन पुस्तकालय कहाँ है, किसका स्थापित किया हुआ है, कब स्थापित हुआ, आमदनी कितनी है, कितनी पुस्तकें छपी हुई और कितनी हस्तलिखित हैं, किस विषय की कितनी पुस्तकें हैं और उनके नाम क्या हैं, इत्यादि। यह सूची तैयार हो जाने पर सहज ही में यह मालूम हो जायगा कि कौन पुस्तक कहाँ से मिल सकती है। तब इन सब पुस्तकालयों के अध्यक्ष इस बात का निपटारा करेंगे कि किस तरह और किन शर्तों पर एक पुस्तकालय की पुस्तकें दूसरे पुस्तकालय को दी जा सकेंगी। यदि ये विचार कार्य्य में परिणत हो गये तो पुस्तक-प्रेमी सज्जनों को निःसन्देह बहुत लाभ होगा।

सभा में पुस्तकों का श्रेणी-विभाग, सूचीप्रणयन, विज्ञान-सम्बन्धी सामयिक पत्रों की नामावली और पुस्तकालयों के सञ्चालन के काम की शिक्षा आदि पर भी विचार हुआ। समस्त पुस्तकालयों के कार्य्यक्रम में एकता होने और पुस्तकादि के पारस्परिक परिवर्तन की रीति प्रचलित करने से पुस्तकालयों के सञ्चालन में भी विशेष सुभीता हो सकता है और उनकी उपयोगिता भी बहुत कुछ बढ़ जा सकती है। इसी उद्देश से ये सब काम इस सभा में हुए।

८—बनारस के हिन्दूविश्वविद्यालय का जमा-ख़र्च।

१५ दिसम्बर १९१७ के गैज़ट आव् इंडिया में बनारस के हिन्दू-विश्वविद्यालय के जमा-ख़र्च का हिसाब प्रकाशित हुआ है। यह हिसाब ३० जून १९१७ तक, १५ महीने, का है। उससे मालूम हुआ कि इस विश्वविद्यालय का मूल धन (पृष्ठ २५०४) रुपया १,०७,१७,२०२—२—० है। उसमें से सदा के लिए अलग रक्खा गया धन (Permanent Reserve Fund) पूरा ५० लाख रुपया है, और ४ रुपये ज़ियादह। दो विशेष प्रकार की शिक्षा देनेवाले प्रोफ़ेसरों के लिए दिये गये रुपये की संख्या कुछ कम ३ लाख और छात्र-वृत्तियों, पुरस्कारों और तमगों के लिए दिये गये धन की भी कुछ कम ३ लाख है। इस सब रुपये का तथा और भी कई लाख रुपये का सूद आता है। गवर्नमेंट आव् इंडिया और राजा-महाराजों ने जो रुपया या जायदाद सदा देते रहने का वचन दिया है या दे दी है उसकी मालियत ४३ लाख १४ हज़ार है। इस दान से विश्वविद्यालय को १ लाख ८१ हज़ार रुपये की वार्षिक आमदनी होती है। इसके सिवा और प्रकार के दान के जो वचन अब तक मिल चुके हैं उनकी संख्या ८४½ लाख है। पर उसमें से अभी केवल ४८ लाख रुपया वसूल हुआ है। बाक़ी वसूल होने को है। इस विद्यालय के अधिकारियों ने अब तक जो कुछ किया है उससे अनेक लोगों को सन्तोष नहीं। उनका कथन है कि इसके प्रतिष्ठाता सज्जनों ने जो वादे किये थे उन्हें पूरा नहीं किया। यह बात अनेकांश में सच है। अब जो यह जमा-ख़र्च प्रकाशित हुआ है उस पर विश्वविद्यालय के हितचिन्तक समालोचकों को अपनी सम्मति प्रकट करनी चाहिए। उन्हें देखना चाहिए कि किस मद में किया गया कितना ख़र्च उचित और कितना अनुचित हुआ है तथा ख़र्च किया गया कितना रुपया अन्य किस काम में किस तरह ख़र्च करना चाहिए था। इमारत के ख़र्च का तो शायद

फ़ैसिला हो गया। पर इसके सिवा और अनेक मदों के सम्बन्ध में भी तो शायद कुछ निवेदन करने की जगह हो।

९—विज्ञानाचार्य्य वसु की नई खोज।

सर जगदीशचन्द्र वसु ने जो नये नये आविष्कार किये हैं उनमें से एक आविष्कार की बदौलत व्यावहारिक कृषि को बहुत लाभ पहुँच सकेगा। किस तरह खेत जोतने, किस तरह सिंचाई करने और कैसी खाद डालने से कौन फसल कितनी होती है, इसका ज्ञान कृषिशास्त्र के ज्ञाताओं ने, बहुत खोज और विशेष तजरुबे से, प्राप्त किया है। पर वे अब तक यह नहीं जान सके कि किस रीति से, किस प्रक्रिया से, कौन पौधा कितनी देर में कितना बढ़ता है। वसु महाशय ने इस कठिनाई को भी हल कर दिया है। उन्होंने एक ऐसा यन्त्र बनाया है जो स्पष्ट बता देता है कि कौन पौधा कितनी देर में कितना बढ़ा। आप भिन्न भिन्न प्रकार की जुताई कीजिए, भिन्न भिन्न प्रकार की खाद डालिए, भिन्न भिन्न रीतियों से सींचिए और यन्त्र लगाकर देखते जाइए कि आपके इन कामों से पौधे को कितना लाभ पहुँचा। वह कितना बढ़ा। ख़ास ख़ास ज़मीन में बीज बोकर पौधे उगाइए। फिर उनकी वृद्धि की परीक्षा कीजिए। आपको तत्काल मालूम हो जायगा कि कौन ज़मीन किस पौधे के जीवन के लिए कितनी मुवाफ़िक है। दुनिया में ऐसा यन्त्र आज तक न बना था। वसु महोदय ने उसकी सृष्टि करके कृषि-विज्ञान को बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई है। भारतवर्ष के निरक्षर किसान तो अभी इस यन्त्र से भला क्या लाभ उठावेंगे; पर और देशवाले इसकी बदौलत कृषि में बहुत अधिक उन्नति कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

पाठकों को सुन कर आश्चर्य्य होगा, पेड़-पौधे भी स्मरण-शक्ति रखते हैं। विज्ञानाचार्य्य वसु को इसकी भी प्रतीति हुई है। वे तो कहते हैं कि भूली हुई बातों की याद भी युक्ति-विशेष से कराई जासकती है। आपके इस आविष्कार से भी संसार का बहुत कुछ उपकार होने की सम्भावना है।

१०—प्राथमिक शिक्षा के विस्तार की आयोजना।

अभी बहुत समय नहीं हुआ जब सरकार प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य्य करने के प्रतिकूल थी। गोखले ने इस विषय का जो प्रस्ताव कौंसिल में उपस्थित किया था, लार्ड कर्ज़न की गवर्नमेंट ने उसका घोर विरोध किया था, बड़े बड़े कारण बताये थे, रुपये की कमी की भी आड़ ली थी। विरोध का सबसे बड़ा कारण यह बताया गया था कि देश इसके लिए अभी तैयार नहीं। सौभाग्य से समय ने पलटा खाया है। अधिकारियों के हृदय में उदारता ने आश्रय पाया है। उनकी दृष्टि में सरसता आई है। फल यह हुआ है कि बम्बई-प्रान्त की म्यूनीसिपैलिटियों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य्य कर दी गई है। क़ानून की पहुँच से कुछ लोगों के बचने की सूरतें भी रक्खी गई हैं, तथापि उससे विशेष हानि नहीं। साक्षरता बढ़नी चाहिए—बच्चों को ज़बरदस्ती मदरसे भेजना चाहिए—यह तत्त्व तो माना जाने लगा। यह बड़ी बात हुई। बम्बई की देखादेखी, बङ्गाल के कौंसिल में भी एक उसी तरह का क़ानूनी मसविदा पेश हो गया है। गवर्नमेंट ने उसे पेश करनेवाले बाबू सुरेन्द्रनाथ राय की पीठ ठोंक कर उन्हें शाबाशी भी दी है। यह बात विशेष सन्तोषदायक और प्रजा की हितचिन्तकता की सूचक है। सम्भव है, वह दिन भी शीघ्र ही आवे जब सर्वत्र, देहात में भी, शिक्षा का प्रबन्ध होजाय और वह अपरिहार्य्य भी करदी जाय।

बम्बई और बङ्गाल प्रान्त तो इस विषय में आगे निकल गये, संयुक्त प्रान्त अभी अपनी धीमी गति से विचार-सागर ही को पार कर रहा है। यहां म्यूनीसिपैलिटियों में शिक्षा अनिवार्य्य करने की बातों पर विचार करने के लिए, अभी कहीं उस दिन, एक कमिटी बनी है। जब वह अपनी रिपोर्ट लिख कर भेज देगी तब, उसे पढ़ने के अनन्तर, क़ानून का मसविदा शायद तैयार हो। ख़ैर, "देर आयद दुरुस्त आयद"।

११—विलायत में माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य्य करने की चेष्टा।

विलायत, अर्थात् ग्रेट-ब्रिटन, के मुक़ाबले में भारत को प्रायः निरक्षर ही कहना चाहिए। क्योंकि यहां सौ में दस आदमी मुश्किल से पढ़े लिखे मिलेंगे। पर वहां अधिकांश सभी पढ़े लिखे हैं। बात यह है कि वहां प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य्य है। गवर्नमेंट ने क़ानून बना दिया है, जिसकी रू से मां-बाप को लाचार होकर अपने बच्चों को मदरसे भेजना पड़ता है। तथापि वहांवालों को इतने से भी सन्तोष नहीं। वे चाहते हैं कि माध्यमिक शिक्षा भी अनिवार्य्य कर दी जाय। वहां के मन्त्रि-मण्डल के एक मेम्बर, राइट आनरेबुल मिस्टर फ़िशर, इस काम में अग्रणी हुए हैं। आप

वहाँ बड़े बड़े नगरों में घूम घूम कर लोगों को, वक्तृता द्वारा, समझा रहे हैं कि तुम सबको चाहिए कि अपने लड़कों को माध्यमिक शिक्षा भी अवश्य दिलावो। तुम गवर्नमेंट पर ज़ोर डाल कर उसे एक नया क़ानून बनाने के लिए मजबूर करो। क़ानून ऐसा बने जो माध्यमिक शिक्षा को अनिवार्य्य कर दे। जो आदमी अपने लड़के को माध्यमिक शिक्षा न दिलावे उसे दण्ड दिया जाय। यदि ऐसा न होगा तो तुम लोग दुनिया में और लोगों की बराबरी न कर सकोगे। जितनी शिक्षा यहाँ लोगों को प्रायः मिलती है उतनी काफ़ी नहीं। हमें और भी अधिक शिक्षित होना चाहिए। अन्यथा हमारा कल्याण नहीं।

लीजिए, विलायत के अन्यतम मन्त्री फिशर साहब की यह सम्मति सुनिए और फिर भारत में शिक्षा-प्रचार की गति पर विचार कीजिए। यहाँ तो प्रारम्भिक शिक्षा भी मुफ़्त और अनिवार्य्य नहीं। अभी कुछ ही दिनों से केवल म्यूनीसिपैलिटियों में इस प्रकार भी शिक्षा देने का विचार कहीं कहीं होने लगा है। सर्वत्र शिक्षा अनिवार्य्य कब की जायगी, यह परमात्मा ही जाने।

यहाँ रुपये की कमी है। शायद यह कमी ही इस काम में बाधक हो। पर बेहतर तो यह होगा कि जब तक काफ़ी रुपया न हो तब तक पेड़ों और छप्परों के नीचे ही वर्ण-बोध पढ़ाया जाय। नमूनेदार इमारतों और चमचमाती हुई मेज़-कुरसियों की राह न देखी जाय।

१२—उपाधि-विक्रय।

अपने देश में प्रायः हर साल कितने ही सज्जन सी० आई० ई, सर, राजा, राव-बहादुर, राय-बहादुर, राव-साहब और राय-साहब आदि बनाये जाते हैं। ये उपाधियाँ बहुत करके नये साल और सम्राट के जन्म-दिन के उपलक्ष्य में बाँटी जाती हैं। उपाधि पानेवालों की नामावली जब प्रकाशित होती है तब कभी कभी कुछ लोग, परोक्षरीति से, किसी किसी उपाधिधारी के विषय में प्रतिकूल चर्चा कर बैठते हैं। यदा कदा प्रत्यक्ष विरोध भी किया जाता है। विरोधी बहुधा कहते हैं—अमुक व्यक्ति ने कौन ऐसा बहुत बड़ा काम किया था जो उसे अमुक पदवी मिल गई। कभी कभी पदवी-प्राप्ति का कारण ख़ुशामद समझी जाती है और कभी कभी दिये गये चन्दे की बड़ी बड़ी रक़में। इसी तरह के और कारण भी कल्पना कर लिये जाते हैं। कौंसिल के मेम्बरों के चुनाव के समय भी बहुधा प्रतिकूल आलोचनायें होती हैं। कभी कभी मुक़द्दमे तक हो जाते हैं। उस समय मालूम होता है कि लोग कुछ विशेष प्रकार के चन्दे दे कर, या वोट (सम्मति) देने की क्षमता रखनेवालों को तरह तरह से ख़ुश करके, कौंसिल के माननीय मेम्बर बनने की चेष्टा करते हैं। फल यह होता है कि मेम्बर बनने और कौंसिल में उपयोगी काम करने की योग्यता न रखनेवाले भी कभी कभी मेम्बर चुन लिये जाते हैं। इस प्रकार के व्यवहार को गवर्नमेंट भी निन्द्य समझती है और सबूत मिलने पर वह चुने गये मेम्बरों की मेम्बरी मनसूख़ भी कर देती है। सभ्य देशों के लिए ये दृश्य नये नहीं। जिस विलायत की बदौलत सभ्यता ने इस देश में पदार्पण किया है वहाँ का हाल, इस विषय में, इस देश से भी गया बीता है। कुछ समय हुआ, पारलियामेंट की लार्ड-सभा में लार्ड लोरबर्न और लार्ड सेलबोर्न ने एक सनसनी फैलानेवाला प्रस्ताव उपस्थित किया। इन्होंने कहा कि पदवियाँ देते समय प्रधान अमात्य को यह बताना चाहिए कि किस काम के उपलक्ष्य में कौन पदवी दी जा रही है। उसे सम्राट् को इसका भी विश्वास दिलाना चाहिए कि किसी दल-विशेष के कोश में उस आदमी ने कुछ रुपया, सीधे या टेढ़े तौर पर, तो नहीं दिया। इस सम्बन्ध में इन दोनों लार्डों ने बड़े बड़े क़िस्से कहे—अमुक व्यक्ति से अमुक पदवी के लिए २५,००० पौंड माँगे गये, अमुक से १५,०००, अमुक से १०,०००! जो रुपया देता है उसे झट पदवी मिल जाती है। जो नहीं देता, पदवी पाने की योग्यता रखने पर भी, उसे पदवी नहीं मिलती। विलायत में उदार, अनुदार, कर्म्मकार आदि कई दल हैं। इन्हीं दलों में से एक न एक दल की प्रधानता रहती है। उसी के दलवाले राज्य-सञ्चालन करते हैं। हर दल के कोश में लाखों रुपया जमा रहता है। उसी से अख़बार निकालने, इश्तहार बाँटने और व्याख्यान देने आदि का काम होता है। इन्हीं साधनों से ये लोग अपना पक्ष समर्थन करते और जनसमुदाय को अपने अनुकूल बनाते हैं। गवर्नमेंट जिस पक्ष की होती है वही पक्ष पदवियाँ दिलाने की सिफ़ारिश सम्राट् से करता है। इसी पक्ष के कोश में पदवी-विक्रय की आमदनी जाती है। उस दिन

लार्ड-सभा में जो बहस हुई उसमें बड़े बड़े गुल खिले। खुले तौर पर कुछ लोगों पर आक्रमण हुए। प्रमाण के लिए नाम भी कितने ही लोगों के बताये गये। अन्त में फ़ैसिला यह हुआ कि पदवी देने के कारण ज़रूर बताये जायँ और सिफ़ारिश करने के पहले प्रधान अमात्य इस बात का निश्चय करले कि कहीं दाल में काला तो नहीं।

१३—जापान में अद्वैत-गुहा।

जापान की राजधानी टोकियो या तोकियो की इम्पीरियल यूनीवरसिटी (शाही विश्वविद्यालय) के एस० सुजुकी (S. Suzuki) महाशय ने एक फोटो हमारे पास भेजने की कृपा की। यह चित्र एप्रिल १९१६ में हमें मिला। इसमें पण्डित हरिप्रसाद शास्त्री, तोकियो-विश्वविद्यालय के अध्यापक तकेदा और जापान के एक प्रसिद्ध चित्रकार, मिस्टर हरासीवा, की प्रतिकृतियाँ थीं। इसे हमने रख लिया। इसके बाद, जून १९१७ में, पूर्वोक्त सुजुकी महाशय के नाम से भेजा गया एक और भी चित्र हमें मिला। इसमें जिन स्त्री-पुरुषों की रूप-रेखायें थीं उनमें से अधिकांश के वस्त्र-परिच्छद भारतीय ढँग के थे। चित्र के ऊपर लिखा था कि मारक़िस ओकुमा के मकान पर जिन लोगों ने बुद्ध भगवान् का पूजन किया था उन्हीं के समुदाय का यह चित्र है। चित्र की पीठ पर हिन्दी में लिखा था कि इसे सरस्वती में छाप दीजिए। नीचे सुजुकी का नाम था, जिससे यह भाव निकलता था कि सुजुकी जी देवनागरी लिख सकते हैं और हिन्दी भाषा भी जानते हैं। पर हस्ताक्षर सुजुकी जी के न मालूम होते थे। इस पर हमने सुजुकी महाशय को एक पत्र लिखा और पूछा कि बात क्या है। ज़रा खुल कर लिखिए। ये शास्त्रीजी कौन हैं। वहाँ क्या कर रहे हैं। जिस मौक़े का यह चित्र है उसका कुछ विशेष हाल लिखने की कृपा कीजिए। पर आज तक कोई उत्तर न आया। इससे सन्देह हो सकता है कि ये चित्र सुजुकी ही ने भेजे थे या और किसी महात्मा ने। अस्तु—

अब इतने दिन बाद, ४ जनवरी १९१८ के "लीडर" पत्र में, "जापान टाइम्स" का एक कतरन प्रकाशित हुआ है। उससे ये बातें मालूम हुईं—

पण्डित हरिप्रसाद शास्त्री भारत के किसी महाविद्यालय नामक संस्कृत-विश्वविद्यालय (Mahavidyalaya Sanskrita University of India) के मेम्बर या सभासद हैं। १९१६ में आप भारत से जापान की राह अमेरिका जारहे थे। पर जापानियों में भारतीय धर्म्म और शास्त्रज्ञान के प्रचार के लिए आप वहीं रम रहे। जापानियों ने आपका आदर किया और आपके उद्देश से सहानुभूति दिखाई। वसेदा-विश्वविद्यालय के अध्यापक तकेदा से आपकी मैत्री होगई। अध्यापक महाशय की सहायता से आपने कितने ही व्याख्यान दिये और वेदान्त-शिक्षा और प्रचार के लिए एक सभा भी स्थापित कर दी। जापान के भूत-पूर्व प्रधान मन्त्री ओकुमा तक आपके व्याख्यानों से ख़ुश हुए। उनके मकान पर आपने तथा आपके कितने ही शिष्यों ने भारतीय वेश में बुद्ध की पूजा भी की। अब, नवम्बर १९१७ में, आपने बड़ी धूमधाम से टोकियो में एक वेदान्तगुहा खोल दी है। तकेदा महाराज ही इस गुहा के पुरोहित या आचार्य्य बनाये गये हैं। इस गुहा में भारतीय धर्म्म और वेदान्त आदि की शिक्षा दी जायगी। शास्त्रीजी के इस उद्योग को सर्वदर्शी तथागत सफलता प्रदान करें, भारतीय धर्म्म का ख़ूब प्रचार हो और सारा जापान वेदान्ती हो जाय! डर इतना ही है कि प्राचीन शैली से वेदान्त पढ़ते पढ़ते कहीं जापान भी भारत न होजाय।

अच्छा, यह महाविद्यालय नाम का संस्कृत-विश्वविद्यालय भारत में किस जगह है? कहीं ज्वालापुर के महाविद्यालय से तो मतलब नहीं? जब तक पण्डित हरिप्रसादजी शास्त्री अभागे भारत में रहे तब तक उनकी पहचान लोगों को न हुई। जापान पहुँचते ही वहाँ के प्रधान अमात्य तक ने आप की आव-भगत की। बात यह है कि स्थान-भेद से बहुत भेद हो जाता है। भारत में शास्त्री जी की अप्रसिद्धि का और क्या कारण हो सकता है? खान में हीरे की क़दर नहीं होती, यही न?

१४—महाराष्ट्र में राष्ट्र-भाषा।

राष्ट्र, उष्ट्र, आष्ट्र और त्वाष्ट्र आदि शब्द क्लिष्ट भी हैं और कर्णकटु भी। इनका उच्चारण सहज में नहीं होता। इसी से इनको मुँह से निकालने को जी नहीं चाहता। पर यदि किसी का नाम या नामांश ही राष्ट्र या और कुछ ऐसा ही हो तो विवश होकर, आवश्यकता पड़ने पर, उसका उच्चारण करना ही पड़ता है। न करें तो "महाराष्ट्र" का बहिष्कार

करना पड़ेगा, जो किसी तरह नहीं किया जा सकता। यही हाल राष्ट्र या राष्ट्र-भाषा का है। अस्तु। गत दिसम्बर में, कलकत्ते में, जो राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन हुआ उसमें तिलक महाराज ने हिन्दी को ही समग्र देश के लिए उपयुक्त भाषा मानने की कृपा की। पहले भी दो एक दफ़े आप इस भाषा के विषय में अपनी उदार सम्मति प्रकट कर चुके हैं। जब से आपने और गांधीजी ने इस भाषा का पक्ष लिया है तब से इसके प्रचार के प्रयत्न अधिक होने लगे हैं। गांधीजी के तीक्ष्ण वचनों ने बड़ा काम किया है। महात्माओं के हृदय से निकले हुए वचन बड़ा प्रभाव रखते हैं। अतएव आशा होती है कि इस भाषा का विस्तार-क्षेत्र बहुत शीघ्र बढ़ेगा। तिलक महाराज की सहायता से इस भाषा के प्रचार की चर्चा ने विशेष गति प्राप्त कर ली है। उन्होंने इस विषय की अपनी सहानुभूति को कार्य्य में परिणत करने का उपक्रम कर दिया है। आपके साप्ताहिक अँगरेज़ी-पत्र "मराठा" और मराठी-पत्र "केसरी" में अब हिन्दी को भी थोड़ा थोड़ा स्थान मिलने लगा है। दक्षिण के कुछ ग़ैर-सरकारी स्कूलों में भी हिन्दी की क्लासें खुल गई हैं; और भी खुलने वाली हैं। ये बड़े ही शुभ लक्षण हैं। यदि यह काम इसी तरह जारी रहा तो अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी जाननेवालों की संख्या धीरे धीरे बहुत अधिक हो जायगी और वह समय शीघ्रही आवेगा जब मदरासी, महाराष्ट्र, गुजराती और बङ्गाली सभी परस्पर इसी भाषा में अपने मन के भाव व्यक्त करेंगे। जिस दिन देश की बड़ी बड़ी सभाओं और परिषदों में वक्तृतायें हिन्दी में होने लगेंगी उस दिन नई स्फूर्ति, नई जागृति और नये विचारों की ध्वनि देश के कोने कोने में पहुँचते देर न लगेगी। ऐसा होने पर हर तरह के सुधार का काम बहुत ही सरल हो जायगा।

१५—कौंसिल में कुछ उपयोगी काम।

६ फ़रवरी को कौंसिल की जो मीटिंग लखनऊ में हुई उसमें माननीय मिस्टर चिन्तामणि की बदौलत दो काम बहुत अच्छे हुए। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि इन प्रान्तों में आरम्भिक शिक्षा की दशा बहुत बुरी है। जितना ख़र्च हर साल किया जाता है उतने से यह दशा विशेष नहीं सुधर सकती। गवर्नमेंट को चाहिए कि अपनी सालाना आमदनी का एक निश्चित अंश नये मदरसे खोलने में ख़र्च किया करे और इसका निर्णय कर दे कि इतना रुपया वह हर साल ख़र्च करेगी। इसके समर्थन में उन्होंने बहुत कुछ कहा और मुनासिब कहा। दो मुसलमान और एक हिन्दू महाशय ने आपके कथन की पुष्टि की। पर गवर्नमेंट को यह बात पसन्द न आई। उसने कारण बताये और कहा कि इतना रुपया ज़रूर ही ख़र्च किया जायगा, इस बात का वादा वह नहीं कर सकती। प्रस्तावकर्ता ने सरकारी कारणों की आलोचना करके अपने पक्ष का फिर समर्थन किया और कहा कि कौंसिल की सम्मति ली जाय। ली गई तो १२ मेम्बरों ने पक्ष में और १६ ने विपक्ष में राय दी। फल यह हुआ कि गवर्नमेंट ने हार खाई और बहुमत से प्रस्ताव पास हो गया। अब देखना चाहिए कि इस प्रस्ताव के अनुसार काम होता है या नहीं। क्योंकि पास हुए भी किसी प्रस्ताव के अनुसार काम करने के लिए गवर्नमेंट बाध्य नहीं।

माननीय चिन्तामणि ने एक और भी उपयोगी प्रस्ताव उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि दौरे में मुक़द्मे करने के विषय में गवर्नमेंट की जो आज्ञा अभी हाल में निकली है उससे भी पूरा पूरा काम न चलेगा। गवर्नमेंट को चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो वह ऐसा प्रबन्ध करे कि फौजदारी के सारे मुक़द्मे सदर में ही सुने जायँ। मुलज़िमों, गवाहों और वकीलों आदि को मुफ़स्सिल में मारा मारा न फिरना पड़े। इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। अन्त में गवर्नमेंट ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शर्त इतनी ही रक्खी कि आज कल रुपये की कमी है। प्रस्ताव के अनुसार कारवाई करने से ख़र्च बढ़ जायगा। इससे शायद युद्ध समाप्त होने के पहले प्रस्ताव के अनुसार काम न हो सके। ख़ैर अभी न सही, युद्ध के बाद सही। लोगों की तक़लीफ़ें किसी तरह कम तो हों।

सुदूर मदरास-प्रान्त के निवासी चिन्तामणि जब से इस प्रान्त के कौंसिल में पधारे हैं तब से उसमें जान सी आगई है। जो बात आज तक इस प्रान्त के रहनेवाले मेम्बरों से नहीं हुई वह आप कर रहे हैं। कोई मीटिंग ऐसी नहीं जाती जिसमें आप दो एक लाभदायक प्रस्ताव नये पेश न करते हों और दस बीस प्रश्न न पूछते हों। आपकी स्पीचें भी बड़े धड़ल्ले की होती हैं। गवर्नमेंट यदि सेर भर तो चिन्तामणिजी सवा सेर। पर लाचारी इस बात से है कि गवर्नमेंट को वोटों

(सम्मतियों) का बल है। प्रजापक्ष इस विषय में निर्बल है। इसी से प्रजा के लिए उपयोगी प्रस्ताव भी प्रायः रद हो जाते हैं। गवर्नमेंट उन्हें और दृष्टि से देखती है, प्रजापक्ष के मेम्बर और दृष्टि से। यह अपराध—कौंसिल के नियमों का है, जो गवर्नमेंट ही के बनाये हुए हैं।

१६—कौंसिल में सदालाप।

६ फ़रवरी को लखनऊ में कौंसिल की जो मीटिंग हुई उसमें माननीय चिन्तामणि ने उस कमेटी के विषय में कुछ प्रश्न किये जिसे इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने शासन-प्रणाली के भावी संशोधन के सम्बन्ध में नियत किया था। उत्तर में गवर्नमेंट की तरफ़ से ओ-डोनल साहब ने जो कुछ कहा उसका सार यह था—

हाँ, कमिटी नियत हुई थी। उसमें मारिस, फ़ेरर्ड, सिम और ब्लंट साहब शरीक थे। इस कमिटी की रिपोर्ट गवर्नमेंट आव् इंडिया को भेज दी गई है। शासन में जो सुधार होनेवाले हैं उनके लिहाज़ से कार्य्यकर्त्ताओं या सञ्चालकों या अफ़सरों का सङ्गठन कैसा होना चाहिए, इसी बात पर इस कमिटी को विचार करना था। इस कारण उसने ग़ैर-सरकारी तौर पर कुछ ऐसे लोगों की सम्मतियाँ भी प्राप्त कीं जो इस विषय का विशेष ज्ञान रखते हैं। गवाहों के बाक़ायदा बयान नहीं लिये गये। सर्वसाधारण की सम्मति लेना, इस कमिटी का काम न था।

इसके अनन्तर माननीय मिस्टर चिन्तामणि और ओ-डोनल साहब में परस्पर इस प्रकार सदालाप हुआ—

प्रश्न—इस विषय का विशेष ज्ञान रखनेवाले वे हैं कौन महाशय जिनकी सम्मति कमिटी ने ली है?

उत्तर—मेरा ख़याल है, वे लोग भिन्न भिन्न महकमों के प्रधान अफ़सर हैं।

प्रश्न—अच्छा, जिन विशेषज्ञों से कमिटी ने सलाह ली उनमें क्या कोई भी ग़ैर सरकारी विशेषज्ञ न था?

उत्तर—मेरा ख़याल है, कोई न था।

प्रश्न—क्या कमिटी ने मिस्टर लिओनल कर्टिस को अपनी सम्मति देने के लिए बुलाया था?

उत्तर—मुझे विश्वास है, बुलाया था।

प्रश्न—वे सरकारी मुलाज़िम हैं या ग़ैर सरकारी आदमी हैं?

उत्तर—मैं ख़याल करता हूँ, वे क्या हैं, यह बात माननीय मेम्बर को मालूम है।

१७—"मङ्गलं भगवान् विष्णुः"।

इन्दोर से मल्लारि-मार्तण्ड-विजय नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकलता है। यह पत्र रियासत के प्रेस में छपता है और बहुत करके रियासत ही की जायदाद है। यदि यह सच है तो रियासत ही से इसके कर्म्मचारियों को तनख़्वाह भी मिलती होगी। पर रियासत ने इस पत्र की नीति का निर्देश शायद नहीं किया। और यदि किया है, तो रियासत के अधिकारी इस बात की जाँच नहीं करते मालूम होते कि पत्र के सम्पादक उस नीति का उल्लंघन तो नहीं कर रहे। इन्दोर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जलसा होने वाला है। उसका समय बहुत निकट है। उसमें हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने के विषय में भी विचार होगा। रियासत में हिन्दी बोलने वाले ही अधिक हैं। महाराजा होल्कर हिन्दी और मराठी दोनों को एक सी सहायता देते हैं। इससे सिद्ध है कि वे हिन्दी के विरोधी नहीं। विरोधी होते तो पूर्वोक्त पत्र में हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में लेख प्रकाशित करने की योजना वे न करते। पत्र दो भागों में विभक्त है। एक भाग मराठी में रहता है, दूसरा हिन्दी में। गत मराठी-सम्मेलन इन्दोर में ही हुआ था। उस समय, जहाँ तक हम जानते हैं, मराठी भाषा के प्रतिकूल न तो रियासत के किसी हिन्दी-भाषा-भाषी ने ही कुछ कहीं लिखा, और न पूर्वोक्त पत्र के हिन्दी-विभाग में ही विरोध-सूचक कोई लेख निकला। इसका बदला देने के लिए ही शायद पत्र के मराठी-विभाग ने बड़े अच्छे मौक़े पर लेखनी उठाई है। उसने भावी सम्मेलन के अनुष्ठान का मङ्गलाचरण आरम्भ कर दिया है—"मङ्गलं भगवान् विष्णुः"! उसके ७ फ़रवरी के अङ्क से एक लेख-माला का आरम्भ हुआ है। आगे क्या क्या लिखा जायगा सो तो अभी मालूम नहीं। हाँ, जितना लेख निकला है उसमें हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनाये जाने के ख़िलाफ़ राय दी गई है। लेखक का कहना है कि हिन्दी को यह मान देने की चेष्टा से हानि ही अधिक होगी। लेखक की बातों का जवाब सम्मेलन के भावी सभापति गाँधी महाशय या और कोई देना चाहेंगे तो देंगे ही। हम उनका विचार नहीं करते। हम तो परमेश्वर से महाराजा होल्कर की आयुरारोग्य-वृद्धि के लिए प्रार्थना करके

जापान के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मार्क्विस ओकुमा के भवन में पण्डित हरिप्रसाद शास्त्री और उनके जापानी शिष्यों ने हिन्दूरीति के अनुसार हिन्दू-वस्त्रों में बुद्ध भगवान् का पूजन किया और जापानी युवतियों ने हिन्दू-वस्त्र पहन संस्कृत-श्लोक गाये।



पं० हरिप्रसाद शास्त्री — मार्क्विस ओकुमा — डाक्टर अमानो, प्रेसिडेंट वासेदा विश्वविद्यालय — डाक्टर यकेदा, प्रोफ़ेसर हिन्दू-दर्शनशास्त्र

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

ही चुप रहना चाहते हैं। एक तरफ़ तो उनके इस पत्र के मराठी-विभाग में हिन्दी की राष्ट्रीयता के प्रतिकूल लेख, दूसरी तरफ़ उसी अङ्क के हिन्दी-विभाग में उसके अनुकूल निरूपण! जिस नीति की बदौलत लोगों को इस पत्र में यह अनोखा दृश्य देखने को मिला है उसके उत्पादकों और पोषकों को धन्यवाद और उनके मालिक महाराजा साहब को बधाई!

पुस्तक-परिचय।

१—वेदत्रयी समालोचन। इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २८२, छपाई साफ़-सुथरी, मूल्य १ रुपया है। कविरत्न श्रीअखिलानन्द शर्म्मा ने इसे लिखा है। पण्डित सुबोधचन्द्र शर्म्मा, मुक़ाम चन्द्रनगर, पोस्ट रजपुरा, ज़िला बदायूँ को लिखने से मिलता है। इसके आरम्भ में कविरत्नजी ने लिखा है—"यह × × ग्रन्थ × × वेद-मतानुयायी सनातनधर्म्मियों को वैदिक रहस्यों के बताने और वर्तमान आर्य्यसमाज की कपोलकल्पित बातों को अवैदिक सिद्ध करने के लिए प्रकाशित होकर जनता के समक्ष उपस्थित हो रहा है"। अतएव इसमें वेदत्रयी की पूरी पूरी समालोचना मिलने की आशा करना व्यर्थ है। इसमें विशेष करके समालोचना केवल उन्हीं अंशों की की गई है जिनसे कविरत्नजी के विपक्षियों के पक्ष की निर्बलता या असारता सिद्ध हो। जब तक आप आर्य्यसमाज के पक्ष में रहे तब तक आप का ढंग कुछ और रहा, अब कुछ और हो गया है। एक बात सन्तोष की इतनी ही है कि यह पुस्तक लिखने में आपने बहुत कुछ विचार से काम लिया है। इस कारण आप की आलोचना से पाठकों को सद्बोध की अधिक प्राप्ति हो सकती है, सत्यांश समझने में अधिक सहायता मिल सकती है, और यथार्थ अयथार्थ सिद्धान्तों का रहस्य जानने में वे अधिक समर्थ हो सकते हैं। पक्षता का सर्वथा परित्याग करके यदि अखिलानन्दजी वेदों और वैदिक ग्रन्थों का रहस्य, अलग एक पुस्तक द्वारा, प्रकाशित करें तो बहुत अच्छा हो। साम्प्रदायिकता की सुगन्ध उससे बिलकुल न आनी चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ १७४ पर लिखा है—"मौर्यों से प्रतिमा का पूजन चला था × × × इसको छः सहस्र से अधिक समय हो गया है"। यहाँ छः सहस्र से आपका मतलब शायद छः हज़ार वर्षों से है। यदि ऐसा ही हो तो आपको इस निष्कर्ष का प्रमाण देना था। मौर्य्य-वंश को हुए क्या इतना समय हो गया?

इस पुस्तक के बीच में एक अध्याय है—"ग्रन्थकार-परिचय"। वह किसी "श्याम" नामक लेखक के नाम से प्रकाशित है। उसमें कविरत्नजी का राई-रत्ती हाल है, जिसमें उनके विषय की अनेक श्लाघापूर्ण बातें हैं। इसकी न मालूम क्या ज़रूरत थी? कविरत्नजी पहुँचे हुए पण्डित हैं। इसी से आप शायद लोक-मर्य्यादा की सीमा के भीतर बद्ध नहीं रहना चाहते और इसीसे शायद आपने स्वामी दयानन्द-सरस्वती को धोखेबाज़ आदि विशेषणों से याद किया है तथा और भी जगह जगह आपने अपने विपक्षियों पर कठोर शब्दों से आक्रमण किया है।

पुस्तक महाराजा बलरामपुर को समर्पित की गई है। पर इस कारण नहीं कि वे वेदत्रयी के अद्वितीय ज्ञाता हैं; किन्तु इस कारण कि प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन उन्हीं की—"कृपा का फल है"।



२—तीन अच्छी पुस्तकें—पहली पुस्तक है—**स्वराज्य की योग्यता**—इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २१२, छपाई सुन्दर, मूल्य १¼ रुपया है। माडर्न-रिव्यू के सम्पादक, बाबू रामानन्द चैटर्जी, एम० ए०, की अँगरेज़ी पुस्तक—Towards Home Rule—की आलोचना सरस्वती में निकल चुकी है। उसी का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक हैं—पण्डित नन्दकिशोर द्विवेदी, बी० ए०। इसके विषय में यहाँ पर कुछ और लिखने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ हमें निवेदन करना था, हम अपनी पूर्व समालोचना में कर चुके हैं। इस अनुवाद की बड़ी ज़रूरत थी, सो अच्छे समय में हो गया। हिन्दी-गौरवग्रन्थमाला के व्यवस्थापक को, हीराबाग़, बम्बई, के पते पर पत्र लिखने से यह पुस्तक मिलती है। पुस्तक की भाषा सरल है। दूसरी पुस्तक का नाम है—**दिव्यजीवन**। इसका भी आकार मध्यम है। छपाई और काग़ज़ अच्छा, पृष्ठ-संख्या १३४ और मूल्य १३ आने है। अँगरेज़ी में एक पुस्तक है—The Miracles of Right Thoughts. वह बहुत अच्छी समझी जाती है।

उसी का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक हैं—बाबू सुख-सम्पतिराय भण्डारी। प्रकाशक—जीतमल लुणिया, मैनेजर, हिन्दी-नव-युग ग्रन्थमाला, इन्दोर, को लिखने से मिलती है। पुस्तक में ६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनमोल शिक्षा है। दीर्घायु, उदासी से हानि, आत्म-विश्वास, कार्य्य और आशा आदि शीर्षक देकर इसमें लेखक ने अपने दिव्य विचार प्रकट किये हैं। तीसरी पुस्तक है—**महाभारतीय सुनीति-कथा**। इस मध्यम आकार की पुस्तक की पृष्ठ-संख्या १३६, छपाई स्पष्ट और मूल्य ८ आने है। इसकी रचना पण्डित रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ, ने की है। आपका पता है—ट्रेनिंग कालेज, बाँकीपुर। आपही से यह पुस्तक मिल सकती है। महाभारत में जितनी सदुपदेश-पूर्ण कथायें हैं उनमें से अच्छी अच्छी कथायें छाँटकर लेखक ने इसमें रख दिया है। पर आज कल जो बातें असम्भव जान पड़ती हैं वे आपने नहीं लिखीं। मैट्रिकुलेशन के नीचेवाले दरजों के छात्रों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगिनी है। और छात्र भी इसे पढ़ कर लाभ उठा सकते हैं। इसकी कथाओं से नीति की उत्तम शिक्षा मिलती है। इसमें वैदेशिक कथाओं का समावेश नहीं हुआ। इससे इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है।

❋

३—वाटधानादि-ब्राह्मणोत्पत्ति-भास्कर। इस बड़े आकार की पुस्तक में कोई ६० पृष्ठ हैं। मूल्य है एक रुपया। इसे पण्डित बटुकप्रसाद मिश्र भास्कर ने लिखा है। सारवा-वारीण भास्कर-पुस्तकालय, सराय गोवर्धन, बनारस, को लिखने से मिलती है। इसमें—"भूमिहार, तगा और महि-याल आदि ब्राह्मणों की उत्पत्ति आदि पर प्रमाणपूर्वक विचार किये गये हैं"। शास्त्रों के प्रमाण संस्कृत में उद्धृत करके उनका आशय हिन्दी में लिखा गया है। संग्रहकार महाशय ने आवश्यक बातों की समालोचना भी की है। श्रीयुत सहजा-नन्द स्वामी की लिखी हुई "भूमिहार-ब्राह्मण-परिचय" नामक पुस्तक के अधिकांश निर्णयों के खण्डन के लिए ही भास्कर महाशय ने प्रस्तुत पुस्तक की रचना का श्रम उठाया है। अपनी अभीष्ट-सिद्धि में आप बहुत कुछ सफल-मनोरथ भी हुए हैं। इस विषय में एक बात याद रखने लायक है। जिस प्रकार स्वामी सहजानन्द ने भूमिहारों की उच्चता सिद्ध करने के लिए अपनी पुस्तक लिखी है उसी तरह शायद पण्डित बटुकप्रसाद मिश्र भी अपने सजातीय सरवरिया ब्राह्मणों की उच्चता प्रतिपादन करने के लिए एक पुस्तक लिखचुके हैं। देहाती मसल है कि सभी अपने अपने मठे के मिठास के कायल होते हैं।

❋

४—माया—यह १०८ पृष्ठों का एक शोकान्त उपन्यास है। गोरखपुर के डिप्टी कलेक्टर, पण्डित रामगोपाल मिश्र, बी० एस्-सी०, ने इसकी रचना की है। इसका नायक है—चन्द्रमणि और नायिका है तारा। चन्द्रमणि अपनी पूर्व वयस में—कुमारावस्था में—"संसार के उपकार" व्रत की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु तारा—माया—के फेर में पड़ कर अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाता है—माया के पाश का बँधुआ होकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही संसार से सदा के लिए बिदा हो जाता है। उसके वियोग में तारा भी कोई दो ही हफ़्तों में "शिशुकुमार" अपने इकलौते बेटे को अकेला छोड़ प्राण-त्याग कर देती है। इसी कथानक के आधार पर लेखक महाशय ने यह दिखाया है कि होनहार मनुष्य भी घटना-वश माया के मोहजाल में फँस जाता है। फल यह होता है कि उसकी उच्चाकांक्षायें अपूर्ण रह जाती हैं। पुस्तक मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। भाषा सरल है। चचा परमा-नन्द का तारा के साथ मज़ाक करना ज़रा खटकता है। पुस्तक की छपाई अच्छी है। काग़ज़ भी अच्छा है। मूल्य ८ आने। लेखक महाशय से प्राप्य।

❋

५—समय—लेखक, बाबू काशीनाथ वर्म्मा; प्रकाशक बाबू भगवानदास, मन्त्री, सरस्वती-कार्य्यालय, जालपादेवी, काशी; आकार बड़ा; पृष्ठ-संख्या ५७; मूल्य आठ आने। यह नाटक है—प्रकाशक ने अपने निवेदन में लिखा है कि इस नाटक में "आजकल के हिन्दू-समाज का दृश्य दर्शाया गया है। जान पड़ता है कि इसीसे इसका नाम समय रखा है।" परन्तु नाटक से धर्म्म-पालन और सत्य-शीलता की शिक्षा मिलती है। भाषा संशोधनीय है; पर है सरल बोल-चाल की। नाटक के गुण-दोष के विषय में क्या कहें? क्योंकि प्रकाशक के कथनानुसार "यह पुस्तक बिना किसी उद्देश्य के एक अल्पवयसी लेखक द्वारा जल्दी में लिखी गई है।" फिर हमें प्रकाशक महाशय की इस आज्ञा का भी पालन करना

है कि "हिन्दी के सेवक तथा समालोचक गण इस पुस्तक पर क्रूर दृष्टि न डालेंगे।" नाटक के अन्त में जो हास्य-रस की सामग्री है उसका कोई सम्बन्ध नाटक के मूल विषय से नहीं जान पड़ता। तथापि आजकल की कितनी ही पेशेदार नाटक-कम्पनियों में खेले जानेवाले नाटकों की तरह इसमें अश्लीलता नहीं है; किन्तु सामयिकता और सरसता का आधिक्य है। नाटक में कहीं कहीं वस्तु-स्थिति का अत्युक्ति-पूर्ण चित्र भी है। यह सब होने पर भी नाटक बुरा नहीं।

❊

६—इँगलिश-संस्कृतानुवाद-दीपिका, प्रथम भाग—इसकी पृष्ठ-संख्या १०४ और मूल्य १२ आने है। आकार बहुत बड़ा नहीं। छपाई और काग़ज़ बहुत घटिया और जिल्द भी घटिया है। पुस्तक में इतनी अशुद्धियाँ रह गई हैं कि छः सफ़े का शुद्धि-पत्र लगाना पड़ा है; फिर भी कितनी हीं अशुद्धियाँ अभी बिना "शोधी" पड़ी हुई हैं। अपने नामानुसार, संस्कृत से अँगरेज़ी और अँगरेज़ी से संस्कृत में अनुवाद करना सिखाने के लिए इस पुस्तक की रचना हुई है। इस कारण, संस्कृत-व्याकरण के अनेक आवश्यक नियम भी बताये गये हैं। संस्कृत-शब्दों का अर्थ अँगरेज़ी और हिन्दी में दिया गया है। अनुवाद के लिए संस्कृत और अँगरेज़ी के यथेष्ट वाक्य-समूह भी दे दिये गये हैं। मुरादाबाद, कठगर, के पण्डित रामस्वरूप साहित्याचार्य्य ने इसे लिख कर प्रकाशित किया है।

❊

७—व्याकरणदीपिका—आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ४४, मूल्य ४ आने, लेखक पण्डित जनार्दन शर्म्मा, प्रकाशक—रामधनी शाह, बुकसेलर, दानापुर। संस्कृत-व्याकरण की मोटी मोटी बातें, इस पुस्तक में, कुछ नये, कुछ पुराने, ढँग से लिखी गई हैं। ढंग में पुरानापन यह है कि समझाने की बातें भी संस्कृत ही में हैं। सुबन्तों और तिङन्तों के रूप नये ढँग से लिखे गये हैं। और भी कितनी ही बातों में नवीनता है। समग्र पुस्तक संस्कृत में है। छपाई और काग़ज़ अच्छा है।

❊

८—पाणिनिसार-संग्रह—इस छोटी सी २८ पृष्ठों की पुस्तक में पाणिनि-व्याकरण के सन्धि-प्रकरण-सम्बन्धी मुख्य मुख्य ७४ सूत्र और उनकी व्याख्या हिन्दी में है। व्याख्या अच्छी है। पुस्तक विद्यार्थियों के काम की है। भागलपुर के हाई-स्कूल के हेड पण्डित, पुलकित मिश्र, ने इसका सम्पादन किया है। उन्हीं से यह मिलती है। मूल्य ढाई आने है।

❊

९—सुख की प्राप्ति का मार्ग—इस ८० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ आने है। लखनऊ के हिन्दी-साहित्य-भाण्डार ने इसका प्रकाशन किया है। जेम्स एलन की एक पुस्तक (Path of Prosperity) का यह हिन्दी-अनुवाद है। बाबू दयाचन्द्र गोयलीय, बी० ए०, ने इसे लिखा है। पुस्तक अच्छी है। विचार दिव्य हैं।

❊

१०—मरुभूमि के चार धर्म्मवीर जुझार—मँझोले आकार की अच्छी छपी हुई इस पुस्तक में ८० पृष्ठ हैं। मूल्य ८ आने है। लेखक—पण्डित शिवप्रसाद त्रिपाठी (रजिस्ट्रार क़ानूनगो, ब्यावर) को लिखने से मिलती है। इसमें मारवाड़ के चार वीरों का—रामदेवजी, पाबूजी, देवजी और तेजाजी का—परम्परा-श्रुत संक्षिप्त चरित-वर्णन है। ये लोग योद्धा ही न थे, भक्त, धर्म्मिष्ठ, तेजस्वी और सत्यव्रत भी थे। पुस्तक में रामदेव, तेजाजी और पाबूजी के चित्र भी हैं। मालूम नहीं ये चित्र काल्पनिक हैं या सच्चे। पुस्तक पढ़ने लायक़ है।

❊

११—सती त्रिवेणी—इस पुस्तक का प्रकाशन अहमदाबाद की सस्ती वार्त्तामाला के मालिक ने किया है। उन्हीं से यह मिलती है। इस पर सुन्दर जिल्द है। पृष्ठ-संख्या ४०० के लगभग और मूल्य १) है। इसकी भाषा गुजराती है। इसमें विशेषतः ३ सती-स्त्रियों का चरित है—सती लच्छमा, सती राधाकिशोरी, सती जयमती। अन्त में चन्द्रावती और एक राजपूत-रमणी का भी कुछ हाल है। इस अनुवादात्मक पुस्तक की रचना श्रीयुत रणछोड़लाल हरिलाल भट्ट ने की है। गुजराती भाषा जाननेवालों के पढ़ने लायक़ है।

❊

१२—हिन्दी-निरुक्त—आकार कुछ बड़ा, पृष्ठ-संख्या ३६०, छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य १ रुपया ६ आने।

इस पुस्तक के कुछ अंश का परिचय दिया जा चुका है। प्रस्तुत पुस्तक में निरुक्त का नैगम काण्ड है। उसमें ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, निरुक्त बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। इसके अच्छे ज्ञान के बिना वेदों और वैदिक ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। वेदार्थ समझने की यही कुञ्जी है। पण्डित सीताराम शास्त्री ने इसमें मूल-ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है और उसका हिन्दी अनुवाद भी। निघण्टु के शब्दों की व्याख्या भी आपने लिखी है। आशय स्पष्ट करने के लिए यत्र तत्र पाद-टीकायें भी दी हैं। बड़े काम की पुस्तक है। इस पुस्तक के अनुवादांश की हिन्दी कहीं कहीं बहुत पुराने ढंग की हो गई है। इसकी यह इतनी त्रुटि खटकती है। आशा है, अगले काण्डों के अनुवाद में इस दोष के दूरीकरण की चेष्टा की जायगी। मिलने का पता - हरियाना-शेखावाटी-ब्रह्मचर्य्याश्रम, भिवानी।



१३—कर्मक्षेत्र—पुस्तक का आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १८२, छपाई और काग़ज़ अच्छा, मूल्य १=) है। सुन्दर जिल्द चढ़ी हुई है। श्रीशशिभूषण सेन की लिखी हुई एक पुस्तक बँगला में है। उसी के गुजराती अनुवाद का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक हैं, पण्डित शिवसहाय चतुर्वेदी। इच्छा होने से मनुष्य बड़े से बड़े काम कर सकता है। दुःसाध्य कार्य्य भी साध्य हो जाते हैं। सतत उद्योग से विघ्न-बाधायें दूर होजाती हैं। मन में सत्सङ्कल्प का उदय होने पर, इच्छा-शक्ति-सम्पन्न मनुष्य उसकी साधना में लगजाता है और अन्त में अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सर सालारजंग, सर सैयद अहमद, सर माधवराव, सर जमसेदजी जीजीभाई आदि कितने ही भारतीय कर्म्मवीर पुरुषों के उदाहरणों द्वारा यही बातें इसमें दिखाई गई हैं। हिन्दी-साहित्य-प्रचारक कार्य्यालय, नरसिंहपुर, को लिखने से यह उत्तम पुस्तक मिलती है।



जिन पुस्तकों के नाम नीचे दिये गये हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

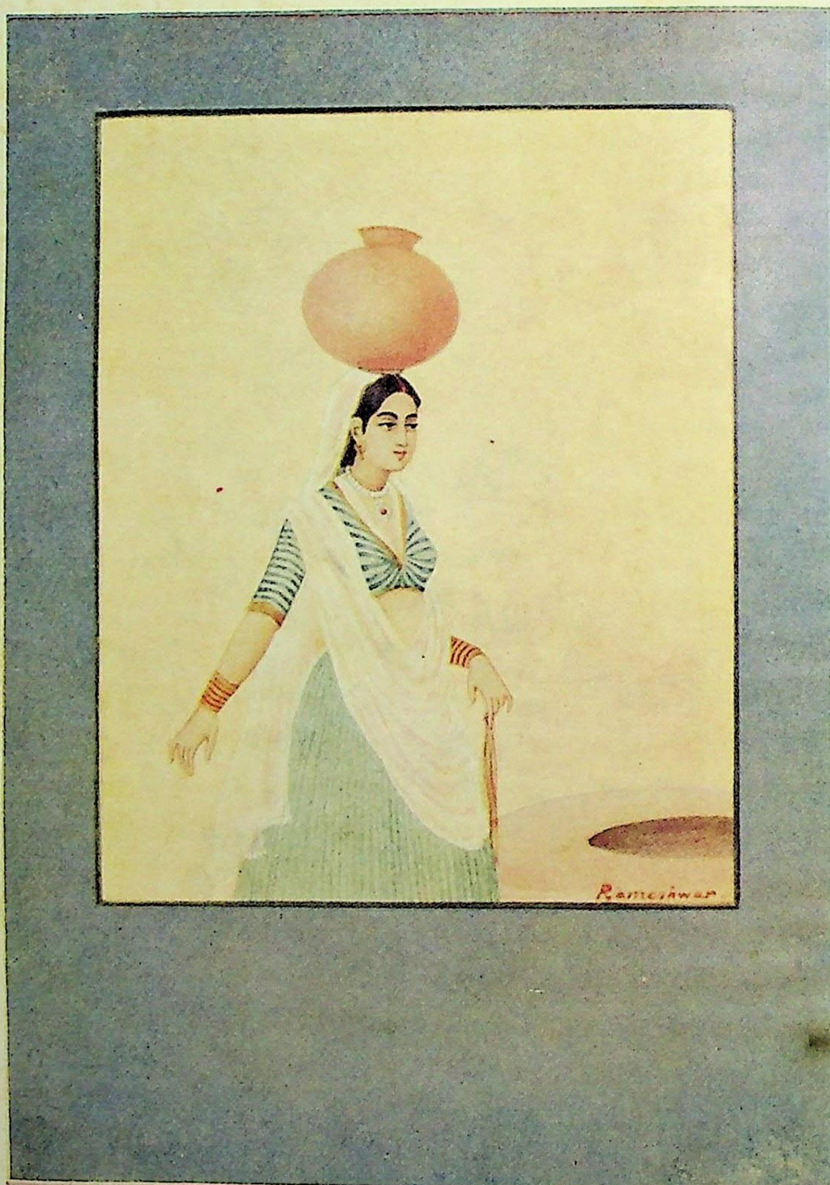
१—आसमानी क़ातिल—लेखक, श्रीयुत श्यामलाल शर्म्मा, धार।
२—पानी का बुड़बुड़ा—लेखक, बाबू आत्माराम देवकर, हटा।
३—नक़ली सिक्खप्रबोध—प्रकाशक, डाक्टर सुन्दरसिंह।
४—सुभद्रा—लेखक, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग।
५—बालिका-विनय, ६—सच्चा विश्वास, ७—मोहिनी } प्रेषक, प्रेम-मन्दिर, आरा।
८—श्रीजमींदार-हितकारिणी सभा (ग्वालियर) की तीसरी वार्षिक रिपोर्ट } प्रेषक, सेक्रेटरी, श्रीयुत शङ्कर राव विट्ठलराव कदम, बी० ए०
९—बालक श्रीकृष्ण—लेखक, पण्डित भगवतप्रसाद भारद्वाज, मुरादाबाद।
१०—जैनगज़ल-गुलचमनबहार, ११—श्रीजैनभजन-तरङ्गिणी } प्रकाशक, नौरतनमल बोहरा, अजमेर।
१२—लावारिस बच्चों का बाप—लेखक, पंडित आत्मस्वरूप शर्म्मा, फ़ीरोज़पुर।

चित्र-परिचय।

ध्रुव की तपस्या-सिद्धि।

इस अङ्क का रङ्गीन चित्र चित्रकार श्रीयुत हरेकृष्ण साहा का बनाया हुआ है। राजा उत्तानपाद के शिशु-पुत्र ध्रुव को अपनी सौतेली माता से अनादृत होना पड़ा। इस कारण विरक्त होकर वह जङ्गल को चला गया और ऊँचा स्थान प्राप्त करने की इच्छा से तपस्या करने लगा। उसके दृढ़-व्रत और तपश्चरण से प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे दर्शन दिया और पूछा—क्या चाहते हो? उत्तर में बालक ध्रुव ने हाथ जोड़ कर अपना मनोऽभिलाष भगवान् पर प्रकट किया। यही दृश्य इस चित्र में दिखाया गया है।

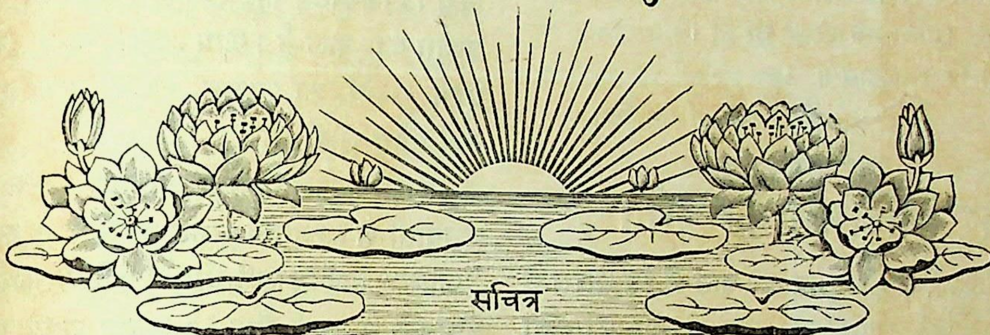
Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.



पनिहारिन।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

सरस्वती



सचित्र

मासिक पत्रिका।

भाग १९, खण्ड १] मार्च १९१८—फाल्गुन १९७४ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २१९

याच्ञा।

दया कीजे हे दयानिधान !
मिले भारत को सच्चा ज्ञान॥

१—शिल्प-कला-शिक्षा की धारा—
बहे यहाँ युवकों के द्वारा॥
देश बने यह सबका प्यारा
सुखी और धनवान॥

२—मन में रहे न अनुचित ममता
दुख सहने की भी हो क्षमता॥
सुकृती राम-कृष्ण की समता—
करें देश-सन्तान॥

३—सुत, कन्यायें, पा कर शिक्षा
ग्रहण करें उन्नति की दीक्षा॥
माँगें नहीं दीन बन भिक्षा
दुख का हो अवसान॥

४—जो उन्नति का पाठ पढ़ावें
उनका पद-रज शीश चढ़ावें॥
मैल मिटा कर मेल बढ़ावें
छोड़ें ओछी बान॥

५—रुकें कहीं मत उन्नति-मग में
चाहे विघ्न पड़ें पग पग में॥
देश-कीर्ति फैलावें जग में
कर्म्मवीर बलवान॥

६—गले लगें मिल भाई भाई
होवे नष्ट द्वेष दुखदायी॥
धनी व्यक्ति हों सच्चे न्यायी
राखें गुण का मान॥

७—समुचित बातों को सब पालें
मिट जावें दो-तर्फी चालें॥
अपने उद्यम से कर डालें
अड़चन भी आसान।

८—बाबू लोग विभव-बल-शोभी
स्वार्थ-परायण पूरे लोभी॥
मानव समझें दीनों को भी
छोड़ें निज अभिमान॥

९—हिन्दी बने राष्ट्र की भाषा
पूरण हो सब की अभिलाषा ॥
भारत-तरु की उन्नति-शाखा
बने सुखद फलवान ॥
१०—अत्याचार न दीनों पर हों
आत्म-कृत्य पर सब निर्भर हों ॥
शुद्ध शान्ति-मय सब के घर हों।
दीजे यह बरदान ॥

श्री हरिवंश मिश्र।

सर विलियम वेडरबर्न।

बड़े ही दुःख की बात है कि भारत ने अपने एक और हितैषी को सदा के लिए खो दिया। सर विलियम की मृत्यु से भारत की बड़ी हानि हुई। आप योरप के उन इने गिने सज्जन-शिरोमणियों में थे जिन्होंने आजीवन भारत का सच्चा हित-साधन किया; जिन्होंने परोपकार के आगे तन, मन और धन किसी को कौड़ी मोल का नहीं समझा। मृत्यु के समय आपकी अवस्था ८० वर्ष की थी। आप दो बार कांग्रेस के सभापतित्व के आसन को अलङ्कृत कर चुके थे। पिछली बार आप १९१० के दिसम्बर में उसके सभापति थे। सरस्वती की जनवरी १९११ की संख्या में आपका चरित प्रकाशित हो चुका है। उसमें आपकी गुणावली का कीर्तन है।

२५ मार्च १८३८ ईसवी को आपका जन्म, इँगलेंड के एडिनबरा नामक स्थान में, हुआ। आपके पिता का नाम था—सर जान वेडरबर्न। वे भारत में उच्च राज-कर्म्मचारी रह चुके थे। आपने भी सरकार के अंडर सेक्रेटरी और हाईकोर्ट के जज तक के पद को विभूषित किया। सरकारी नौकरी से अलग हो जाने के बाद तो अपना अवशिष्ट जीवन आपने भारत के कल्याणवर्द्धन ही में तरह तरह से लगाया। राज-कर्म्मचारी रहते हुए भी आपने इस देश के वासियों का बड़ा उपकार किया। जिन दिनों आप बम्बई की गवर्नमेंट के अंडर सेक्रेटरी थे, काठियावाड़ की प्रजा और रजवाड़ों के हित की कामना से प्रेरित हो कर, आपने कितने ही उपयोगी काम वहां किये। राजकोट का राजकुमार-कालेज आपही के उद्योग का फल है। आप कहा करते थे कि यदि देशी राज्यों का शासन अच्छी तरह हो तो प्रजा वहाँ बहुत सुखी रहे।

शिक्षा—विशेष करके स्त्री-शिक्षा—के आप बड़े पक्षपाती थे। स्वर्गीय रानडे महोदय के साथ आपने "फीमेल हाई-स्कूल" और "ट्रेनिंग कालेज" की नीव पूने में डाली और १० हज़ार रुपये अपनी गांठ से उसमें लगाये।

जिन दिनों आप हाईकोर्ट के जज थे, आपने सेशन जजों की कड़े दण्ड देने की प्रवृत्ति को बहुत कुछ रोका। जब आप पूने में डिस्ट्रिक्ट जज थे तब परलोकवासी गणेश वासुदेव जोशी की सहायता से एक प्रकार की पञ्चायतें (Conciliation Courts) स्थापित कीं। किसानों के लिए बैंकों की भी योजना आपने की। दक्षिण में दवामी बन्दोबस्त की परिपाटी प्रचलित करने का भी प्रयत्न आपने किया।

कांग्रेस के आप बड़े भक्त और भक्त ही क्यों उसके जन्मदाताओं में से भी थे। सन् १८८९ में बम्बई की पाँचवीं और सन् १९१० में इलाहाबाद की कांग्रेस के आप सभापति बनाये गये थे।

१८९३ ईसवी से १९०० ईसवी तक आप इँगलेंड की पार्लियामेंट के मेम्बर रहे। इस अवधि में आपने भारत का जो कल्याण-साधन किया वह विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। पार्लियामेंट में जब जब मौका मिलता आप हिन्दुस्तान का पक्ष लेकर बोलते। इंडियन पार्लियामेंटरी कमिटी नाम की एक सभा भी आपने वहाँ स्थापित की थी। पार्लियामेंट के १२० मेम्बर उसके सभासद् हुए। "ब्रिटिश कांग्रेस

कमिटी" नाम की एक और संस्था आपने गलैंड में क़ायम की । मृत्यु के दिन तक आप उसका कार्य्य चलाते रहे । भारतहितैषी ब्राडला साहब आपके मित्र थे । उनकी सम्मति से आपने भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के सुधार का क़ानूनी मसविदा पार्लियामेंट में उपस्थित किया । पर विरोधियों के मारे आप कृतकार्य न हुए । वेल्बी कमिशन के सामने गवाही देते हुए आपने भारत का पक्ष खूब सँभाला था । सारांश यह कि हिन्दुस्तान के हित का शायद ही कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण काम आज तक हुआ हो जिसमें सर विलियम वेडरबर्न का हाथ न रहा हो । यहाँ तक कि ऐसे कामों के लिए शरीर-बल और मनो-बल के अपरिमित व्यय के अतिरिक्त कोई लाख डेढ़ लाख अर्थ-बल भी आपने ख़र्च किया ! "परोपकाराय सतां विभूतयः" की उक्ति ऐसे ही उदार-हृदय, दयाशील और महामना पुरुषों के विषय में चरितार्थ हो सकती है ।

सर विलियम वेडरबर्न लेखक भी बड़े अच्छे थे । उनके लेखों में विवेकशीलता और सचाई खूब रहती थी । लेखगत विषय का और उनके हृदय का तादात्म्य हो जाया करता था ।

शोक की बात है, इँगलेंड में भारतवासियों का ऐसा सहायक अब कोई नहीं रहा ! आपके कृतोपकारों को भारतवासी कभी न भूलेंगे ।

देवनागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता ।

पादरी नोल्स साहब का नाम सरस्वती के पाठकों के लिए नया नहीं । आप की राय में हिन्दुस्तान की निरक्षरता की एक मात्र राम-बाण ओषधि है—रोमन-लिपि का प्रचार । आप जी-जान से रोमन-लिपि के प्रचार का प्रयत्न कर रहे हैं ।

नोल्स साहब के इस "अव्यापारेषु व्यापार" से चैतन्य होकर देवनागरी-लिपि के हितैषी अपने अपने विचार प्रकट कर रहे हैं । इसी विषय पर मराठी भाषा के "मासिक मनोरंजन" के लगातार तीन अङ्कों में एक लेख-माला* प्रकाशित हुई थी । कितने ही सज्जनों ने अपनी अपनी सम्मतियाँ उस पर प्रकट की थीं । एक प्रेस के सञ्चालन-कर्त्ता महाशय की भी सम्मति उसमें है, जो बड़े मार्के की है । इस लेख में, आगे चल कर, उसका वर्णन किया जायगा ।

मनोरञ्जन के पूर्वोक्त लेखों की सामग्री के आधार पर ही प्रधानतः यह लेख लिखा जाता है । सबसे पहले यह विचार करना चाहिए कि नोल्स साहब के कथन में कुछ तथ्य है या नहीं । वे जो दोष देशी-भाषाओं में बतलाते हैं वे यथार्थ हैं या नहीं । दुराग्रहपूर्वक किसी की बात का विरोध मात्र करना और बात है और उसके कथन के अनुसार विचार-पूर्वक भूलों का सुधारना तथा असङ्गत बातों का त्याग और बात है । अतः भाषा-प्रेमियों तथा प्रेस के अधिपतियों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए । उन्हें चाहिए कि नोल्स साहब के कथन पर पूर्ण विचार कर के सत्यासत्य का निर्णय करें । क्योंकि, हम यदि कोई विधायक (Constructive) कार्य न करें, केवल विध्वंसक आलोचना ही करते रहें तो इससे कुछ लाभ न होगा ।

नोल्स साहब की कुछ बातें विचारणीय हैं ; कुछ ग्रहण करने योग्य भी हैं ।

नागरी-वर्णमाला और रोमन-वर्णमाला की रचना में बड़ा भेद है । नागरी-वर्णमाला में स्वरों के पश्चात् व्यञ्जनों के पाँच भागों की रचना अत्यन्त व्यवस्थित और शास्त्रोक्त है । पर रोमन-वर्णमाला में उनकी खिचड़ी बुरे ढँग से की गई है । 'ए' स्वर के बाद 'बी', 'सी', 'डी', तीन भिन्न भिन्न वर्ग के व्यञ्जन उसमें आते हैं ! फिर 'ई' स्वर और उसके पश्चात् एफ, जी, एच, भी व्यञ्जन ही हैं ! इसी प्रकार अन्त तक उसकी रचना में विचित्रता का अटल साम्राज्य है । रोमन-लिपि का यह पहला बड़ा दोष है । दूसरा दोष यह है कि इस वर्णमाला में कई उच्चारणों के लिए अक्षर बिलकुल हैं ही नहीं । स्वरों में ऐ, औ और व्यञ्जनों में च, श,

* नवम्बर, दिसम्बर १९१४ और फ़रवरी १९१५ ईसवी ।

थ, ष, ख, घ, ठ, ढ, ण, ध, फ, भ आदि के उच्चारण के लिए कोई स्वतन्त्र वर्ण ही उसमें नहीं। ये सब दो अक्षरों के योग से दरसाये जाते हैं। ङ, ञ, त, द तो बिलकुल ही नहीं दिखलाये जा सकते।

तीसरा दोष यह है कि कुछ अक्षरों के उच्चारण भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे, C का उच्चारण क और स दोनों होता है। Y व्यञ्जन और स्वर दोनों है। Q कभी अकेला नहीं आता, सदा U के साथ रहता है और दोनों का मिल कर उच्चारण होता है। 'क' यह उच्चारण K और W के संयोग से भी हो जाता है। W का नाम तो है—डब्ल्यू; पर उच्चारण उसका न ड होता है और न ब, ल या यू; किन्तु व होता है। स्वर के उच्चारण का तो कोई विशेष नियम ही नहीं है। प्रायः प्रत्येक स्वर का उच्चारण चार चार, पाँच पाँच तरह से होता है। दीर्घ स्वर तो दो अक्षरों के योग के बिना बन ही नहीं सकता। पर दो स्वरों का योग होने पर वह दीर्घ स्वर हो ही जाता है, यह भी नियम नहीं है। Oo का उच्चारण Look (लुक) में ह्रस्व होता है और Food (फ़ूड) में दीर्घ।

हिज्जे के विषय में तो रोमन-लिपि के दोष जगत्प्रख्यात हैं। सर आइज़क पिट्मन और प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट दोनों ने हिज्जों में सुधार करने के अनेक प्रयत्न इँगलेंड और अमेरिका में किये; पर सब निष्फल हुए।

हिज्जे और उच्चारण-सम्बन्धी दोषों के कारण अँगरेज़ी सीखने में गुरु की सहायता के बिना काम ही नहीं चल सकता। उसका एक एक शब्द कितनी ही तरह से पढ़ा जा सकता है। जैसे—City—को सिटि, किटि, सायटि, कायटि, सति, सिताय, किताय, सित्य, कित्य, सिट्य, किट्य इत्यादि दस–पन्द्रह प्रकार से पढ़ सकते हैं।

यह कठिनता भी है कि अक्षरों के नाम और उनके उच्चारण में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। City शब्द अपनी असली दशा में—ज्यों का त्यों—पढ़ा जाय तो सी, आई, टी, वाई पढ़ा जाता है। पर उसे पढ़ना पड़ता है—सिटी। कितनी विलक्षणता है! नागरी-लिपि में यह दिक़्क़त बिलकुल नहीं। जो अक्षरों का नाम वही उनका उच्चारण। 'क' कहीं भी लिखा जाय, उसका उच्चारण 'क' ही होगा। नागरी में नाम तो 'सी' पर उच्चारण 'क' कभी न होगा। यहाँ ऐसा गोरखधन्धा नहीं है कि D का नाम तो हो 'डी' पर वह काम करे 'ड्' का और यदि 'डी' लिखना हो तो Dee अथवा Dea लिखे तब काम चले।

जो हाल उच्चारण का है वही लेखन का भी है। छापने की लिपि अलग और लिखने की अलग। फिर भी छोटे और बड़े अक्षरों का झगड़ा अलग ही है। सो भी एक दूसरे से भिन्न। 𝒬, q, Q, q, ये चारों क्यू ही हैं, पर देखिए, इनके रूप में कितना अन्तर है।

यही हाल 𝒢, g, G, g, अर्थात् 'जी' वर्ण का है। इसका उच्चारण 'ग' और 'ज' दोनों तरह से होता है।

कहने को तो कुल वर्ण २६ हैं; पर छोटे-बड़े और लिखने तथा छापने के भेदों के कारण सब मिल कर साठ-सत्तर हो जाते हैं।

जिस समय लिपि का यह प्रश्न बङ्गाल तथा अन्य प्रान्तों में उठा था, बम्बई-विश्वविद्यालय के वाइस चेन्सलर ने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया था—

The Marathi possesses a perfect alphabet already. I trust that this will never be exchanged for an imperfect Roman substitute.

रेवरेन्ड ग्रीव्ज़ साहब ने भी नागरी-लिपि के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिप्राय दिया है—

Nagri is a good useful character, easy to read and in every way adapted to the Hindi language.

अर्थात्—नागरी-लिपि उत्तम और उपयोगिनी है। पढ़ने में वह सरल और हिन्दी-भाषा के लिए सर्व प्रकार उपयुक्त है।

नोल्स साहब ने रोमन-लिपि के प्रचार के प्रयत्न के प्रथम रोमन-लिपि के सुधार में बड़ा परिश्रम किया है। तिस पर भी अनेक दोष उसमें बने ही हुए हैं।

पादरी साहब की योजना में अ, आ से लेकर श, ष, स, ह तक नागरी अक्षरों के प्रति अक्षर दिये गये हैं। तदनन्तर लृ, लॄ, ऋ आदि चार अक्षर रक्खे गये हैं। फिर फ़ारसी या उर्दू-लिपि के ऐन, ग़ैन इत्यादि उच्चारणों के दर्शक अक्षर निर्माण किये गये हैं। एक N में तरह तरह के सींग और दुम लगा कर ङ, ञ, ण का काम चलाया गया है। शुद्ध अ, आ का उसमें पता नहीं; अँ और आँ

अर्थात् एशिअँ और फअर (Far) के अन्तर्गत अकार का उच्चारण दिखाने वाले अक्षर हैं, पर बेचारे अ का तो कहीं पता ही नहीं है।

नोल्स साहब की योजना के अनुसार ku लिखने से कु का बोध होगा; पर "कऊल" का 'कऊ' किस तरह लिखा जायगा, यह इन्होंने नहीं बतलाया। ळ नाम का एक अक्षर मराठी में है। पर उसके लिए भी कोई चिह्न पादरी साहब के उर्वर मस्तिष्क ने नहीं बनाया। अर्थात् इस सुधरी हुई रोमन-लिपि में भी अनेक दोष विद्यमान हैं।

सारांश यह कि हमारी देवनागरी-लिपि रोमन-लिपि की अपेक्षा बहुत अधिक वैज्ञानिक, स्वाभाविक और सुभीते की है। और उसके ये गुण प्रत्यक्ष हैं। नोल्स साहब के बड़े बड़े सजातीय विद्वान् भी उसके दिव्य गुणों के क़ायल हैं।

यद्यपि देवनागरी-लिपि रोमन-लिपि की अपेक्षा सरल और उत्तम है तथापि हमारी वर्त्तमान आवश्यकताओं को देखते यह नहीं कहा जासकता कि वह बिलकुल निर्दोष है। छापे की लिपि के नाते जितने गुण होने चाहिए, वर्तमान देवनागरी में वे सब विद्यमान नहीं।

छापे की कला हमारी शिक्षोन्नति में बहुत कुछ सहायक हुई है और होगी भी। और शिक्षोन्नति की आवश्यकता तो भारत में अभी बहुत ही अधिक है। इस दशा में यह आवश्यक है कि छपाई का काम सरल हो और शीघ्रता से भी हो। उसमें इतना सुधार हो जाय कि उसके लाइनो-टाइप, टाइप-राइटर आदि यन्त्र भी सरलता-पूर्वक बनाये जा सकें।

अतएव अब नागरी-लिपि के उन छोटे-मोटे दोषों का वर्णन यहाँ किया जाता है जिनके दूरीकरण से हमारा पूर्वोक्त अभीष्ट सिद्ध हो सकता है—

(१) आ, ऽ इन दोनों का भेद दिखाने के लिए किसी चिह्न की योजना होनी चाहिए।

(२) pen और, pain के उच्चारण में भेद है। अतएव दो प्रकार के एकार के चिह्न बनाना भी आवश्यक है।

(३) ए, ऐ के उच्चारण में बड़ी गड़बड़ है। एसा, ऐसा, जेसा, जैसा, इन दोनों में ए, ऐ के उच्चारण से भिन्न एक तीसरा ही उच्चारण करना पड़ता है। इसके लिए भी कोई सङ्केत निश्चित होना चाहिए।

(४) ख अक्षर र, व भी पढ़ा जा सकता है। अतएव इसके रूप में कुछ फेर-फार होना चाहिए, जिससे यह भ्रम दूर हो जाय।

(५) कुछ अक्षरों का उच्चारण पूरा न होकर अधूरा होता है; जैसे तसवीर का उच्चारण होता है तस्वीर; परन्तु लिखा जाता है तसवीर ही। हम्, जिस्को आदि का भी यही हाल है।

(६) पाप् ग्रह, पापूग्रह आदि उच्चारण भी नये सीखने वाले के लिए भ्रमोत्पादक हैं।

इन दोषों का कारण है। जिस समय हमारी लिपि की सृष्टि हुई उस समय विदेशी ध्वनियों के व्यक्तीकरण की आवश्यकता ही न थी। छापेख़ाने की कल का तो कहीं पता-ठिकाना भी न था। इस दशा में कोई नई कल्पना करता क्यों?

परन्तु अब वह स्थिति नहीं। टाइप-राइटिंग, मोनो-टाइप, लाइनो-टाइप, इत्यादि छापने की कलाओं की उन्नति और वृद्धि झपाटे से हो रही है। कार्य्याधिक्य अतएव समयाभाव के कारण घण्टों हाथ से लिखने की अपेक्षा छापे के द्वारा काम निकालना अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होगया है। हाथ की अपेक्षा छापेख़ाने से हज़ारों गुना शीघ्र लिखा जा सकता है। अतएव हस्त-लेखन-लिपि की अपेक्षा जो लिपि प्रेस के लिए ज़ियादह सुभीते की हो, उसी का प्रसार अधिक होना चाहिए।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए। बालबोध अर्थात् देव-नागरी लिपि की अपेक्षा मराठी की मोड़ी-लिपि बड़ी जल्दी लिखी जा सकती है। पर उसके अक्षर ऐसे बेढङ्गे होते हैं कि उनके टाइप बड़ी कठिनता से ढाले जाते हैं। बालबोध-अक्षरों का हाल ऐसा नहीं। इसीलिए बालबोध-लिपि का तो प्रचार बढ़ गया, पर मोड़ी का रुक गया। इससे ज्ञात होता है कि जिस लिपि से छापने का काम ख़ूब हो वही अधिक महत्त्व की है।

तो अब प्रेस के सुभीते के अनुसार लिपि में परिवर्त्तन करना अत्यन्त आवश्यक है। लिपि के लिए छापेख़ाने की चाल नहीं रोकी जा सकती। छापेख़ाने के सुभीते के अनुसार लिपि में ही संशोधन करना चाहिए। अनुपयुक्त

लिपि में यदि सुधार न किया जाय तो उससे छापेख़ाने की हानि नहीं ; उलटा लिपि की ही हानि होगी।

देवनागरी-लिपि को प्रेस ने अपनाया अवश्य है, पर इससे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रेस की यह कठिनाई दूर कर दी जाय तो बड़ा काम हो। यदि ऐसा न हुआ तो देवनागरी-लिपि दूसरी लिपियों के आगे न बढ़ सकेगी।

छापेख़ाने जारी होने के पहले लोग हस्त-लिपि के द्वारा ही अपना काम चलाते थे। इन दिनों पुस्तकों के बड़े दाम होते थे। परन्तु छापेख़ाने खुलते ही यह प्रथा लुप्त-प्राय हो गई। अब, आज कल, लेखक का अर्थ कर से लिखने वाला नहीं, बल्कि मस्तिष्क से लिखने वाला, हो गया है। सम्भवतः यह अर्थ भी आगे चल कर लोप हो जायगा। अँगरेज़ी-भाषा के लेखक अब अपने हाथ से लेख नहीं लिखते, किन्तु टाइप से लिखने लगे हैं। सम्पादक हस्त-लिखित लेख पसन्द नहीं करते। वे नोटिस देने लगे हैं कि टाइप के लिखे लेख ही भेजिए। सरकारी पत्र-व्यवहार और अधिकांश राज-काज तो प्रायः टाइप ही के द्वारा होता है। बड़े बड़े न्यायाधीश अपने फ़ैसले हाथ से न लिख कर टाइप-राइटर से ही लिखते हैं। आगे चल कर लेखक का मतलब मस्तिष्क से विचार उत्पन्न करके टाइप से एकदम लिखनेवाला हो जाय तो आश्चर्य्य नहीं। यही न्याय नागरी पर भी चरितार्थ हो सकता है। लिपि साफ़ न होने के कारण कम्पोज़िटर लेखों को पढ़ नहीं सकते। वे ज्यों त्यों करके कम्पोज़ करते भी हैं तो बड़ी बड़ी अशुद्धियाँ कर जाते हैं।

अतएव नागरी लिपि में इतना सुधार अवश्य करना चाहिए कि वह छापेख़ानों के लिए उपयुक्त हो जाय।

अभी तक कम्पोज़ीटरों को एक एक अक्षर अपने हाथ से उठा उठा कर 'स्टिक' में जोड़ना और सतरें बनानी पड़ती थीं। भारतवर्ष में तो अब भी यही प्रथा अधिकांश में प्रचलित है। पर अब विलायत की तरह यहाँ भी यह पद्धति सुभीते की नहीं समझी जाती। एक नई कला ईजाद हो गई है जिससे अब कम्पोज़ीटरों को हाथ काले करने की आवश्यकता नहीं रही। मोनो-टाइप, लाइनो-टाइप आदि नवीन यन्त्रों की रचना के द्वारा अब कम्पोज़ करने की बहुत सी असुविधायें दूर हो गई हैं। जिस तरह हारमोनियम बाजे को उँगुली से दबाते ही इच्छित सुर निकलता है अथवा जिस तरह टाइप-रायटर की 'की' अर्थात् चाभी पर उँगुली रखते ही इच्छित अक्षर काग़ज़ पर छप जाता है उसी तरह लाइनो-टाइप-यन्त्र की भी चाभियों (Keys) को दबाते ही अक्षर आप ही आप उठ उठ कर जुड़ते चले जाते हैं। टाइम्स आव् इंडिया के सदृश बड़े बड़े छापे-ख़ानों में आजकल बहुत सा कम्पोज़ ऐसे ही यन्त्रों से किया जाता है। ये यन्त्र धीरे धीरे सस्ते भी हो रहे हैं। और, कोई कारण नहीं कि उनका प्रचार हिन्दी के छापेख़ानों में भी न हो। पर तभी जब नागरी लिपि उन यन्त्रों के सुभीते के अनुकूल अपनी चाल बदलेगी। छापेख़ाने के रङ्ग-ढङ्ग ज्यों ज्यों बदलते जायँगे, ज्यों ज्यों नवीन सुधार उसमें होते जायँगे, त्यों त्यों जो लिपि उसकी आवश्यकता के अनुकूल सुधार न करेगी उसका प्रवेश उसमें पूर्ण रूप से न हो सकेगा। इसलिए नागरी लिपि को सब प्रकार प्रेस-प्रिय होने की तैयारी अभी से करनी चाहिए।

पादरी नोल्स साहब का कहना है कि देवनागरी तथा अन्य हिन्दुस्तानी लिपियाँ, टाइप-राइटर अथवा लाइनो-टाइप की बात तो दूर है, मामूली छापेख़ानों के भी सुभीते की नहीं। पर रोमन-लिपि इन दोषों से मुक्त है। इसलिए समस्त एतद्देशीय लिपियों को तिलाक़ देकर रोमन-लिपि का पाणिग्रहण करना चाहिए। आपका यह कथन कि हमारी वर्तमान लिपियों में प्रेस की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता नहीं है, बहुत कुछ सत्यांश रखता है।

हिन्दी-टाइप ढालने वालों की राय है कि जहाँ अँगरेज़ी टाइप के अक्षर सवा सौ काफ़ी होते हैं वहाँ देवनागरी के कोई पाँच सौ ढालने पड़ते हैं। यही कारण है जो अँगरेज़ी टाइप छः सात सौ प्रकार का मिल सकता है; पर नागरी-टाइप पचीस तीस क़िस्म का भी मुश्किल से मिलता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इस संख्या में नागरी के टाइप के केस का एक नमूना अन्यत्र दिया गया है। केस दो होते हैं—एक ऊपर या सामने का, दूसरा नीचे का। जिन अक्षरों का उपयोग अधिक होता है वे नीचे के केस में और जिनका उपयोग कम होता है वे ऊपर के केस में रक्खे जाते हैं। इससे कम्पोज़ीटर हाथ को बार बार फैलाने की कसरत से बच जाता है।

अँगरेज़ी वर्णमाला में एक तो यों भी नागरी से कम अक्षर हैं, फिर उसमें नागरी की तरह भिन्न भिन्न मात्राओं का बखेड़ा नहीं। इस कारण उसके दोनों केस नागरी के एक केस से भी छोटे होते हैं। और यदि अँगरेज़ी में छोटे (Small) और बड़े (Capital) अक्षरों का प्रपञ्च न हो तो और भी छोटे केस से काम चल जाय। परन्तु नागरी के केस इतने बड़े होने पर भी उसके सब अक्षर अलग अलग नहीं रक्खे जा सकते। अतएव कितने ही खानों में दो दो अक्षर रखने पड़ते हैं। इससे कम्पोज़ीटर को बहुत बार देख देख कर अक्षर जोड़ने पड़ते हैं जिससे बहुत समय लग जाता है।

अँगरेज़ी केस की ऊपर की लाइन में ९८ घर और नीचे की लाइन में ५४ घर होते हैं। पर ऊपर की लाइन में कुछ घर तो ख़ाली ही पड़े रहते हैं। इसके विपरीत नागरी के ऊपर के केस में १२८ घर होते हैं और नीचे के केस में ११०। अर्थात् अँगरेज़ी में कुल १५२ ख़ानों से काम मज़े में निकल जाता है तो नागरी में २५० से भी पूरा नहीं पड़ता। हाल में जो नवीन टाइप बनाये गये हैं उनके लिए तो केस में ऊपर २०० और नीचे १६० ख़ाने रखने पड़े हैं।

यही कारण है कि अँगरेज़ी-टाइप की तरह हिन्दी-टाइप सस्ता नहीं पड़ता। अँगरेज़ी-टाइप की अपेक्षा नागरी-टाइप चौगुना ढालना पड़ता है। अँगरेज़ी में कुल २६ अक्षर हैं। छोटे और बड़े के भेद से वे ५२ हो जाते हैं। और नागरी के भी अक्षर ५२ ही हैं। आ, ऐ, ओ, औ, अं, अः इनको छोड़ देने से तो असली अक्षर ४६ ही रह जाते हैं। तिस पर भी नागरी के केस इतने बड़े क्यों?

इसका कारण यह है कि नागरी में संयुक्त अक्षरों ने बड़ी गड़बड़ मचा रक्खी है। पर अँगरेज़ी इससे बिलकुल बरी है। नागरी में प्रायः प्रत्येक अक्षर किसी दूसरे अक्षर के साथ हाथ पैर तोड़ कर जोड़ा जाता है—दोनों का मिल कर एक संयुक्त अक्षर हो जाता है। जब तक हाथ से ही लिखने की परिपाटी थी तब तक तो यह प्रथा ठीक थी; क्योंकि लिखने-वाला जैसा चाहता अक्षर का अङ्ग-भङ्ग कर सकता था। पर प्रेस इतना आज्ञाकारी नहीं। टाइप तो जैसे एक बार ढाल दिये जाते हैं वैसे ही बने रहते हैं। बार बार उनके हाथ पैर काटे नहीं जा सकते। "क्रम" यह शब्द हाथ से लिखते समय 'क' लिख कर फिर र का अङ्ग-भङ्ग करके किसी प्रकार उसे 'क' में जोड़ देना सरल है। पर 'र' का टाइप 'क' में मिलने के लिए साफ़ नहीं कटता है। इसलिए 'क्र' का टाइप अलग ढालना पड़ता है। इसी तरह सभी अक्षरों का दूसरे अक्षरों के साथ जोड़ा जाना शक्य नहीं। अतएव संयुक्त अक्षर के लिए अलग अलग टाइप ढालने पड़ते हैं। सुभीते के लिए आज तक कितने ही प्रकार के टाइप ढाले गये; तिस पर भी ५००, ६०० से ज़ियादह न ढाले जा सके। फिर भी असुविधा बनी ही रही!

कहने को तो नागरी के अक्षर ४६ हैं, पर ढालने के वक्त कोई दस गुने हो जाते हैं। यह सब संयुक्त अक्षरों की कृपा का फल है। संयुक्त अक्षरों का यह क्रम ही नागरी का टाइप-राइटर बनाने में अड़ङ्गा लगाता है। रेमिङ्गटन कम्पनी ने अँगरेज़ी टाइप-राइटर के अनुसार हिन्दी का भी टाइप-राइटर बनाया है; पर उसमें भी संयुक्त अक्षरों ने कैसी गड़बड़ की है, यह अँगरेज़ी 'की'-बोर्ड और नागरी 'की'-बोर्ड दोनों को मिला कर देखने से ही मालूम हो जाता है।

हिन्दी 'की'-बोर्ड अँगरेज़ी की अपेक्षा दुगुना है। अँगरेज़ी 'की'-बोर्ड में एक ही अक्षर के योग से बड़े और छोटे अक्षर छप सकते हैं। यही उसकी विशेष सरलता का कारण है। हिन्दी के ४६ अक्षरों में से कम महत्त्व के अक्षरों को छोड़ कर यदि शेष अक्षरों से ही काम लिया जाय तो हिन्दी का भी बोर्ड ऐसा ही सरल बन सके और छापेख़ाने के अँगरेज़ी केस में ही हिन्दी के सब टाइपों का समावेश हो सके। परन्तु संयुक्त अक्षरों का झगड़ा कैसे मिटाया जाय। यदि यह दिक़्क़त दूर हो जाय तो अँगरेज़ी के छोटे-बड़े ५२ अक्षरों से भी कम ४६ अक्षर अच्छी तरह काम में लाये जा सकें और नागरी अपनी प्रतिस्पर्धिनी रोमन-लिपि के भी कान काटने लगे।

केवल टाइप-राइटर के सुभीते ही के ख़याल से नहीं, बल्कि मामूली छापेख़ानों के सुभीते के लिए भी संयुक्त अक्षरों में आवश्यक सुधार होना चाहिए। तो अब यह सुधार किस तरह किया जाय? नागरी के बहुत से अक्षरों में काना अर्थात् खड़ी लकीर लगी रहती है। यदि यह काना अलग कर लिया जाय तो अक्षर आधा रह जाता है। यह आधा अक्षर सरलतापूर्वक दूसरे अक्षर से जोड़ा जा सकता है।

अतएव यह काना यदि उड़ा दिया जाय तो इने गिने दो चार अक्षर रह जायँगे जिन को जोड़ने के लिए नये टाइप की आवश्यकता रह जायगी। तब केवल ९० टाइपों सेही सब काम सुन्दरतापूर्वक, बिना विशेष अस्वाभाविक परिवर्तन के, हो सकेगा। अन्यत्र दिये गये नक़शे में यह क्रम दिखाया गया है।

दूसरी कठिनता है मात्राओं की। ह्रस्व और दीर्घ, इकार, उकार, ऋकार, लृकार और अनुस्वार ये स्वर-चिह्न हैं। इनका लिखा जाना या व्यञ्जन के साथ जोड़ा जाना संयुक्त अक्षर लिखते समय सरल सा है; पर छापेख़ाने के लिए फिर भी यह दिक़्क़त की बात है। अँगरेज़ी टाइप जोड़ना अत्यन्त सरल है। उस के कम्पोज़िंग में एक के बाद दूसरा अक्षर रख देने से ही कार्य सम्पादन हो जाता है। पर हिन्दी में यह बात नहीं। हिन्दी की एक सतर कम्पोज़ करने के लिए अप्रत्यक्षतः तीन सतरें बनानी पड़ती हैं। ऊपर की सतर में केवल ई और ऐ, औ की मात्रायें तथा अनुस्वार, दूसरी पङ्क्ति में केवल दो उकार, ऋकार और लृकार तथा हलन्त का चिह्न होता है। इस प्रकार एक के बदले तीन पङ्क्तियाँ तैयार करनी पड़ती हैं। अर्थात् जहाँ ई आदि की मात्रायें और अनुस्वार नहीं रहता वहाँ ख़ाली टाइप भर देना पड़ता है। इसी तरह जिन अक्षरों के नीचे ऋकार, लृकार नहीं रहते उन के नीचे भी वैसे ही ख़ाली टाइप भरना पड़ता है। इन टाइपों को प्रत्येक अक्षर के साथ बार बार भरने के कारण कम्पोज़िंग में बहुत परिश्रम और समय लगता है। इसी कठिनाई के कारण न तो लाइनो-टाइप ही सरलता-पूर्वक बनाया जा सकता है और न टाइप-राइटर ही अच्छा बनाया जा सकता है।

अच्छा, ये तीनों सतरें भी सरलता-पूर्वक बन जाती हों, सो भी नहीं। मात्राओं के कारण फिर भी कभी कभी बड़ी दिक्क़त पेश आती है। अक्षरों और डिगरियों की नाप बराबर नहीं होती। कुछ टाइप-फाउंडरीवालों ने हाल में थोड़ा सा सुधार किया है; पर फिर भी दिक़्क़त बनी ही रहती है।

पर यदि प्रयत्न किया जाय तो यह दिक्क़त भी दूर की जा सकती है। मात्रायें ऊपर नीचे लगाने के बदले उनके चिह्नों में कुछ फेर-फार करके उन्हें अक्षरों के सामने रख देने से काम ठीक चल सकता है। केवल उ, ऊ, र ( )अनुस्वार और बिन्दु (जैसे ड़, ढ़) चिह्नों को आगे रखना विचित्र सा प्रतीत होता है। पर यह चाल चल निकलने पर विचित्रता लोप हो जायगी।

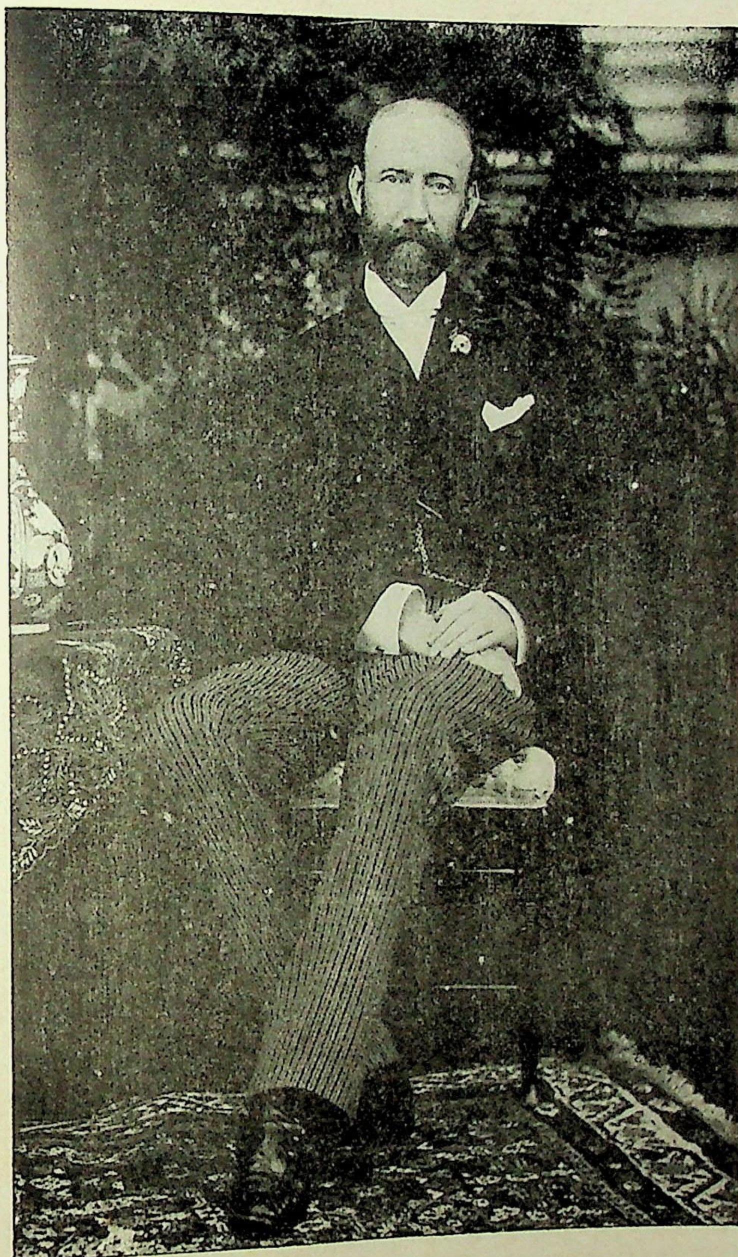
यह सुधार हो जाने पर कम्पोज़िंग जल्दी और सुगमता से होने लगेगा। इस से छपाई सस्ती हो जायगी और पुस्तकें कम क़ीमत में बिकने लगेंगी। इसको स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

हाल में पैका टाइप काम में कम लाया जाता है। क्योंकि एक तो उस के दाम ज़ियादह हैं, दूसरे पतला होने के कारण उसका कम्पोज़िंग कठिन और कष्टसाध्य है। परन्तु यदि अक्षरों के आगे मात्राओं आदि के टाइप जमाने की युक्ति काम में लाई जाय तो पतले से पतले टाइप में भी कम्पोज़ करना सहल हो जायगा। इसका फल यह होगा कि ग्रेट प्राइमर के (जो आज कल अधिक काम में लाया जाता है) बदले पुस्तकें पैका टाइप में ही छपने लगेंगी। पैका टाइप ग्रेट प्राइमर की अपेक्षा ⅔ छोटा होने के कारण काग़ज़ भी ⅔ कम लगेगा। आज कल का चतुर से चतुर कम्पोज़ीटर एक घण्टे में ग्रेट प्रायमर १४ एम् में ४० सतरें कम्पोज़ कर सकता है। वही आदमी अँगरेज़ी के लाइनो-टाइप की ७० से ८० तक सतरें तैयार कर सकता है। अर्थात् लाइनो-टाइप के कम्पोज़िंग में आधा समय लगता है। अतएव यदि नागरी के लिए भी लाइनो-टाइप मैशीन काम में लाई जाय तो आज की अपेक्षा दस गुना काम होगा। लाइनो-टाइप में पैका से भी छोटा टाइप काम में लाया जा सकेगा।

इसका परिणाम यह होगा कि ३०० सफ़े की पुस्तक २०० सफ़ों में ही पूरी हो जायगी। छपाई और काग़ज़ आदि का ख़र्च भी इसी परिमाण में कम होगा। फलतः पुस्तक की क़ीमत आज की अपेक्षा प्रायः आधी हो जायगी। इससे प्रकाशक और पाठक दोनों का हित-साधन होगा।

इस के अतिरिक्त लाइनो-टाइप से और भी एक लाभ होगा। टाइपों की संख्या कम हो जायगी। इस से टाइप ढालनेवालों का परिश्रम बच जायगा और टाइप सस्ता दिया जा सकेगा। इस से छपाई और भी सस्ती और पुस्तक के दाम और भी कम हो जायँगे।

टाइपों की संख्या कम होने से टाइप-राइटर-मशीन भी अच्छी बन सकेगी। उनका आकार भी छोटा हो सकेगा। अतएव वे स्वल्प मूल्य में मिल सकेंगी।



सर विलियम वडरबर्न ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।



ऊपर और नीचे की पङ्क्तियों का जब अस्तित्व न रहेगा तब कम्पोज़िंग भी पक्का और उत्तम होगा। कानों और मात्राओं की जो दिक्कत प्रूफ़-संशोधन के समय होती है वह दूर हो जायगी। केस दो के बदले एक ही बस होगा। एक ही ख़ाने में कई प्रकार के टाइप इकट्ठे रक्खे जाने से ढूँढा-ढाढ़ी में जो समय व्यर्थ जाता है वह समय बच जायगा। क्योंकि तब एक ही घर में दो प्रकार के टाइप रखने की आवश्यकता ही न रह जायगी।

डिगरी ऊपर नीचे लगाने की दिक्क़त भी न रह जायगी। यह समय भी बचेगा। कम्पोज़िंग शीघ्रता से सरलता-पूर्वक उत्तम हो सकेगा। ऊपर नीचे की सतरों की जगह भी बच जायगी। इससे जिस जगह में अभी १०० पङ्क्तियाँ छपती हैं उसमें कम से कम १५० तो अवश्य ही छप सकेंगी। कम्पोज़ीटर को कम्पोज़िंग सीखने में जो आज कल छः, सात मास लगते हैं वह न होगा। एक ही दो महीनों में वह आसानी से कम्पोज़ करने लगेगा। अभी एक एम, पौन एम, हाफ एम की डिगरियाँ ज़ियादह लगती हैं। वे बार बार ख़राब भी हो जाती हैं। हाफ एम की डिगरियाँ मँगाने पर कारख़ाने-वाले अक्षरों से चौगुनी क़ीमत लेकर भी बहुधा नहीं देते। उसी प्रकार, मात्रायें और अनुस्वार तथा काने भी बार बार ख़राब होते रहते हैं, जिससे बार बार नया टाइप मँगाना पड़ता है। पुराने टाइप के साथ नये अक्षर जोड़ने से पुराने अक्षर उठते ही नहीं। मात्रायें इत्यादि, दबाव पड़ने पर, निकम्मी होने लगती हैं। इत्यादि इत्यादि अनेक दिक्क़तें भी इस दशा में दूर हो जावंगी।

दोनों केसों में मिल कर चार पाँच सौ से भी ज़ियादह अक्षर होते हैं। नीचे के केस के अक्षरों का ही उपयोग अधिक होता है। इससे वे तो जल्दी घिस जाते हैं; पर ऊपर के केस के कई अक्षर कोरे ही बने रहते हैं। फलतः ऊपर का टाइप, नया होने पर भी, नीचे के घिसे हुए टाईप के साथ चौथाई से भी कम क़ीमत में माटी-मोल बेचना पड़ता है।

दोनों केसों में यों तो अक्षर चार—पाँच सौ होते हैं, पर बार बार काम में आनेवाले अक्षर सौ ही डेढ़ सौ होते हैं। कल्पना कीजिए कि आपने साठ पौंड टाइप मँगाया और उसे केसों में भर दिया। अब आप कम्पोज़िंग करने लगे। रायल अठपेजी में आपको कम्पोज़ करना है। दो ही पृष्ठ कम्पोज़ करने के बाद टाइप कम पड़ने लगेगा। पर नई पद्धति के अनुसार ढाला हुआ इतना ही टाइप यदि आप मँगावें तो एक एक अक्षर इतनी अधिक संख्या में आवेगा कि आप कोई चार पृष्ठों का मज़मून मज़े में कम्पोज़ कर लेंगे। यही लाभ सब से अधिक है।

इस सुधार की बदौलत नागरी-लिपि के साहित्य की वृद्धि होगी और प्रेस, प्रकाशक, प्रणेता और पाठक सब को बड़ा सुभीता और लाभ होगा।

श्रीयुत काले नाम के एक सज्जन ने नवीन टाइपों के अक्षर, सङ्केत इत्यादि की योजना उक्त "मनोरंजन" में छपाई है। वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। पर मेरे विचार से वह कुछ अपूर्ण सी है। अतः कुछ सुधार करके वह प्रकाशित की जाती है। आशा है, नागरी-लिपि की उन्नति की इच्छा रखने-वाले सज्जन, विशेष करके प्रेसों के सञ्चालक, इस पर विचार करेंगे।

इस योजना के अनुसार ५१ अक्षर तथा मात्रायें और अन्यान्य चिह्न आदि मिला कर कुल ६० टाइप ढालने से ही पूरा पूरा काम चल सकेगा। संयुक्त अक्षरों और मात्राओं की गड़बड़ भी न रहेगी। संख्या कम होने से टाइप सस्ता भी मिल सकेगा। कम्पोज़िंग शीघ्र हो सकेगा। कम जगह में ज़ियादह मज़मून आ सकेगा। इन सब के फल से पुस्तकें स्वल्प मूल्य में बेची जा सकेंगी।

अतएव टाइप-फ़ाउंडरीवालों को चाहिए कि वे कम से कम यह प्रयोग अवश्य कर देखें। पहले पहल केवल नई मात्रायें तथा कुछ हलन्त अक्षर ढालने से भी काम चल सकता है। जब टाइप ढल कर तैयार हो जाय तब समाचार-पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं को आगे बढ़ना चाहिए। पहले वे हेडिंग भर उसमें छपवावें। इससे पाठकों को नई लिपि पढ़ने का अभ्यास हो जायगा। फिर धीरे धीरे एक-आध कालम (विशेष कर रोचक विषयों का) इस लिपि में छापना प्रारम्भ करें। ऐसा करने से थोड़े ही समय में यह लिपि जन-समाज में प्रचलित हो जायगी। तब उपन्यास इत्यादि मनोरञ्जक पुस्तकों का प्रकाशन उसमें किया जायगा। इस प्रकार धीरे धीरे यह नूतन लिपि वर्तमान लिपि की तरह आदर-पात्र हो जायगी और इसका प्रयोग सर्वतोभावेन होने लगेगा।

प्रेसों के द्वारा नूतन लिपि का कर-ग्रहण होते ही नवीन आविष्कृत यन्त्र भी (टाइप-राइटर, मोनो-टाइप, लाइनो-टाइप आदि) इस परिमार्जित देवनागरी-लिपि को अपनाये बिना न रहेंगे। फिर नोल्स साहब तथा उनके पक्षपातियों की टीकाटिप्पणी करने का अवसर ही न रह जायगा। तब देवनागरी-लिपि का सब लिपियों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेना प्रत्यक्ष हो जायगा।

गणेशराम मिश्र

स्वास्थ्य-मन्त्र।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता।

गीता के पाठकों में बहुत ही कम लोग ऐसे होंगे जिन्हें गीता का यह श्लोक याद न होगा। कितने ही लोग तो इस श्लोक को अपने कमरों में, अथवा पुस्तकों के मुख-पृष्ठों पर, बड़े बड़े अक्षरों में लिख रखते हैं, जिससे उसका, और उसके निमित्त से तदन्तर्गत तत्त्वों का, मनन और तदनुरूप आचरण कम से कम उसकी चेष्टा, सदैव होती रहे। इस श्लोक का उपयोग लोग साधारणतः पारमार्थिक, अधिक से अधिक परोपकारक, कार्यों में किया करते हैं। बहुत कम आदमी ऐसे होंगे जो यह जानते होंगे कि व्यवहार में भी इसका उपयोग हो सकता है। उनमें भी बहुत ही कम मनुष्यों को यह मालूम होगा कि तदन्तर्गत तत्त्व का उपयोग शरीर-स्वास्थ्य के लिए भी हो सकता है। पूर्वोद्धृत श्लोक का तत्त्वज्ञान तो अधिकांश लोग रखते हैं। परन्तु तदनुरूप आचरण बहुत कम लोगों से बन पड़ता है। यही कारण है जो इसका ज्ञान बहुत थोड़े लोगों को होता है कि शरीर-स्वास्थ्य से इसका क्या सम्बन्ध है। एक अमरीकन तत्त्व-विवेचक की एक पुस्तक के आधार पर इस लेख में यह दिखलाया जायगा कि व्यवहार में यह तत्त्व कितना उपयोगी है और शरीर-स्वास्थ्य की साधना का यह कितना अनुपम मन्त्र है।

हमारे मनोविकारों की उत्पत्ति प्रायः शारीरिक विकारों के कारण ही होती है। शारीरिक विकार बाहरी वस्तु किंवा स्थिति के प्रत्यावर्त्तन का परिणाम है। उदाहरणार्थ—भय अथवा आश्चर्य हमारे मन में किसी वस्तु के स्वतन्त्र या प्रत्यक्ष परिणाम से उत्पन्न नहीं होते, अर्थात् किसी वस्तु को देखते ही हमारे मन पर एकदम सीधे उसका परिणाम नहीं होता। पहले शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं, फिर उनसे मनोविकारों की उत्पत्ति होती है। अतएव यदि हम शारीरिक विकारों का अवरोध कर सकें तो हमें उनके कारण भय या आश्चर्य न होगा, फिर वह वस्तु या स्थिति कितनी ही भयकारक किंवा आश्चर्य-जनक क्यों न हो। एक लेखक तो कहता है कि हम रोते हैं, इसीलिए हमें दुःख होता है; भागते हैं, इसीलिए भय मालूम होता है। वास्तव में हम न तो दुःख के कारण रोते हैं और न भय के कारण भागते ही हैं। सम्भव है, कुछ लोगों को यह अत्युक्ति जान पड़े और इसमें विरोध भी देख पड़े। पर मैं उनसे सहमत नहीं। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लें तो भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आँसू बहाने से आन्तरिक दुःख और क्रोध प्रकट करने से क्रोध और भी तीव्र हो जाता है। अतएव बालकों को नीति या सदाचार की शिक्षा देने में जो करना, कहना या दिखलाना अभीष्ट है उसी पर हमारा ध्यान पूरा पूरा रहना चाहिए। हमें क्या अनुभव होरहा है, इस ओर हमें दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं। यह सिद्धान्त बड़ा ही उपयोगी है। हमें अपने निज के सुधार—आत्म-संयमन—के लिए भी यह बड़े काम का है। यदि हम अपना डरपोकपन समय पर रोक सकें, उठाया हुआ घूँसा वापस ले सकें, अथवा कुत्सित शब्दों को मुँह में ही दबा सकें

तो हमारे मनोविकार शान्त और स्वच्छ हो जायँगे। फिर हमें दुःख और पछतावा न होगा। साधारणतः तो यही देख पड़ता है कि मनोविकार कार्य के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। परन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। मनोविकार और कार्य दोनों साथी हैं। मनोविकार की अपेक्षा कार्य, मनोबल के अधिक अधीन है। अतएव यदि हम कार्य को रोक सकें तो मनोविकार अप्रत्यक्ष रीति से आप ही रुक जायँगे।

मान लीजिए कि किसी की स्वाभाविक आनन्द-वृत्ति नष्ट होगई तो इसके लिए उसे निराश होने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि आनन्द-वृत्ति की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग तो उसके अधीन ही है। वह है—सदैव आनन्दरूप धारण किये रहना। अपने को आनन्दित दिखलाना और आनन्दपूर्वक समस्त व्यवहार करना। यदि इतना उससे न बन पड़े तो यही कहना चाहिए कि वह कभी आनन्दित नहीं हो सकता। यदि हम अपने को शूर बनाना चाहें तो हमें शूरता-सूचक ही समस्त व्यवहार करने चाहिए। इसी में अपना सारा मनोबल लगा देना चाहिए। बस, भय के स्थान में धैर्य आ खड़ा होगा। शत्रु के साथ यदि समहार्दिकता प्रकट करना है तो जान-बूझ कर उससे हँसिए, सहानुभूति की बातें कीजिए और नम्रता धारण करने का प्रयत्न कीजिए। अनुदार मनोविकारों से झगड़ने में, उनको रोकने में, उनको दबाने में, दोनों पक्ष घण्टों बिता देंगे, पर फल कुछ न होगा। परन्तु थोड़े ही हार्दिक हास्य से दोनों पक्षों का मेल शीघ्र हो जायगा; दोनों के हृदय मिल जायँगे। दुष्ट मनोविकारों से झगड़ा करते रहने में हमारा ध्यान उन पर और भी जम जाता है। वे चित्त में अधिकाधिक स्थान पाते जाते हैं। परन्तु, यदि अच्छे मनोविकार निरन्तर प्रकट किये जायँ तो पुराने दुष्ट मनोविकार अपना डेरा-डण्डा उठा कर चल देते हैं।

समस्त धर्म्म-ग्रन्थों और भक्ति-विषयक ग्रन्थों का यही कथन है कि हमें अपने मनोविकारों पर ध्यान रखना अनुचित है। तुम कितने ही सशङ्क-चित्त और श्रद्धा-हीन क्यों न हो, यदि श्रद्धा-पूर्वक कार्य करते रहोगे तो कभी न कभी श्रद्धावान हो ही जाओगे। तुम्हारे मनोविकारों की ओर परमेश्वर ध्यान नहीं देता। वह तो तुम्हारे हेतु ही पर दृष्टि रखता है। अतएव तुम्हें अपने हेतु-मात्र पर ही ध्यान रखना चाहिए। मनोविकार उत्पन्न हों चाहे नष्ट हों; उन पर तुम ध्यान ही न दो। तुम्हारे कार्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वे तुम्हारी आत्मा की अवस्था के परिचायक नहीं। वे तो केवल तुम्हारे स्वभाव अथवा शारीरिक अवस्था के सूचक हैं। हमारे कार्यों और मनोवृत्तियों के अनुसार नाना प्रकार के इन्द्रिय-विकार हममें उत्पन्न होते रहते हैं। उन्हीं से हमारी आन्तरिक अवस्था जानी जाती है। मनोविज्ञान का मूल सिद्धान्त यही है।

एक विद्वान् लेखक लिखता है—जिस रोगी के मज्जा-तन्तु विकृत होगये हैं उसकी अत्यन्त आन्तरिक अवस्था से वैद्य जब तक परिचित न हो तब तक उसकी चिकित्सा से विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं। इस आन्तरिक अवस्था का वर्णन करना कठिन है। वह मन के भीतर लुप्त सी रहती है। हम अपनी आन्तरिक अवस्था का ज्ञान किसी को शब्द द्वारा नहीं करा सकते। केवल हमारे कुछ मित्र ही उसका परिचय पा सकते हैं। इसी से वे हमारी व्यक्तिगत विशेषताओं के भी जानकार होते हैं। जिसका चित्त अस्वस्थ रहता है उसके हृदय में तरह तरह के पश्चात्ताप, भीरुता के कारण नष्ट हुई वासनायें और लज्जा के कारण रुकी हुई महत्त्वाकाङ्क्षायें इत्यादि तो रहती ही हैं, परन्तु, विशेष कर, ऐसी शारीरिक अस्वस्थता भी उसमें रहती है जिसका वर्णन तो स्पष्टतया कर नहीं सकते, पर जिसके कारण आत्म-विश्वास नष्ट होता रहता है

एवं ज्ञात होता रहता है कि शरीर की दशा ठीक नहीं है। संसार में मदिरापान की जो इतनी वृद्धि हुई है उसका कारण यह भी है। सुरा-सेवन से मनुष्य केवल पूर्वोक्त अवस्था को ही नहीं, किन्तु सारे बल-शोषक विकारों और विचारों को भी कुछ काल के लिए भूल जाता है। स्वस्थ-चित्त मनुष्य के हृदय में लज्जा अथवा भय स्थान नहीं पाते। यही नहीं, शरीर के कारण जो इन्द्रिय-विकार उत्पन्न होते हैं उनसे भी उसकी स्वस्थता बढ़ती जाती है और प्रत्येक कार्य में उत्साह की वृद्धि ही होती रहती है। शरीर के पूर्णतया स्वस्थ रहने पर प्रत्येक इन्द्रिय उत्साह से सम्पन्न जान पड़ती है, स्फूर्ति बढ़ जाती है और हम अधिक कार्य-क्षम हो जाते हैं। इसलिए ज़रा ज़रा सी बात के कारण उत्पन्न विकारों का अवलम्बन उचित नहीं।

बहुत से डाक्टरों का कथन है कि भोजन हज़म करने के लिए हमारी इन्द्रियों को भविष्यत् में बहुत कम श्रम करना पड़ेगा। क्योंकि अब ऐसे ही ऐसे भोजन आविष्कृत होंगे जो बहुत जल्द हज़म हो जाया करेंगे। यह शक्य है या अशक्य, इस विचार में उलझने की हमें आवश्यकता नहीं। इसकी शक्यता मान लेने पर भी हमारी इन्द्रियाँ निरर्थक नहीं हो सकतीं। हमारा चित्त स्वस्थ रहे, गम्भीर रहे, आनन्दित रहे, फुरती और उत्साह से हम भरे पूरे रहें, हमारा चिड़चिड़ापन दूर हो जाय, हमारे पास आने में—हमारे साथ व्यवहार करने में—किसी को कुछ भी भय अथवा शङ्का न हो—इन कार्य्यों की सिद्धि में हमारी इन्द्रियों से बड़ा काम निकलेगा—उनसे हमें बहुत लाभ होगा। शारीरिक दुर्बलता से ही मानसिक दुर्बलता उत्पन्न होती है और स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। जिसका शरीर हृष्टपुष्ट है—स्वस्थ है—वही सुखी है। उसका चित्त सदा शान्त रहता है और आत्मविश्वास तथा सन्तोष उसके हृदय में निरन्तर निवास करते हैं। ऐसी मनःस्थिति व्यवहार के लिए तो उपयोगी हुई है; परन्तु सुपरिणाम-कारक धार्म्मिक स्वस्थता भी इसी से उत्पन्न होती है। रात दिन अस्वस्थ रहना उचित नहीं। छोटी मोटी बातों से भी घबरा जाने का परिणाम बहुत बुरा होता है।

शरीर के अस्वस्थ होने से इन्द्रिय-विकारों की धारा सतत बहती रहती है। इससे चित्त में सदा घबराहट बनी रहती है। परिणाम यह होता है कि आन्तरिक दशा बुरी हो जाती है। यदि तुम एक मिनट भी स्वस्थ-चित्त न बैठ सको, सोलह की जगह उन्नीस या बीस बार प्रति मिनट श्वासोच्छ्वास करने लगो, और तिस पर भी कभी पूरी साँस न खीँच सको, तो तुम्हारी मानसिक दशा सदा क्लेश-मय बनी रहेगी। तुम्हें भविष्यत् का निकृष्ट स्वरूप ही सदा दिखाई देता रहेगा और तज्जात कष्ट तुम भोगते रहोगे।

उदासीन वृत्तिवाला रोगी अपनी रुग्णावस्था को देख देख कर अधिक दुखी हो जाता है। उसके विचारों का प्रवाह फिर दूसरी दिशा नहीं देखता। उसका मन केवल अपनाही राग अलापा करता है। दूसरे विचारों की उसमें गुञ्जाइश ही नहीं रहती। केवल दुःखकारक अवस्था से ही मन की दशा ऐसी नहीं होती। हर्षकारक विचारों से भी ऐसा ही होता है। अति हर्ष की अवस्था में साधु पुरुष भी गतिहीन और एक-विचारी हो जाता है। दूसरी बातों का कुछ प्रभाव उस पर नहीं पड़ता।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि यदि हम यह चाहें कि हमारा विचार-प्रवाह बन्द न होने पावे और हमारा मनोबल अच्छी दशा में बना रहे, तो हमें उचित है कि हम व्यर्थ विकारों का विचार ही न करें और उनके परिणाम पर ध्यान ही न दें। और और आदतों की तरह, हम यह आदत भी डाल सकते हैं। यदि हमने किसी कार्य का भार ग्रहण कर लिया है तो परिणाम की जवाबदेही और चिन्ता

को चित्त से दूर हटा देना चाहिए। अपने मन को—अपनी बुद्धि को—बन्धनों से मुक्त रहने देना चाहिए और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने देना चाहिए। परिणाम यह होगा कि मनोबल-वृद्धि से दूना कार्य होगा। जिन विद्यार्थियों को परीक्षा-फल की चिन्ता सताती रहती है, जो पास-फेल के विषय में बहुत उधेड़-बुन किया करते हैं वही परीक्षा-गृह में कोरी कापियाँ रख कर चले आते हैं। पर जो निश्चिन्त रहते हैं वे बहुधा सफल-मनोरथ होते हैं। चिन्ता और सोच के बोझ से मनुष्य की स्मरण-शक्ति दब जाती है। जो बहुत चिन्तन-शील होते हैं उनको साधारण बात-चीत तुच्छ जान पड़ती है। उनकी सङ्गति में साधारण मनुष्य को आनन्द नहीं आता। कभी कभी तो उनके सङ्ग से जी उकता उठता है। उनसे जी खोल कर बातें नहीं हो पातीं। उनसे बात करते समय नाना प्रकार की शङ्कायें चित्त में उत्पन्न हुआ करती हैं। इसके विपरीत सरल-हृदय ख़ुशदिल आदमी से दिल खोल कर बातें हो सकती हैं और उसकी सङ्गति से आनन्द भी प्राप्त हो सकता है।

चिन्ता के कारण मनुष्य अधिक गम्भीर और सङ्कोच-शील हो जाता है। वह समाज में स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करना छोड़ देता है। इससे वह कोई कार्य नहीं कर पाता। इस चिन्ता की सर्वोत्तम औषध है—धर्म्म-श्रद्धा। इसके बल पर जिसने अपना जीवन-क्रम विस्तृत और चिरस्थायी बना लिया उसको अपने जीवन के कलह-कलाप तुच्छ मालूम होते हैं। सच्चे धार्मिक पुरुष का मन डाँवाडोल नहीं होता। वह सदा सम बना रहता है। ऐसा पुरुष हर समय आपदाओं के स्वागत और कार्य्य की सिद्धि के लिए उद्यत रहता है।

सारांश यह कि कोई भी कर्म असक्त होकर करना ही सर्वोत्तम है। परिणामों की चिन्ता करने से विशेष लाभ नहीं। मन को कष्ट हो तो शरीर को भी क्लेश होता है। इससे अन्य हानियाँ तो होती ही हैं; परन्तु शरीर-स्वस्थता भी जाती रहती है, जो ऐहिक दृष्टि से बड़ी भारी हानि है। कार्यों के परिणाम का भार परमेश्वर को सौंप दीजिए और निश्चिन्त होकर कार्य्य करते रहिए। इसी से आप अधिक सफल-मनोरथ होंगे।

गोपाल दामोदर तामसकर

विवाह।

(१)

अञ्जनलाल सकसेना बी० ए० का विद्यार्थी है। एँट्रेंस से ही उसने संस्कृत ले रक्खी है। अँगरेज़ी और संस्कृत के मिश्र शिक्षण ने उसका हृदय बहुत कुछ उन्नत कर दिया है। माता-पिता से उसने जो स्वभाव प्राप्त किया था वह अब बहुत कुछ बदल गया है। शिक्षा की बारीक छलनी में छन कर उसकी क्रूरता और निर्दयता वीरता और नम्रता के रूप में परिणत होगई है। वह बचपन की अपनी बातों को याद करके अब बहुत दुखी हुआ करता है। उसने अपने क्रूर-स्वभाव के कारण बचपन में अनेक उत्पात किये थे। घसियारों की घास के गट्ठर और कहारियों के भरे हुए घड़े उसने एक बार नहीं, अनेक बार, गिराये और फोड़े थे। एक बार उसने ईख के रस-पूर्ण घड़े पर भी ईंट-पात किया था। स्नान करते हुए ग्रामीणों को देख कर वह मन भर के हँसा था। कालेज के विद्युद्दीप-दीप्त होस्टल के कमरे में अञ्जनलाल प्रसङ्गवश जब कभी रात को अपने बाल्यकाल की कठोर क्रीड़ाओं का चिन्तन करता तब सचमुच उसका संस्कृत मन दुःख और पश्चात्ताप से भर जाता था। जिन ग़रीबों को उसने अकारण तङ्ग किया था उनके लिए उसके हृदय में सहानुभूति का गहरा भाव पैदा हो जाता था। किन्तु वह घर की बूढ़ी कहारी के सिवा अब किसी को न जानता-पहचानता था, जो उनके पास जाकर अपने अपराध को क्षमा कराता और उनकी क्षति पूर्ण कर देता। बूढ़ी कहारी को, जब वह घर जाता था,

एक रुपया दे आता था। बूढ़ी समझती थी कि लड़का मेरी सेवा से प्रसन्न होकर मुझे इनाम देता है; किन्तु अङ्गन बाबू अपने कृत कर्म्म का प्रायश्चित्त करके अपने मन को थोड़ा बहुत हलका करता था।

बड़े दिन की छुट्टियों से वापिस आने के एक सप्ताह बाद ही उसे पिता, मुन्शी मोतीलाल, का पत्र मिला। पत्र सदा की तरह खूब लम्बा था। मटीले काग़ज़ के कोई दो वर्क़ रँगे हुए थे। पत्र की माप का लिफ़ाफ़ा न मिलने के कारण बूढ़े मुन्शी ने उसी काग़ज़ को मोड़ कर उसे लिफ़ाफ़े का रूप प्रदान कर दिया था। अङ्गनलाल किसी के सामने पिता का पत्र न पढ़ता था। कालेज के संक्षेपता-प्रिय लड़के "बृहन्निघण्टु" के उस बड़े नुसखे को देख कर ज़रूर हँसेंगे—यह उसकी पक्की और सच्ची धारणा थी। इसीलिए रात्रि को, भोजनोपरान्त, कमरे के किवाड़ बन्द करके, उसने मुन्शी मोतीलाल का पत्र 'सोलह आने' खोला। आरम्भ की पाँच पंक्तियों में "बरख़ुरदार नूर चश्म" पुरस्सर अनेक आशीर्वादात्मक वचनों की सृष्टि सदा की तरह की गई थी। इन शब्दों को कार्ड में भी लिखना वे न भूलते थे। उन्हें लिखते लिखते उनकी आँखें प्रायः आर्द्र हो जाती थीं। उसमें दिये गये प्रति आशीर्वाद को वे अवश्य फलप्रद समझते थे। प्राचीन ढर्रे के बचे हुए पिता जिस तरह इन आशीर्वादात्मक वाक्यों को लिखना न भूलते थे नव्य तन्त्र का शिक्षित पुत्र उन्हें पढ़ने का कष्ट कभी स्वीकार न करता था। पर इससे क्या? नीचे की कुल पंक्तियाँ तो उसे पढ़ना ही पड़ती थीं। घरेलू वृत्त को चतुर मुन्शी शब्दाडम्बर के गहन वन में इस तरह छिपा देते थे कि बिना सारा पत्र पढ़े मतलब समझना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य था। अङ्गनलाल ने पिता के दीर्घकाय पत्र का जो सार समझा, हम उसी को अपने शब्दों में नीचे लिखते हैं—

"बेटा, तुम्हारी जिया (माता) अब तुम्हारी दुल्हन को देखने के लिए बहुत आतुर हो रही है। वह रोज़ मेरे कान खाती और कहती है कि कहीं बहू का मुँह देखे और लगून का जोड़ा पहने बिना ही मैं न चल बसूँ! भाई, मैं तो जानता हूँ कि तुम बी० ए० पास करके विवाह करना चाहते हो। पर इसमें अभी दो वर्ष हैं। और, तुम्हारी जिया तो रोज़, अब मरी अब मरी, कह कर मुझे मारे डालती है। भाई, मैं बूढ़ा हूँ। यह दूसरी बात है कि "ईश्वर के करम से" जवानों से अच्छा हूँ; पर, फिर भी, पका हुआ आम हूँ। मालूम नहीं किस समय चू पड़ूँ। इन सब बातों को सोच कर मैंने तुम्हारा विवाह मुहल्ले के मुन्शी हरगोपाल की लड़की चुन्नी के साथ करना तय किया है। लड़की तुम्हारे साथ की खेली है। इसलिए उसके विषय में अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं। अब रहा दहेज़, सो उसके लिए मैंने लालाजी को खूब कस लिया है। वैसे तो बड़े रईस की दुम बनते थे; पर "ठहरावे" के समय लाला साहब बैल की तरह कन्धा डाल गये। बड़ी मुश्किलों से १५००) की शादी करने पर राज़ी हुए हैं। मैं जानता हूँ, तुम अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग ठहरावे को बुरा समझते हो। पर यह तुम्हारी भूल है। बड़ी अच्छी रसम है। नहीं तो हमारे पुरखा क्या बेवक़ूफ़ थे जो ये रसमें बाँध गये हैं! तुम अभी इन बातों को क्या समझो? अरे भाई! वे तो ५००) की शादी से चले थे। जब मैंने उनके ये ढँग देखे तब मैंने भी साफ़ साफ़ कह दिया कि मेरा लड़का १० हज़ार को भी सस्ता है। चलो हवा खाओ! यह सुन कर तो उन्हें दिन में तारे दिखलाई दे गये। तब कहीं लाला साहब १५००) की शादी करने पर तैयार हुए हैं। भैय्या, लोग बड़े दुकानदार हैं। अब तुम मेरी और अपनी माँ की बात को मान कर और मेरे बुढ़ापे पर तरस खाकर शादी को मञ्जूर कर लो। आज कल की बातें हैं कि पिता पुत्र से पूछ कर ब्याह पक्का करता है; नहीं तो हमारे "वालिद माजिद" ने तो हम से ज़िक्र तक भी न किया था। और, करते भी कैसे? उस समय हमारी, "ईश्वर रक्खे," कोई आठ साल की उम्र थी। ख़ैर, मैं यह जानता हूँ कि तुम चाहे बी० ए० में पढ़ो चाहे पी० ए० में, किन्तु हो "लायक़ बाप के लायक़ बेटे।"

मुन्शी मोतीलाल ने बैंजनी स्याही से मटीले काग़ज़ के पूरे दो तख़्ते लिख कर अन्त में पत्र को इस तरह समाप्त किया था—

"लिखने को अभी बहुत बातें हैं। किन्तु मुझे आज कचहरी में एक ज़रूरी काम के लिए जाना है। इसलिए अब इसे यहीं समाप्त करता हूँ।"

पत्र को पढ़कर अङ्गनलाल के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। चुन्नी के लावण्यमय चेहरे का उदय

उसमें बार बार होने लगा। वह अनिन्द्य सुन्दर चन्द्रमुख पिता की आज्ञा को शिरोधार्य्य करने की ज़बर्दस्त सिफ़ारिश उससे करने लगा। शिक्षित पुत्र इस विवाह को स्वीकार करके अपने हिसाब माता-पिता के आज्ञापालन और नैतिक पुण्य प्राप्त करने का प्रपञ्च रच रहा था; किन्तु उसके मन के अन्तस्तल में चुन्नी के देवता-दुर्लभ रूप का ही लोभ विशेष था।

पिता के पत्र का संक्षिप्त उत्तर लिख कर अङ्गनलाल ने निद्रा देवी की गोद में आश्रय ग्रहण किया।

(२)

बरेली के बिहारीपुर महल्ले में ख़ूब धूम-धाम है। मुन्शी मोतीलाल का मकान मिहमानों से भर रहा है। स्त्री-पुरुषों के झुण्ड आ रहे हैं। एक ओर दावत का विराट् आयोजन है; दूसरी ओर रण्डियों के नाच का पूरा प्रबन्ध है। शिक्षित पुत्र इन सब कामों को देख कर मन ही मन घुट रहा है; किन्तु पिता को इन अनर्थपूर्ण कामों से रोकने का उसमें साहस न दुस्साहस नहीं है।

मुन्शी शिवदयाल, जो मुन्शी मोतीलाल के अभिन्न मित्र हैं, मद्य के नशे में मत्त हो रहे हैं। वे प्रबन्ध करने के बहाने प्रबन्ध की जी खोल कर मिट्टी पलीद कर रहे हैं। मुन्शी मोतीलाल को सामने से आता हुआ देख कर मुन्शी शिवदयाल पारे की तरह बिखर गये और बोले—"सुना है, समधी ने लगुन में ३००) भेजे हैं और हम यहाँ उसके इन्तज़ार में चार सौ की पी गये। हा! हा! भतीजे का ब्याह है!" यह कह कर उन्होंने शराबिजन सुलभ एक विशेष मुद्रा का प्रकाश किया, जिसे देख कर बालक हँसने लगे और जवानों ने मुँह नीचे को कर लिया।

दूसरी ओर एक और बूढ़े मुन्शी खड़े हुए थिरक रहे थे। लड़कों की तालियाँ सुन कर वे, सफल व्याख्याता की तरह, घूम घूम कर भाव बता रहे थे। इस ताण्डव-काण्ड को देख कर अङ्गनलाल के रोमाञ्च हो आये। उसने समझा कि विवाह का निर्विघ्न समाप्त होना मुश्किल है। जहाँ पिता जैसे दरियानोश और मुन्शी शिवदयाल जैसे चुल्लू में उल्लू होने वाले बराती मौजूद हों वहाँ जो उत्पात न हो जाय, थोड़ा है।

रात भर नाच होता रहा। मद्य की गन्ध से मँगनई की दरी, क़ालीन और चाँदनियाँ सभी बस गईं।

मकान में अपनी सच्ची सहधर्म्मिणी से मुन्शी मोतीलाल ने कहा—देखो, नक्के ने कैसा जोड़ा भेजा है! मैंने इसीलिए तो उसे कसा था। जोड़े में कसर कर गया। ख़त में लिखा है कि जोड़ा ११।=)३ पाई की लागत का है। वाह! हमारे यहाँ की कहारियाँ ऐसे जोड़े पहनती हैं।

मुन्शनजी ने प्याले की पूर्णाहुति करते हुए कहा—मेरे जी में तो आया था कि उस बारहताली (समधन) के यहाँ जाकर उससे दो दो हाथ कर आऊँ। लेकिन अपनी ओर देख कर चुप हो रही। लड़की का ब्याह करने चली है या भीकने!

इसी तरह के भिन्न भिन्न स्तोत्रों से समधी-समधिन लड़की के माता-पिता के गुण-गान करने लगे। बेचारा अङ्गन उस समय हर्बर्ट स्पेन्सर का समाज-शास्त्र पढ़ रहा था। किन्तु अपने घर की सामाजिक दशा का जीवन्त चित्र देख कर वह उसे अधिक न पढ़ सका। उसके विवाह में अब भी २१ दिन की देर थी।

(३)

मुन्शी हरगोपाल साधारण प्रकृति के पुरुष थे। पिता जो कुछ थोड़ा बहुत छोड़ गये थे उसी से वे अपना निर्वाह करते थे। रहने का मकान और छोटी सी एक मिलकियत थी। उसी में सीर करा कर मुन्शी हरगोपाल साल भर का अन्न प्राप्त कर लेते थे। मोटे लेन-देन और खँडसाल से भी उन्हें ख़ासी प्राप्ति हो जाती थी। इसी तरह वे बड़ी युक्ति से, पर प्रतिष्ठा के साथ, अपना काम चलाते थे। उनके एक लड़का और एक लड़की—चुन्नी थी। चुन्नी का भाई रघुवर एम० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। विवेकी पिता ने अपनी आमदनी का अधिक भाग होनहार पुत्र की पढ़ाई में ख़र्च किया था। यद्यपि मुन्शी हरगोपाल टेम्परेन्स-सोसायटी या कायस्थ-कान्फ़्रेन्स के किसी अधिवेशन में भी सम्मिलित नहीं हुए थे; किन्तु फिर भी शराब को मुँह न लगाते थे।

अङ्गनलाल पर शुरू से उनकी नज़र थी। किन्तु उसके माता-पिता से उन्हें डर लगता था। लड़के की योग्यता को देख कर वे ज़रूर चाहते थे कि अपनी लड़की का विवाह

उसके साथ करें। सब कुछ सोच विचार कर उन्होंने बात चलाई। जैसा सोचते थे वैसा ही जवाब मिला। १०००) तलब हुए। मुन्शीजी का सब कुछ बिक कर भी मुश्किल से इतना रुपया इकट्ठा हो सकता था। उनके विभिन्न कामों को देख कर लोग उन्हें ज़रूर मालदार समझते थे; किन्तु वे अपनी श्रमलब्ध आय से प्रतिष्ठा के साथ अपना काम चलाये जाते थे। महल्ले के दो चार भले आदमियों को बीच में डाल कर उन्होंने मामले को पक्का किया। भाव-ताव होने लगे। मुन्शी मोतीलाल ने उसी दिन से मद्य की मात्रा सवाई कर दी। आख़िर को १२००) पर जाकर लड़के का सौदा हुआ। क़रीब एक हज़ार के उनके पास था। बाक़ी रुपये के लिए उन्होंने क़र्ज़ की व्यवस्था की। उनके एक ही लड़की थी। इसलिए उन्होंने सोचा कि लड़की की भलाई के लिए अपनी कुछ दिनों की तकलीफ़ का विचार न करना चाहिए। क़र्ज़ के लिए बात-चीत हो गई। काग़ज़ ख़रीद लिया गया। एक दो रोज़ में रुपया मिल जाता कि इतने ही में लग्न भेज कर वृद्ध हरगोपाल मस्तिष्क-ज्वर से पीड़ित हो गये। चार दिन तक होश न हुआ। महल्ले में ही समधियाना था। मुन्शी मोतीलाल भी देखने आये। उस समय भी हरगोपाल बेहोश थे। अङ्गनलाल ने पहले तो वहाँ जाने में सङ्कोच किया; किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि मुन्शी हरगोपाल का हाल बुरा है तब वह तत्काल वहाँ पहुँचा। उस समय उसे ध्यान भी न रहा कि वह ससुराल जा रहा है। मकान में जाते ही उसने सदा की तरह चुन्नी को पुकारा। चुन्नी बेहोश पिता के मुँह में जल डाल रही थी। उसने जवाब तो कुछ न दिया; एक गम्भीर, पर कातर, दृष्टि से उसे देख भर लिया। उस दुःख-भरी सुकोमल दृष्टि में कितनी तीक्ष्णता थी, कितनी वेदना थी—अङ्गनलाल अनुभव करने लगा। माँ ने आकर लड़की को अन्दर भेज दिया। अङ्गनलाल बहुत देर तक बैठा रहा। हाल पूछता रहा। वह चुन्नी की माँ को चाची कहा करता था। उसने कहा—चाचीजी, आप कहें तो मैं रात को यहीं रह जाऊँ। आप किसी तरह का सङ्कोच न कीजिएगा। किन्तु चुन्नी की माता ने उसे रोकने की आवश्यकता न समझी।

दूसरे दिन महल्ले के सब आदमियों ने बड़े दुःख से सुना कि मुन्शी हरगोपाल का देहावसान हो गया।

(४)

मुन्शी मोतीलाल की छोटी सी बैठक में उनके मित्र मुन्शी शिवदयाल बैठे हुए हैं। रात्रि का समय है। यथा-मिलितोपचार से भगवती वारुणी का आवाहन हो रहा है। दोनों मित्र मौज में खा-पी रहे हैं। बातें हो रही हैं। मुन्शी शिवदयाल ने चुस्की भरते हुए पूछा—भाई हुआ बुरा। लड़की का नसीब!

मुन्शी मोतीलाल ने कहा—भाई, मौत में किसका इजारा है। पर तुम ने और भी सुना! वह बेवा कुछ रङ्ग बदल रही है। कहती है, क़र्ज़ लेकर शादी करना चाहते थे। अब क़र्ज़ मिलता नहीं। कहाँ से रुपया आवे। अब तुम्हारे हाथ ही लाज है। कहो भाई, शिवदयाल, तुम्हें भी यक़ीन होता है कि उस कन्जूस को रुपया क़र्ज़ लेने की ज़रूरत थी। हमने कभी उसे खाते पीते नहीं देखा; कभी होली-दिवाली पर, तुम्हीं कहो, वह एक बूँद शराब पिलाता तो क्या, पीता भी था?

"राम! राम!! वह तो ऐसा कमबख़्त था कि न पिये था न पिलाये था। हमें तो इस बात का रत्ती भर यक़ीन नहीं होता।"

"मैं भी इन धोखे की बातों में आनेवाला नहीं।"

इसी समय द्वार खुला और महल्ले के दो भले मानसों ने प्रवेश किया। मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी आव-भगत से उन्हें लिया और स्वागत के तौर पर मद्य का पात्र उनके सामने उपस्थित किया। उन्होंने बड़ी नम्रता से निषेध किया और कहा—

"इस समय हम आपकी सेवा में इसलिए उपस्थित हुए हैं कि कल, जैसा कि आपको मालूम है, लाला हरगोपालजी के यहाँ शुद्धि आदि तो हो गई। अब भी विवाह में ७ दिन बाक़ी हैं। आप की आज्ञा हो तो इसी मिति पर, नहीं १०-१२ दिन बाद, किसी शुभ मुहूर्त्त में यह काम हो जाना चाहिए। अब बेवा की इज़्ज़त आपके ही हाथ में है। वहाँ लड़की और गङ्गाजल के सिवा अब और कुछ नहीं है।"

मुन्शी मोतीलाल ने कबाब के टुकड़े को चबा कर निगलने की सुविधा न देख वैसे ही कण्ठ के नीचे उतारते हुए कहा—भाई, इन बातों को रहने दो। उससे कह दो,

शादी चाहे छः महीने बाद कर दे; किन्तु "क़रार-दाद" का जो रुपया बाक़ी है वह उसे देना ही होगा। नहीं, दूसरा लड़का तजवीज़ कर ले। भाई शिवदयाल, तुम्हें मालूम ही है कि नन्हे की कैसे कैसे ऊँचे घरानों से सगाई आती थी। और, अब भी क्या बिगड़ा है। उन्हें लड़के बहुत, हमें लड़कियां बहुत। यह कहते कहते मुन्शी मोतीलाल ने मद्य का आधा ग्लास एक ही घूँट में पी डाला!

इस बीभत्स-काण्ड को देख कर और ऊपर लिखी अमानुषिक बातों को सुन कर उन दोनों सज्जनों को अपनी सफलता में भारी सन्देह हो गया। किन्तु उन्होंने फिर एक बार कुछ कहना चाहा था कि मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी तेज़ी से जवाब दिया—"महाशय, आप मुझे बेवक़ूफ़ न बनाइए। मैं समझ गया। कल प्रातःकाल उसका सब सामान, जो लग्न में आया है, अपना ख़र्च काट कर, आप लोगों के सामने उस के हवाले कर दूँगा। बस, ज़ियादह बक झक से कुछ फ़ायदा नहीं।"

दोनों भले मानस ठण्डी साँस भर कर वहाँ से उठ आये।

(५)

"चुन्नी"

"हाँ नन्हेजी—" उसकी ज़बान से भी एक साथ निकल गया। भावावेश में मानसिक व्यापार का अस्त-व्यस्त हो जाना नितान्त स्वाभाविक बात है।

अङ्गनलाल ने अन्दर जाकर अपनी सास से कहा—विवाह अभी होगा। ठीकठाक कीजिए। बाहर वे दोनों भद्र पुरुष बैठे हैं। वे इसी समय विवाह हो जाना उचित समझते हैं। मुझ से अब तक पिताजी ने कुछ नहीं कहा है। यदि कुछ कह दिया तो मैं बड़ी दुबिधा में पड़ जाऊँगा। लग्न वापिस होने पर बड़ी दिक्कत हो जायगी। आप विलम्ब न करें। महल्ले के प्रतिष्ठित आदमी अभी एक घण्टे में एकत्र हुए जाते हैं।

विधवा पहले तो कुछ न समझी। किन्तु थोड़ी देर ही में, एक एक करके, सभी बातें उसके शोकाकुल दिमाग़ में बैठ गईं।

दो घण्टे के अन्दर ही घर का नक़शा बदल गया। जो घर दीर्घ-निःश्वासों और करुण-रोदन से, कुछ समय पहले, शोक की मूर्त्ति बना हुआ था, अब वैवाहिक मन्त्रों की मधुर ध्वनि से पूरित हो गया। पाणिग्रहण के समय अङ्गनलाल ने जब चुन्नी का काँपता हुआ हाथ पकड़ा तब उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ। उसने बचपन से अनेक बार उस हाथ को पकड़ा था, किन्तु उसमें वैसी उष्णता, वैसी कृतज्ञता की अनुभूति, और वैसा अनिर्वचनीय भाव इससे पहले कभी उसे अनुभूत न हुआ था।

प्रातःकाल छः बजे जब पुत्र को स्थान पर न पाकर पिता मोतीलाल क्रोध में भरे हुए और लग्न के सामान की गठरी बग़ल में मारे, अपने मित्र शिवदयाल के साथ, विधवा के मकान पर आये तब प्रातःकाल की मन्द समीर में मिले हुए पूत यज्ञधूम की मनोहर सुगन्धि से उनके द्वेषपूर्ण मन को ज़रूर कुछ शान्ति प्राप्त हुई। मुन्शी मोतीलाल जानते थे कि अङ्गनलाल ज़रूर अपनी शीघ्र टूटनेवाली ससुराल गया होगा, और कहीं विधवा उसे अपने वाग्जाल में न फांस ले, इसी भय से वे इस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने के लिए, मित्र को लेकर, यथासम्भव शीघ्र आये थे। बाहर बैठे आदमी से उन्होंने साधारणतया पूछा—नन्हे कहाँ है?

भोले नौकर ने भी साधारणतया उत्तर दे दिया—अभी अन्दर ही हैं। आप भी जा सकते हैं।

चुन्नी का हाथ पकड़े हुए जभी अङ्गनलाल विवाह की वेदी से उठा था कि पिता के दर्शन हुए। पिता भी जो कुछ देख रहे थे उसे वेदान्तियों की माया की तरह अनिर्वचनीय समझते थे—न सच समझते थे, न झूँठ। चित्रवत् खड़े वे इस शान्त दृश्य को देख रहे थे। अङ्गनलाल ने अपनी वधू से कहा—"चुन्नी, पिताजी के चरण छुओ; इन्हीं चरणों की सेवा के लिए मैंने आज तुम्हारा पाणिग्रहण किया है।"

जिस समय वधू विद्यावती, उर्फ़ चुन्नी, ने ससुर के चरण स्पर्श किये उस समय कठोर मोतीलाल का पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत हो गया—वधू के सौभाग्य-पूर्ण चेहरे को देख कर, पुत्र के धर्म्मयुक्त साहस और उसकी सहृदयता को देख कर, या पुत्र-विवाह के प्राकृतिक हर्ष से आत्म-विस्मृत होकर, उसने चुन्नी-बहू के सिर पर हाथ रख कर कहा—प्यारी बेटी, सौभाग्यवती हो।

लग्न के सामान की गठरी को बग़ल में दबाये ठण्डे

पाँव वापिस आकर जब उन्होंने नन्हें की माँ से कहा—सुनती हो, तुम्हारे नन्हे का ब्याह हो गया, तैयारी करो, बहू आती है—उस समय सचमुच बूढ़े के चेहरे पर कठोरता या नीचता के भाव का निशान नाम को भी न था। उसका झुर्री पड़ा चेहरा पुत्र की सहृदयता और वधू की सौभाग्य-शालीनता से अभिभूत होकर एक स्वर्गीय भाव से आलोकित हो रहा था।

ज्वालादत्त शर्म्मा

शून्य हृदय।

द्विपद जन्तु तो थे ही, तुम क्यों शून्य हृदय होगये वृथा ?
कीच-क्रोड़ में, नीच-क्रोड़ सम, क्यों पट पड़ सो गये वृथा ?
पीठ ठोंकने ही से क्यों तुम पागल से हो बकते हो ?
मुख देखो, तुम कभी किसी का क्या कुछ भी कर सकते हो ?॥१॥

अशुभ वनेचर सम रव कर के हो सकते तुम बड़े नहीं,
कभी मृगेन्द्र-वृन्द के सम्मुख हो सकते हो खड़े नहीं,
पूर्व-जन्म के पुण्य-पुञ्ज से प्रभु ने किया तुम्हें धनवान,
बने आलसी बैठे खाओ पर मन में न बनो गुणवान ॥२॥

देश, जाति को धक्के देकर बनो न तुम पक्के जयचन्द,
भूल न जाना, शीघ्र तुम्हारी चीख़ चरफरी होगी बन्द।
उभय लोक में उभय पक्ष के धुकड़ धक्के खाओगे;
देश-द्रोही हो ईश्वर को कैसे वदन दिखाओगे ? ॥३॥

यदि तुम होते दीन कृषक तो आँख तुम्हारी खुल जाती,
जेठ-घाम में अस्थि तुम्हारी तप्त स्वेद में घुल जाती।
दानों बिना भटकते फिरते हर दम दुखड़े गाते तुम,
मुख से बात न आती, कैसे बढ़ कर बात बनाते तुम ? ॥४॥

स्वजनों को नीचा दिखलाना स्वयं नीच बन जाना है,
क्या अब तक भारत को तुमने अपना देश न माना है ?
क्यों कृतघ्न बनते हो ? सँभलो, फिर पीछे पछताओगे;
बन्धु-बान्धवों के मुख मिट्टी देकर क्या फल पावोगे ? ॥५॥

जो अपने थे उन्हें छोड़ कर वृथा मिले क्यों ग़ैरों में ?
अपने हाथों तुमने मारा क्यों कुठार निज पैरों में ?
जो न किसी के हुए, तुम्हारे वेही फिर क्यों कर होंगे ?
कभी तुम्हारे उन्नति-पथ में अलबत्ते ठोकर होंगे ॥६॥

जो अपने हैं उनके ऊपर सभी भाँति करिए विश्वास;
नय-पथ पर अपने बल चलिए, क्यों हो कभी किसी को त्रास।
पर सीधी बातों से ही तुम क्या सकते हो मान कभी ?
शून्य-हृदय को नहीं सहज में हो सकता है ज्ञान कभी ॥७॥

यदि तुमसे कुछ देश-भलाई हो न सकी तो रहते मौन,
विष के वमन व्यर्थ करने से तुमको कीर्ति मिलेगी कौन ?
हो हत-बुद्धि विचार-शून्य तुम लाज तुम्हें क्यों आवेगी ?
क्योंकि तोड़ने को घण्टे भर कुरसी तो मिल जावेगी ॥८॥

अभी फूट से पेट तुम्हारा नहीं भरा क्या सच कहना ?
कब आवेगा तुम्हें, बतादो, आपस में मिलकर रहना।
देश तुम्हारा दुखी हुआ क्यों कुछ भी समझे इसका मर्म ?
गिरते को तुम और गिराकर क्यों करते हो कुत्सित कर्म ? ॥९॥

निज कर से निज गला घोंटते तुमको आती दया नहीं,
जड़ समान हो क्या सच मुच ही, कुछ भी तुममें हया नहीं ?
समय चूकना बड़ी भूल है इसे नहीं मानेगा कौन ?
जन्मभूमि ही सौख्य-मूल है इसे नहीं जानेगा कौन ? ॥१०॥

जिससे तुम उत्पन्न हुए हो, जिसकी गोदी रहते हो,
बड़े गर्व से, बड़े प्रेम से, जिसको माता कहते हो।
क्या उसके भी दुख पर तुमने आँसू कभी बहाया है ?
या उसको कुछ दिया सहारा ? धन्य तुम्हारी माया है ! ॥११॥

इसी भूमि से तुम निकले हो, इसमें ही मिल जाओगे;
भारतीय हो यहीं रहोगे, दुख सुख सब कुछ पाओगे।
तो भी इसकी जीभ ऐंठ कर वचन-वीर क्यों बनते हो ?
पशुता पशुओं में रहती है नर-शरीर क्यों बनते हो ? ॥१२॥

दिन भर का भूला सन्ध्या को यदि अपने घर आ जावे,
किसी भाँति तो भी वह जग में भूला हुआ न कहलावे।
किन्तु मूढ़ तुम क्यों छोड़ोगे अपनी उलटी चाल कभी,
भला ताड़ में क्यों निकलेगी किसी युक्ति से डाल कभी ? ॥१३॥

तो भी समझाते हैं तुमको, मानो चाहे मत मानो;
नर हो कर भी हानि लाभ को जानो चाहे मत जानो।
अपने बैल कुदाली जोतो, हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं;
दिव्य मुकुर में भी निज मुख को लख सकता है अन्ध नहीं ॥१४॥

रामचरित उपाध्याय

वङ्गभाषा का एक नया कोष।



अच्छे लेखकों और योग्य प्रकाशकों की कृपा से ही जनता को अच्छे अच्छे ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जहाँ सुलेखक विद्यमान हैं, पर उनकी कृति को जनता के हाथों में पहुँचानेवाले योग्य प्रकाशकों की कमी है वहाँ, उत्तम ग्रन्थों की आशा करना हवा में महल बनाना है। योग्य लेखक और योग्य प्रकाशक के संयोग से ही भाषा गौरवशालिनी होती है। इस प्रकार का सुयोग, कई अंशों में, बँगला भाषा को प्राप्त है। इसलिए बँगला के योग्य लेखक, जीविका खोजने में समय न गँवाकर, अपने परिश्रम से देवी सरस्वती की अमर सेवा कर रहे हैं।

सरस्वती के पाठकों को आज इसी भाषा के एक सुन्दर ग्रन्थ का परिचय कराना है। इसका नाम है "बँगला भाषार अभिधान"। इसके सम्पादक श्रीयुक्त ज्ञानेन्द्रमोहन दास महाशय हैं, जिनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में भी हो चुका है। छः वर्ष तक लगातार १४ घण्टे से लेकर १७ घण्टे तक समय इसके सम्पादन में लगाया गया है और पाँच छः सुयोग्य लेखकों ने आपको यथेष्ट सहायता दी है। तब कहीं यह कोष तैयार हुआ है। भारतीय भाषाओं में आज कल बँगला भाषा समुन्नत देखी जाती है। उसमें अब तक थे तो कई कोश, पर ऐसा एक भी न था जिसमें सब बातों का सन्निवेश किया गया हो—जिसे पास रखने से और किसी कोश की आवश्यकता न पड़े। इसी त्रुटि को लक्ष्य करके इसका सम्पादन किया गया है और इसमें कोई बात, जहाँ तक हो सका, छूटने नहीं दी गई।

यों तो अभिधान-ग्रन्थ सदा अपूर्ण ही रहते हैं, पर इस अपूर्णता के होते हुए भी वे सम्पूर्ण ही माने जाते हैं। ज्यों ज्यों भाषा उन्नत होती जाती है, ज्यों ज्यों उसकी शब्द-सम्पत्ति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कोश भी परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होते जाते हैं। अभिधान के सम्पादक महोदय ने ठीक ही लिखा है—"सभी समय जीवित भाषा के अभिधान का सङ्कलन एवं सम्पादन करना उपयुक्त है; परन्तु उसे सम्पूर्ण कर देने का समय कभी नहीं आता। जातीय भाषा के अभिधान को कोई भी जीवित जाति सम्पूर्ण और समाप्त नहीं कर सकती। उसे निरन्तर पुष्ट करते रहना ही सङ्कलन-कर्ताओं का काम है"।

इस कोश में क्या क्या विशेषतायें हैं, इसका उल्लेख एक विद्वान् अध्यापक ने इस प्रकार किया है—वङ्गभाषा में, इससे पहले, इतना बड़ा अभिधान-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था।...सम्पादक महोदय वङ्गीय साहित्य-गगन में एक नवीन उदीयमान ज्योतिष्क की भाँति सर्वत्र परिदृष्ट हो रहे हैं। अब इस बृहत् अभिधान-ग्रन्थ का प्रणयन करके उन्होंने अमरत्व प्राप्त कर लिया है। वङ्ग-भारती के आभूषण-हीन अङ्ग को, इतने दिनों के पश्चात्, हीरक-मुक्ता-खचित बहुमूल्य अथवा अमूल्य आभरण से उन्होंने विभूषित किया है। वङ्गवाणी की सेवा कर के जो लोग जीवन को सार्थक करते हैं उन्हें सदा एक सर्वाङ्गपूर्ण अभिधान का अभाव खटकता रहता था। हम अभिमानपूर्वक कह सकते हैं कि अब वह अभाव दूर हो गया। हमारी भाषा में ऐसा अभिधान हो गया है, यह सोच कर मन में एक प्रकार का गर्व होता है। इसकी भूमिका में भी सीखने योग्य कितनी ही बातें हैं।...इस कोश में रोमन लिपि के वर्ण-विन्यास और पाठ-सम्बन्धी निर्देश एवं विदेशी नामों की तालिका के लिए कलकत्ता-यूनीवर्सिटी कालेज के, अँगरेज़ी भाषा और साहित्य के, सुयोग्य अध्यापक श्रीयुत सुनीति-कुमार चट्टोपाध्याय एम० ए० ने प्रचुर परिश्रम किया है। पाश्चात्य शिक्षा और दीक्षा से सम्पन्न अध्यापक लोग वङ्ग-भारती का भाण्डार पूर्ण करने के लिए वङ्ग-

परिकर हों, इससे बढ़ कर सौभाग्य और क्या हो सकता है...।"

मरे साहब जब अँगरेज़ी के कोश का सङ्कलन कर रहे थे तब उन्हें भी इँगलेंड और अमेरिका से कितने ही लोगों ने, अपनी ही इच्छा से, शब्दों और शब्दार्थों का सङ्ग्रह कर के, संगृहीत शब्दों के विभिन्न अर्थ बता कर एवं भूलें दिखला कर सहायता पहुँचाई थी।

इस अभिधान में बँगला भाषा में प्रचलित—संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, हिन्दी, अँगरेज़ी और बँगला भाषा के प्रायः सभी शब्द और लोकोक्तियाँ, उनका उच्चारण, व्युत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग आदि विस्तार से, पाण्डित्य और खोज के साथ, संगृहीत है। बँगला भाषा में प्रचलित संस्कृत-धातु और धात्वर्थ; बगला-काव्य-इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित प्रसिद्ध प्रसिद्ध भौगोलिक स्थानों के विवरण और उनका उच्चारण; पुराने और वर्तमान सिक्कों के परिमाण, संख्या और माप-वाचक शब्द; समोच्चार्य एवं विभिन्नार्थक शब्द; लोकोक्ति और पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक व्यक्तियों के नाम; वङ्गीय नर-नारियों के प्रचलित संक्षिप्त नाम; बङ्गाली मुसलमानों के अरबी और फ़ारसी नामों का विशुद्ध उच्चारण और व्युत्पत्तिगत अर्थ; विदेशी नामों का बँगला में अक्षरान्तर, उच्चारण और परिचय; संक्षेप में लिखे गये शब्दों का असली रूप और अर्थ; चिह्न अथवा सङ्केत का अर्थ; छापेख़ाने के प्रूफ़-संशोधन के सङ्केत एवं आदर्श; मुद्रा-विनिमय का परिमाण; गूँगों-बहरों के लिए साङ्केतिक वर्णमाला; इत्यादि अनेक आवश्यक विषय इस अभिधान में सन्निविष्ट हैं। बड़ी साँची के १५७७+२०+४ पृष्ठों में, तिहरे कालमों में, ग्रन्थ समाप्त हुआ है और सुन्दर सुपुष्ट जिल्द (Half-Binding) बँधी हुई है। इस अभिधान में ७५००० शब्दों का समावेश किया गया है। मूल्य ७); इंडियन पब्लिशिंग हाउस, २२ नं० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से प्राप्य।

बँगला-कोशों में अब तक प्रायः परिमार्जित संस्कृत-शब्दों को ही स्थान दिया जाता था— ग्राम्य शब्द और वे शब्द जो प्रति दिन की बोल-चाल में आते हैं, कोशों में स्थान नहीं पाते थे। इससे जो अन्य-भाषा-भाषी लोग बँगला-ग्रन्थों का अध्ययन, कोशों की सहायता से, करते थे उन्हें ये शब्द बीच में ही रोक लेते थे। इस कारण, या तो अटकल-पच्चू अर्थ समझ लिया जाता था या जिज्ञासु लोग ग़लत रास्ते पर भटक जाते थे। पर इस कोश में उतने ही संस्कृत-शब्द लिये गये हैं जिनका व्यवहार बोल-चाल में अधिकता से होता है; और व्यवहार में आने वाले सैकड़ों अ-संस्कृत शब्दों का सन्निवेश कर दिया गया है जिससे अन्य-भाषा-भाषी को इन शब्दों के समझने में कोई दिक़्क़त न हो।

बँगला में लिखने और पढ़ने में कुछ थोड़ा सा अन्तर है। जैसे लिखा तो जाता है 'स्वर्णलता' पर उच्चारण किया जाता है 'शर्नोलता'। इसलिए कोश में शब्द लिखे और उच्चारण किये जाने का रूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। इससे अन्य-भाषा-भाषी लोगों को बड़ा लाभ होगा।

परिश्रम करके, बुद्धिपूर्वक, काम करने में और इधर उधर से ले भागने में बड़ा अन्तर है। हिन्दी में अनुवादकों की धूम है। जहाँ-तहाँ इन्हीं का बोल-बाला है। इसलिए चिन्ताशील मौलिक लेखक एक तो आगे आते ही नहीं और यदि आना भी चाहें तो "सब धान बाइस पंसेरी" वाला पेचीदा मामला रास्ते में काँटे बखेरता है। जो स्वयं सोच-विचार कर, मस्तिष्क-परिचालना करके, लिखते हैं उनसे अनुवादकों के बराबर ढेर का ढेर काम पाने की आशा करना कुछ का कुछ ख़याल करना है। और यह निर्विवाद है कि निरे अनुवादों से साहित्य-भाण्डार श्रीसम्पन्न नहीं हो सकता। किसी भी साहित्य की उत्तमता और गुरुता उसके मौलिक ग्रन्थों पर ही अवलम्बित रहती है।

हिन्दी में छोटे छोटे कई कोश हैं। पर उनसे समय की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा, कई वर्षों से, एक बड़ा कोश तैयार करा रही है। काम अच्छा है, पर समय और द्रव्य अधिक ख़र्च होगा। सर्वसाधारण इससे लाभ भी कम उठा सकेंगे। क्योंकि उनके पास इतनी रक़म कहाँ जो इतना क़ीमती कोश ख़रीद सकें। यदि हिन्दी के भाण्डार में एक ऐसा कोश हो जाय जैसा कि बँगला-भाषार-अभिधान है तो बड़ी भारी कमी दूर हो जाय। जो ख़रीद कर सकें वे सभा का कोश लें, जो उसे न ले सकें वे दूसरा कोश लें।

एक हिन्दी-प्रेमी

भारत की एक-राष्ट्रीयता।



राष्ट्र-दृष्टि से हिन्दुस्तानियों को, विशेषतः हिन्दुओं को, और फलतः हिन्दुस्तान को अत्यन्त निकृष्ट और प्रतिकूल दशा में दिखलाने का प्रयत्न अब तक अनेक पश्चिमी लेखकों ने किया है। हिन्दुस्तान-सम्बन्धी जो इतिहास-ग्रन्थ हमारे विश्व-विद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं उन्हें एक बार ध्यान-पूर्वक देखिए। वहाँ यही बातें सिद्धान्तरूप से पाई जावेंगी कि हिन्दुस्तान एक देश नहीं है, हिन्दुस्तानियों में राष्ट्रीयता के आवश्यक अङ्गों का अभाव है, हिन्दुओं को "राष्ट्र" संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती, भारतीय राष्ट्र एक भ्रामक शब्द है। इन लेखकों का मत है कि हिन्दुस्तान के निवासियों में उद्देशों की एकता नहीं है; उनमें अनेक जातियाँ हैं; उनके विचारों और आचारों में समता नहीं है; उनके रहन-सहन में बहुत भिन्नता देख पड़ती है; उनकी भाषा एक नहीं है और उनका कोई विश्वसनीय प्राचीन इतिहास भी नहीं है।

इसी विचार-पद्धति का संस्कार बहुत समय तक हमारे मस्तिष्क पर होते रहने से, हमारे कुछ देशभाई भी ऐसी ही ऊटपटाँग बातें करने लगते हैं। विदेशियों की तरह वे भी केवल बाहरी भिन्नताओं पर अधिक ज़ोर दिया करते हैं और भीतरी समता या एकता पर कुछ ध्यान नहीं देते। भाषा ही का उदाहरण लीजिए। इस बात को भारतवर्ष के छोटे और बड़े सभी शुभचिन्तक मानते हैं कि भारतवर्ष की शिक्षा देशी भाषाओं के ही द्वारा होनी चाहिए। परन्तु माइसोर के Mysore Economic Journal नामक एक अँगरेज़ी-पत्र में, एक लेखक महाशय, विदेशी संस्कारों की अधिकता के कारण, अँगरेज़ी भाषा के महत्त्व और उसी के द्वारा शिक्षा देने के पक्ष में ज़ोर देते हुए लिखते हैं—

India is not one people, one language; India is many peoples, many tongues. There is, in this vast land, only one available medium of communication and that is English. The conditions of educated life and enterprise in this land call insistently for one common tongue. In India English is that common tongue.

भावार्थ यह है कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र नहीं—इसकी कोई एक भाषा नहीं। इसमें भिन्न भिन्न जाति के लोग रहते हैं; भिन्न भिन्न भाषायें बोलते हैं। इस बृहत् देश में केवल अँगरेज़ी भाषा ही विचार-विनिमय का एक मात्र साधन है। शिक्षित लोगों की परिस्थिति और उद्योग के कारण इस देश में एक सर्वसाधारण भाषा की अत्यन्त आवश्यकता हुई है। और वह भाषा अँगरेज़ी ही है।

इस अभागी देश पर खेद प्रकट करते हुए भी उक्त लेखक महाशय अँगरेज़ी भाषा के कृत्रिम महत्त्व को बाल भर भी घटाना नहीं चाहते; क्योंकि उनके मतानुसार इस देश की वर्तमान उन्नति का कारण सिर्फ़ यही है कि लाखों हिन्दुस्तानियों ने अँगरेज़ी को अपनी मातृभाषा के समान मान लिया है—" Millions of our fellow-countrymen are to-day forging ahead because they have learnt to use English as a second mother-tongue." अधिक क्या कहें, भारत-वासियों में जो स्वदेश-प्रेम, सहकारिता, सार्वजनिक कल्याण के लिए स्वार्थ-त्याग आदि गुण देख पड़ते हैं वे सब अँगरेज़ी भाषा ही के बदौलत हैं! देखिए इस विषय पर लेखक

महाशय का कथन क्या है। " All this is possible only because India's sons and daughters, throughout this vast land, have realised that in the English language they have a common medium of fellowship; they have made this medium their own and they are now in the position of being able to press forward in mutual co-operation." इस पर टीका-टिप्पणी करना वृथा है।

ऐसे विपरीत विचारों के कारण हमारे देश की बहुत हानि हुई है, हो रही है, और यदि रोकने का प्रयत्न न किया जायगा तो होती रहेगी। जब जब इस देश के निवासी राष्ट्रीय भावों से प्रेरित होकर अपनी उन्नति का प्रयत्न करने लगते हैं, जब जब भारतवासी एक-चित्त होकर अपने राष्ट्रीय हानि-लाभ तथा स्वत्वों का कुछ विचार करने लगते हैं, तब तब इस कटाक्ष का आघात भी उन्हें सहना पड़ता है कि वे "राष्ट्र" संज्ञा के पात्र नहीं हैं—उनमें राष्ट्रीयता ही नहीं है। इन निराधार और असत्य आक्षेपों का उत्तर कई बार दिया गया है; परन्तु हमारे कुछ देश-भाइयों के मन में पूर्वोक्त कुसंस्कारों की जड़ इतनी दृढ़ता के साथ जम गई है कि इन आक्षेपों के उत्तर बार बार दुहराने से सिवा लाभ के कोई हानि नहीं। जो लोग भारत की एक-राष्ट्रीयता के विरुद्ध ऐसे अपसिद्धान्तों का प्रचार करते हैं वे सत्य का अपलाप करते हैं—अपलाप न सही, अपने भ्रम का निदर्शन करते हैं। इस लेख में हम इन आक्षेपों का सप्रमाण खण्डन करके अपने पाठकों को यह बतलाना चाहते हैं कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास है, हम लोगों में आन्तरिक एकता का अभाव नहीं है और इसी लिए यह देश 'राष्ट्र' संज्ञा का यथार्थ पात्र है।

मानव-जाति के प्राचीन इतिहास के तत्त्वों की खोज करनेवालों ने निश्चय किया है कि जब इँगलेंड आदि यूरोपीय देशों के निवासी अत्यन्त असभ्य अवस्था में थे; जब वे लोग जङ्गलों, पर्वतों और गुहाओं में रह कर केवल आखेट से अपनी जीविका चलाते थे; और जब उन्हें खेतों तथा गाँवों का स्वप्न में भी ध्यान न था; उस समय हिन्दू लोग एक जीते जागते राष्ट्र के अवयव थे। आर्य लोग उस समय भी सरस्वती और गङ्गा के किनारे अपना जीवन खेती इत्यादि में व्यतीत करते थे। जब संसार के अर्वाचीन उन्नत देशों के पूर्वज घोर अज्ञान के अन्धकार में पड़े थे तब भारत में आर्य्य जाति की ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो रही थी और अपनी दिव्य प्रभा से संसार के दूसरे देशों को भी लाभ पहुँचाती थी। खेद है कि अपरिपक्व विचार और भ्रम के कारण कई पाश्चात्य पण्डितों ने यह लिख मारा है कि हिन्दुओं का कोई राष्ट्र ही नहीं। यह देख कर भी प्रत्येक सहृदय मनुष्य को दुःख होता है कि हमारे समकालीन अनेक भारतवासी ऐसे हैं जिन पर यूरोपियन सभ्यता और शिक्षा का अनुचित परिणाम हुआ है और जो हिन्दुओं के इतिहास को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। लोग विचार किये बिना ही कह बैठते हैं कि भारतवर्ष का कोई प्राचीन इतिहास ही नहीं। परन्तु पूर्ण विचार करने से ज्ञात होगा कि उनके कथन में बहुत थोड़ा सत्यांश है। भारतवर्ष का इतिहास है ज़रूर, परन्तु वह दुर्दैव-वश योग्य-क्रमानुसार लिखा हुआ नहीं मिलता। क्या यह सच है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास का कुछ भी पता नहीं? क्या इतिहास-प्रसिद्ध तक्ष-शिला और पाटलिपुत्र के शिलालेखों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि भारतवर्ष का इतिहास है? हां, यह सच है कि आधुनिक पद्धति और क्रम के अनुसार लिखा हुआ इतिहास इस समय उपलब्ध नहीं। परन्तु इससे हम यह नहीं मान सकते कि भारतवर्ष का इतिहास है ही नहीं।

यथाक्रम इतिहास न होने के दो कारण हैं। पहला, अन्तरङ्ग कारण—प्राचीन समय की पुस्तकों का परिशीलन करने से मालूम हो जायगा कि वे काल्पनिक कथा-कहानियों से भरी पड़ी हैं। यह बात सभी देशों की प्राचीन पुस्तकों में पाई जाती है। बहुत से शब्दों के आडम्बर में सत्यांश की मात्रा कम रहती है। हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों का भी यही हाल है। उनमें काव्यानुयायिनी भाषा-शैली और अलङ्कारों की तथा आश्चर्य, बीभत्स और वीर-रस की ओर उचित से अधिक ध्यान दिया गया है। प्राचीन समय के सभी देशों में किसी इतिहास-प्रसिद्ध घटना अथवा क्रान्ति का सरल और ज्यों का त्यों वर्णन करने पर कम ध्यान दिया गया है। फलतः बहुत सी महत्त्वपूर्ण तथा सत्य, और महत्त्व-रहित सारहीन बातों की ऐसी खिचड़ी बन गई है कि सच बात को ढूँढ़

निकालना कुछ कठिन हो गया है। ऐसी बातों के देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि पुराने इतिहासकारों का मन सत्य के छिपाने की ओर था। जो दोष उन ग्रन्थों में आ गये हैं उनका कारण यही है कि अपनी बातों का वर्णन करने में हर एक ग्रन्थकार दूसरों के आश्चर्ययुक्त वर्णन का अतिक्रमण करना चाहता था। इससे सत्य इतिहास की कुछ अवहेलना स्वाभाविक ही हो गई। और, आज हम सत्य घटनामय तथा क्रमबद्ध इतिहास के बदले ऐसा इतिहास देखते हैं, जिसमें मुख्य बात की ओर दुर्लक्ष्य हो कर लेखन-कला के विकसित अङ्गों पर तथा कवि की प्रतिभा-शक्ति पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

दूसरा, बाह्य कारण—हमारे देश के इतिहासन्थों में उपर्युक्त दोष के सिवा और भी कई बातें हैं जिनके कारण भारत का क्रमानुसार-लिखित इतिहास प्राप्त नहीं। प्राचीन काल में भारतवर्ष को कई ऐसी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं जिनसे यह देश डगमगाने लगा था। मुसलमानों ने लगातार कई वर्षों तक हिन्दुस्तान पर चढ़ाइयाँ कीं। उस समय के कुछ हिन्दू राजाओं में मित्रभाव न था। वे आपस में लड़ लड़ कर मुसलमानों से सहायता माँगते थे। फल यह हुआ कि हिन्दुओं पर इन मुसलमान राजाओं के शासनकाल में बहुत अत्याचार होने लगा। प्राचीन समय की दशा का विचार करने से अब भी हमारा हृदय दुःख से विदीर्ण होने लगता है। हिन्दुओं की स्वाभाविक उन्नति पर इन सब बातों का बहुत बुरा परिणाम हुआ—उनकी नैतिक और मानसिक उन्नति रुक गई।

इस प्रकार जिन जिन बातों के हिन्दू लोग पवित्र और उपयोगी समझते थे, जिन पर उनका दृढ़ विश्वास और प्रेम था, जिनसे प्राचीन समय की घटनाओं का हमें पता लग सकता था, वे सब तो किसी न किसी तरह नष्ट कर दी गईं। यदि हमारे देश में उस समय इतने उपद्रव न होते तो क्या हमें आज इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बातों की कमी मालूम होती? सदा सर्वदा होने वाली लड़ाइयों के कारण, तथा चोरों और डाकुओं के डर से लोग अपनी जान बचाने की चिन्ता में यदि इतिहास लिखने की ओर दुर्लक्ष्य करने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास पढ़नेवालों के मालूम होगा कि इन कठिनाइयों की परवा न करके यदि उस समय कोई इतिहास लिख भी लेता तो राजा उसे प्रकाशित न करने देता। औरंगज़ेब ने अपने समय के इतिहास के प्रकाशित करने की सख़्त मनाई कर दी थी। इन्हीं सब कारणों से आज हम देखते हैं कि हिन्दू-जाति में इतना अन्धविश्वास तथा पुरानी बातों पर उचित से अधिक दृढ़ विश्वास पाया जाता है।

यद्यपि उस समय भारतवर्ष के बहुत से लोगों में अज्ञान और अन्धकार फैला हुआ था, तथापि इस देश में ऐसे भी कई प्रखर-बुद्धिशाली विद्वान् और महात्मा उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपनी पवित्र जन्मभूमि के नाम के अपने कार्यों से अमर कर दिया है। प्राचीन समय में यह देश तत्त्वज्ञान, वैद्यक, ज्योतिष, छन्दःशास्त्र, सङ्गीत आदि शास्त्रों में पारङ्गत था। महात्मा बुद्ध के समान धर्मगुरु, कालिदास से कवि, ब्रह्मगुप्त के सदृश गणितशास्त्र-प्रवीण और श्रीशङ्कराचार्य्य से तत्त्वज्ञानी महात्माओं की जननी यही भारतमाता है। प्राचीन स्थानों के शिलालेखों और उपलब्ध सामग्रियों से पता लगता है कि भारतवर्ष में पुराने ज़माने में अनेक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे। भारतवर्ष की वर्तमान दशा को भी देख कर हमें हताश होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। हमारे देश में अब भी र[illegible]ार से लेखक, श्रीरामकृष्ण परमहंस से आत्मज्ञानी, गोखले और मालवीयजी के समान राजनीतिज्ञ, बाबू सुरेन्द्रनाथ के समान वक्ता, लोकमान्य तिलक के समान राष्ट्रकल्याण के लिए आत्मसमर्पण करनेवाले अलौकिक पुरुष और गान्धी के समान सत्याग्रही कर्मवीर उत्पन्न होते हैं। हमारे ही कई देश-भाई यहाँ के शासन में बड़े बड़े पदाधिकारी हैं। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि भारतवर्ष जीता जागता राष्ट्र है—वह निस्तेज और निस्सत्व नहीं है। अन्य देशों के समान यहाँ के भी लोगों में शक्ति और प्रतिभा है। और, यदि हमें योग्य अवसर प्राप्त हो तो हम भी कुछ करके दिखा सकते हैं।

भारतवर्ष के सच्चे इतिहास का पता लगाने के लिए जो सहायक सामग्री इस समय उपलब्ध है उसको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला भाग अलिखित सामग्री का और दूसरा लिखित सामग्री का।

ऊपर कहा जा चुका है कि हमें इतिहास के सम्बन्ध की सत्य बातें अवश्य मिल सकती हैं, परन्तु अविश्वसनीय तथा

काल्पनिक बातों के मिश्रण के कारण कुछ कठिनाई हो गई है। इतिहास-शोधकों का काम है कि वे सत्य और असत्य बातों को छान कर अलग अलग कर दें। अलिखित सामग्री के विभाग में भग्न मन्दिर, टूटे फूटे क़िले, विशाल राजप्रासाद, बड़े बड़े तालाब आदि हैं जिनसे हमें इतिहास-सम्बन्धिनी कुछ न कुछ बातें अवश्य मालूम हो सकती हैं। भिन्न भिन्न पुराने मन्दिरों से, वहाँ पर मनाये जाने वाले त्योहारों से, वहाँ के वाद्यों और नृत्य से हमें ऐतिहासिक बातों का कुछ पता अवश्य लग सकता है। मन्दिरों के जड़ाऊ गहने तथा उनकी मूर्तियाँ हमें बतावेंगी कि उनके बनानेवाले कौन थे, वे किस समय और कहाँ रहते थे। बड़े बड़े सघन जङ्गलों और मरुस्थलों से—जहाँ पर किसी समय शक्तिसम्पन्न तथा वैभवशाली राजा राज्य करते थे—राक्षसों के क्रूर कृत्यों की कहानियों से और पुराने खँडहरों से हमें किसी दुष्ट राजा के कृत्यों का पता लगेगा। देश में अब भी भाटों की कमी नहीं है। ये लोग पुराने ज़माने में अपने अपने राजाओं की कीर्ति गाया करते थे। ऐसे भाटों के गानों से भी हमें इतिहास की बहुत बातें मालूम हो सकती हैं। देश में कितने ही स्थानों पर मिलनेवाले शिलालेख तथा मन्दिरों में बड़ी सावधानी से रखे हुए ताम्रपत्र बहुधा किसी न किसी राजा के विजय से सम्बन्ध रखते हैं। हर्ष की बात है कि आजकल पाटलिपुत्र और तक्षशिला की ज़मीन खोद कर उसमें से ऐसे कई शिलालेख तथा मूर्तियाँ आदि निकाली गई हैं, जिनसे इतिहास-विषयक कई बातों का पता लगता है। सारांश, गाँवों की कहानियों और दन्तकथाओं से, लोगों की रीति-नीति और त्योहारों से तथा और और बातों से इतिहास की छटा झलकती है। ये सब बातें हिन्दुस्तान के पूर्व वैभव तथा इतिहास के स्मारक रूप हैं।

दूसरा विभाग है लिखित साधनों का। प्राचीन आर्य अनेक विषयों में प्रवीण थे। रामायण तथा महाभारत से हमें इतिहास के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण विषयों का ज्ञान होता है। वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, अर्थशास्त्र, युद्धविद्या आदि के ग्रन्थों से भी हमें इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में बहुत सहायता मिल सकती है।

परन्तु हमारे मार्ग में बहुत सी कठिनाइयाँ भी हैं। ये कठिनाइयाँ हमें उपलब्ध सामग्री प्राप्त करने तथा उसको पढ़ने-समझने के विषय की हैं। पहले हम अलिखित सामग्रियों के पाने में जो कठिनाइयाँ हैं उनके विषय में कुछ कहना चाहते हैं। भारतवर्ष के इतिहास की सामग्री इकट्ठा करनेवाले और उसे पढ़नेवाले में परिश्रम और सन्तोष आदि गुण होने चाहिए। कई बार उसे हताश होना पड़ेगा, कई बार उसे कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। परन्तु इतिहास का सच्चा भक्त और शोधक वही हो सकेगा जो इन कठिनाइयों की परवा न करके अपना मार्ग-क्रमण बराबर करता चला जायगा। उसे कई पहाड़ों पर चढ़ना होगा, कई नदियाँ पार करनी पड़ेंगी, इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों में भ्रमण करना होगा, और लोगों के सामाजिक त्योहारों के समय उपस्थित होना पड़ेगा। उसे स्वयं कई बार पूछपाछ करनी होगी, कई संन्यासियों और ग्राम के बड़े-बूढ़ों से बातें करनी होंगी, सुनी हुई बातों को योग्य रीति से सिलसिलेवार लिखना होगा और उन्हें क्रमानुसार चित्रित करना पड़ेगा।

भारतवर्ष, विस्तार में, रशिया को छोड़ कर, सारे यूरोप के बराबर है। इतने विस्तृत देश का इतिहास लिखना कोई सरल बात नहीं। इस देश में सर्वत्र एक ही भाषा का प्रचार नहीं है। लोगों की रीतियों में भी भिन्नता है। इन दोनों बातों के कारण इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में बहुत कठिनाई पड़ती है। इसके सिवा, हिन्दू-राष्ट्र अपनी पुराण-प्रियता और सङ्कुचित स्वभाव के लिए प्रसिद्ध ही है। इस कारण जिन लोगों को इतिहास-सम्बन्धिनी कुछ बातें मालूम होती हैं, या जिनके पास शिलालेख या ताम्रपत्र होते हैं, वे उन्हें छिपा कर रखते हैं। इससे उन बातों का पता नहीं लगता जिनकी सहायता से इतिहास की उन बातों पर कुछ प्रकाश पड़े जो हमें मालूम नहीं हैं।

इसी तरह की अनेक कठिनाइयाँ लिखित सामग्री के सम्बन्ध में भी हैं। प्राचीन समय की भाषाओं में लिखी हुई किताबों का पढ़ना सरल नहीं है। इन भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त करना बहुत कठिन है। यद्यपि प्रयत्न करने पर बहुत से लोग इस कठिनता को दूर कर सकते हैं, तथापि प्राचीन समय के बड़े बड़े मूल्यवान् ग्रन्थों में से सत्य बातों को ढूँढ़ निकालना और भी कठिन है। क्योंकि भाषा-सम्बन्धिनी कठिनता के साथ विविध टीका-ग्रन्थों के कारण सत्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कष्टसाध्य है। काव्यरस, कल्पनाशक्ति,

नमूने

बर्तमान लिपि

स्वामी कुञ्जरवृन्द के इस घने कान्तार के भीतर,
रे एक क्षरा भी न तू ठहरना उन्माद में आकर ।
हाथी जान शिला विदीर्ण करके पैने नखों से निरी,
सोता है गिरि गर्भ में यह यहीं भीमाकृती केसरी॥

सुधरीहुई लिपि

स्वामी कुञ्जर वृन्द के इस घने कान्तार के भीतर,
रे एक क्षण भी न तू ठहरना उन्माद में आकर ।
हाथी जान शिला विदीर्ण करके पैने नखों से निरी,
सोता है गिरि गर्भ में यह यहीं भीमाकृती केसरी ॥

सं० अक्षर— ९
मातायें —११
स्वर— ४
व्यंजन—३८
चिह्न—१९
८१
अन्य चिह्न १/७

संशोधित लिपि के टाइपों का नक़शा ।

स्वर		मात्रायें	व्यंजन					
अ	अ	·	क	क		प	प	ा
आ	×	ा	ख	ख	ा	फ	×	
इ	इ	(	ग	ग	ा	ब	ब	ा
ई	×	)	घ	घ	ा	भ	×	
उ	उ	,	ङ	ङ	·	म	म	ा
ऊ	×	`		५	३		३	
ए	ए	`	च	च	ा	य	य	ा
ऐ	×	`	छ	छ		र	र	
ओ	×	ो	ज	ज	ा	ल	ल	ा
औ	×	ौ	झ	झ	ा	व	व	ा
अं	×	·	ञ	ञ	ा		४	
अः	×	:		५		श	श	ा
	४	११				ष	ष	ा
ॐ	ॐ		ट	ट		स	स	ा
श्री	श्र ा)		ठ	ठ		ह	ह	
द + य	द्य		ड	×			४	
क + त	क्त		ढ	ढ		क्ष	क्ष	ा
ह + य	ह्य		ण	ण	ा	त्र	त्र	ा
ह + म	ह्म			४		ज्ञ	ज्ञ	ा
य्	च		त	त	ा		३	
क्	क		थ	थ	ा	ळ	ळ	
ऋ	ऋ		द	द		ॠ	ॠ	
	९		ध	ध	ा		२	
			न	न	ा			
				५			३५—३=३८	

र, रेफ —	',ट.र.ट	कामा	, " "	कोष्ठक	(
हलन्त —	्	फुल स्टाप	. (अनुस्वार) ×	,	[
ओं (१०)-	ऽ	विराम	।	,	{
अर्धचन्द्र	ँ	आश्चर्य	!	डेश	—
ओं (०५)	ॅ	प्रश्न	?	कोलन (विवर्ग और डेश)	:—
	६		९	४	=१९



इतिहास और अलंकृत भाषा का कहीं कहीं ऐसा असङ्गत और अस्वाभाविक मिश्रण पाया जाता है कि नीरक्षीर-विवेक करना असम्भव हो जाता है।

हर्ष की बात है कि वर्तमान समय में ब्रिटिश राज्य के छायाछत्र में अनेक सुविधाओं के कारण उपर्युक्त कठिनाइयाँ धीरे धीरे लुप्तप्राय हो रही हैं। रेलगाड़ी, डाकघर, ट्राम और मोटर आदि नये नये बाष्प तथा विद्युत्सम्बन्धी आविष्कारों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर हम सरलता से और बहुत थोड़े समय में पहुँच सकते हैं। यात्रा करना अब सहज हो गया है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुरक्षित है। देश में सर्वत्र शान्ति का राज्य फैला हुआ है। इसलिए बहुत से नये नये सार्वजनिक विद्यालय, उत्तम संस्थायें तथा सर्वोपयोगी प्रथायें प्रचलित हो रही हैं। विद्यापीठों, अजायबघरों, धार्मिक संघों, सामाजिक और राष्ट्रीय सम्मेलनों, तथा छोटी बड़ी सर्वोपयोगिनी पुस्तकों के प्रकाशन से हमें इतिहास-सम्बन्धी बहुत से विषयों का ज्ञान होता जाता है। पूर्व और पश्चिम के संयोग से भी हमें बहुत लाभ हुआ है। वर्तमान समय में यूरोप में ऐसे कई विद्वान् हैं जो भारत के प्राचीन इतिहास को पूज्य दृष्टि से देखते हैं। अमेरिका में श्रीमती सत्यबाला देवी के गायन से भारतवर्ष के सङ्गीत के विषय में आदर-बुद्धि जागृत हुई है। पाठक जानते ही होंगे कि श्रीस्वामी विवेकानन्दजी के व्याख्यानों का अमेरिकन शिक्षित प्रजा पर कितना प्रभाव पड़ा था। जर्मन और विलायती विश्वविद्यालयों में भारत की प्राचीन भाषाओं की शिक्षा दी जाती है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि भारतवर्ष पृथ्वी के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान पर विराजमान है। इस बात को भारत के नूतन विद्वानों ने और भी सिद्ध कर दिया है। भारत के कई विद्वान् अमेरिका के विद्यालयों में ऊँचे ऊँचे पदों पर विराजमान हैं। हाल ही में डाक्टर जे० सी० बोस के आविष्कारों ने पश्चिम में एक नये ज्ञान का प्रचार कर दिया है। जो देश केवल भौतिक विषयों में ही सदा निमग्न रहते थे, जिन्हें आध्यात्मिक बातों का पहला पाठ भी मालूम न था, जो पैसे की हाय हाय में अपने सर्वस्व का सत्यानाश कर रहे हैं, उन्हें यह प्राचीन भारत ऊँची आवाज़ से सिखाता है कि पैसा और विषयोपभोग ही मनुष्यता का अन्तिम लक्ष्य नहीं। बड़े बड़े भौतिक आविष्कारों में, बड़ी बड़ी मोटरें और हवाई जहाज़ बनाने में ही अपनी सारी बुद्धि का व्यय कर देना और उसी को अपने जीवन का परम साध्य समझना सर्वथा अनुचित है। मन, आचरण तथा आत्मा की उन्नति करना और सारे विश्व में भ्रातृभाव की जागृति करना मनुष्य का मुख्य धर्म तथा कर्तव्य है। सारांश यह कि भारत के धर्म-ज्ञान, आध्यात्मिक विचार और तत्त्वविवेक-सम्बन्धी उपदेशों से इस देश का और इँगलेंड का परस्पर सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो जायगा। इससे समस्त संसार को भी लाभ होगा। परन्तु इस काम के लिए हमारे शासकों और इँगलेंड के निवासियों के विचार कुछ अधिक उदार और व्यापक होने चाहिए।

इस प्रकार, उपलब्ध सामग्री की सहायता से और परस्पर आदरभाव की जागृति से, हमारे राष्ट्र का क्रमानुसार संपूर्ण इतिहास लिखना कोई कठिन बात नहीं है। ऊपर बतला दिया गया है कि हमें उचित और आवश्यक सामग्री की कुछ कमी नहीं। कमी है केवल सद्भावपूर्ण परिश्रमी विद्वानों की, जो इस विपुल सामग्री का संग्रह करके उसके सदुपयोग तथा सहायता से इतिहास लिखने का प्रयत्न करें। फिर आपही मालूम हो जायगा कि "भारतवासियों का न तो कोई प्राचीन इतिहास है और न इनको राष्ट्र-संज्ञा ही दी जा सकती है" इस कथन में कहाँ तक औचित्य और सत्यता है।

कुछ लोग "हिन्दूराष्ट्र", "राष्ट्रीय बुद्धि", हिन्दुस्तान की "राष्ट्रीय उन्नति" इत्यादि इस लेख में आये हुए शब्दों पर आक्षेप करेंगे, क्योंकि उनकी समझ में हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ये सब शब्द भ्रामक, अर्थहीन और महत्त्व-रहित हैं। भाषा और आचार-विचार की विभिन्नता के आधार पर वे कहते हैं कि हिन्दुओं को "राष्ट्र" संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। वे अपने आक्षेप की पुष्टि में जातिभेद और आपस की फूट आदि बातों को भी पेश करते हैं। एक प्रान्त का मनुष्य दूसरे प्रान्त के मनुष्यों के यहाँ भोजन नहीं कर सकता। शैव और वैष्णव परस्पर के देवताओं को नहीं मानते। नीच मानी गई जाति का मनुष्य तो इन दोनों के मन्दिरों में पैर भी रखने से वञ्चित है। ऐसी ही कुछ बातों के आधार पर आक्षेप करनेवाले अपने पक्ष का मण्डन किया करते हैं। हम मानते हैं कि उक्त विचार-प्रणाली में कुछ

सत्यांश अवश्य है; परन्तु उसका प्रतिपादन करनेवाले यह नहीं जानते कि हर एक प्रश्न का विचार दो भिन्न दृष्टियों—एक विनाशक और दूसरी सहायक—से किया जा सकता है। उनकी विचार-शैली में प्रस्तुत प्रश्न के दूसरे पक्ष का कुछ भी विचार नहीं किया गया। यद्यपि ऊपर ही ऊपर देखनेवालों की दृष्टि से इस देश में बाहरी भिन्नता मालूम होती है, तथापि इस भिन्नता में ही सच्ची एकता छिपी हुई है और इसी का पता लगा लेना विचार तथा बुद्धि का काम है। किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि "There is unity in diversity" अर्थात् विभिन्नता में भी एकता रहती है। देखिए—परमेश्वर, आत्मा, सृष्टि, और शरीर के सम्बन्ध में प्रत्येक हिन्दू के विचार एक ही से हैं। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के सिद्धान्तों पर सब लोगों का विश्वास है। प्रत्येक हिन्दू की पूजा करने की विधि, मित्रों के प्रति आचरण, अतिथिसेवन, सन्ध्यावन्दन आदि में सदृशता है। प्रत्येक हिन्दू का वैवाहिक, धार्म्मिक तथा अन्तिम संस्कार प्रायः एक ही पद्धति से किया जाता है। उत्तरी हिन्दुस्तान का हिन्दू भी देवताओं में उसी प्रकार विश्वास रखता है, तीर्थ स्थानों में जाने की उसकी उसी प्रकार उत्कट अभिलाषा होती है, त्योहारों को वह उसी तरह मनाता है, जैसे दक्षिणी हिन्दुस्तान का हिन्दू किया करता है। प्रत्येक हिन्दू के विचार, शब्द और कर्म में सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर स्वाभाविक घृणा रहती है। सबके विचारों में आध्यात्मिकता का एक आवश्यक अंश पाया जाता है। सभी हिन्दुओं के जीवन, रहन-सहन और रीतिरस्म में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से एकता और सदृशता का तत्त्व विद्यमान रहता है। इस प्रकार सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक बन्धनों से सब हिन्दू एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं और उनके ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण की नौका एक ही है। ये बन्धन औपचारिक तथा बाहरी नहीं हैं; इनका उद्गम हृदय से, मन से और आत्मा से है। बाहरी बन्धनों पर हिन्दू लोग विश्वास नहीं रखते और न उनकी परवा ही करते हैं। इसलिए हम ज़ोर देकर कह सकते हैं कि प्रत्येक हिन्दू, सभ्यता की तथा अन्य सब दृष्टियों से भी, समान है और हिन्दू एक जीवित राष्ट्र का नाम है। शरीर के एक भी अवयव के अस्वस्थ होने से जिस तरह सारे देह में पीड़ा होती है, उसी तरह हमारा हिन्दू-राष्ट्र एक बृहत् शरीर है और भिन्न भिन्न प्रान्तों तथा स्थानों के निवासी उसके अवयव हैं। यह बात तो सिद्ध ही है कि शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में कुछ न कुछ विशेषता या भिन्नता होती ही है; परन्तु उन सबके मेल से ही हमारा शरीर बनता है। उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के हिन्दू हमारे हिन्दू-राष्ट्र-रूपी शरीर के अवयव हैं और उन सब से मिल कर यह हिन्दूराष्ट्र बना है। क्या आक्षेप करनेवाले कोई विद्वान् महाशय आन्तरिक एकता-सूचक इन सब बातों को समझ लेने पर यह कहने का साहस कर सकते हैं कि हिन्दुओं में एकता नहीं है अथवा वे "राष्ट्र" संज्ञा के पात्र नहीं ?

आक्षेप करनेवाले फिर भी कह सकते हैं कि यद्यपि हिन्दुओं की एक-राष्ट्रीयता इस प्रकार सिद्ध हो गई; तथापि मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि भिन्न भिन्न जातियों तथा उनके विभिन्न धर्मों के रहते हुए भारत की एक-राष्ट्रीयता कैसे मानी जा सकती है ? इसका समाधान करने में अधिक विस्तार न करके केवल यह कह देना काफ़ी होगा कि विभिन्न धर्म-मतों और जाति-भेदों से किसी राष्ट्र की एकता में कोई बाधा नहीं आती। संसार के अन्य देशों के इतिहास से हमें इस विषय का निर्णय करने में बहुत सहायता मिल सकती है। जो बात हम इँगलेंड में २०० वर्ष पहले देखते थे ठीक वही बात आज हमारे देश में दिखाई पड़ती है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि उस समय इँगलेंड में ईसाई-धर्म के विभिन्नशाखावलम्बियों में आपस में बड़ी शत्रुता, मतभेद और झगड़ा होता था। एक धर्ममत का मानने वाला दूसरे धर्ममतवाले को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था। उच्च वर्ग या जाति के ज़मींदार और धनवान् लोग निकृष्ट वर्ग या जाति के ग़रीब आदमियों पर हर प्रकार का अत्याचार करते थे। ग्रीस और रोम के इतिहास में भी वहाँ के विभिन्न वर्गों या जातियों के निवासियों के विनाशक और विरोध-पूर्ण झगड़ों के विषय में अनेक बातें मिलती हैं। फ्रान्स में तो इन्हीं कारणों से विलक्षण क्रान्ति हुई और एक नूतन राष्ट्र सङ्गठित किया गया। धर्म और जाति की अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी पश्चिमी देशों ने राष्ट्रीय एकता स्थापित की है। राष्ट्रीय एकता की भावना को जागृत, उन्नत और सुदृढ़ करने के लिए कई देश-भक्तों ने जीवनदान तक

किया है। राष्ट्रीय ज्ञान तथा शिक्षा का उचित प्रसार और वृद्धि होने के कारण फल यह हुआ कि पाश्चात्य देशों के लोग राष्ट्रीय दृष्टि से आज दुनिया में सब से अधिक सभ्य समझे जाने लगे हैं। यदि मनुष्य की शक्ति और स्वभाव में सभी जगह एकता है तो भारत-निवासी भी अपने पाश्चात्य बन्धुओं के समान राष्ट्रीय उन्नति करने में समर्थ हो सकते हैं। हमारी उन्नति के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि अब जाति और धर्म की विभिन्नताओं पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर या महत्त्व न देकर, इस देश के निवासियों में केवल भारत की एक-राष्ट्रीयता का भाव ही सदैव जागृत किया जाय।

हम यह जान गये हैं कि सब हिन्दू एकही तथा पूर्व-सङ्गठित राष्ट्र के अवयव हैं। प्रत्येक हिन्दू में आन्तरिक एकता तथा सहानुभूति जागृत है। जो कुछ बाहरी भेद दिखाई पड़ता है उसे अपने राष्ट्रीय अनैक्य का प्रमाण न समझ लेना चाहिए। यदि हमारी श्रेष्ठ सभ्यता की रचना के आधार-भूत सिद्धान्तों में कुछ भयङ्कर दोष होता—यदि हमारी वर्णव्यवस्था और धर्म की बाहरी उपाधियों के कारण सचमुच ही हिन्दू-राष्ट्र में अन्तरङ्ग और तीव्र अनैक्य होता—तो यह कदापि सम्भव न था कि अनेक शताब्दियों से दीन दशा में रह कर भी, इस समय, हिन्दू-राष्ट्र में सजीवता के चिह्न देख पड़ते। इस देश के अन्य धर्मों और जातियों के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि भारतवासियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि दीनदयालु परमेश्वर ने उन पर ब्रिटिश जाति के समान स्वातन्त्र्य-प्रिय और न्यायी राष्ट्र की सत्ता स्थापित कर दी है। अतएव एक ही साम्राज्य के व्यापक तथा अटल छत्र के नीचे रहते हुए यदि सब हिन्दू, मुसलमान, पारसी, इसाई आदि परस्पर भातृ-भाव की वृद्धि करें, इस देश को अपनी जन्म-भूमि समझ कर इस का प्रत्यक्ष जननी के समान प्यार करें, और इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय भाव से प्रेरित होकर एक साथ मिल जुल कर प्रयत्न करें, तो हम समस्त संसार से पुकार कर कह सकते हैं कि यह प्राचीन भारत एक जीवित राष्ट्र है—इसकी राष्ट्रीयता में संसार की कोई भी विरोधिनी शक्ति बाधा नहीं डाल सकती। हमें पूर्ण आशा तथा विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्रेमी ब्रिटिश जाति भारत की एक-राष्ट्रीयता को कार्यक्षम रीति से सफलतापूर्वक सिद्ध होने देने में सहायक होकर स्वयं अपना और सारे संसार का कल्याण करने का यश प्राप्त करेगी।

माधवराव सप्रे

कवित्त-रामायण में गोस्वामी तुलसीदास का आत्मचरित।

तुलसीदास ने कवित्त-रामायण में अपने विषय में जो कुछ कहा है वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

(१) पातक पीन कुदारिद दीन
मलीन धरै कथरी करवा है।
लोक कहै विधिहूँ न लिख्यो
स्वपनेहुँ नहीं अपने बरवा है।
राम को किङ्कर सो तुलसी…… × ×॥१६७॥
× × × ×

(२) मातु पिता जग जाय तज्यो
विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।
नीच निरादर-भाजन कादर
कूकर टूँकनि लागि ललाई।
राम-स्वभाव सुन्यो तुलसी
प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को
रघुनाथ सो साहेब खोरि न लाई॥१६८॥

(३) पाप हरे परिताप हरे तनु
पूजि भो हीतल शीतलताई॥१६९॥
× × × ×

(४) द्वार ते सँवार के बहारहू ते भारी कियो
गारो भयो पाँच में पुनीत पच्छ पाइके।
हो तो जैसे तब तैसो अब अधमाइ कै
कै भरों पेट रावरोई गुण गाय के।॥२०२॥
× × × ×

(५) अपत उतार अपकार को अगार जग
जाके छाँह छुये सहमत व्याध बाध को।
पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सो
कानन कपट को पयोधि अपराध को।
तुलसी से वाम को भी दाहिनो दयानिधान—

× × × × ॥२०६॥

(६) जाति के कुजाति के अजाति के पेटागिवश
खाये टूक सबके विदित बात दुनी सो।
× × × ×
राम-नाम को प्रभाव बा उ महिमा प्रताप
तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो॥२१३॥
× × × ×

(७) जायो कुल मङ्गन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हैां चारि फल चारिहि चनक को॥२१४॥
× × × ×
× × × ×

(८) × × × ×
साहेब सुजान जिन स्वानहूँ को पक्ष कियो
रामबोला नाम हैां गुलाम राम साहि को॥२३५॥

(९) धूत कहैा अवधूत कहैा
रजपूत कहैा जुलहा कहैा कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न व्याहिहैां
काहू की जाति बिगारन सोऊ।
× × × ×
माँगि के खैबो मजीत को सोइबो × ×॥२४१॥

(१०) मेरे जाति पाँति न चहैां काहू की जाति पाँति × × ×
× × × ×
अतिही अयाने उपखाने नहिँ बूझैं लोग
साहेब के गोत गोत होत है गुलाम को॥२४२॥
× × × ×

(ऊपर के अवतरणों में कवित्तों के नम्बर और पाठ नवलकिशोर-प्रेस की छपी हुई कवितावली के अनुसार हैं)

कवित्त-रामायण के उपर्य्युक्त छन्द पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि तुलसीदास बालपन से ही अति दरिद्र थे। उनकी सम्पदा कथरी (फटा लिहाफ़ और बिछौना) और करवा (मिट्टी का लोटा) ही भर थी। विधि ने भी कोई और सम्पत्ति, जैसे "बिरवा" (वृक्ष) आदि, उनके भाल में न लिखी थी। यहाँ तक कि "बरवा" (बाल) तक भी वे अपने न समझते थे। माता-पिता ने उन्हें उत्पन्न होते ही छोड़ दिया था। वे रोटी के टुकड़े द्वार द्वार माँगते फिरते थे। उसी समय राम का नाम उन्होंने सुना, (कदाचित् राम-मन्त्र लिया अथवा राम-नामी साधु का नाम सुना) जिसके द्वारा स्वार्थ और परमार्थ, दोनों, की प्राप्ति उनको हो गई। "जन्मते ही छोड़े जाने" से दो प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं—(१) कुछ लोगों का कथन है कि तुलसीदास अभुक्त मूल में उत्पन्न हुए थे। अतएव मुहूर्त-चिन्तामणि के निम्न-लिखित वचन के अनुसार तुलसीदास के माता-पिता ने उन्हें फेंक दिया था—

"जातं शिशुं तत्र परित्यजेद्वा
मुखं पिताऽस्याष्टसमा न पश्येत्"

मुहूर्त-चिन्तामणि तुलसीदास का समकालीन ग्रन्थ कहा जाता है। यही क्यों, इस कथन के अनुमोदन में विनय-पत्रिका का "जननि जनक तज्यो जनमि" भी पेश किया जाता है। (२) अन्य कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदास के माता-पिता उनकी बाल्यावस्था में ही मर गये थे।

अब प्रश्न यह है कि पूर्वोक्त दोनों में से कौनसा विचार अधिक माननीय है। इस पर हमारा निवेदन यह है कि यदि तुलसीदास के माता-पिता ने उन्हें, अभुक्त मूल में उत्पन्न होने के कारण, छोड़ दिया था अथवा यदि तुलसीदास की बाल्यावस्था में ही उनका स्वर्गवास हो गया था तो यह बात तुलसीदास ने स्पष्ट क्यों नहीं लिखी? "मातु पिता जग जाय तज्यो" ही लिख कर क्यों मौनावलम्बन किया? तुलसीदास ने अपने "कलि-वर्णन" में अनेक बुरी प्रथाओं का वर्णन किया है। सभी वर्णों और आश्रमों के मनुष्यों को अनेक स्थानों पर फटकारा है। अपनी बाहु-पीड़ा पर अनेक छन्द लिखे हैं। अपने क़ैद होने पर कवित्त बनाये हैं। महामारी

का भी वर्णन अनेक छन्दों में किया है। तो फिर क्या कारण है कि उन्होंने ऐसी बुरी प्रथा के प्रतिकूल या अनुकूल कुछ भी नहीं कहा, जिस की बदौलत स्वयं उनकी यह दशा हुई कि—"द्वार द्वार बिललात" फिरे। एक बात और ध्यान देने योग्य है। मुहूर्तचिन्तामणि से उद्धृत श्लोक में केवल पि ा से ही तजे जाने की व्यवस्था है- "मुखं पिताऽस्याऽष्टसमा न पश्येत्" क्योंकि यही "पिता" "त्यजेत्" क्रिया का भी कर्ता जान पड़ता है। परन्तु तुलसीदास तो माता-पिता, दोनों, से अपना छोड़ा जाना बतलाते हैं। सो क्यों? इसी प्रकार, यदि यह मानें कि उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था तो उनसे "तजा" जाना उन्होंने क्यों लिखा? उनके स्वर्गवास का उल्लेख कर देना तो उचित और स्वाभाविक ही था। अतः यही कहना पड़ता है कि कवितावली उपर्युक्त कथनों (Theories) में से किसी एक का भी समर्थन नहीं करती।

"जायो कुल मङ्गन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को" को "मातु-पिता जग जाय तज्यौ" के साथ रख कर पढ़ना चाहिए। माता-पिता को, जो मङ्गन-कुल के थे, बधावा बजता सुन, अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की ख़बर पाकर, पाप का परिताप हुआ और उन्हों ने बालक को जन्मते ही छोड़ दिया। इसमें तुलसीदास ने अपने छोड़े जाने का कारण "परिताप पाप जननी जनक को" बताया है। हरिहरप्रसाद की कविता-वली में पहली पंक्ति का पाठ यों है "जायो कुल मङ्गन बधावो न बजायो" आदि। इससे तो और भी स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि पुत्रोत्पत्ति से तुलसीदास के माता-पिता को पाप का परिताप ऐसा हुआ कि बधावा तक न बजाया और नव-जात पुत्र को छोड़ दिया कि पुत्रोत्पत्ति की ख़बर भी किसी को न हो। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास किसी "पापकर्म" की सन्तान थे। वह पाप ऐसा घोर था जिससे उनके माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया और जिसको लिखने में तुलसीदास स्वयं भी समर्थ न हुए। अभुक्त-मूल में जन्म होना ऐसा पाप-कर्म नहीं हो सकता जिसको लिखने में तुलसी-दास को सङ्कोच होता। न बाल्यावस्था में माता-पिता की मृत्यु ही ऐसा पापकर्म है कि उसका कथन करने में कोई हिचके।

कवित्त २३५ के आधार पर तुलसीदास का जन्म-नाम 'रामबोला' बतलाया जाता है। परन्तु, यदि, "मातु पिता जग जाय तज्यो" सत्य है, यदि अभुक्तमूल के कारण माता-पिता ने तुलसीदास को जन्मते ही छोड़ दिया था, तो उनका नाम-करण किसने किया? माँ-बाप ने तो मुँह भी न देखा होगा। फिर "रामबोला" नाम भी अद्भुत है। गृहस्थों में ऐसा नाम बहुत कम सुनने में आता है। नाम से तो जान पड़ता है कि बालक तुलसी के मुँह से पहले "राम" शब्द ही निकला होगा या कहल-वाया गया होगा, जिससे उसका नाम 'रामबोला' पड़ा। अथवा तुलसी राम-नाम लेकर भीख माँगता रहा है। सम्भव है, इसीलिए वह "रामबोला" नाम से प्रसिद्ध हो गया हो। परन्तु कवित्त २४२ से यह अवश्य जान पड़ता है कि तुलसीदास को स्वयं अपनी जाति-पाँति का कुछ पता न था। "मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति" और "साहेब के गोत गोत होत है गुलाम को" स्पष्ट बताते हैं कि अपनी जाति-पाँति और गोत्र का उनको कुछ पता न था। यदि जन्म से ही वे माता-पिता से परित्यक्त थे, "बारे से ललात बिललात द्वार द्वार दीन" थे, "चारि फल चारिहि चनक को" जानते थे और उन्होंने "जाति के कुजाति के अजाति के" (चांडाल के) "टूक" "पेटा-गिवश" खाये थे, तो उनकी जाति-पाँति और गोत्र हो ही क्या सकता था? पाप-कर्म की सन्तान की जाति-पाँति क्या? उसका गोत्र ही कौन?

"हिन्दी-नवरत्न" के लेखकों ने तुलसीदास को ब्राह्मण मान कर उनके कान्यकुब्ज या सरयूपारीण ब्राह्मण होने के विषय में अच्छी बहस की है। वह पढ़ने योग्य है। उन्होंने निर्णय किया है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे। पर हमको तो उन्हें ब्राह्मण मानने में भी सङ्कोच है। उनके ब्राह्मण होने के तीन प्रमाण इंडियन प्रेस की छपी हुई रामायण की भूमिका में दिये गये हैं—(१) तुलसीदास ने स्वयं 'जायो कुल मङ्गन' और (२) 'सुकुल जन्म' लिखा है तथा (३) तुलसीदास ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा, हर जगह, की है। यह अन्तिम प्रमाण निरर्थक है। क्योंकि भारतवर्ष में, अद्यावधि, कदाचित् ही कोई मनुष्य हो जो ब्राह्मणों की बड़ाई न करता हो। फिर तुलसीदास तो वर्णाश्रम-धर्म के बड़े पक्षपाती मालूम होते हैं। ब्राह्मणों ही की नहीं, कुल वर्णाश्रम-प्रणाली की उन्होंने बड़ाई की है और उसके नष्ट होने पर शोक प्रकट किया है। 'सुकुल' किसी भी अच्छे कुल को कह सकते हैं। फिर चाहे वह किसी वर्ण का क्यों न हो। 'मङ्गन-कुल' से ब्राह्मण का अर्थ न मालूम क्योंकर लगाया गया है। कोई ब्राह्मण अपने कुल को 'मङ्गन-कुल' न कहेगा। ब्राह्मण स्वभावतः कुलाभिमानी होते हैं। 'मङ्गन' तो अन्य कुल के लोग ब्राह्मणों को, अनादर-पूर्वक, अब कहने लगे हैं। फिर बड़ा प्रश्न तो यह है कि यदि तुलसीदास ब्राह्मण होते तो "मेरी जाति-पाँति न", "अपत उतार...जग जाके छांह छुए सहमत व्याध बाध को", "सब अङ्गहीन" आदि पद अपने लिए क्यों लिखते? जब तुलसीदास को स्वयं यह ज्ञात न था कि उनकी क्या जाति है, जब उनको कुछ परवा ही न थी कि "धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ" तब फिर खरहे के सींग की खोज ही क्यों? जन्म से जिसने 'जाति के कुजाति के अजाति के' टूक खा खाकर उदराग्नि बुझाई हो वह अपने को "जायो कुल मङ्गन" अवश्य कहेगा।

कुछ महाशयों ने तो तुलसीदास के माँ-बाप का नाम भी खोज निकालने की कृपा की है। उनके स्त्री, पुत्र और ससुराल की भी खोज कर डाली है। परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि जिस मनुष्य को स्वयं अपनी जाति-पाँति का पता न था, जिसे जन्मते ही माता-पिता ने छोड़ दिया था, उसके कुल आदि की खोज कैसी? जब गोस्वामीजी स्वयं लिखते हैं कि "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हों", "काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब" तो उनकी स्त्री और ससुराल कैसी? "ब्याह न बरेखी" केवल बिन-ब्याहों (कुवारों) के लिए प्रयुक्त होता है, रँडुओं के लिए नहीं। अतएव यदि यह भी मान लें कि उन्होंने स्त्री का परित्याग कर दिया होगा तो ऐसों के लिए "ब्याह न बरेखी" कहना कैसा? यदि गोस्वामीजी का विवाहादि हुआ होता तो जैसे उन्होंने "रामबोला" आदि अपने नाम इत्यादि लिखे हैं, वे इन बातों का भी ज़िक्र कहीं न कहीं अवश्य करते। हनूमानबाहुक में तो उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—"जाके जिये मुये सोच करि है न लरिको" अर्थात् उनके कोई पुत्र न था। पर एक शङ्का है। यदि वे पापकर्म की सन्तान थे, माता-पिता से जन्म से ही परित्यक्त थे, तो इन सब बातों का ज्ञान उन्हें हुआ कैसे?

जब वे बालपन में भीख माँग माँग कर पेट की आग शान्त करते थे तभी कहीं 'राम' (कदाचित् रामानन्द जी या उनकी गद्दी के किसी साधु) से उन्होंने भीख माँगी होगी और उन्हों ने सब कुछ देदिया होगा। "राम" का स्वभाव सुन कर उनसे एक बार पेट खला कर माँगा तो "रघुनाथ से साहेब" ने उन्हें स्वार्थ और परमार्थ सब कुछ दे दिया। रामनाम लेकर तभी से वे भीख माँगने लगे, जिससे पेट की आग की शान्ति के लिए भीख और "स्वान्तः सुखाय रघुनाथगाथा" भी मिल गई।

गोस्वामी तुलसीदास की कवित्त-रामायण के

साधारण अवलोकन से उन के चरित-सम्बन्धी जो विचार मन में प्रकट हुए वे ऊपर निवेदन किये गये हैं। आशा है, विद्वज्जन इन पर विचार करेंगे।

मिश्र

कृतज्ञ हृदय।

देकर के निज उर में पृथ्वी मुझको आश्रय-दान
करती है चुपचाप सहन यह मेरा भार महान।
यह विचार, दे कर सब पत्ते उसे सहित अनुराग
रिक्त-हस्त होकरके तरु ने प्रकट किया निज त्याग॥
किन्तु, शीघ्र ही पहना करके उसे हरित परिधान
किया प्रकृति ने उसको सुन्दर पुष्पाभूषण-दान।
उधर भूमि ने उसके पत्तों का करके स्वीकार
खाद्यरूप में ला कर, उसका किया विविध सत्कार।
देख रत्न-गर्भा का ऐसा अति उदार व्यवहार
लज्जित होकर तरु ने अपने मन में किया विचार—
दिनकर यह जो देता उसको है जल बहु-परिमाण
करता भी है निर्दयता से शोषण उसके प्राण।
मैंने अर्पित किया उसे खुद अपने पत्र उतार
तो भी वह करती है उससे मेरा शत-उपकार।
उसके विस्तृत हृदय-सिन्धु का कहीं न पाकर कूल
चाहा उसने कृतज्ञता के इसे चढ़ाऊँ फूल।
पर, इस कृति के साथ साथ ही पाकर फलोपहार
झुकने लगी नम्र हो अतिशय उसकी प्यारी डार।
है कृतज्ञता-पूर्ण हृदय की महिमा अति विख्यात,
कर्म और फल दोनों ही का यह अद्भुत अनुपात॥

मुकुटधर

सर सुन्दरलाल।

अत्यन्त शोक का विषय है कि पिछली १३ फ़रवरी को प्रयाग के नामी वकील सर सुन्दरलाल का शरीरान्त होगया। आपकी मृत्यु क्या हुई, साधारणतः समस्त भारतवर्ष पर और विशेषतः संयुक्त-प्रान्त पर अनभ्र वज्रपात हुआ।

सर सुन्दरलाल के देहान्त से संयुक्त-प्रान्त विशेष शोक-सन्तप्त है। वे इतने सर्वप्रिय थे—सरकार के और सर्वसाधारण के भी वे इतने विश्वास-भाजन थे—कि उनकी श्मशान-यात्रा में नगर के सहस्रों गण्य मान्य सज्जन सम्मिलित हुए थे। हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति भी, कितने ही उच्च अँगरेज़-हाकिमों के सहित, उपस्थित थे। दूकानदारों ने अपनी दूकानें बन्द करदी थीं। यह उनकी लोकप्रियता का समुज्ज्वल उदाहरण है।

सर सुन्दरलाल बड़े विद्वान्, दूरदर्शी, बहुज्ञ, दयाशील और सरलस्वभाव थे। क्षमाशील और न्यायपरायण तो आप ऐसे थे कि जिसकी सीमा नहीं। क्रोध आपको छू तक न गया था। ६० वर्ष के बूढ़े होजाने पर भी आप जानते न थे कि बीमारी किस चिड़िया का नाम है। इससे बढ़ कर आपके सदाचार और नियमनिष्ठा का प्रमाण और क्या हो सकता है? क़ानूनदाँ आप इस ऊँचे दरजे के थे कि प्रयाग-हाईकोर्ट के नये-पुराने, देशी-विदेशी, समस्त वकील-बैरिस्टरों को आपकी मृत्यु से यह अनुभव हो रहा है कि हमारा नेता आज तिरोहित हो गया! प्रयाग-हाईकोर्ट के जज, सर जार्ज नाक्स, एडवोकेट पण्डित मोतीलाल नेहरू, बारिस्टर मिस्टर सी० सी० डिलन आदि ने उनकी मृत्यु पर जो हृदय-स्पर्शी दुःखोद्गार प्रकट किये हैं उनसे सर सुन्दरलाल के महत्त्व का कुछ परिचय मिल सकता है। सर जार्ज नाक्स के शब्दों में, सर सुन्दरलाल की मृत्यु से, भारत का एक दूरदर्शी नागरिक खो गया और हाईकोर्ट ने अपना एक आधारस्तम्भ खो दिया। माननीय मोतीलाल नेहरू के शब्दों में यह संसार विद्या, दया और उदारता में पहले की अपेक्षा दरिद्र होगया। मिस्टर डिलन के शब्दों में अद्वितीय क़ानून-पण्डित भारत से उठ गया। निस्सन्देह सर सुन्दरलाल युक्तप्रान्त के रत्न थे; भारत-माता के सुपूत थे। आपके स्वर्गवास से सार्वजनिक जीवन के कुछ

विभाग सूने हो गये और हिन्दू-विश्वविद्यालय का तो मानों छत्र ही टूट गया।

सर सुन्दरलाल गुजराती ब्राह्मण थे। प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज से आपने बी० ए० पास किया। छात्रावस्था से ही आपकी भावी योग्यता का पता आपके अध्यापकों को लग गया था। कोई ३८ वर्षों तक आपने प्रयाग की हाईकोर्ट में नामवरी के साथ विकालत की। १९०९ ईसवी में अवध के ज्युडिशियल कमिश्नर के पद को आपने विभूषित किया। १९१४ और १६ ईसवी में, दो बार, आप हाईकोर्ट के स्थानापन्न जज नियुक्त हुए। ये दोनों काम आपने इस योग्यता से किये—अपनी न्यायशीलता और कार्य्यपरता का ऐसा परिचय आपने दिया कि सर्वत्र आपका सिक्का जम गया। ३० वर्षों तक आप प्रयाग-विश्वविद्यालय के फेलो और २३ वर्षों तक सिंडिक रहे। तीन बार आप उसके वाइस चांसलर भी बनाये गये। वर्षों आप ने इस पद का भार सुयोग्यता-पूर्वक वहन किया। हिन्दू-विश्वविद्यालय की बागडोर तो मरते दम तक आप ही के हाथ में रही। प्रयाग का मेकडोनल-यूनिवर्सिटी-हिन्दू-बोर्डिंग-हौस, सिटी-ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर-हाईस्कूल, कास्थवेट-गर्ल्स-हाईस्कूल और आगरा-कालेज की भी आपने बड़ी सहायता की। अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की बात जाने दीजिए, अकेले हिन्दू-विश्वविद्यालय को ही आपने १ लाख रुपया प्रदान किया। कानपुर की एग्रिकलचरल कमिटी और रुड़की के इञ्जिनियरिंग कालेज की कमिटी में भी आप सम्मिलित थे। शिक्षा-विषयक इतनी भिन्न भिन्न समितियों में आपने योग दिया कि जिनकी गिनती ही नहीं। भुवाली के स्वास्थ्य-निकेतन—किंग-एडवर्ड-सेनाटोरियम—के उन्नायकों में आप भी थे।

कांग्रेस के आप जीवन भर पृष्ठ-पोषक रहे। १९१० में प्रयाग में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था उसकी स्वागत-समिति के सभापति का आसन आप ही ने मण्डित किया था। कांग्रेस के कार्यों में केवल मौखिक सहायता ही नहीं, जब तब आपने आर्थिक सहायता भी दी थी। प्रयाग के विश्वविद्यालय की ओर से आप १३ वर्षों तक प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा के सभासद रहे। हिन्दू-विश्वविद्यालय के क़ानून का मसविदा जिन दिनों बन रहा था उन दिनों गवर्नमेंट ने आपको भी उसकी रचना में मदद देने के लिए बुला लिया था।

केवल भारतीयों के ही श्रद्धाभाजन आप न थे। सरकार भी आपको बहुत मानती थी। संयुक्तप्रान्त में जितने लाट आप के समय में हुए, सब आपकी राय को महत्त्व देते और आदरणीय समझते रहे। आपके स्वभाव में कुछ नवीनता, काम करने के ढंग में कुछ निरालापन और उत्सर्ग-कार्य्य में कुछ विचित्रता थी। पर इस सम्बन्ध में कुछ कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

१९०५ ईसवी में सरकार ने आपको राय-बहादुर की पदवी से विभूषित किया। दो ही वर्ष बाद आप सी० आई० ई० हुए और १९०७ में नाइट की उपाधि से अलङ्कृत किये गये। प्रयाग के विश्वविद्यालय के तो आप ही प्रधान पोषक थे। उसने एल० एल्—डी० अर्थात् डाक्टर आव् ला की उपाधि अर्पण करके, मानों उनके ऋण से उऋण होने का उपक्रम किया।

सर सुन्दरलाल जो इतने बढ़े सो अपने ही बल पर—आत्मावलम्बन पर। "आत्मावलम्ब जिसको कुछ भी न प्यारा। देता उसे न जगदीश्वर भी सहारा—" उनका सर्वप्रधान सिद्धान्त था। आप श्रमसहिष्णु, मिलनसार, कर्तव्यरत, समयसेवी, संयमशील और मृदुलहृदय थे। आत्मम‌र्य्यादा का आपको बड़ा ख़याल था। आपका उदार और पवित्र चरित्र सचमुच अनुकरणीय है।

आप निस्सन्तान थे। आप अपने भाइयों, भतीजों को ही अपना सब कुछ समझते थे। सन्तानहीन

होने पर भी आपको कौटुम्बिक दुःख न था। आपके एक छोटे भाई, राय-बहादुर पण्डित कन्हैयालाल, अवध के सेकंड एडिशनल जुडिशनल कमिश्नर हैं। दूसरे भाई, पण्डित बलदेवराम दवे, इलाहाबाद में ही हाईकोर्ट के वकील हैं।

ईश्वर आपकी विधवा पत्नी और कुटुम्बियों को यह दुःख सहने की शक्ति दे।

व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा।



जातीयता और एकता देश की उन्नति की प्रधान सहायिकायें हैं। व्यावहारिक शिल्प भी उसी तरह उसका महत्त्वपूर्ण साधन है। जिस देश का व्यावहारिक शिल्प जितना उन्नत है वह देश उतना ही धनवान् है। जापान और भारतवर्ष का ही उदाहरण लीजिए। जो जापान कुछ ही वर्ष पहले नगण्य था, जिसको मनुष्य नक़शे की शोभामात्र ही समझते थे, वही जापान व्यावहारिक शिल्प की बदौलत पृथिवी के उन्नतिशील राष्ट्रों की समकक्षता कर रहा है। इन दुर्दिनों में वहीं की व्यावहारिक वस्तुओं ने संसार की आवश्यकता की पूर्ति की है। सामान्य सुई से लेकर बृहत् एञ्जिन तक इन दिनों उसकी कृपा से मिल रहे हैं। अब उसी के पड़ोसी भारत को देखिए। बेचारा व्यावहारिक शिल्प के अभाव से अपनी सन्तान की लज्जा भी अपने बनाये वस्त्र से निवारण नहीं कर सकता। सामान्य लेखनी किंवा आलपीन के लिए भी विदेश की ही कृपा पर उसे भरोसा करना पड़ता है। इसी व्यावहारिक शिल्प के बिना भारत के लक्षाधिक नवयुवक आज दस-पन्द्रह रुपये वेतन के लिए विदेशी व्यवसायियों के कार्य्यालयों में आवेदनपत्र लिये फिर रहे हैं। अधिक क्या कहें, इसी के बिना भारत की स्वर्णप्रसवा वसुन्धरा दारिद्र्य की निर्विरोध क्रीड़ाभूमि हो रही है।

क्या भारतजननी सदा से ही व्यावहारिक शिल्प से शून्य है? नहीं। कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भारत विदेश की प्रायः किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता था। बल्कि यहाँ की शिल्प-सामग्री से ही पृथिवी के कितने ही देश अपनी कमी पूरी करते थे। ढाके की मलमल, भागलपुर की मसलिन, महेश्वर और बनारस की साड़ियाँ, मुरादाबाद के पात्र, मिर्ज़ापुर के क़ालीन, अमृतसर और काश्मीर के शाल, चँदेरी के दुपट्टे और पगड़ियाँ इत्यादि पदार्थ एशिया, आफ़्रिका एवं दक्षिणी योरप के कितने ही धनी मनुष्यों के गृहों की शोभा बढ़ाते थे। किन्तु काल की गति को कौन रोक सकता है? क्रमशः भारतीय शिल्प के दुर्दिन आये। इधर तो राज्य-विप्लव हुआ और उधर शिल्पकार इतने स्वार्थी हो गये कि जिस जिस कला में वे निपुण थे, अपनी आर्थिक हानि के भय से, अपने मुष्टिमेय पुत्रों के सिवा और किसी को न सिखला गये। इस तरह एक तरफ़ देशी शिल्पियों की संख्या का ह्रास हुआ और दूसरी तरफ़ प्रबल एवं शक्तिशाली विदेशी वणिकों ने देशी कारीगरों से स्पर्धा आरम्भ कर दी। इन्हीं दोनों कारणों से देशी शिल्प का सर्वनाश हुआ।

सौभाग्य का विषय है कि अब भारतवासियों की दृष्टि व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा की तरफ़ कुछ आकर्षित हुई है। किन्तु शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में अभी तक मतभेद चला जा रहा है। कितनों ही का मत है कि व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा की कुछ भी आवश्यकता नहीं। उनका कथन है कि प्राचीन काल में किंवा वर्त्तमान समय में भी जो कारीगर काम करते थे और कर रहे हैं उनमें से शायद ही किसी ने एम० ए०, बी० ए० की पदवी प्राप्त की हो। तथापि वे सुचारु रूप से अपना कार्य्य करते हैं। यह सप्रमाण उक्ति कई अंशों में ठीक होने पर भी सर्वथा माननीय नहीं हो सकती। क्योंकि बिना उच्च शिक्षा प्राप्त किये एक तन्तुवाय का पुत्र अपने पिता की बताई प्रणाली पर कपड़ा चाहे भले ही बुन ले; वह बुनने के कार्य्य अर्थात् बुनाई के काम में किसी भी प्रकार के नूतन तत्त्व का आविष्कार नहीं कर सकता। वह नहीं जान सकता कि मैनचेस्टर के ताँती या जुलाहे किस वैज्ञानिक रीति से हज़ारों थान एक दिन में तैयार करते हैं। वह नहीं जान सकता कि किस उपाय से मेरा माल सस्ते पड़ते का तैयार होकर सुदूर देशों में चौगुने दाम पर बिक सकता है। किसी साधारण राज-मिस्त्री में और एक आर्किटेक्ट इञ्जीनियर (स्थापत्य-विद्या-निपुण जन) में जो प्रभेद है, ग्रामीण नीम-हकीम में और

शिक्षित एम० डी० डाक्टर में जो अन्तर है—जो भिन्नता है—वही पार्थक्य शिक्षित और अशिक्षित शिल्पकारों में है। यदि शिल्प-विद्या में उत्कर्ष-लाभ करना है तो उच्च शिक्षा सर्वतोभाव से प्रयोजनीय है।

वर्तमान समय को हम वैज्ञानिक काल कह सकते हैं। बिना विज्ञान के व्यावहारिक शिल्प, किसी तरह, उन्नत नहीं हो सकता। क्योंकि जो वस्तु विज्ञानशास्त्र के अनुसार बनाई जाती है उसमें ख़र्च भी कम पड़ता है और वह लाभप्रद भी अधिक होती है। थोड़े दिन पहले लोहे की काई या ज़ङ्ग छुड़ाने के लिए अलकतरा व्यवहार किया जाता था। इसमें ख़र्च ज़ियादह पड़ता था। परन्तु अब विज्ञान-शास्त्र की बताई प्रणाली के अनुसार अलकतरे के बदले, तीसी के तेल में सिन्दूर मिला कर, लोहे पर लगाया जाता है। इसमें ज़ङ्ग दूर करने की शक्ति अधिकतर है। और ख़र्च भी कम पड़ता है। विज्ञान की बदौलत ही कई तरह की ऐसी पालिशें और वार्निशें तैयार हो चुकी हैं जिनके उपयोग से क़ीमती लकड़ी में वर्षों घुन नहीं लगने पाता। पहले वस्त्रों की रँगाई में ख़र्च और परिश्रम ज़ियादह होता था। कई रङ्ग भी कच्चे निकल जाते और फीके पड़ जाते थे। परन्तु विज्ञान-शास्त्र ने ऐसे रङ्गों को जन्म दिया है जो बहुत ही सुलभ और पक्के हैं। हाथ से गञ्जी, मोज़े आदि बुनने में अत्यन्त कष्ट होता है और समय भी अधिक नष्ट हो जाता है। किन्तु विज्ञान के बल पर जापान ने बिजली की शक्ति से चलनेवाले ऐसे यन्त्र आविष्कार किये हैं जिनसे एक घण्टे में कई दर्जन गञ्जी और मोज़े तैयार हो जाते हैं। अतएव न तो विज्ञान के बिना व्यावहारिक शिल्प ही की कभी उन्नति हो सकती है और न विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा के बिना विज्ञान का यथेष्ट अध्ययन ही कोई कर सकता है।

व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा के लिए गणित-शास्त्र के ज्ञान की भी परम आवश्यकता है। शिल्प-शिक्षार्थी को सङ्कलन (जोड़), व्यवकलन (बाक़ी), गुणा और भाग की जैसी आवश्यकता है ज्यामिति,—त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, समान्तराल आदि—के अङ्कन की शिक्षा की भी वैसी ही आवश्यकता है। किस वस्तु के बनाने के लिए किस परिमाण की क्या क्या वस्तुयें चाहिए, इसका ज्ञान गणित-शास्त्र के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। इसी तरह कोई भी कारु-कार्य्य—कारीगरी का काम—रेखागणित के ज्ञान के बिना होना असम्भव है। अतएव व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा के लिए जिस तरह विज्ञान की आवश्यकता है उसी तरह गणित-शिक्षा भी प्रयोजनीय है।

पाश्चात्य सभ्य देशों में व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में आरम्भिक शिल्प-विद्यालय, द्वितीय भाग में माध्यमिक शिल्प-विद्यालय एवं तृतीय भाग में उच्च शिल्प-विद्यालय अर्थात् कालेज हैं। प्रारम्भिक शिल्प-विद्यालयों में नक़शा बनाना, मिट्टी के साधारण बरतन बनाना, सूत कातना और क़ालीन-दरी आदि बुनना सिखाया जाता है। माध्यमिक शिल्पशिक्षालयों में विज्ञानशास्त्र के अनुसार यन्त्रों से महीन काम सिखाये जाते हैं और शिल्प-कालेजों में व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा को सर्वोपयोगी बनाने के लिए देशी और विदेशी साहित्य, इतिहास, भूगोल, उच्च गणित, यन्त्रविद्या, विद्युत्कला, पदार्थ एवं भूविद्या, खनि-कार्य्य (खानों का काम), नाव्यकार्य्य, (जहाज़ों का काम) स्थापत्यकार्य्य, (इमारत का काम) और वाणिज्यविद्या की शिक्षा दी जाती है। इन्हीं सब शिल्प-विद्यालयों में शिक्षित हो कर पश्चिमी सभ्य जातियों ने क्रमोन्नति करते हुए कितने ही प्रकार के नूतन शिल्प की उत्पत्ति की है।

जर्म्मनी, फ़्रान्स और अमेरिका ने सबसे पहले व्यावहारिक शिल्प-विद्यालय निर्म्माण किये। फिर सन् १८७... ईसवी में इँगलेंड में भी शिल्प-विद्यालयों की संस्थापना हुई। अल्प समय में ही वह देश इस प्रकार के विद्यालयों से भर गया। अकेले लन्दन-नगर में ही शिल्प-विज्ञान के अनेक विद्यालय हैं। लन्दन में शिल्प के हाईस्कूल और विशेष या असाधारण शिल्प-विद्यालयों की भी कमी नहीं है। परन्तु वहाँ का "ग्रेशाम कालेज" ही सर्व-प्रधान समझा जाता है। इँगलेंड के ब्राइटन, डर्बी, ब्रिस्टल, मैनचेस्टर, बरमिंघम, शेफील्ड आदि नगरों में भी कई शिल्प-विद्यालय हैं। स्काटलेंड का ग्लासगो-शिल्प-विद्यालय भी प्रसिद्ध है। इन सब विद्यालयों के लिए सरकार प्रायः चार करोड़ रुपये प्रतिवर्ष ख़र्च करती है।

पन्द्रह वर्ष पूर्व आस्ट्रिया-हङ्गरी-राज्य में १,६६... शिल्प-विद्यालय, ३६५ वाणिज्य-विद्यालय, २३५ कृषि-विद्यालय, ८,२३० शिल्प-वाणिज्य-घटित विद्यालय और ... खनिविद्यालय थे। बेलजियम में २३० और डेनमार्क में १०...

शिल्प-वाणिज्य-विद्यालय थे । अब उनकी संख्या निश्चय ही बढ़ गई होगी । फ्रान्स तो शिल्प-विद्यालयों में सर्वप्रधान है । वहाँ का पलिटेकूनिक् कालेज पृथिवी में अद्वितीय है । नाना देशों के विज्ञानवित् भी वहाँ पर शिक्षा ग्रहण करते हैं । जर्म्मनी में भी बहु-संख्यक शिल्प-विद्यालय हैं । इटली में २३ प्रसिद्ध विद्यालय हैं । रूस में १४९ शिल्प-वाणिज्य और कृषि-विद्यालय हैं । छोटे से स्विजरलेंड में भी इसी प्रकार के ३८० विद्यालय हैं । भला, जिन देशों में एक मात्र शिल्प के ही इतने विद्यालय हों वे देश क्यों न उन्नत हों ? क्यों न लक्ष्मीदेवी उन देशवासियों के गृहों में निवास करने को लालायित हो ? यह योरपवासियों के उद्यम का फल है, उनके अदम्य उत्साह का परिणाम है, उनकी कठोर तपस्या का प्रतिफल है कि आज योरप ससागरा धरणी पर सगर्व आधिपत्य कर रहा है ।

हम पहले ही लिख आये हैं कि भारतवर्ष व्यावहारिक शिल्प के अभाव से प्रति दिन हीनावस्था को पहुँच रहा है । भारत की यह दुर्दशा देख कर सदाशय गवर्नमेन्ट ने इस तरफ़ ज़रा ध्यान दिया है । इसी उद्देश की पूर्त्ति के लिए रुड़की और शिवपुर में इंजिनियरिङ्ग कालेजों की सृष्टि हुई है । अब मदरास और बम्बई में भी ऐसे ही कालेज खुल गये हैं । वहाँ भी कृषि, विद्युत् और खनिविद्यायें सिखाई जाती हैं । मदरास-कालेज में व्यावहारिक शिल्प की विशेष शिक्षा दी जाती है । पूना के विज्ञान-कालेज में भी व्यावहारिक विज्ञान की चर्चा होती है । इनके अतिरिक्त सरकार ने ढाका, राजशाही, श्रीरामपुर, रङ्गपुर, मैमनसिंह आदि नगरों में भी टेकनिकल स्कूल अर्थात्—कल-कारख़ानों की शिक्षा देने वाले विद्यालय—खोले हैं । राजशाही और मेदिनीपुर के स्कूलों में रेशम का काम सिखाया जाता है । श्रीरामपुर में कपड़े बुनने की शिक्षा दी जाती है । बिहार के पूसा में विशाल कृषि-विद्यालय स्थापित किया गया है । यदि योरोपीय भीषण सङ्ग्राम न छिड़ता तो आशा थी कि और भी कई विद्यालय खुल जाते ।

किन्तु केवल इतने ही से व्यावहारिक शिल्प की पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती । गवर्नमेन्ट को ही सब बातों के लिए कष्ट देना उचित नहीं । भारतवासियों को स्वयं इस समय समवेत चेष्टा करनी चाहिए । अर्थ-सङ्ग्रह करके हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा वृन्दावन के प्रेममहाविद्यालय की तरह बड़े बड़े शिल्प-विद्यालय भी खोलने अत्यन्त प्रयोजनीय हैं । जिन विषयों की शिक्षा यहाँ न हो सके उनके लिए कुशाग्र-बुद्धि छात्रों को वृत्तियाँ देकर जापान, अमेरिका आदि भेजना चाहिए । साहित्य-चर्चा में हम जितनी शक्ति ख़र्च कर रहे हैं उससे कहीं अधिक शक्ति व्यावहारिक शिल्प की उन्नति में प्रयुक्त होनी चाहिए । समय अनुकूल है । सर्व प्रकार की साहाय्य-प्राप्ति की सम्भावना है । अतएव व्यावहारिक शिल्प को अपनाइए और इसकी उन्नति में प्राणपण से यत्नवान् हूजिए ।

श्रद्धाराम शर्म्मा

सेठ दामोदरदास राठी ।

ब्यावर (राजपूताने) के प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ दामोदरदास राठी का देहान्त हो गया । ३ जनवरी १९१८ (पौष कृष्ण ५ संवत् १९७४) को ब्यावर में ही आपने शरीर छोड़ा । जन्म आपका संवत् १८३९ में हुआ था । आपने केवल ३५ वर्ष की उम्र पाई । खेद है ऐसा पुरुष-रत्न अकालही में काल-कवलित हो गया । आप में अनेक सद्गुण थे । हिन्दी-भाषा की उन्नति के आप हृदय से इच्छुक थे । देश-भक्ति आपकी बहुत ऊँचे दरजे की थी । शिक्षा-प्रचार के आप बड़े ही पक्षपाती थे; इस निमित्त आपने हज़ारों रुपये दान कर दिये ।

राठी जी के पूर्वज मारवाड़ के पोकरण नामक नगर के रहने वाले थे । वहाँ इनका घर अब तक विद्यमान है । जिस समय सँधिया-राज्य की स्थापना और विस्तार-वृद्धि हो रही थी उस समय इनके कोई पूर्वज तत्कालीन महाराजा-सँधिया की सेना के साथ साथ रहते थे और उन्हें धन से सहायता देते थे । तभी से इस घराने की प्रतिष्ठा बढ़ी और तभी से इनके यहाँ धन-धान्य की बढ़ती भी विशेष हुई ।

यद्यपि ये लोग पहले भी विभव-सम्पन्न थे तथापि नामी सेठ होने का सौभाग्य इन्हें तभी से प्राप्त हुआ।

राठी जी के पितामह का नाम सेठ ठाकुरदास और पिता का खींवराज था। खींवराज जी पुरानी चाल के व्यापारी होने पर भी वर्तमान काल के अनुरूप व्यवसाय करने के भी पक्षपाती थे। इस पक्षपात को उन्होंने कार्य्य में परिणत करके दिखा दिया। उन्होंने "दी कृष्ण मिल्स कम्पनी लिमिटेड" नाम की एक कम्पनी खड़ी करके ब्यावर में कपड़ा बुनने और सूत कातने का एक पुतलीघर खोला। इसके सिवा बिनौला निकालने और रूई की गाँठें बाँधने के लिए वहीं एक प्रेस (पेँच) भी चलाया। उसका नाम रक्खा—"खींवराज-राठी-काटन-प्रेस"। राजपूताने का शायद यही पहला पुतलीघर और यही पहला पेँच है। इन्होंने सुदूर रायचूर और अकोला में भी रुई के पेँच खोले।

खींवराज जी बड़े धर्म्मिष्ठ और दानी थे। १८९७ ईसवी में उन्होंने ब्यावर में पशुओं का एक अस्पताल खोला। अपने पुतलीघर में सदावर्त जारी किया, जो अब तक चल रहा है। सौ रुपये महीने के हिसाब से वर्ष में १२००) धर्म्मार्थ दान करने का नियम भी उन्होंने कर दिया। कई शिक्षालयों को सहायता दी। वज़ीफ़े भी दिये। शस्त्रक्रिया के लिए ब्यावर के शफ़ाख़ाने में एक कमरा बनवाया और चीरफाड़ के नये औज़ार भी मँगा दिये। १८५६ संवत् में उनका देहान्त हुआ। उस समय दामोदर-दास की उम्र १७ वर्ष की थी।

दामोदरदास ने ब्यावर के मिशन-स्कूल में एन्ट्रन्स तक शिक्षा पाई। स्कूल के सिवा घर पर भी आप को शिक्षा दी जाती रही। इसी से आपको अँगरेज़ी भाषा लिखने और बोलने का बहुत अच्छा अभ्यास हो गया। इस अभ्यास को वे उत्तरोत्तर बढ़ाते ही गये। आपका अँगरेज़ी-उच्चारण और विशुद्ध भाषण सुन कर कितने ही सुननेवालों को आश्चर्य्य होता था। शिक्षा इतनी थोड़ी, योग्यता इतनी अधिक! इन्होंने कुछ संस्कृत भी पढ़ी थी। हिन्दी के तो आप बड़े ही प्रेमी क्या उपासक थे।

सेठ दामोदरदास ने अपने पिता के चलाये हुए व्यवसायों को जारी ही नहीं रक्खा, उनकी उन्नति भी की। व्यापार-व्यवसाय में आप ने प्रशंसनीय कौशल दिखाया।

व्यापार-व्यवसाय के रहस्य इनके मुख से सुनकर हमें अनेक बार दङ्ग होना पड़ा है। यदि इनके कामों में अपरिहार्य्य रुकावटें न आतीं तो न मालूम ये कितना कार्य्य करते, कितने आदर्श व्यवसायों की सृष्टि करते और कितने देशदेशान्तरों के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित कर देते।

सेठ जी व्यवसायी तो थे ही, देश के भी अनन्य-भक्त थे। सभी प्रान्तों के नामी नामी देशभक्तों से आपका सख्य था। किस की, किस काम के लिए, कहाँ, किस तरह, ये मदद करते थे यह तो वही जानते थे। परन्तु इनके मुख से दबे हुए शब्द सुन कर सुननेवाले के हृदय में यह भावना हुए बिना न रहती थी कि सेठ जी अवश्य ही बड़ा काम कर रहे हैं।

मारवाड़ियों को शिक्षा में पिछड़ा हुआ देख कर आपको अपार दुःख होता था। अपने सजातियों में ही नहीं, औरों में भी, शिक्षा-विस्तार के लिए आपने बहुत धन दिया। आपके दान के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(१) शिक्षाविस्तार के लिए महेश्वरी-सभा को ५० हज़ार।

(२) वर्धा के मारवाड़ी बोर्डिंग-हौस के लिए २१ हज़ार।

(३) आपने एक स्कूल बनाने के लिए सनातन-धर्म्म-सभा, ब्यावर, को भी बहुत सा रुपया दिया। स्कूल-ख़र्च के लिए मासिक सहायता भी आपने दी। रुई ओटने के अपने कारख़ाने से निकली हुई रुई पर, १ पैसा मन "धर्म्मादा" निकाल कर, साल

में कोई एक हज़ार रुपये की सहायता का प्रबन्ध आपने अलग ही कर दिया।

(४) थे आप वैष्णव। पर ब्यावर के आर्य्य-समाज को भी, भवन बनवाने के लिए, आपने सहायता दी। सेंदरा स्टेशन के पास जङ्गल में एक मन्दिर है। उसमें पूजा के लिए, १०) मासिक पर, एक पुजारी रख दिया। कितनी ही कन्या-पाठशालाओं को भी आपने अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाई।

आपने अपनी थोड़ी उम्र में गुप्त दान कितना दिया, इसका हिसाब कौन बता सकता है?

म्यूनीसिपैलिटी का मेम्बर बनने के लिए प्रतिष्ठा-लोलुप लोगों को बहुत दौड़-धूप और कभी कभी ख़र्च भी करना पड़ता है। पर राठीजी अपने नगर के निवासियों के इतने प्यारे थे और इन पर लोगों का इतना विश्वास था कि बिना प्रयत्न किये ही ये सदा ही अपने नगर की म्यूनीसिपैलिटी के मेम्बर चुने गये। वहाँ इन्होंने निर्भय होकर काम भी सब ऐसे ही किये जिनसे नगर-निवासियों को बहुत लाभ पहुँचा।

हिन्दी-भाषा पर आपका उत्कट प्रेम था। उसकी व्यापकता-वृद्धि के आप हृदय से इच्छुक थे। हिन्दी और नागरी-प्रचारिणी सभाओं पर आपकी विशेष कृपा थी। अपने नगर में भी आपने एक सभा खोली। पुस्तकादि से उसकी सहायता भी की। हिन्दी में व्यापारी क़ानून का संग्रह करने के लिए आपने ५००) तक देने की इच्छा प्रकट की। पर, खेद है, आपसे सहायता पानेवाले कितने ही लेखकों के होते हुए भी यह पुस्तक न तैयार हुई।

सुनते हैं, राठीजी अनेक हिन्दी-लेखकों और पत्र-सम्पादकों को धन द्वारा सहायता देते थे। कई एक को शायद मासिक वृत्ति भी देते थे। तथ्य क्या है, सो तो साहाय्य पानेवाले ही जानें। हाँ, एक बात का साक्ष्य हम भी दे सकते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध हमीं से है। आप जब कानपुर आते थे तब बहुत करके, सायङ्काल, शहर से तीन चार मील दूर, सरस्वती-सेवक के कुटीर पर भी आने की कृपा करते थे। हमारे न मिलने पर आप घण्टों प्रतीक्षा में रहते थे। आपका यह समय पड़ोस के कुवे पर सन्ध्यावन्दन में ख़र्च होता था। किरमिच का एक डोल और लोटा सदा आपके साथ रहता था। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के नाम हमने "वक्तव्य" नाम का जो लेख भेजा था उसे आग्रह-पूर्वक निकलवा कर आपने पढ़ा था और उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ काररवाई भी की थी।

राठीजी का स्वभाव बहुत सरल था। वस्त्र-परिच्छद आपके सदा सादे होते थे। सादगी आपको बहुत पसन्द थी। देश, जाति, शिक्षा और हिन्दी-प्रचार के प्रतिकूल बातें आपको असह्य थीं। ऐसी बातें सुनकर आप उत्तेजित हो उठते थे और सबल दलीलों से प्रतिपक्षी को चुप कर देते थे।

बड़े खेद की बात है—देश के लिए यह बड़ी ही दुर्भाग्य-सूचक घटना है—जो ऐसा नररत्न असमय में ही इस लोक से उठ गया। आपका उत्तराधिकारी आपका एक अल्पवयस्क पुत्र है। ईश्वर उसे चिरायु करे।

दुःखों का सामना* ।

॥ १ ॥

देखो निरुत्साह मत होना चाहे दुख आ पड़ें अनन्त;
सम्भव है सुख-घड़ी आपके दुख-दल का कर देवे अन्त।
क्या जाने अति उष्ण वायु ही बह कर कर दे तुम्हें अधीर,
और बदल कर वही बहे फिर शीतल मन्द सुगन्ध समीर

॥ २ ॥

घिर आवें घनघोर घटायें चमके चपला बारंबार,
डरना कभी न तुम, सम्भव है, गिरे न भू पर जल की धार।

---

* एक अँगरेज़ी-कविता का आशय।

लकड़ी सुलग सुलग कर कर दे गगन धुवें से अति परिपूर्ण,
पर ज्वालायें उठें न उसमें और वही हो जावे चूर्ण।

॥ ३ ॥

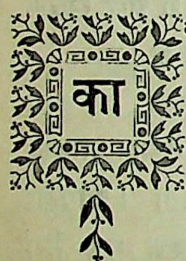
दुख आवेगा किन्तु अन्त को उसका भी तो होगा नाश।
जान बूझ कर भी यह मित्रो! क्यों होते हो व्यर्थ हताश?
यदि वह आता है तो क्या है? आने दो, तुम भी हो वीर,
विचलित मत होना सत्पथ से धारण करो हृदय में धीर।

॥ ४ ॥

सोचो, समय सकल घटनाओं का है जनक कहे सब लोक,
फिर क्यों अघटन घटनाओं से डर कर तुम करते हो शोक?
जगदीश्वर पर करो भरोसा, मन में करो यही विश्वास—
सुखद सुदिन वे दूर नहीं हैं जब दुख-दल का होगा नाश।

विद्यार्थी बाबूराम मिश्र

ईश्वर के आदेश और उसके ग्रन्थ।



कानपुर ज़िले के एक अग्निहोत्री जी—श्रीयुत सत्यानन्द जी महाराज—पहले इंजिनियरी महकमे में कर्म्मचारी थे। उस समय शायद आप ब्रह्मसमाजी थे। मुलाज़िमत छोड़ कर आपने लाहोर में देवधर्म्म नामक एक नये मत की नीव डाल दी, देवसमाज नामक एक संस्था की संस्थापना भी कर दी और अपने को "देवगुरु-भगवान्" की उपाधि से अलङ्कृत भी कर लिया। आप की राय में न कोई देवी है, न देवता, न ईश्वर। आप के कितने ही अनुयायी भी हो गये हैं। आप अपने मत या धर्म्म को वैज्ञानिक, विज्ञानमूलक या विज्ञान-सिद्ध बताते हैं। इस मत के प्रचार के लिए आप का एक मासिक पत्र भी, अँगरेज़ी में, निकलता है। उसका नाम है—"Science-grounded Religion" अर्थात् विज्ञान-मूलक धर्म्म। उसके सम्पादक आप ही के सजातीय एक अग्निहोत्री जी हैं। उनका नाम है पण्डित हरनारायण। इस धर्म्म में दीक्षित देवरत्न नाम के एक महाशय और थे। वे अब भी विद्यमान हैं। पर इस नये विज्ञानी धर्म्म का उन्होंने त्याग कर दिया है। आप भी शायद अग्निहोत्री ही हैं।

सितम्बर १९१७ में फ़ीरोज़पुर के आर्य्यसमाज ने एक धर्म्मसभा की। उसमें व्याख्यान देने के लिए पूर्वोक्त पण्डित हरनारायण जी भी निमन्त्रित हुए। आपने वहाँ जो व्याख्यान दिया या जिस निबन्ध का पाठ किया वह नवंबर १९१७ के विज्ञान-मूलक धर्म्म में प्रकाशित हुआ है। उसका संक्षिप्त आशय नीचे इस मतलब से दिया जाता है कि पाठक देवगुरु-भगवान् के वैज्ञानिक विचारों की बानगी से परिचित हो जायँ।

पण्डित हरनारायण अग्निहोत्री जी के व्याख्यान का विषय था—Revelation and Revealed Books—अर्थात् ईश्वर के आदेश और उसके ग्रन्थ। वैज्ञानिक प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर अपने विषय का विवेचन करते हुए आपने कहा कि न तो ईश्वर का अस्तित्व ही प्रमाणित है और न वह ग्रन्थ-रचना ही कर सकता है। यदि ईश्वर को साकार मानें तो उसे काल और आकाश की सीमा के भीतर ही रहना पड़ता है और यह उसके अनन्तत्व तथा सम्पूर्णत्व का बाधक है। यदि निराकार कहें तो यह बात प्रकृति नियम के विरुद्ध, अतएव असम्भव, है। क्योंकि प्राकृतिक नियमों के अनुसार पुरुष और प्रकृति, अर्थात् शक्ति और शरीर, एक दूसरे से भिन्न नहीं रह सकते। अध्यात्मवादी भी तो आत्मा को "सूक्ष्म भौतिक शरीर" कहते हैं। प्रकृति का नियम है कि जहाँ आकार नहीं वहाँ मस्तिष्क भी नहीं; मस्तिष्क नहीं तो बुद्धि भी नहीं; बुद्धि नहीं तो व्यक्तित्व भी नहीं। अतएव बिना सूक्ष्म या स्थूल शरीर के ईश्वर का अस्तित्व सम्भवनीय नहीं।

कुछ लोग परमेश्वर को आदि-कारण या सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं। पर इसके लिए सृष्टि का कभी न कभी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा और यह वैज्ञानिक खोज के विपरीत है। विज्ञान कहता है कि सृष्टि शाश्वत, अर्थात् आदि-अन्त-रहित, है। शक्ति अक्षय्य, अतएव अनादि, है। उसके स्वरूप में चाहे परिवर्तन भले ही हो जाय, नाश कदापि नहीं होता। और सृष्टि क्या है—पदार्थ (Matter) और शक्ति (Force) का संयुक्त परिणाम। अतएव सृष्टि अनाद्यन्त है। तब, फिर, उसके किसी कर्त्ता या स्रष्टा की कल्पना कैसे की जा सकती है?

आर्यों का सिद्धान्त है कि शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न थे। परमेश्वर ने उनका संयोग किया। शरीर और आत्मा

दोनों को वे आद्यन्तहीन मानते हैं। यह प्राकृतिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। प्राकृतिक संसार में अनात्म-शरीर का निर्माण पहले हो कर फिर उसमें प्राण-संस्कार नहीं होता। अतएव प्रकृति किसी सृष्टिकर्त्ता, अतएव स्वयम्भू परमात्मा, का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती।

बहुत से लोग ईश्वर, खुदा या गॉड को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् बताते हैं। पर न तो वह किसी पुस्तक के एक पृष्ठ का मतलब ही हमें सुना सकता है और न किसी बन्द घड़ी को चाभी देकर चलाता ही देखा जाता है। इन अमली परीक्षाओं से ईश्वर-सिद्धि नहीं होती। फिर उसका अस्तित्व कैसे मानें? वह मिथ्याकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। और जब किसी के अस्तित्व का ही पता नहीं तब उसके द्वारा ग्रन्थ-निर्माण के विषय में कुछ कहना ही वृथा है।

अच्छा, थोड़ी देर के लिए हम माने लेते हैं कि परमेश्वर है और वह ग्रन्थ-रचना भी कर सकता है। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि बाइबिल, कुरान और वेद इत्यादि धर्म्म-ग्रन्थ ईश्वर-निर्मित होने का कितना दावा रखते हैं? इस पर हमें कहना पड़ता है कि ये ग्रन्थ इस महत्ता के पात्र नहीं। क्योंकि न तो इनके विवेचनों में परस्पर मतैक्य ही है, और न इनमें उच्च श्रेणी की नीति और सदाचार का प्रतिपादन ही किया गया है। स्वयं ईश्वर के विषय में भी ये ग्रन्थ एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। कहीं तो वह मनुष्य-रूप-धारी कहा गया है, तो कहीं वह अजन्मा बताया गया है। एक धर्म्मग्रन्थ कहता है कि अपने पुत्र या देवदूत में विश्वास रखनेवाले पापियों को वह एक दिन (On the day of Judgment) क्षमा करेगा। दूसरा कहता है कि मृत्यु के पश्चात् तत्काल ही वह इन को भिन्न भिन्न योनियों में उत्पन्न कर देता है। किसी में परमात्मा बहुपत्नीत्व का विधान और बहुपतित्व का निषेध करता है और किसी में दोनों की विधि बता कर नियोग द्वारा स्त्रियों को ११ पति तक करने की अनुज्ञा देता है। किसी का भगवान् कहता है कि शत्रुओं को क्षमा कर दो—कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल उसके आगे कर दो—और किसी का ईश्वर "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की शिक्षा देता है। इस तरह इनमें वदतोव्याघात-दोष तो नृत्य सा कर रहा है। इतनी प्रतिपादन-विभिन्नता होते हुए भी हम थोड़ी देर के लिए माने लेते हैं कि बाइबिल, कुरान और वेदों की सृष्टि स्वयं परमात्मा ने की है। तो अब इनमें किये गये विवेचन और वर्णन सुनिए—

बाइबिल

में लिखा है कि ईश्वर ने छः दिनों में सृष्टि का निर्माण और सातवें दिन विश्राम किया। पहली उक्ति वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रतिकूल है और दूसरी से सूचित होता है, मानों परमात्मा थक गया था। यह उसकी सर्वशक्तिमत्ता के विपरीत है। दूसरे स्थान पर लिखा है—"जब मनुष्य ने ज्ञान-फल खा लिया तब परमेश्वर ने कहा—देखो, मनुष्य, हमारी ही तरह, सदसत् का ज्ञाता हो गया। वह डरा कि मनुष्य कहीं समूचे वृक्ष को ही हड़प करके अमर्त्य न बन जाय। तब उसने मनुष्य को स्वर्ग से निकाल दिया कि वह अमरत्वहीन हो जाय!" इससे ईश्वर में द्वेषभाव के अस्तित्व की सूचना मिलती है और यह काम उसके अनन्त प्रेम और दयालुता का परिचायक नहीं। तीसरी जगह कहा है—"मनुष्य उत्पन्न करने से परमेश्वर को पछतावा हुआ। तब उसने जल-प्रलय के द्वारा पैदा किये हुए मनुष्यों का नाश कर दिया।" बाइबिल के गाड (ईश्वर) की यह गति देखिए। ये सारी बातें उसकी विवेकहीनता और अनीश्वरता की सूचक हैं।

पुरानी इन्जील में ही नहीं, नई इन्जील (New Testament) में भी ऐसी ही बे-तुकी बातें भरी पड़ी हैं। कुमारी के गर्भ से क्राइस्ट का जन्म लेना, क्राइस्ट का हज़ारों लोगों को मछली खिलाना, पानी को शराब में बदल देना, इत्यादि कथनों से उसके कितने ही असम्भव, कल्पनातीत और अनुचित कार्य्यों का परिचय मिलता है। ऐसी ऊटपटाँग उक्तियों से पूर्ण पुस्तक कहीं ईश्वर-निर्मित हो सकती है? अब

कुरान

को लीजिए। कुरान का खुदा बहुत सी बीबियाँ करना जायज़ मानता है और हर मुसलमान को ४ और स्वयं पैग़म्बर को इससे भी ज़ियादह रखने की इजाज़त देता है। खुदा के बन्दों के लिए जन्नत में हूर और शराब मुहय्या रहती है। ईद तथा अन्य त्योहारों पर बकरे, ऊँट इत्यादि जानवरों की कुरबानी उसको मंजूर है। कुरान में अल्लाहताला

जगह जगह क़समें खाता है। वह कहता है कि ख़ुदा और पैग़म्बर के लिए लोग लूट-मार कर सकते हैं। क़ुरान में ऐसी ही कुपथ-प्रेरक उक्तियाँ हैं। असम्भव और असम्बद्ध बातों की भी उसमें कमी नहीं। अतएव विचारशील मनुष्य उसे ईश्वर-रचित कहने को तैयार नहीं हो सकता।

वेदों

को भी टटोल देखिए। सनातनधर्मी हिन्दू और आर्य्यसमाजी दोनों वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। पर स्वयं वेद में ही ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वेद ईश्वर-कृत नहीं। वेदों के मन्त्र भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न ऋषियों और ऋषि-पत्नियों के द्वारा रचे गये हैं। वेदव्यास ने उन्हें केवल एकत्र किया है। इसीसे उनका नाम है—वेद-संहिता। वेदों को, सिक्खों के ग्रन्थ-साहिब की तरह, सङ्कलित समझिए।

भिन्न भिन्न लेखकों की भाषा और लेखन-शैली अपने अपने ढँग की होती है। कोई पुस्तक एक ही लेखक की लिखी है या नहीं, यह बात उसकी भाषा और लेखन-शैली की एक-रूपता से जानी जा सकती है। पर वेदों के भिन्न भिन्न भागों की भाषा एक सी नहीं और लेखन-शैली में भी साम्य नहीं। वेदों का रचयिता कोई एक ही व्यक्ति नहीं जान पड़ता। क्योंकि उनमें इन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु आदि देवताओं की प्रार्थनायें कितनी ही बार दुहराई गई हैं—सो भी राज्य, सम्पत्ति, घोड़ों, गायों, बकरियों और सन्तान की प्राप्ति तथा शत्रु-नाश के लिए। मन्त्रों में तर्कशास्त्र के नियमों का भी अवलम्बन नहीं मिलता। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद को ही लीजिए। उसके पहले मन्त्र में अग्नि-पूजा या स्तुति की बातें हो चुकी हैं। फिर दसवें मन्त्र में प्रश्न किया गया है—"कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" हम किस देवता की पूजा करें ?

प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में उसके प्रणेता बीसों ऋषियों और देवताओं का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वेदों का कर्ता कोई एक व्यक्ति नहीं। स्वयं ऋषियों ने भी इस बात को खुल्लमखुल्ला स्वीकार किया है। ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ४७ के दूसरे मन्त्र में लिखा है—"हम कण्व ऋषि की सन्तान इस मन्त्र की रचना करते हैं।" ऋषियों के द्वारा मन्त्र-रचना का यह पक्का प्रमाण है। इसी तरह ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ६२ के तेरहवें मन्त्र में लिखा है कि उसकी रचना एक गौतमवंशीय ऋषि ने की है। ऐसे कितने ही वचन वेदों से उद्धृत किये जा सकते हैं। परन्तु आर्य्यसमाजी महाशय स्वामी दयानन्द का किया हुआ ही वेदों का अर्थ प्रामाण्य मानते हैं। इसलिए व्याख्याता अग्निहोत्रीजी ने स्वामीजी के "आर्य्याभिविनय" से कितने ही वेद-मन्त्रों का अनुवाद देकर अपने मत की पुष्टि की। यथा—ईश्वर से प्रार्थना की गई है—"मा नो वधी" अर्थात् आप मत मारिए। "हमारे माता-पिता और प्रिय तनुओं का हिंसन मत करो।" इनसे यह ध्वनि निकलती है कि वैदिक देवता, या स्वामीजी के शब्दों में, ईश्वर हिंसक है। एक जगह लिखा है—"हमारे गर्भों का विदारण मत कर"। इस प्रकार ईश्वर पर भ्रूणहत्या का आरोप किया गया है। क्या ईश्वर ऐसा जघन्य कार्य्य कर सकता है ? उक्त पुस्तक में एक जगह लिखा है—"हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चुरवावे।" तो ईश्वर चोर ठहरा ! क्या कोई भी भला आदमी किसी अन्य भले और प्रतिष्ठित पुरुष से इस तरह की बातें कहेगा ? स्वामी जी के "यजुर्वेद-भाष्य" से भी ऐसे ही अनेक वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। "ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका" में सृष्टि-विद्या के सम्बन्ध में लिखते हुए स्वामी जी ने ईश्वर के "मूर्खपन" आदि नीच गुणों से शूद्रों की उत्पत्ति बतलाई है। सत्यार्थ-प्रकाश में स्वामीजी सूर्य्य, चन्द्र, तारका, नक्षत्र, अग्नि, जल, वायु, इत्यादि को लोक नाम देकर उन्हें आबाद बतलाते हैं और कहते हैं कि इन्हीं लोकों में वेदों की सृष्टि ईश्वर ने की ! यह कितनी निर्मूल उक्ति है ! सूर्य्य के सदृश ज्वलन्त ताप-पिण्ड में मनुष्य का रहना कहीं सम्भव है ! अग्नि में कहीं वेदों की उत्पत्ति भी भला मानी जा सकती है ? यही स्वामीजी के वेदों का विज्ञान है ! सत्यार्थ-प्रकाश में गो-मेध यज्ञ का विधान है। क्या दयालु परमेश्वर ऐसा भी धर्म-ग्रन्थ निर्माण कर सकता है ? जिन धर्म-ग्रन्थों में ऐसी अनुचित, कपोल-कल्पित, हास्यास्पद, बे-तुकी बातें हों क्या उनका रचयिता ईश्वर हो सकता है ?

अग्निहोत्रीजी के व्याख्यान की प्रयोजनीय बातें संक्षेप में इतनी ही हैं। विद्वानों को इन पर विचार करना चाहिए कि इन में कुछ सार भी है या ये नितान्त ही निस्सार हैं।



सर सुन्दरलाल।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

विविध विषय।

१—मध्यमा शिक्षा किस भाषा में दी जाय ?

सितम्बर १९१७ की सरस्वती में १६ नम्बर का नोट देखिए। उसमें जिस परिषद् या कानफ़रन्स का उल्लेख है उसकी छपी हुई सरकारी रिपोर्ट हमें गत जनवरी में प्राप्त हुई। हमारा नोट अख़बारों में छपी हुई रिपोर्ट के आधार पर था। उसमें दो एक जगह भ्रम हो गया है। परिषद् के सभासदों की संख्या २१ थी। उसमें वही लोग अधिक थे जिनका सम्बन्ध शिक्षा-विभाग से है। और लोग भी थे, पर कम। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर सभी प्रान्तों के थे। जैसा कि हमने अपने पहले नोट में लिखा है, बड़े लाट की वक्तृता का रुख़ अँगरेज़ी भाषा को प्रधानता देने ही की ओर था। चाहे इस कारण हो, चाहे और किसी कारण, इस सभा में जो बहस हुई उससे सूचित होता है कि अँगरेज़ी भाषा की प्रधानता के पक्ष में ही अधिक ज़ोर दिया गया। इस बात का विचार अच्छी तरह न किया गया कि शिक्षा का उद्देश क्या है और उसकी पूर्ति किस भाषा के द्वारा उत्तमतापूर्वक हो सकती है। शिक्षा के बड़े बड़े मर्मज्ञ तो यही कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश विचारों के विकाश और ज्ञान की प्राप्ति के लिए है। यह उद्देश क्या अँगरेज़ी भाषा के द्वारा ही सफल हो सकता है ? इसके उत्तर में कौन समझदार आदमी 'हाँ' कहने का साहस करेगा ? दलील यह पेश की जाती है कि छोटी उम्र से ही अँगरेज़ी न पढ़ाई जायगी तो उसका यथेष्ट ज्ञान न प्राप्त होगा, और कालेज में जाने पर लड़के अँगरेज़ी में दिये गये लेक्चर न समझ सकेंगे ! परन्तु इस बात का विचार नहीं किया जाता कि स्कूल छोड़ने पर कालेज जाते कितने लड़के हैं ? कालेज की पढ़ाई का ख़र्च देने का सामर्थ्य है कितने भारतवासियों में ? यदि फ़ी सदी २५ लड़के भी कालेज जाकर अपनी शिक्षा जारी रक्खें तो बेचारे ७५ लड़के स्कूल की शिक्षा से पूर्णतया लाभ उठाने से क्यों वञ्चित रक्खे जायँ ? उन्हें उनकी ही भाषा में क्यों न शिक्षा दी जाय ? यदि २५ की अधिक फ़िक्र है तो दो कोर्स (पाठ्य-प्रकार) क्यों न नियत किये जायँ, एक २५ के लिए, दूसरा ७५ के लिए ? फिर, जो लोग यह कहते हैं कि अपनी भाषा में ही सब विषय पढ़ाने से समय की बचत होगी, अतएव भाषा की दृष्टि से लड़के अँगरेज़ी का अधिक ज्ञान सम्पादन कर सकेंगे, प्रयोग द्वारा उनका भ्रम दूर करने की चेष्टा क्यों नहीं की जाती ? उनकी ग़लती उनके गले उतार देने से विरोधियों के कथन का विरोध तो कोई न करेगा।

कानफ़रन्स के २१ सभ्यों में से ११ की यह राय हुई कि जो लड़के देशी भाषाओं के मदरसों में कुछ साल पढ़ कर अँगरेज़ी-स्कूलों में भरती होते हैं वे अँगरेज़ी भाषा को छोड़ कर और विषयों में साधारणतः अच्छे रहते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि अपनी भाषा में ज्ञान-सम्पादन करना अधिक सुगम है। ऐसे लड़के यदि अँगरेज़ी में कमज़ोर होते हैं तो अँगरेज़ी की शिक्षा का ढँग बदल देना चाहिए, न कि उसे छोटी उम्र से ही पढ़ाने का प्रबन्ध। फिर ये कमज़ोर लड़के आगे भी अँगरेज़ी में कमज़ोर ही रहेंगे, यह भी सर्वसम्मत नहीं। शिक्षा-विभाग के कई डाइरेक्टर, जो इस कानफ़रन्स के मेम्बर थे, इस बात को नहीं मानते। इस प्रान्त के डि-ला-फोसी साहब इन्हीं में से हैं।

स्कूलों में शिक्षा किस भाषा में दी जानी चाहिए अथवा अँगरेज़ी द्वारा शिक्षादान का प्रबन्ध किस दरजे से होना चाहिए, इस विषय में कानफ़रन्स के मेम्बरों की राय सुनिए—

(क) तीन मेम्बरों ने कहा, कुल शिक्षा देशी भाषाओं के द्वारा दी जाय।

(ख) चार ने कहा—"जहाँ तक सम्भव हो, पर-भाषा की दृष्टि से अँगरेज़ी भी पढ़ाई जाय"।

(ग) चौदह ने राय दी कि ऊपर की दो क्लासों को छोड़ कर और सब क्लासों में देशी भाषा का ही प्रचार रहे।

(घ) एक ने कहा, सबसे ऊँचे दरजे में ही अँगरेज़ी का बोलबाला रहे।

(ङ) ग्यारह ने कहा, ऊपर के तीन दरजों में अँगरेज़ी के द्वारा सब शिक्षा दी जाय।

(च) सात ने कहा, नहीं, ऊपर के चार दरजों में अँगरेज़ी की ही प्रधानता रहे।

हमारे प्रान्त के डाइरेक्टर साहब और डाक्टर सुन्दरलाल (ग) पक्षवालों में रहे। इसी पक्षवालों की संख्या सबसे अधिक रही। सम्भव है, बहुमत के आधार पर गवर्नमेंट

इसी पक्ष की सम्मति का समर्थन करे। यदि ऐसा ही हुआ तो समझना चाहिए कि इस प्रान्त को, इस कानफ़रन्स से, कुछ लाभ न हुआ। क्योंकि यहाँ तो आठवें दरजे तक अधिकतर देशी भाषाओं के ही द्वारा शिक्षा दी जाती है।

२—मातृ-भाषा के द्वारा शिक्षा के नये पक्षपाती।

अध्यापक यदुनाथ सरकार, एम० ए०, नामी विद्वान् और अँगरेज़ी भाषा के पारगामी पण्डित हैं। ऐतिहासिक खोज करने और ऐतिहासिक पुस्तकें लिखने में आपने बड़ा नाम पाया है। कुछ समय हुआ, आपने, बाँकीपुर में, एक व्याख्यान दिया था। उसमें आपने अँगरेज़ी-साहित्य की ज्ञान-प्राप्ति की बड़ी महिमा गाई थी। उससे यह ध्वनि निकलती थी कि अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने को आप विशेष महत्त्व की बात नहीं समझते। पर यह सन्देह अब आपने दूर कर दिया है। जनवरी १९१८ के "माडर्न-रिव्यू" में आपका एक लेख निकला है। उसकी कुछ बातें सुनिए—

शिक्षा दी किस मतलब से जाती है? इसी मतलब से न कि विचार करने की शक्ति बढ़े? यह बात विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देने से कभी नहीं हो सकती। किसी समय इँगलेंड की वही दशा थी जो आज कल भारत की है। वहाँ लैटिन भाषा पढ़ाई जाती थी। इसी से वहाँ बुद्धि-विषयक विकास बिलकुल ही न हुआ। स्काटलेंड में तो १७०० ईसवी तक दार्शनिक वक्तृतायें लैटिन में होती थीं। वहाँ भी वही दशा रही। पर ज्योंही लैटिन हटा कर अँगरेज़ी को स्थान दिया गया त्योंही पुराने दोष दूर हो गये। बुद्धि का विकाश होने लगा और शीघ्र ही अनेक मौलिक विद्वान् और विचारशील पुरुष उत्पन्न हो गये। सैकड़ों नये नये ग्रन्थों की रचना हो गई और अँगरेज़ी भाषा के साहित्य ने दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति की।

भारत में १६ या १७ वर्ष की उम्र के लड़कों को जो पुस्तकें अँगरेज़ी में पढ़नी पड़ती हैं वे पुस्तकें विलायत में १० वर्ष के लड़के पढ़ते हैं। यहाँ तो लड़कों को विदेशी भाषा आयत्त करने ही में बहुत सा समय खोना पड़ता है। बुद्धि-विकाश के लिए उन्हें समय या मौक़ा कहाँ? तीव्र बुद्धि के लड़कों पर भी इस अस्वाभाविक प्रणाली का असर बहुत बुरा पड़ता है। सामान्य बुद्धिवालों की तो बात ही नहीं।

अब इस बात को सभी समझदार जन स्वीकार करते हैं कि अँगरेज़ी के द्वारा नहीं, मातृ-भाषा के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। ३१ करोड़ भारतवासियों में केवल कुछ ही लाख आदमी ऐसे हैं जो अपने विचार अँगरेज़ी में प्रकट करते हैं। कई लाख ऐसे भी हैं जो टूटी फूटी अँगरेज़ी बोल या समझ लेते हैं। पर ऐसे आदमी १० हज़ार से अधिक न होंगे जो अँगरेज़ी ही में सोचते और अँगरेज़ी ही में अपने मन का भाव प्रकट करते हों। इस दशा में अँगरेज़ी भाषा के प्रचार और उसके द्वारा शिक्षा देने से राजनैतिक एकता के सम्पादन का स्वप्न देखना आकाश में क़िले बनाने के सिवा और कुछ नहीं। यह नितान्त असम्भव है। राजनैतिक एकता के विचार तभी फैलेंगे जब देशी भाषाओं में शिक्षा दी जायगी और जब देशी भाषाओं के अख़बार और पुस्तकें उन भावों का प्रचार सर्वसाधारण में करेंगी।

अतएव अँगरेज़ी के द्वारा नहीं, देशी भाषाओं के द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिए और इन भाषाओं के साहित्य की यथाशक्ति ख़ूब उन्नति करनी चाहिए। तभी अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी। हिन्दी में लिखे गये भारतीय इतिहास से, हिन्दी बोलनेवाले की तो बात ही नहीं, बङ्गाली लड़का भी इतना लाभ उठा सकता है जितना कि वह अँगरेज़ी भाषा में लिखे गये भारतेतिहास से नहीं उठा सकता।

अच्छा तो इस समय करना क्या चाहिए? करना यह चाहिए कि मैट्रिकुलेशन ही तक नहीं, एफ़० ए० तक भी सब विषयों की शिक्षा बँगला भाषा के द्वारा ही देनी चाहिए। जो लड़के अँगरेज़ी पढ़ना चाहें वे पढ़ें, पर "उत्तर" अपनी ही भाषा में दें या लिखें। आवश्यक और सुपाठ्य पाठ्य पुस्तकें तैयार होने पर आगे की शिक्षा भी मातृभाषा ही के द्वारा दी जाय।

सरकार महाशय ने अपनी भाषा, बँगला, के विषय में जो कुछ कहा है वही हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ है।

"माडर्न-रिव्यू" की उसी पूर्वोक्त संख्या में एक और लेख बड़े महत्त्व का छपा है। उसका नाम है—"The

Educational Problem of Indian Nationalism" इसे एक महाशय ने आक्सफर्ड से भेजा है। आपका नाम है—के० एम० पानिकक्कर, बी० ए०। आप महाराष्ट्र मालूम होते हैं। आपकी राय है कि भारत में एक व्यापक भाषा की बड़ी ज़रूरत है और हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो सारे देश में प्रचलित हो सकती है। इस पर आपने खूब विचार किया है और अपनी सम्मति को सप्रमाण सही भी साबित किया है। आपका विश्वास है कि जातीय भावों की शिक्षा के लिए बिना हिन्दी का आश्रय लिये कार्य्य-सिद्धि नहीं हो सकती।

३—शिक्षा-दान और गवर्नमेंट का कर्तव्य।

राजा, कर के रूप में, जो रुपया प्रजा से वसूल करता है वह प्रजा के ही लिए करता है। प्रजा के लिए हर तरह के सुभीते करने, उस पर अत्याचार न होने देने, उसके सुखसाधनों की वृद्धि करने ही के लिए राज-स्थापना होती है। प्रजा का अज्ञान दूर करना उसके लिए सुख-साधन का सब से बड़ा उपाय है। अतएव इस उपाय की योजना करना राजा का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। इसीसे कुछ देशों में शिक्षा अनिवार्य्य है। प्रारम्भिक ही नहीं, उसके आगे भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए लड़के और लड़कियाँ बाध्य हैं। वहाँ यह सब शिक्षा मुफ़ दी जाती है। कहीं कहीं तो कालेज की, अर्थात् उच्च, शिक्षा भी मुफ़ है। परन्तु भारत में, रुपये की कमी से कहिए या और कारणों से कहिए, किसी भी प्रकार की शिक्षा न तो अनिवार्य्य ही है और न मुफ़ ही। यहाँ की गवर्नमेंट का मत है कि सब को सब तरह की शिक्षा देना उसका कर्तव्य नहीं और मुफ़ शिक्षा देना तो उसके लिए अभी सर्वथा असम्भव ही सा है। यहाँ तक कि वह प्रारम्भिक शिक्षा को भी मुफ़ कर देने के लिए तैयार नहीं। वह कहती है कि हमने आवश्यक शिक्षा के कुछ नमूनेदार शिक्षालय स्थापित कर दिये हैं। प्रजा को और शिक्षालय दरकार हों तो वह उसी तरह के जितने चाहे खोल दे, पर अपने ख़र्च से। कुछ समय से उसने प्रारम्भिक शिक्षा के कुछ अधिक प्रचार पर ध्यान अवश्य दिया है। पर वह उसे भी मुफ़ नहीं करना चाहती। मुफ़ शिक्षा दिलाना राजा का काम है, इस पर यद्यपि आज तक बहुत कुछ चर्चा हुई है और इसके पक्षपातियों ही का पक्ष प्रबल रहा है तथापि गवर्नमेंट ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। फल यह हुआ है कि बम्बई और बङ्गाल की म्यूनीसिपैलिटियों में अब जो मुफ़ शिक्षा दी जाने का प्रबन्ध हुआ है उसके कारण, आवश्यकता होने पर, प्रजा को ही प्रायः अपनी जेब से अधिक ख़र्च करना पड़ेगा। जो आमदनी अभी है, यदि उससे अधिक ख़र्च पड़ेगा तो प्रजा पर कर लगा कर वह ख़र्च पूरा किया जायगा। मतलब यह कि प्रजा यदि अपने सभी बच्चों को शिक्षा देना चाहती है तो ख़र्च भी वही करे! सो, बहुत सम्भव है, इस प्रान्त में भी जो इस विषय का क़ानून बननेवाला है उसमें बढ़ा हुआ अधिकांश ख़र्च प्रजा से ही वसूल करने का नियम निर्दिष्ट किया जाय।

४—कालेजों में जगह की कमी।

भारत की निरक्षरता जग-जाहिर है। तिस पर भी यहाँ शिक्षा बहुत महँगी है। यह कोढ़ में खाज समझिए। एक रोग और भी है। स्कूलों और कालेजों में जगह कम होने पर भी नमूने के बाहर की इमारतों और मकानों में पढ़ाने की आज्ञा नहीं। बन्दर योंही चपल। यदि उसे शराब पिला दी जाय और कहीं उस दशा में उसे बिच्छू डङ्क मार दे तो फिर उसके वैकल्य का क्या ठिकाना! कुछ समय हुआ, संयुक्त प्रान्त के कौंसिल में एक माननीय मेम्बर ने गवर्नमेंट से पूछा कि १९१६ और १९१७ में कालेजों में जगह की कमी इत्यादि कारणों से कितने शिक्षा प्रार्थी युवक प्रवेश न पा सके। गवर्नमेंट ने कहा, अभी लेखा तैयार नहीं। तैयार होने पर बताया जायगा। यह लेखा अब तैयार हो गया है और १९ जनवरी १९१८ के गवर्नमेंट गैज़ट में छपा है। उसे देख कर दुःख होता है। एक तो देश योंही दरिद्र। इस कारण जहाँ सुभीते हैं वहाँ भी बहुत ही कम लोग अपने लड़कों को मध्यमा शिक्षा दे सकते हैं। जो दे भी सकते हैं उनके भी सैकड़ों लड़कों को, जगह की कमी के कारण, इस स्कूल से उस स्कूल के दरवाज़े खटखटाने पड़ते हैं और उससे इसके। तिस पर भी अनेक युवकों को शिक्षा से वञ्चित ही रह जाना पड़ता है। स्कूली शिक्षा का तो यह हाल, कालेज की उच्च शिक्षा की भी दशा, जगह की कमी की दृष्टि से, इससे अच्छी नहीं। बहुत कम लड़कों को कालेज की शिक्षा पाने के

साधन प्राप्त होते हैं। यदि उन्हें भी कालेजों में जगह न मिले तो देश का दुर्भाग्य ही समझिए। गैज़ट में जो नक़शे छपे हैं उनके अनुसार १९१६ में १५०२ और १९१७ में १७३५ युवकों को इस प्रान्त के भिन्न भिन्न आर्ट्स् कालेजों में भरती करने से अधिकारियों ने इनकार कर दिया!

अकेले म्यूर-सेंट्रल कालेज ने १९१६ में ५३६ से और १९१७ में ५३९ लड़कों से कह दिया—नहीं भरती हो सकते। इनमें से अधिकांश जगह की कमी के कारण ही दुरदुराये गये। यही हाल और भी कितने ही कालेजों का है। नहीं मालूम, इन बेचारों में से किसी को अन्यत्र जगह मिली या नहीं। कई कालेजों ने तो इसका हिसाब ही नहीं रक्खा कि कितने शिक्षार्थियों को भरती करने से उन्होंने इनकार किया। यदि सब का हिसाब मिलता तो ऊपर दी हुई छात्र-संख्या और भी अधिक हो जाती। इधर तो निरक्षरता का अखण्ड राज्य, उधर स्कूलों और कालेजों में जगह की कमी। भगवान ही बेड़ा पार करे। इस रोग की एक मात्र औषधि सर्वसाधारण की चेष्टा ही हो सकती है। यदि सभी समर्थ जन अपनी अपनी आमदनी में से फ़ी रुपया एक पैसा भी सार्वजनिक शिक्षा के लिए देने को तैयार हो जायँ तो बहुत काम हो जाय। गवर्नमेंट किस किस काम के लिए रुपया दे। काम अनन्त, आमदनी उसकी सान्त या परिमित।

५—मुसलमान और प्रान्तिक भाषायें।

कुछ समय से कितने ही मुसलमान भाइयों के हृदय में इस विचार ने जगह पाई है कि वे रहें चाहे जिस प्रान्त में, भाषा उनकी उर्दू ही है। इस ख़याल के मुसलमान मदरास में रह कर तामील और तैलगू को, बम्बई में रह कर मराठी और गुजराती को, बङ्गाल में रह कर बँगला को अपनी भाषा नहीं मानते। जिस भाषा में वे दिन रात बातें करते हैं, जिस भाषा की बदौलत उनका देन-लेन चलता है, जो भाषा उन्हें बाज़ार और कचहरी में बोलनी या सुननी पड़ती है वह उनकी भाषा नहीं। वे कहते हैं, हमारी भाषा है उर्दू! ऐसे ही शुष्क और सर्वथा हानिकर विचारों की प्रेरणा से मदरास, बम्बई, ब्रह्मदेश और बङ्गाल में उर्दू के मदरसे खुलवाने का कहीं कहीं प्रयत्न हुआ है और अब भी यत्र तत्र हुआ करता है।

यह कितनी बड़ी भूल है, इसे विचारशील मुसलमान ख़ुद समझते हैं। इसका एक प्रमाण लीजिए—

कलकत्ते में कलकत्ता-मदरसा नाम का एक मुसलमानी कालेज है। उससे सम्बन्ध रखनेवाली मुसलिम-इन्स्टीट्यूट नामक एक संस्था है। इसी संस्था के भवन में, दिसंबर में, मुसलमानों की साहित्य-समिति का जलसा हुआ। उसके सभापति थे श्रीयुत मुहम्मद शहीदुल्ला, एम० ए०, बी० एल०। आपने अपनी वक्तृता में बँगला भाषा के विषय में कहा—

> अरबी हमारे धर्म्म की भाषा है, अंगरेज़ी हमारी राजभाषा है, और बँगला हमारी मातृ-भाषा है।

बहुत ठीक। आप अरबी पढ़िए, फ़ारसी पढ़िए, फ़ारसी-अरबी लिपि में उर्दू लिखिए; परन्तु अपने प्रान्त की बोली को औरों की बोली न बताइए। संयुक्त-प्रान्त की प्रधान भाषा हिन्दी है। उसमें ज़बरदस्ती अरबी-फ़ारसी के क्लिष्ट शब्द मिला कर उसे दूसरी भाषा बनाने की चेष्टा न कीजिए; क्योंकि यह चेष्टा कभी सफल होने की नहीं। जिस भाषा को फ़ी सदी ८० आदमी बोलते हैं उसकी प्रधानता अनिवार्य्य है। फिर जब हज़ारों नहीं, लाखों हिन्दू आपकी लिपि से प्रेम रखते हैं, यहाँ तक कि फ़ारसी भी पढ़ते हैं, तब आपका हिन्दी को गवाँरू भाषा कहना और देवनागरी लिपि का "बायकाट" करना किसी भी दृष्टि से क्षेमङ्कर नहीं। उस दिन, कलकत्ते में, भारतीय मुसलमानों की शिक्षा-समिति के सभापति हैदरी महाशय ने तो मुहम्मद शहीदुल्ला साहब से भी अधिक उदारता दिखाई। आपने अपने सजातियों से कहा—

> अपने प्रान्त की बोली या भाषा से दूर भागना—उसे न जानना—मुसलमानों के लिए बहुत बड़ी आपत्ति की बात है। जिस प्रान्त में जन्म मिला—जिस प्रान्त में सारी उम्र कटी—उसी प्रान्त की भाषा से अनभिज्ञता! इससे बढ़ कर परिताप की बात और क्या हो सकती है? किसी भाषा-विशेष का सम्पर्क किसी धर्म्म-विशेष से बताना कदापि युक्ति-सङ्गत नहीं। मैं ऐसे विचारों को कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखता। ऐसे विचारों का मैं कदापि समर्थन नहीं कर सकता। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में यों ही अनेक विषयों में भिन्नता है। क्या वह सब काफ़ी नहीं? उसमें भी भाषा-सम्बन्धिनी एक और भिन्नता बढ़ा कर, भाई, क्यों व्यर्थ विद्वेष की वृद्धि करते हो?

सो, हैदरी महाशय के विचार से मुसलमानों को अपने



सेठ दामोदरदास राठी।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

धर्म्म की भाषा भी अलग मानने की ज़रूरत नहीं। पर इस प्रान्त के कितने ही माननीय महोदयों को कौन समझावे!

६—डिस्ट्रिक्ट्-बोर्डों की रिपोर्टों पर सरकारी मन्तव्य।

१९१५—१६ से १९१६—१७ तक के समय से सम्बन्ध रखने वाली, डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की रिपोर्टों पर गवर्नमेंट ने अपना मन्तव्य, गत जनवरी में, प्रकाशित किया है। सरकारी समालोचना में अनेक बातें जानने योग्य हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है। इस उल्लेख से संयुक्त-प्रान्त और अवध में प्राथमिक या प्रारम्भिक शिक्षा की दशा का अच्छा आभास मिलेगा। जिस साल के काम की आलोचना गवर्नमेंट ने की है उस साल इस सूबे में इतने मदरसे थे—

(१) बोर्ड के मदरसे	६,१६७
(२) बोर्ड से इमदाद पानेवाले मदरसे	२,१४४
कुल	११,३११

इन मदरसों के भिन्न भिन्न दरजों में शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या इस प्रकार थी—

बोर्ड के मदरसों के

(१) हाई और मिडिल अर्थात् पाँचवें और छठे दरजे में	२५,६६३
(२) आरम्भिक दरजों अर्थात् तीसरे और चौथे में	९६,९७५
(३) नीचे के दरजों अर्थात् पहले और दूसरे में	४,७७,९६५
कुल	६,००,६०३

इमदादी मदरसों के

(१) पाँचवें और छठे दरजे में	७१०
(२) तीसरे और चौथे दरजे में	३,५६८
(३) पहले और दूसरे दरजे में	६८,९४८
कुल	७३,२२६

इस प्रकार कुल लड़कों की संख्या ६,७३,८२९ हुई। यह दशा ३१ मार्च १९१७ को थी। इसके पूर्व कुल मदरसों में ६,२८,८४९ लड़के थे। मतलब यह हुआ कि रिपोर्ट के साल कोई ४५ हज़ार लड़के बढ़े। अर्थात् प्रारम्भिक शिक्षा में इतनी उन्नति हुई। यह वृद्धि फ़ी सदी ७ के बराबर हुई, जिसे ग़नीमत समझना चाहिए। पर इससे यह न समझना चाहिए कि निरक्षरता की विशेष कमी हुई। नहीं। सरकार ख़ुद ही क़बूल करती है कि एक हज़ार जन-संख्या में से केवल १५.८३ अर्थात् केवल कोई १६ बच्चों ने शिक्षा पाई! अच्छा, इन एक हज़ार आदमियों पीछे १६ की शिक्षा में ख़र्च क्या पड़ा? कोई ३४ लाख रुपये। अर्थात् एक एक बच्चे के लिए ५≡)॥ ख़र्च हुआ। यह ख़र्च थोड़ा है या बहुत, इस बात को जाने दीजिए। देखिए यह कि समष्टि-रूप से प्रारम्भिक शिक्षा की दशा कैसी है। फ़ी एक हज़ार आदमियों पीछे शिक्षा पानेवाले १६ बच्चों का औसत प्रान्त भर का है। पर बहुत से ज़िलों की दशा विशेष बुरी है। अनेक ज़िलों में शिक्षा पानेवाले बच्चों का औसत ११, १२, १३, १४ से अधिक नहीं। कुछ ज़िले तो इससे भी अधिक अभागे हैं। देखिए—

	औसत
सहारनपुर	९.८८
बहरायच	९.९८
खीरी	८.१९
गोंडा	१०.६३

फिर भी सहारनपुर में फ़ी लड़का ख़र्च पड़ा रु० ७—२—४ और खीरी में रुपया ६—१५—१०! मालूम नहीं, इस व्यय-वृद्धि का कारण क्या है। दुःख में सुख की बात इतनी ही है कि कुछ ज़िलों में आरम्भिक शिक्षा की दशा औरों की अपेक्षा अच्छी है, यथा—

ज़िला	फ़ी एक हज़ार आदमियों में से कितनों ने शिक्षा पाई
देहरादून	२०
आगरा	२१
कानपुर	२१
जालौन	२०
बनारस	२९
अल्मोड़ा	२४

ऊपर जिन ४५ हज़ार लड़कों की वृद्धि बताई गई है वह प्रायः सब की सब पहले और दूसरे दरजे में पढ़नेवाले ककहरा-नवीसों में हुई है। सो यदि ये लड़के साल दो साल बाद मदरसा छोड़ दें तो उनका पढ़ना न पढ़ने के बराबर

ही रहे। सरकार ने पिगट-कमिटी के मन्तव्यों के अनुसार आरम्भिक शिक्षा-प्रणाली में जो फेरफार किये हैं उनका उद्देश ऊँचे दरजों में छात्र-वृद्धि करना है। सो, अब तक नहीं हुआ। आगे की राम जाने।

७—पुरातत्त्व-विभाग की रिपोर्ट।

आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट, अर्थात् पुरातत्त्व-विभाग, की रिपोर्ट की एक प्रति हमें हाल ही में प्राप्त हुई है। इसका सम्बन्ध १९१५—१६ ईसवी से है। यह उस साल की रिपोर्ट का पहला भाग है। दूसरा भाग फिर निकलेगा। दूसरे भाग में पुरातत्त्व-विषयक लेख रहते हैं। अतएव वह भाग पहले से बड़ा होता है।

रिपोर्ट के साल खुदाई और मरम्मत का काम कम हुआ। कारण, युद्ध। इन कामों के लिए रुपया कम मिला। इसी से पुरानी इमारतों की मरम्मत और पुराने डीहों की खुदाई आदि भी कम हुई। तथापि और दृष्टियों से इस महकमे ने बहुत अच्छा काम किया। सैकड़ों शिलालेखों की नक़लें ली गईं, सैकड़ों प्राचीन सिक्कों और चित्रों आदि का संग्रह किया गया। कितने ही नये नये ऐतिहासिक तत्त्वों का पता लगाया गया।

इस रिपोर्ट में इस महकमे के डाइरेक्टर जनरल, सर जान मार्शल, ने पाटलिपुत्र की खुदाई के सम्बन्ध में डाक्टर स्पूनर की सम्मति की भी संक्षिप्त आलोचना की है। पाठक जानते ही हैं कि डाक्टर साहब ने प्राचीन पाटलिपुत्र में पारसीक प्रभुत्व की सम्भावना की है और कौटिल्य तथा चन्द्रगुप्त आदि के विषय में बड़ी बेढब बेढब बातें कही हैं। उनकी इन कल्पनाओं का खण्डन कितने ही देशी और विदेशी विद्वानों ने किया है। इसका उल्लेख सरस्वती में हो चुका है। लोगों को कहीं यह ख़याल न हो जाय कि डाक्टर स्पूनर की जो सम्मति है वही इस महकमे की भी सम्मति है। इसी सन्देह की निवृत्ति के लिए सर जान मार्शल ने इस रिपोर्ट में लिखा है कि डाक्टर स्पूनर की कल्पनायें या सम्मतियाँ उनकी निज की उपज है। उनके लिए महकमा ज़िम्मेदार नहीं। आप की राय है कि पाटलिपुत्र में जो पुरानी चीज़ें मिली हैं उनसे मालूम होता है कि उस समय के भारतीय कला-कौशल पर ईरान अथवा ग्रीस और ईरान के कलाकौशल की गहरी छाया ज़रूर पड़ी थी। पर आपका ख़याल है कि इससे यह सिद्ध नहीं कि भारतवर्ष धार्म्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों में ईरान का ऋणी अथवा उसके अधीन था। हाँ, उस समय भारत और ईरान के बीच लोगों का विशेष आवागमन ज़रूर रहा होगा। अस्तु। सर जान मार्शल ने अपनी इस सम्मति से बढ़ते हुए वाग्विरोध को बहुत कुछ शिथिल कर दिया, यह अच्छा हुआ। पर डाक्टर स्पूनर चुप रहनेवाले नहीं। वे अब एक बड़ी सी पुस्तक लिख रहे हैं। उसमें आप अपनी कल्पनाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक करेंगे। साथ ही प्रमाण-द्वारा उनकी पुष्टि का भी प्रयत्न करेंहींगे। उसके प्रकाशित हो चुकने पर विद्वानों को फिर विचार करने का अवसर मिलेगा।

उदयपुर-राज्य के नागरी नामक स्थान में एक शिलालेख मिला। उसका उल्लेख एक बार इस पत्रिका में हो चुका है। उससे जान पड़ता है कि वहाँ भगवान् सङ्कर्षण का एक मन्दिर था। यह मन्दिर ईसवी सन् के भी ३०० वर्ष पहले वहाँ विद्यमान था। अर्थात् आज से २२०० वर्ष पूर्व भी इस देश में मूर्ति-पूजा होती थी और वैष्णव धर्म्म का प्रचार था। नागरी, और मन्दसोर में भी, एक एक प्राचीन लेख बड़े महत्त्व के मिले। इनसे विक्रम-संवत् के सम्बन्ध में कुछ नई बातें मालूम होने की सम्भावना है। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का तो कथन है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का एक राजा ज़रूर था; मालव-विक्रम-संवत् उसी के नाम से चला है। तथास्तु।

रिपोर्ट के साल पुरानी मुहरें ख़ूब मिलीं। हिसार ज़िले में ६० सिक्के सोने के प्राप्त हुए। वे महाराज समुद्रगुप्त और पिछले कुशनवंशीय राजाओं के समय के हैं।

मध्य एशिया में वर्षों भ्रमण करके सर आरल स्टीन अनन्त प्राचीन पदार्थ ले आये। चित्र, सिक्के, जवाहरात, ज़ेवर, कपड़े, पुस्तकें आदि चीज़ें, १८२ बकसों में भर कर, उन्होंने लाहौर पहुँचाईं। इन सब का वज़न कोई २५० मन था। इन चीज़ों में से कई हज़ार तो केवल पुरानी पुस्तकें ही हैं। वे संस्कृत, चीनी, तिब्बती, खोटानी और तुर्की आदि भाषाओं में हैं। और चीज़ें तो लाहौर ही में हैं; पर ये पुस्तकें वहाँ नहीं। वे लन्दन चली गई हैं। क्योंकि वहीं ऐसे विद्वान् मिल सकते हैं जिनकी सहायता से

स्टीन साहब इनका सम्पादन कर सकेंगे। इस समय साहब भी लन्दन ही में हैं। पर सम्पादन हो चुकने पर भी वे इस देश में रक्खी जाने के लिए लौट आवेंगी या नहीं, इसका उल्लेख रिपोर्ट में नहीं। स्टीन साहब इसी देश के आर्कियोलाजिकल महकमे के अफ़सर हैं। यहीं से उनको तनख़्वाह मिलती है। अतएव चाहिए तो यही कि यहाँ की चीज़ें यहीं रक्खी जायँ।

आठ नौ सौ वर्ष की पुरानी (सिंहनाद लोकेश्वर की) एक बड़ी सुन्दर मूर्ति महोबे (ज़िला हमीरपुर) में मिली।

८—हिंसक जन्तुओं के द्वारा प्राण-नाश और हथियार रखने के लाइसंस।

गैज़ट आव् इंडिया में जो लेख प्रकाशित हुआ है उससे जाना जाता है कि १९१६ ईसवी में, सारे भारत में, जङ्गली जानवरों के कारण २,२७८ आदमियों की जान गई। उसमें से १,११८ आदमियों का शिकार बाघों ने किया।

बिहार और उड़ीसे में सब से अधिक आदमियों के—अर्थात् ८४७ के—प्राण गये। उनमें से ५३० आदमियों को बाघों ने मार डाला। यह हिंसा बिहार के जङ्गली और पहाड़ी ज़िलों में ही अधिक हुई। साँपों ने २३,६४० आदमियों के प्राण लिये। हमारे संयुक्त-प्रान्त में ही और प्रान्तों की अपेक्षा अधिक मौतें हुई। उनकी संख्या ६,७१२ तक पहुँच गई। जिस साल का यह हिसाब है उस साल २०,५७४ हिंसक जीव मार डाले गये—

बाघ १,३९९
तेंदुवे ६,०१९
रीछ २,७१५
भेड़िए २, ५७९

इस काम के लिए १,७१,६७४ रुपये इनाम बाँटा गया। साँपों के कारण बहुत नर-नाश हुआ। पर रिपोर्ट के साल ये मारे भी कम गये और इनाम भी इस मद में कम दिया गया।

१९१६ में हथियार रखने के लिए २०,५७५ लाइसंस दिये गये, अर्थात् १९१५ ईसवी से ६०० अधिक। पर १९१५ में १,६७,२४२ लाइसंसदार थे; १९१६ में केवल १,३७,१८३ ही रह गये। जिस देश में बीस बीस पच्चीस पच्चीस हज़ार आदमियों की जानें साँप और बाघ इत्यादि ले लेते हैं उसमें हथियारों के लाइसंस अधिक दिये जाने चाहिए। परन्तु जो हिसाब दिया गया है उससे प्रकट है कि उनकी संख्या कम होती जा रही है। संयुक्तप्रान्त में १९१५ में २२,६८३ लाइसंसदार थे। १९१६ में केवल ५,९९२ रह गये! १९१२ से १९१५ तक किसी भी साल दो हज़ार से कम नये लाइसंस नहीं दिये गये। पर १९१६ में सिर्फ़ ६१९ ही दिये गये!

इस पर टीका-टिप्पणी करना सरस्वती के कार्य्यक्षेत्र के बाहर की बात है।

९—प्लेग और गवर्नमेंट।

कुछ समय हुआ, इस प्रान्त के कौंसिल में एक माननीय मेम्बर ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उसमें गवर्नमेंट से प्रार्थना की गई कि और सालों की अपेक्षा इस साल प्लेग का प्रकोप अधिक है। इस कारण गवर्नमेंट को चाहिए कि वह प्रजा को पूरी सहायता दे और ऐसा प्रबन्ध करे कि मृत्यु-संख्या बहुत न बढ़े। इस प्रस्ताव का कुछ अंश गवर्नमेंट ने मंज़ूर कर लिया। अब उसने प्रत्येक ज़िला-मैजिस्ट्रेट के नाम एक चिट्ठी जारी की है और उसे प्रान्तिक गैज़ट में भी छापा है। चिट्ठी में जो बातें हैं उनका आशय यह है—

इस साल प्लेग बहुत ज़ोरों पर है। उससे बचने के लिए गवर्नमेंट चाहती है कि जहाँ तक हो सके प्रजा को ख़ूब मदद दी जाय। किसी पर सख़्ती न की जाय। पर बिना सख़्ती किये भी लोगों का कष्ट बहुत कुछ दूर किया जा सकता है। बस्ती छोड़ कर बाहर झोंपड़ों में रहने से प्लेग नहीं होता। झोंपड़े वग़ैरह बनवाने में जो ख़र्च पड़ता है उसे गवर्नमेंट देने को तैयार है। इस लिए मैजिस्ट्रेटों के पास अलग रुपया जमा कर दिया गया है। पर बहुधा इस रुपये से पूरा पूरा फ़ायदा नहीं उठाया जाता—वह ख़र्च नहीं किया जाता। क्योंकि लोग अपना घर छोड़ने को ख़ुशी से राज़ी नहीं होते। बात यह है कि झोंपड़ों में रहने का प्रबन्ध ठीक ठीक नहीं होता। इस त्रुटि को दूर करने के लिए मैजिस्ट्रेटों को चाहिए कि अच्छे झोंपड़े बनवाने का प्रबन्ध करें। उनके लिए सामान अच्छा दें। बिछाने के लिए ग़रीबों को पयाल भी दें। ज़रूरत होने पर कम्मल और ईंधन भी सरकारी

ख़र्च से दें। चोरी और आग से रक्षा होने के लिए चौकीदार रखने का भी प्रबन्ध करें। इस ख़र्च के लिए यदि रुपया कम हो तो और माँग लेना चाहिए।

यह सब काम ठीक ठीक होने के लिए ज़रूरत इस बात की है कि ज़िले के ग़ैर-सरकारी आदमियों की एक कमिटी बना दी जाय। वे लोग अपने अपने हलक़े में रहनेवालों को समझावें कि यह बीमारी चूहों के कारण होती है। जहाँ तक हो सके चूहे मार डाले जायँ। यदि बीमारी के आसार दिखाई दें तो घर छोड़ कर बाहर झोंपड़ों में रहने से ही बीमारी से बचाव हो सकता है। लोगों को प्लेग का टीका भी लगवाना चाहिए।

इस दीनवत्सलता के लिए इस प्रान्त के निवासियों को गवर्नमेंट का कृतज्ञ होना चाहिए। मगर एक कमिटी से काम चलना असम्भव है। कमिटी के मेम्बर प्रायः बड़े बड़े आदमी ही होंगे। उन सब से आशा नहीं कि वे प्लेग-पीड़ित गाँवों में घूम घूम कर लोगों को समझावें और उनकी मदद करेंगे। जहाँ प्लेग हो वहीं के कुछ आदमियों को यह काम देना चाहिए और घास, फूस, बाँस, लकड़ी, पयाल, कम्मल तथा रुपया उन्हीं की मारफ़त बँटना चाहिए। साथ ही पुलिस को लोगों के जान-माल की रक्षा का विशेष प्रबन्ध करने के लिए सख़्त ताकीद होनी चाहिए।

१०—पाटलिपुत्र की खुदाई।

पाटलिपुत्र की खुदाई के सम्बन्ध में, सरस्वती में, समय समय पर, लिखा जाता रहा है। नवम्बर १९१७ की सरस्वती में भी कुछ लिखा जा चुका है। पिछली ६ फ़रवरी को, राय-बहादुर माननीय पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल ने, बड़े लाट की कौन्सिल में, इस विषय में गवर्नमेंट से पूछा—

(अ) क्या सरकार कृपा करके यह बतावेगी कि पुरातत्व-विभाग की ओर से पटने में जो खुदाई हो रही है उसमें कुल कितना रुपया ख़र्च हुआ?

(आ) क्या यह बात सच है कि जिस भूमि में खुदाई हुई है उसकी समुचित रक्षा नहीं की जा रही और पुरानी ईंटों, लकड़ियों की दीवारों और गचों आदि की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया? यदि उत्तर नकारात्मक हो तो क्या सरकार कृपा करके बतावेगी कि खुदाई से निकले हुए प्राचीन पदार्थों की रक्षा के लिए उसने क्या प्रबन्ध किया है? यदि उत्तर स्वीकारात्मक हो तो क्या वह कृपा करके उनकी रक्षा का कोई प्रबन्ध शीघ्र ही कर देगी?

(इ) क्या यह सच है कि भारत से प्राप्त हुई कितनी ही प्राचीन वस्तुयें और देशों को भेज दी गई हैं? क्या सरकार को यह भी मालूम है कि उसके इस काम से लोगों का चित्त दुखी हुआ है? यदि हाँ, तो क्या सरकार इस क्रम को बन्द करने का कोई प्रबन्ध करेगी?

माननीय सर शङ्कर नायर ने उत्तर में कहा—

(अ) पटना की खुदाई में जितनी रकम ख़र्च हुई है उसका उल्लेख पुरातत्व-विभाग के पूर्वी सर्किल के सुपरिंटेंडेन्ट की रिपोर्ट में किया गया है। इस काम में, छः वर्षों में, सरकार का १७, ५१२) लगा। बाक़ी रुपया सर रतन ताता ने लगाया।

(आ) जो चीज़ें ज़मीन से निकली हैं वे या तो अचल हैं या चल अर्थात् लकड़ी और ईंटों की इमारतें भी निकली हैं और ऐसी वस्तुयें भी जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाई जा सकती हैं। चल वस्तुयें तो पुरातत्व-विभाग के सुपरिंटेंडेंट के दफ़्तर में अभी रख दी गई हैं। मौर्य्यकालीन लकड़ी की इमारतें या तो पानी में डुबो कर या उन पर फिर से मिट्टी डाल कर रक्षित रक्खी जा सकती हैं। यही दो उपाय उनकी रक्षा के हैं। जब खुदाई का काम तमाम हो जायगा तब सरकार निर्णय करेगी कि इनमें से कौन सा उपाय काम में लाया जाय। तब तक के लिए वे पानी में डुबो कर रक्खी गई हैं। ईंटों की जो वस्तुयें मिली हैं, वे अधिक प्राचीन नहीं। उनमें से कुछ चीज़ें सदा के लिए सुरक्षित रक्खी जायँगी। सर्वसाधारण उन्हें देख सकेंगे। बाक़ी चीज़ें फिर से ज़मीन में गाड़ दी जायँगी। पाटलिपुत्र की तरफ़ की ज़मीन एनशन्ट मान्यूमेंट्स प्रिज़रवेशन एक्ट, १९०४, के अनुसार सुरक्षित है। उसकी रखवाली के लिए वहाँ चौकीदार नियत हैं। सरकार को विश्वास है कि वहाँ की पुरानी वस्तुओं की रक्षा का यथेष्ट ध्यान रक्खा जाता है।

(इ) पिछले कुछ वर्षों में सिर्फ़ दो प्राचीन बौद्ध चिह्न भारत के बाहर भेजे गये हैं। एक तो १९१० ईसवी में लार्ड मिंटो ने ब्रह्मदेश के बौद्धों को दिया था और दूसरा १९१७ में वर्तमान वाइसराय ने लङ्का के बौद्धों को। अब कुछ ऐसा प्रबन्ध किया गया है जिससे आशा है कि भविष्यत् में ऐसी वस्तुयें भारत ही में बौद्धों की निगरानी में रह सकें।

११—पौधों की बाढ़।

सर जगदीशचन्द्र वसु ने असम्भव को सम्भव कर दिखाने की प्रतिज्ञा सी करली है। जिन प्राकृतिक रहस्यों की जानकारी के लिए पश्चिमी देशों के विद्वान् चिरकाल से अजस्र परिश्रम कर रहे थे, पर अनन्त धन ख़र्च करने पर भी जिन का ज्ञान उन्हें नहीं हुआ, उन्हें भी वसु महाशय ने हस्तामलकवत् ज्ञान-गोचर कर लिया। उस दिन उन्होंने अपने विज्ञानागार में कुछ अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन किया। आपने वनस्पतियों और पेड़-पौधों की बाढ़ के विषय में एक व्याख्यान दिया। अपने बनाये हुए एक नवीन यन्त्र की बात भी आपने कही। उसका नाम है—क्रेस्कोग्राफ़—(Crescograph) बहुत समय से आप इस यन्त्र के आविष्कार की चेष्टा में थे। इसके बनाने के लिए कुछ ऐसी सामग्री दरकार

थी जो केवल जर्मनी ही से प्राप्त हो सकती थी। पर युद्ध छिड़ जाने के कारण उसकी प्राप्ति असम्भव होगई। इस कारण आपने अपने ही बुद्धिबल से अपने ही देश में प्राप्य सामग्री से इस यन्त्र का निर्माण किया। इसकी अचिन्तनीय करामातें भी आपने उस दिन दिखाईं।

पौधे जाड़ों में बढ़ते नहीं दिखाई देते। वसन्त आने पर फिर बढ़ते मालूम होते हैं। कहीं वे गरमी चाहते हैं, कहीं सरदी। कभी पानी पाने पर बढ़ते हैं, कभी बढ़ना बन्द कर देते हैं। कोई पौधा एक तरह की आबोहवा चाहता है, कोई और तरह की। यह क्यों? जड़ नीचे ही को क्यों जाती है और अङ्कुर ऊपर ही को क्यों? इन बातों का ज्ञान सम्पादन करने के लिए अमेरिका के सदृश धन-सम्पन्न देश दस दस बीस बीस लाख रुपया हर साल खर्च करता है और हज़ारों विज्ञान-वेत्ताओं से खोज कराता है। यह क्रम आज कोई पचास वर्षों से जारी है। तथापि आज तक खोज करनेवालों में से किसी को भी सफलता नहीं हुई। पर वसु महाशय ने, बिना किसी राजा या धनी की विशेष सहायता ही के, प्रकृति का रहस्य जान लिया और सबको प्रत्यक्ष दिखा भी दिया कि उन्होंने पूरी सफलता प्राप्त कर ली है।

घोंघी बहुत ही धीरे चलती है। उसकी गति अत्यन्त ही स्वल्प होती है। परन्तु पौधों की बाढ़ की गति उसकी गति से भी दो हज़ार गुना कम होती है। अतएव उस गति को कोई दस लाख गुना बढ़ा कर बतानेवाले यन्त्र की सहायता के बिना वह आँखों से नहीं देखी जा सकती। जो यन्त्र वसु महोदय ने, इस काम के लिए, बनाया है वह वनस्पतियों की बाढ़ को एक करोड़ गुना बढ़ा कर दिखा देता है! इसका साक्ष्य वनस्पति खुद ही देते हैं। उस दिन विज्ञानी वसु ने एक पौधा लिया। जाड़ों के कारण उसकी वृद्धि बन्द सी मालूम होती थी। पर यन्त्र लगाने पर उसने "प्लेट" पर कुछ विशेष प्रकार के चिह्न करके बताया कि मैं बढ़ रहा हूँ। इसके बाद वसु महाशय ने एक ओषधि का प्रयोग पौधे पर किया। करते ही उसका बढ़ना बन्द होगया। फिर एक दवा लगा कर पहली दवा का असर दूर कर दिया तो पौधा पहले से भी अधिक वेग से बढ़ने लगा। विश्व में अनेक शक्तियाँ काम कर रही हैं। किसी के प्रभाव से पौधे बढ़ते हैं, किसी के प्रभाव से बढ़ना बन्द कर देते हैं। कभी वृद्धिकारिणी शक्ति ह्रास-कारिणी हो जाती है और कभी ह्रास-कारिणी ही वृद्धि का कारण सिद्ध होती है। इन शक्तियों में एक प्रकार का संघर्ष सा जारी है। क्यों ऐसा होता है और पेड़-पौधों की वृद्धि और ह्रास में कौन कौन चीज़ें सहायक होती हैं, इन्हीं रहस्यों का पता विज्ञान-विशारद वसु के नवाविष्कृत यन्त्र और सिद्धान्तों से लग रहा है। इससे विज्ञानमूलक कृषि को अत्यधिक लाभ पहुँच सकेगा। इस बात को सभी विज्ञानवेत्ता निर्विवाद समझते हैं।

१२—अलसेस लोरेन।

इँगलेंड और अमेरिका के संयुक्त-राज्यों ने युद्ध की शान्ति की जो शर्तें बताई हैं उनमें एक शर्त यह भी है कि फ़्रान्स के दो प्रान्त, अलसेस और लोरेन, जो जर्मनी के कब्ज़े में हैं, लौटा देने होंगे। औरों की अपेक्षा इस शर्त को प्रधानता दी गई है। इस विषय में इँगलेंड ने तो यहाँ तक कहा है कि इन दोनों प्रान्तों के लिए वह फ़्रांस के साथ मरने तक को तैयार है। इसका कारण इन दोनों प्रान्तों में विद्यमान लोहे और कोयले की खानें हैं।

१८७० ईसवी तक ये सूबे फ़्रांस के अधीन थे। वहाँ जो लोग रहते हैं वे फ़्रेंच ही हैं। वे उसी जाति के हैं जिस जाति के लोग फ़्रांस के अन्य सब प्रान्तों में रहते हैं। १८७० वाले युद्ध में फ़्रांस की हार हुई, जर्मनी की जीत। जर्मनी ने कूटनीति द्वारा, धमका घुड़का कर, ये दोनों प्रान्त फ़्रांस से लेकर सन्धि कर ली। उस समय जर्मनी ने ये प्रान्त राजनैतिक कारणों की प्रेरणा से छीने थे। पर पीछे से उसे मालूम हुआ कि वे कारण तो गौण हैं। इन्हें तो हमें और ही कारणों से लेना चाहिए था। वे कारण ये, कि इन प्रान्तों की भूमि में अनन्त लोहा और अनन्त कोयला भरा पड़ा है। बस फिर क्या था। उसने इन खनिज द्रव्यों से फ़ायदा उठाना शुरू कर दिया। बिना लोहे के आज कल कोई देश विशेष व्यवसाय नहीं कर सकता और लोहा गलाने के लिए कोयला चाहिए। ये दोनों चीज़ें मिल जाने पर जर्मनी में नये नये कारख़ाने खुलने लगे। धीरे धीरे कोई क़सबा और कोई नगर ऐसा न रह गया जहाँ दो, चार, दस, बीस, कारख़ाने न खुल गये हों। उनमें सैकड़ों प्रकार

के व्यवहारोपयोगी पदार्थ बनने और उनसे देश-देशान्तरों के बाज़ार पट जाने लगे। उधर क्रप के तोप-बन्दूक आदि बनाने के कारख़ाने ने अपूर्व उन्नति कर दिखाई। इधर बड़े बड़े लड़ाकू और व्यापारी जहाज़ों की संख्या बढ़ने लगी। फल यह हुआ कि जर्मनी की सैनिक और नैाशक्ति भी बढ़ गई और देश में धन-सम्पदाओं का भी तूफ़ान सा आ गया। वर्तमान युद्ध जर्मनी की इसी बढ़ी हुई शक्ति का फल है। यदि अलसेस-लोरेन उसे न मिलता तो न वह इतनी धनसम्पन्नता ही प्राप्त कर सकता और न इतनी सैनिक प्रबलता ही। इसी से उसके विपक्षी समझते हैं कि उसे इन दोनों प्रान्तों का स्वामी बना रखना मानों काले साँप को बिना उसके विषदन्त तोड़े ही छोड़ देना है।

इन दोनों सूबों के निकल जाने से फ़्रांस की व्यावसायिक शक्ति बहुत कम हो गई। उसके अन्य प्रान्तों में कोयला और लोहा होता तो है, पर कम। इसी से ये चीज़ें उसे दूसरे देशों से भी, थोड़ी बहुत, मँगानी पड़ती हैं। इस दशा में फ़्रांस और इँगलेंड ही के लिए नहीं, किन्तु सारे योरप के कल्याण के लिए, मित्र-राष्ट्रों के राजनीति-विशारद इन दोनों प्रान्तों को जर्मनी के कब्ज़े में नहीं रखना चाहते। उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा का यही कारण है।

१३—स्त्रियों के वीरता-सूचक कार्य्य।

योरप के वर्तमान भीषण सङ्ग्राम में वहाँ की स्त्रियाँ जो योग-दान कर रही हैं उसे देख कर योरपवाले फूले नहीं समाते। यह स्वाभाविक है। पर किसी समय भारत में भी ऐसी अनेक स्त्रियाँ थीं। भारत ही क्यों, अरब में भी अनेक वीर-नारियाँ हो गई हैं। दोनों के प्राचीन इतिहास वहाँ की स्त्रियों के वीरतासूचक कार्य्यों की कथाओं से भरे हुए हैं। अर्वाचीन काल में भी कितनी ही वीराङ्गनायें और वीरमातायें ही नहीं, राज-काज में भी प्रवीण महिलायें यहाँ हो गई हैं। उस समय, आज की तरह, प्रसिद्धि-प्राप्ति के इतने विस्तृत साधन न थे और जो थे उनका भी अधिक उपयोग तत्कालीन जन-समाज ने नहीं किया। क्योंकि वे काम से काम रखते थे, नाम का ध्यान उन्हें अधिक न था।

अरब के प्राचीन साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वहाँ की स्त्रियाँ युद्धों में तरह तरह के काम करती थीं। लड़ाई के मैदानों में वे जातीं और जो काम उन्हें सौंपा जाता उसे बड़ी ख़ुशी से सँभालतीं। वे शत्रुओं का सामना करतीं और हथियार भी चलाती थीं। तथापि उनका प्रधान काम था घायलों की सेवा-शुश्रूषा करना, जो आज कल की रेड-क्रास सोसाइटियाँ करती हैं। वे आहतों के लिए पानी खींचतीं, मुर्दों के लिए क़बरें खोदतीं, युद्धस्थल से ज़ख़्मी सिपाहियों को सुरक्षित जगह ले जातीं, उनकी सेवा करतीं और अन्न-सामग्री की भी देख-भाल रखती थीं। इनके अतिरिक्त और भी कितने ही उपयोगी कार्य्य वे करती थीं।

ऐतिहासिक काल में तो कितनी ही वीरस्त्रियाँ अरब में हो गई हैं। कुछ का वर्णन प्रसिद्ध इतिहास-लेखक गिबन ने किया है। और भी कई इतिहास-लेखकों ने अरब की वीर-नारियों के कामों का उल्लेख किया है। अरब के इतिहास से जाना जाता है कि वहाँ सैकड़ों स्त्रियाँ शत्रुओं से लड़ी हैं। ६३६ ईसवी में, यरमूक की लड़ाई में, कितनी ही स्त्रियाँ युद्ध में शामिल हुई थीं। कुतुब ने बुख़ारा पर जो विजय प्राप्त किया उसका तो बहुत कुछ श्रेय स्त्रियों की सहायता को ही दिया जाता है। प्रोफ़ेसर सैयद सूमान (Syed Suman) ने अपनी—मुसलमान औरतों की बहादुरी—नामक पुस्तक में इसका सविस्तर वर्णन किया है। अधिक हाल जानने के लिए पाठक उसे पढ़ें।

अब भारत को लीजिए। वेद-काल की बात जाने दीजिए। पुराण-काल में भी स्त्रियों की वीरता का उल्लेख मिलता है। दशरथ के साथ कैकेयी का युद्ध में जाना और रथ का धुरा टूट जाने पर अपना हाथ लगा देना प्रसिद्ध ही है। श्रीकृष्ण के साथ सत्यभामा इन्द्र-युद्ध में गई थी। पाण्डवों की माता और स्त्रियाँ तो महाभारत-युद्ध में उनके साथ ही थीं। इतिहास-काल में भी, भारत में स्त्रियों ने अपना ख़ूब बल-पराक्रम दिखाया है। झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई, चित्तौड़ की रानी पद्मावती, रानी दुर्गावती, देवल-देवी इत्यादि भारतीय वीर-स्त्रियों की कथायें तो स्कूलों के विद्यार्थी तक जानते हैं। शिवाजी की माता अपने पति, शाहू, के साथ युद्ध-स्थल में जाती थी। महारानी अहिल्याबाई और आनन्दीबाई पेशवा बड़ी राज-काज-पटु थीं। अहिल्याबाई थी सात्विक प्रकृति की और धर्म-नीतिज्ञ; आनन्दीबाई थी राजसिक प्रकृति की और कूट-नीतिज्ञ।

आज भी यदि अनुकूलता होती तो भारतीय स्त्रियाँ

अपना रण-कौशल दिखलातीं। फिर भी, कभी कभी स्त्रियों के पराक्रम-सूचक कार्य्यों के समाचार सुनाई पड़ते ही हैं।

१४—पण्डित जॉनसन का परलोकवास।

काशी के विद्वान् धर्म्माचार्य (पादरी) जे० जे० जानसन, बी० ए०, का परलोकवास हो गया। यह घटना २ फ़रवरी १९१८ को हुई। उस समय पादरी साहब की उम्र ६७ वर्ष की थी। आप बनारस में पण्डित जानसन के नाम से प्रसिद्ध थे।

आपका जन्म इँगलेंड के एक उत्तरी स्थान में ३० सितम्बर १८५० को हुआ। बहुत परिश्रम के काम करके उन्होंने अपनी जीविका उपार्जन की और विशेष कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने २६ वर्ष बिताये। इस इतने समय में उन्होंने जो कुछ शिक्षा या विद्या प्राप्त की सब प्रायः अपने आपही प्राप्त की। अवकाश का समय उन्होंने व्यर्थ नहीं जाने दिया। उसका बहुत अच्छा उपयोग किया। भिन्न भिन्न भाषायें सीखने में आपकी विशेष रुचि थी। अतएव आपने इस विषय में ही अधिक मिहनत की।

१८७६ ईसवी में आपको कालेज में प्रवेश करने का सुभीता हुआ। तब तक आप योरप की कितनी ही भाषाओं का ज्ञान सम्पादन कर चुके थे। संस्कृत से भी आप थोड़ा बहुत परिचित हो गये थे। ज्ञानपिपासा आपकी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। किसी भी विषय का ज्ञान क्यों न हो, आप उसे आयत्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। कविता से भी आपको बड़ा प्रेम था।

बी० ए० हो कर आप, १८७९ ईसवी में, भारत आये। यहाँ आप बनारस में धर्म्माचार्य्य नियत हुए। आप स्वभाव ही से उदारहृदय, धर्म्मिष्ठ और विद्या-प्रेमी थे। इस कारण पूर्वोक्त पद पर रह कर आपको अपने हार्दिक भावों को और भी उन्नत करने का अच्छा मौक़ा मिला। धार्म्मिक हठ से आप सदा दूर रहे। अन्य धर्म्मों के रहस्य जानने में आपने कसर नहीं की। जिनके धार्म्मिक विचार आपके विचारों से भिन्न थे उनके साथ भी आपने सदा सहानुभूति का बर्ताव किया।

अन्त समय तक आप काशी में ही रहे। वहाँ आपने संस्कृत-भाषा और संस्कृत-ग्रन्थों के परिशीलन में ख़ूब श्रम किया। फल यह हुआ कि संस्कृत-भाषा आपको अच्छी तरह आ गई। उसमें आसानी से आप अपने भाव व्यक्त कर लेने लगे। यहाँ तक कि आप व्याख्यान भी कभी कभी संस्कृत ही में देते थे। भारत के अनेक विद्यापीठों की सैर आपने की और वहाँ भी आपने संस्कृत और अँगरेज़ी में अनेक वक्तृतायें कीं। हिन्दू-पण्डितों से आप बड़े प्रेम से मिलते और घण्टों उनके साथ पारमार्थिक और धार्म्मिक विषयों पर वार्तालाप करते। दर्शन-शास्त्र के जो ग्रन्थ संस्कृत में हैं उनके तत्त्व आपको जैसे अवगत थे, वैसे शायद ही और किसी योरप-निवासी विद्वान् को आज तक अवगत हुए हों। खेद है, आपने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। लिखते तो उसके द्वारा आपकी योग्यता का पता हमारे पण्डितों को अच्छी तरह लग जाता।

जानसन साहब बड़े सीधे सादे थे। दूसरों से ज्ञेय बातें जानने के लिए सदा तत्पर रहते थे। अपनी विद्या-बुद्धि का उन्हें ज़रा भी अभिमान न था। मिलते जुलते ज़रा कम थे। सदा अध्ययन और ज्ञान-सम्पादन में लगे रहते थे। लौकिक बातों की ओर झुकने की प्रवृत्ति उनमें कम थी। पर मिलने पर सभी उनसे प्रसन्न होते थे।

बड़े खेद की बात है, ऐसा धार्म्मिक, सरल-स्वभाव, ज्ञान-लिप्सु और विद्याप्रेमी सज्जन सदा के लिए लोकान्तरित हो गया। यदि और पादरियों का हृदय भी रेवरेंड जानसन के सदृश उदार हो तो इन लोगों का काम बहुत कुछ सरल हो जाय और इनके धार्म्मिक उद्योग भी इस देश के निवासियों को कम खटकें।

इस लेख की सामग्री हमें बनारस के प्रसिद्ध पादरी श्रीयुत एडविन ग्रीव्ज़ से मिली है। अतएव हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं।

पुस्तक-परिचय।

१—पार्लमेंट—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २५६, छपाई और काग़ज़ उत्तम, सुन्दर जिल्द चढ़ी हुई, मूल्य १ रुपया २ आने, मिलने का पता—राजपूताना-हिन्दी-साहित्य-सभा, झालरापाटन। यह एक अँगरेज़ी पुस्तक का अनुवाद है। बाबू सुपार्श्वदास गुप्त, बी० ए०, ने इसकी

रचना की है। हिन्दी में यह पुस्तक बिलकुल ही नई है और बड़े महत्त्व की है। इसमें विलायती पार्लमेंट की उत्पत्ति और विकाश, कामन-सभा का सङ्गठन, क़ानून बनाना, अर्थ और शासन, अधिवेशन और कार्य-प्रणाली, सभा का प्रबन्ध, सभासद और उनके निर्वाचक, काग़ज़-पत्र, प्रेस और पबलिक, लार्ड-सभा और तुलना, इस प्रकार दस अध्याय हैं। अन्त में एक परिशिष्ट है। उसमें भी जानने योग्य अनेक बातें हैं। इस विषय में जिन लोगों ने पुस्तक रचना की है उनकी पुस्तकों का विवरण भी अन्त में दे दिया गया है। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के लेखांशों का सारांश एक तरफ़ किनारे पर लिख दिया गया है। इस प्रकार पुस्तक को उपयोगिनी बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी गई। पुस्तक के महत्त्व को देखते यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ हों भी तो उन्हें नगण्य समझना चाहिए। हाँ, एक बात है। विलायत में अब स्त्रियों को भी वोट (सम्मति) देने का अधिकार मिल गया है। निर्वाचन के नये नियम भी बन गये हैं। इस कारण, बहुत शीघ्र, इस पुस्तक में कुछ फेरफार करने की ज़रूरत होगी, जो दूसरे संस्करण में सहज ही किया जा सकेगा।

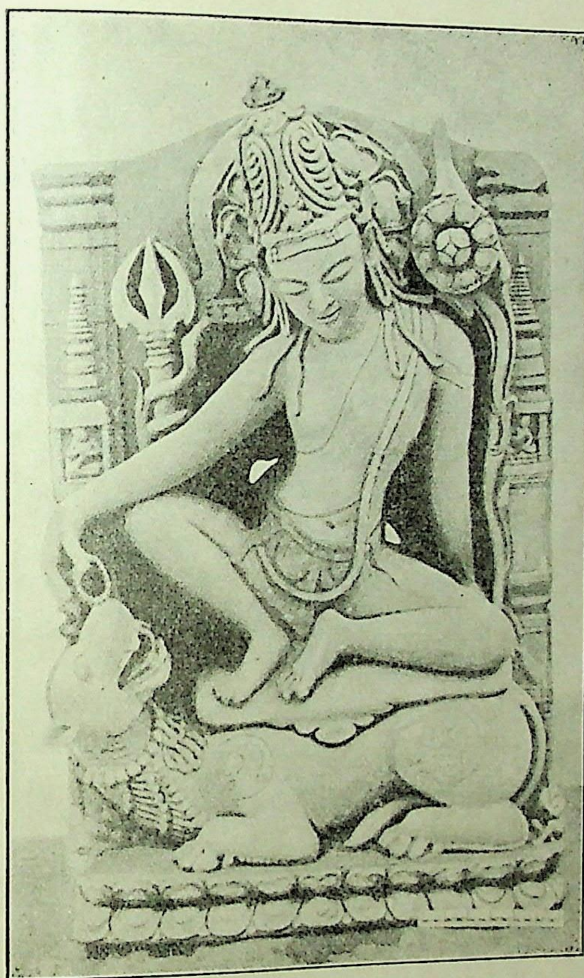


२—सुख की प्राप्ति का मार्ग—इसमें ८० पृष्ठ हैं। आकार मँझोला है। छपाई अच्छी है। मूल्य ६ आने है। बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीय, बी० ए०, प्रसिद्ध लेखक जेम्स एलन की पुस्तकों का अनुवाद कर रहे हैं। कई अनुवाद प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस लेखक की "Prosperity" नामक पुस्तक का अनुवाद है। और पुस्तकों के सदृश इसके भी विचार दिव्य हैं। इसकी भूमिका में लिखा है—"सच्चा सुख धन-सम्पदा में नहीं है और न बल और विद्या में है × × × जिस मनुष्य को सुख की अभिलाषा है उसे चाहिए कि जीवमात्र के प्रति प्रेम का व्यवहार करे, अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रक्खे और अपने हृदय को शुद्ध करे"। यही इस पुस्तक का निचोड़ है और इसमें किसी को किन्तु, परन्तु, करने के लिए जगह नहीं। हिन्दी-साहित्य-भण्डार, लखनऊ, से यह पुस्तक मिल सकती है।

३—वेदान्तविचार—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २००, काग़ज़ और छपाई साधारण, मूल्य १ रुपया, अनुवादक—पण्डित हरिनाथ चतुर्वेदी, बी० ए०, एल-एल० बी०, महीतपुर, रियासत इन्दोर, से प्राप्य। डाक्टर थीबो का किया हुआ वेदान्त-सूत्रों का अनुवाद अँगरेज़ी में है। उस अनुवाद की भूमिका बहुत लम्बी-चौड़ी है। उसमें डाक्टर साहब ने वेदान्त-शास्त्र पर ख़ूब विचार किया है। शङ्कराचार्य्य और व्यास आदि के मत की जगह जगह आलोचना भी की है। उसी भूमिका के भावार्थ का यह हिन्दी-अनुवाद है। वेदान्त-प्रेमियों को यह पुस्तक, विशेष कर के इस कारण देखनी चाहिए, कि एक विदेशी और अन्यधर्म्मावलम्बी विद्वान् इस शास्त्र के विषय में क्या कहता है। खेद है, पुस्तक की भाषा अटपटी और अस्वाभाविक है। कहीं कहीं तो वह कठिनता से समझ में आती है।



४—"पाटलिपुत्र" की पुस्तकें—इस पत्र के दफ़्तर से ५ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। पहली पुस्तक है—संस्कृत-ऋतुसंहार-काव्य। यह महाकवि कालिदास की रचना है। इसमें षड्ऋतुवर्णन है। ऊपर मूल श्लोक संस्कृत में, नीचे उसका भावार्थ हिन्दी-गद्य में और उसके नीचे हिन्दी-पद्य में है। अनुवाद शुद्ध है। पद्य-भाग भी प्रायः अच्छा है। आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका और अन्त में कठिन शब्दों का एक कोश है। भाषा में कहीं कहीं प्रान्तिकता है, यथा—"ऊँची हहास बाँधे"—पृष्ठ २१। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ११२ और मूल्य ॥) है। अनुवादक हैं, पण्डित शिवप्रसाद पाण्डेय, काव्यतीर्थ। दूसरी पुस्तक है—शैलबाला—इसकी पृष्ठ-संख्या २१४ और मूल्य १४ आने है। यह उपन्यास है। एक बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। अनुवादक हैं—पण्डित रामानन्द द्विवेदी। यह "पाप-पुण्य के संग्राम में पुण्य की विजय और पातिव्रत धर्म्म की समुज्ज्वल पताका फहरानेवाला एक सुन्दर नैतिक उपन्यास है।" एक तो सुन्दर, फिर नैतिक। क्या कहना है। तीसरी पुस्तक का नाम है—वारुणी—इसकी पृष्ठ-संख्या १५५ और मूल्य १० आने है।



सिंहनाद लोकेश्वर (महोबे में प्राप्त)।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

बँगला के नामी लेखक प्रोफ़ेसर शरच्चन्द्र घोषाल, एम० ए०, बी० एल० की एक बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। अनुवादक हैं—पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा। इसमें घोषाल महाशय की कई आख्यायिकाओं का संग्रह है। आख्यायिकायें सब मनोरञ्जक हैं। किसी में हास्य और किसी में करुण-रस का आधिक्य है। उद्देश सब का अच्छा है। भाषा उत्तम है। चौथी पुस्तक का नाम है—**चारदाने**—यह श्रीयुत चन्द्रशेखर कर की एक बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। अनुवाद-कर्ता हैं—पण्डित पारसनाथ त्रिपाठी। इसमें कर महाशय की छः कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ शिक्षाप्रद हैं। उनमें सीधी-सादी भाषा में सामाजिक घटनाओं के दृश्य हैं। उद्देश समाज-सुधार मालूम होता है। पाँचवीं पुस्तक है—**बाल-ऋषिचरित**। इसे पण्डित रामानन्द द्विवेदी ने लिखा है। पृष्ठ-संख्या ८८ और मूल्य ६ आने है। इसमें नारद, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि १२ ऋषियों का पुराण-प्राप्त चरित है। बालों ही के नहीं, युवाओं और वृद्धों के भी पढ़ने लायक़ है।

आकार इन सब पुस्तकों का मँझोला और छपाई तथा काग़ज़ अच्छा है। मिलने का पता—मैनेजर, पाटलिपुत्र, बाँकीपुर।

❋

५—हर्षचरितस्य पञ्चमोच्छ्वासः। इस मध्यमाकार की पुस्तक की पृष्ठ-संख्या १३० और मूल्य १½ रुपया है। प्रयाग के कायस्थ-पाठशाला-कालेज के श्रीयुत रघुपति शास्त्री, वेदान्ततीर्थ और साहित्योपाध्याय, ने इसकी एक कापी भेजने की कृपा की है। इसके आरम्भ में सारे हर्षचरित का सारांश, अँगरेज़ी में, है। फिर उसके पाँचवें उच्छ्वास का मूल और नीचे उसकी विस्तृत टीका है। टीका संस्कृत में है। अन्त में इस उच्छ्वास का अँगरेज़ी-अनुवाद भी है। यह सारांश, टीका और अनुवाद रघुपति शास्त्री जी की ही रचना है। हर्षचरित का पाँचवाँ उच्छ्वास बी० ए० क्लास में पढ़ाया जाता है। उसी क्लास के छात्रों के लिए इस पुस्तक की सृष्टि हुई है। आशा है, छात्र-गण इससे लाभ उठा सकेंगे।

❋

६—रघुवीर-पत्र-पुष्प—आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ५४, टाइप और काग़ज़ अच्छा, मूल्य अनिर्दिष्ट—"To be had of: The Behar Book Stores, Patna Gaya Road, Patna"—यह श्रीयुत रघुवीरनारायण की फुटकर कविताओं का संग्रह है। संग्रहरूपी यह पत्र-पुष्प बनैली-नरेश राजा कीर्त्यानन्दसिंह को समर्पित हुआ है। इसमें भारत की और बिहार-प्रान्त की स्तुति है। शरद, वर्षा, वसन्त आदि का वर्णन है। और भी कई विषयों पर पद्य रचना है। भाषा कहीं पुराने ढँग की, कहीं बिहारी, कहीं बोलचाल की है। कुछ कविता उर्दू ढँग की है, कुछ अँगरेज़ी ढँग की भी। संग्रह के कितने ही पद्य मनोहर, पर अधिकांश साधारण हैं।

❋

७—संसार-सुख-साधन—लेखक, पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री; प्रकाशक—श्रीयुत अखौरी सच्चिदानन्दसिंह, सरस्वती-भाण्डार, मुरादपुर, बाँकीपुर; आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या ८४; मूल्य ।~); प्रकाशक से प्राप्य।

पुस्तक का विषय प्रायः उसके नाम ही से प्रकट है। इसमें एक शिष्य भारत के देहात और नगरों के निवासियों की स्थिति का निरीक्षण कर के उनके दुःखों की कथा अपने गुरु के सामने कहता है। गुरु उन समस्त दुःखों के कारण और उनके निवारण के उपाय विस्तार-पूर्वक शिष्य को बताता है। उपाय समयोपयोगी और हितकर हैं। भाषा प्रौढ़ है। पुस्तक अच्छी है। हाँ, कुछ प्रयोग जैसे—"मार्ग खूब मच जाते हैं" (पृष्ठ १३) खटकनेवाले हैं।

❋

८—स्वराज्य पर गान्धीजी—इस साधारण छपी हुई ३२ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य २ आने है। इसका प्रकाशन बिन्दकी (ज़िला फ़तेहपुर) के लोक-संग्रह कार्य्यालय ने किया है। उसी से यह मिल सकती है। नवंबर १९१७ में, गुजरात के गोधरा-नगर में, एक राजनैतिक कानफ़रन्स हुई थी। उसके सभापति गान्धीजी थे। सभापति की हैसियत से वहाँ उन्होंने अपना जो भाषण, गुजराती भाषा में, सुनाया था उसी का यह हिन्दी-अनुवाद है। स्वराज्य-विषयक जानने योग्य बातों से परिपूर्ण है। पढ़ने लायक़ है।

❋

९—कथा-कहानी—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या

४८, काग़ज़ और छपाई अच्छी, मूल्य ४ आने, लेखक और अनुवादक—बाबू नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी० ए०, मिलने का पता—भीष्म एंड ब्रदर्स, पटकापुर, कानपुर। इसमें छोटी छोटी ५ मनोरञ्जक कहानियां हैं। उनमें से कुछ मौलिक और कुछ अनुवादात्मक हैं। भाषा सरल है।



१०—**कविता-कौमुदी, प्रथम भाग**—इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ५०० के लगभग, छपाई साधारण, मूल्य २ रुपये है। जिल्द बँधी हुई है। यह पुराने हिन्दी-कवियों की कविता का संक्षिप्त संग्रह है। चन्द-बरदाई से लेकर पद्माकर तक ५२ कवियों की कविताओं के नमूने इसमें हैं। आरम्भ में कवियों का परिचय भी है। इसका सम्पादन पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किया है। संग्रह संग्रहणीय है। ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी। अन्य भाषाओं में इस तरह के बहुत से संग्रह हैं। मिलने का पता—साहित्य-भवन, प्रयाग।



११—**भावार्थ-प्रवेशिका**—इस अच्छी छपी हुई ८० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ४ आने है। पण्डित लालमणि शर्म्मा, मरचेंट प्रेस, कानपुर, को लिखने से यह मिलती है। इसकी रचना टौन स्कूल, करवी, के अध्यापक पण्डित अम्बिकाप्रसाद अवस्थी ने की है। यह "हिन्दी फाइनल रीडर" की कुञ्जी—नहीं नहीं—भावार्थ-प्रवेशिका है। इसमें रीडर के कठिन शब्दों का अर्थ ही नहीं बताया गया, उसकी जटिल बातों का मतलब भी समझाया गया है। मातृ-भाषा, लेख, लेखक या कवि, काव्य, व्यङ्ग्य, अलङ्कार आदि विषयों का विवेचन भी लेखक ने थोड़े में किया है। बीच बीच में लेखक महाशय ने लड़कों के काम की और भी बहुत सी बातें लिखी हैं। यह पुस्तक अन्य साधारण कुञ्जियों के सदृश नहीं; उनसे बहुत बढ़ कर है। इससे रीडर पढ़नेवाले लड़के यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं।



१२—**गङ्गा-पुस्तकमाला**—इस माला की दो छोटी छोटी पुस्तकें हमें मिली हैं। एक का नाम है—**सुघड़ चमेली**। इसमें २८ पृष्ठ हैं। मूल्य है २ आने। लेखक हैं—बाबू रामजीदास भार्गव। सचित्र है। कहानी है। इसमें चमेली नाम की कल्पित कन्या के बहाने लड़कियों को काम-काज इत्यादि की बड़ी सुन्दर शिक्षा दी गई है। दूसरी पुस्तक का नाम है—**किशोरावस्था**। इसकी पृष्ठ-संख्या १०८ और मूल्य ११ आने है। जिल्ददार है। टाइप छोटा, पर बहुत साफ़ और सुन्दर है। इसके लेखक, बाबू गोपालनारायणसेनसिंह, बी० ए०, ने इसमें बाल्यकाल से तारुण्य में प्रविष्ट हुए युवकों को सदुपदेश और मूल्यवान् शिक्षा दी है; साथ ही बड़ों का कर्तव्य भी बताया है। पुस्तक में २ चित्र भी हैं। आरम्भ में डाक्टर देशराज रञ्जीतसिंह ने, ५ पृष्ठों की अँगरेज़ी-भूमिका में, पुस्तक की उपयोगिता आदि बताई है। ये दोनों पुस्तकें गङ्गा-पुस्तकमाला-कार्य्यालय, लखनऊ, को लिखने से मिलती हैं।



१३—**आरोग्यता(?)**—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ८४, छपाई अच्छी, मूल्य ६ आने, लेखक ठाकुर बलवन्तसिंह, अवागढ़। अच्छी पुस्तक है। अच्छे उद्देश से, सरल भाषा में, लिखी गई है। स्वच्छ वायु, स्वच्छ जल, स्वच्छ घर, स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र आदि के लाभ इसमें बताये गये हैं। इसके सिवा आहार और विहार के सम्बन्ध में भी उपयोगिनी शिक्षा दी गई है। व्यायाम की आवश्यकता और ब्रह्मचर्य की महिमा का उल्लेख भी किया गया है। मिलने का पता—हितकारक एजन्सी, अवागढ़, ज़िला एटा।



१४—**डेवी एनी बेसेन्ट**—आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या ८८, छपाई साधारण, मूल्य ६ आने, प्रकाशक—खड्ग-पुस्तकालय, मुज़फ़्फ़रपुर, से प्राप्य। इसमें श्रीमती बेसन्ट का संक्षिप्त चरित है। शुरू से लेकर नज़रबन्दी से छूटने तक की सब बातें इसमें आ गई हैं। किसने इसे लिखा है और कहाँ से चरित की अधिकांश सामग्री प्राप्त हुई है, इसका उल्लेख पुस्तक में नहीं। भाषा में कहीं कहीं त्रुटियाँ हैं। "चार्ल्स ब्रैडलाफ़"—उच्चारण बहुत खटकता है।



१५—**सूर-उमाहा**—इस छोटी सी ४० पृष्ठ की पुस्तक का प्रकाशन बाबू बिशुनचन्द्र, डिप्टी कलक्टर,

डिस्ट्रिक्ट असिस्टेंट रिकरूटिंग् आफ़ीसर, इटावा, ने किया है। इसमें "लड़ाई के हालात और भर्ती के फ़ायदे (फ़वायद क्यों नहीं ?)" बयान किये गये हैं। पुस्तक पद्य में है। छन्द प्रायः वही है जो "आल्हा" का है। शैली और भाषा भी वैसी ही है। प्रकाशक महाशय का कथन है कि—"यह नज़म पुरजोश और आमपसन्द साबित हुई और इससे भर्ती में भी मदद मिली, लिहाज़ा मैंने अपना फ़र्ज़ समझा कि उसको छपवा दूँ ताकि और २ इज़्लाय भी इससे मुस्तफ़ीद हो सकें"। ईश्वर करे,—"यह किताब इस काम में बहुत कार आमद साबित हो और आम लोगों में शौक़ भर्ती व जोश वफ़ादारी पैदा करे"। मूल्य पुस्तक पर लिखा नहीं। शायद मँगाने से मुफ़्त मिलती है।



१६—भाषण—आकार मँझोला, छपाई और काग़ज़ अच्छा, पृष्ठ-संख्या १६६, मूल्य ६ आने, मिलने का पता—राजनीतिरत्नमाला-आफ़िस, १०३, मुक्ताराम-बाबू-स्ट्रीट, कलकत्ता। गत वर्ष कलकत्ते में जो कांग्रेस हुई थी उसकी प्रेसिडेंट श्रीमती ऐनी बेसंट के सुदीर्घ भाषण का यह हिन्दी-अनुवाद है। इसमें भारत की राजनैतिक अवस्था का चित्र बड़ी ख़ूबी से दिखाया गया है। उसकी पूर्वावस्था कैसी थी, अब कैसी है, उसे क्या चाहिए—किन सुधारों से उसकी दशा सुधर सकती है—इत्यादि बातों का इसमें उत्तम विवेचन है। बड़े महत्त्व की पुस्तक है। देश-हितैषियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें एक सूची की कमी है। "Brother Delegates" का अनुवाद—भाई प्रतिनिधियो—हिन्दी में खटकता है। भाइयो या भाई साहब, इससे अच्छा मालूम होता है।



१७—स्वराज्य की शंखध्वनि—प्रकाशक श्रीयुत कृपानारायण, राष्ट्रीय पुस्तक-भण्डार, कुली-बाज़ार, कानपुर; आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या ४८; मूल्य ।) १६०६ ईसवी की कलकत्ता वाली कांग्रेस के सभापति की हैसियत से परलोकवासी दादाभाई नौरोजी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण किया था उसीका यह हिन्दी अनुवाद है। मूल व्याख्यान अँगरेज़ी में होने के कारण हिन्दी-भाषा-भाषी उससे लाभ न उठा सकते थे। इस पुस्तक के प्रकाशन से वह त्रुटि अब दूर हो गई।



१८—इन्साफ़-संग्रह, तीसरा भाग—आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या ४५, छपाई अच्छी, मूल्य ६ आने, लेखक—मुंशी देवीप्रसाद, मुंसिफ़, जोधपुर। इस पुस्तक के २ भाग पहले निकल चुके हैं; यह तीसरा है। इसमें बहुत पुराने ज़माने से लेकर आज तक के कुछ राजाओं, बादशाहों, अमीरों और मैजिस्ट्रेटों आदि के इन्साफ़ों के ३७ नमूने हैं। इनमें देश और विदेश के भी नमूने हैं; हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों आदि के भी। आज कल की अदालतों के भी दो चार फ़ैसले हैं। कुछ नमूने सरस और मारके के हैं, कुछ साधारण हैं।



१९—शिक्षा में स्वराज्य—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ६४, छपाई साफ़-सुथरी, मूल्य ४ आने, अनुवादक—पण्डित गौरीशङ्कर मिश्र, बी० ए०। श्रीयुत तिलक, गोखले, गाँधी, मालवीयजी आदि महानुभावों ने अपने किसी किसी व्याख्यान में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दोष दिखाये हैं और राष्ट्रीय भावों का अनुकरण करनेवाली शिक्षा की आवश्यकता बताई है। इन महाशयों के व्याख्यानों के उन उन अंशों के हिन्दी-अनुवाद का संग्रह इस पुस्तक में है, जो बड़े काम की चीज़ है। मिलने का पता—हिन्दी-पुस्तक-एजन्सी, गोरखपुर।



२०—नये साप्ताहिक पत्र—नवप्रकाशित तीन साप्ताहिक पत्रों की कापियाँ प्राप्त हुई हैं। एक का नाम है—भारतबन्धु—इसका आकार बड़ा है। ८ पृष्ठ हैं। हर पृष्ठ में चार कालम हैं। टाइप और काग़ज़ अच्छा है। लेख जैसे चाहिए वैसे ही हैं। सम्पादन अच्छा हो रहा है। यह पत्र हाथरस से निकला है। मूल्य ३) वार्षिक है। दूसरा पत्र है—उत्साह। इसका आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या १६ और मूल्य २।) है। यह बुँदेलखण्ड के क़सबे उरई से निकला है। इसका काग़ज़ और टाइप तो साधारण है, पर साप्ताहिक पत्र के अनुकूल लेखों से यह भी युक्त रहता है। तीसरा पत्र है—प्रेमपुष्प। यह कलकत्ते से निकला है।

इसका मूल्य २) है। टाइप और काग़ज़ अच्छा और आकार लम्बा है। इसके लेख हिन्दी, बँगला, संस्कृत और अँगरेज़ी भाषा के पद्य में रहते हैं। यह पद्यमय है। बीसवीं सदी, अँगरेज़ी राज्य, विज्ञान का युग, स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा का समय और अख़बार पद्य में! अहो वैचित्र्यम्!

२१—विश्वमित्र—यह नया दैनिक पत्र कलकत्ते से प्रकाशित होने लगा है। अब तक कोई ५० अङ्क निकल चुके हैं। कुछ छोटे आकार के चार पृष्ठ इसमें रहते हैं। अच्छे काग़ज़ पर अच्छे टाइपों में छपता है। इसमें व्यङ्ग्य चित्र भी प्रायः रहते हैं। कुछ नोट भी वैसे ही निकलते हैं। लेख सामयिक होते हैं। समयानुसारिणी घटनाओं पर टीका-टिप्पणी अच्छी होती है। वार्षिक मूल्य ८) है। सम्पादक योग्य मालूम होते हैं। ईश्वर करे यह चिरस्थायी हो कर दिन पर दिन उन्नति करे।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम दिये जाते हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—वर्ण-व्यवस्था—लेखक, पण्डित कालूराम शास्त्री, अमरौधा।

२—श्रीसनातन-हिन्दूधर्म-पाठमाला—लेखक, नगीनदास पुरुषोत्तमदास संघवी, अहमदाबाद।

३—प्राचीन भारत का गौरव—प्रेषक, बाबू फूलचन्द गुप्त, राँगाडीह, मानभूमि।

४—भजनामृत—लेखक, बाबू फूलचन्द जैन, फ़ीरोज़ाबाद।

५—विलायती दम्पति, ६—करुण कहानी—प्रेषक, प्रकाश बुकडिपो, अजमेर।

७—विश्वलीला, ८—चौथी सालाना रिपोर्ट—प्रेषक, आत्मानन्द जैन सोसायटी, अम्बाला।

९—Humanitarian Diet—Sent by the Honorary Manager, The Bombay Humanitarian Fund, Bombay.

१०—तेजी-मन्दी-प्रकाश, ११—ज्योतिषकला—प्रकाशक, पं० प्रह्लाददत्त शर्म्मा, रेवाड़ी।

१२—श्रीकृष्णसत्कथामृत—प्रेषक, मैनेजर, काशी-योगाश्रम, बनारस।

१३—मानव विचार अने तेनी शक्तिओ, १४—परिषद् त्रिवेणी—लेखक, विद्यार्थी भीमाशङ्कर शर्म्मा, बम्बई।

१५—भजन-महाभारत—लेखक, श्रीयुत बाबूसिंह, ज़िला इटावा।

१६—रामचरित-सत्योपाख्यान—प्रेषक, श्रीयुत अम्बालाल शङ्करलाल दवे, अहमदाबाद।

१७—सहज विज्ञान, १८—प्राकृतिक सहज विज्ञान—लेखक, राय पूरनचन्द, पटना।

१९—दुर्गाभक्तितरङ्गिणी—प्रेषक, गोर्खा-एजन्सी, नेपाल।

२०—प्रयाग, कान्यकुब्ज-सम्मेलन में दी गई "स्पीच"—बोलनेवाले, पण्डित कालीचरण त्रिवेदी, पुरुलिया।

२१—विदेहमाला, २२—घर का फ़िज़ूल ख़र्च—प्रेषक, प्रतापसागर-पुस्तकालय, जालना।

चित्र-परिचय।

पनिहारिन।

संसार में लिप्त रह कर भी परमात्मा को न भुलाने की वृत्ति की प्रशंसा वेदान्तवादियों ने ख़ूब की है। रसखानि ने भी कहा है—

सुनिए सब की कहिए न कछू रहिए सतसङ्ग उजागर में।
रसखानि गोविन्द को यों भजिए जिमि नागरी को चित गागर में॥

पनिहारिन नाम के रङ्गीन चित्र में इसी वृत्ति का दृश्य दिखाया गया है। शरीर की तत्कालीन प्राकृतिक विकृति (शरीर-भङ्गी) की सुन्दरता तो स्पष्ट ही है। विशेषता इस चित्र में यह है कि पनिहारिन किसी वस्तु को देखती तो जा रही है, पर ध्यान उसका सर्वतोभाव से अपनी गागर पर है। रस्सी हाथ में है; आँखें वस्तु-विशेष देखने में संलग्न हैं। पर चित्तवृत्ति घड़े ही में घुसी हुई है। चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा ने वृत्ति की इसी एकरूपता का दर्शन इसमें कराया है।

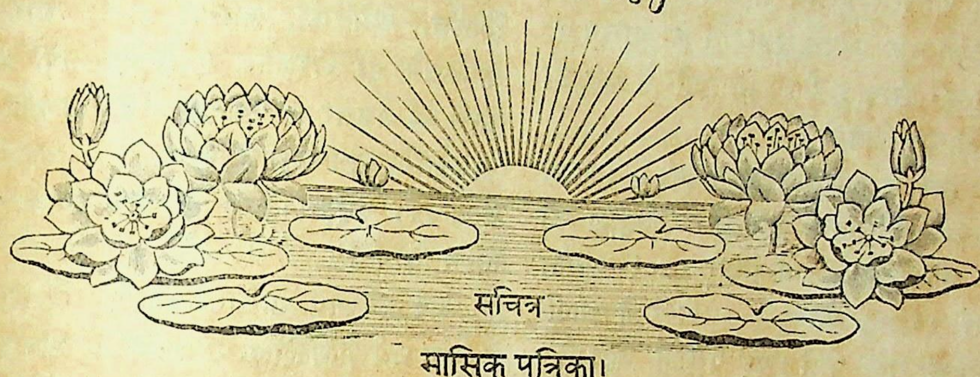
Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.



चन्द्रमुखी।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

सरस्वती



सचित्र

मासिक पत्रिका।

भाग १९, खण्ड १] अप्रेल १९१८—चैत्र १९७५ [संख्या ४, पूर्ण संख्या २२०

तारा।

देख कर हँसता हाल हमारा ॥
हमने अपनी दशा सोच कर वारंवार विचारा ॥
इस विस्तीर्ण गगन-मण्डल का एक परम लघु तारा।
अगणित तारा-गण में यद्यपि छुपा रहा बेचारा ॥
फिर भी कुसमय-कुहू-निशा में दूना बल तन धारा।
लेकर* कर-शर कर में उसने खींच तिमिर-अरि मारा ॥
अपने बल-पौरुष से अपना किया बुलन्द सितारा।
कभी सहस्र-किरण के आगे अपना कर न पसारा ॥
रहा स्वतन्त्र, स्वावलम्बी वह यद्यपि रहा न न्यारा।
प्रेमाकर्षण से मित्रों के फिरा न मारा मारा ॥

—नवीन

* किरण।

करवीर मठ के शङ्कराचार्य्य-श्रीविद्याशङ्कर भारती स्वामी।



द्ध-धर्म्म का उच्छेद कर के आदि शङ्कराचार्य्य ने आर्य्य-धर्म्म की स्थापना की और धर्म्म की रक्षा के लिए चार मठ भारत की चारों दिशाओं में स्थापित किये। उनके नाम हैं—१—शारदा-मठ, २—गोवर्द्धन-मठ, ३—ज्योतिर्मठ और ४—शृङ्गेरी-मठ। करवीर-मठ इसी अन्तिम शृङ्गेरी-मठ की एक शाखा है।

दक्षिण-देश में कोल्हापुर नाम की एक रियासत है। महाराज शिवाजी के वंशज भोँसला-राजा आज कल वहाँ राज्य करते हैं। करवीर इसी कोल्हापुर का प्राचीन नाम है। इस मठ की गद्दी पर

आज कल जो शङ्कराचार्य्य विराजमान हैं वे बड़े नामी पुरुष हैं। पूर्वाश्रम में, अर्थात् आचार्य्य-पद पर प्रतिष्ठित होने के पहले, उनका नाम था—डाकृर लिङ्गेश महाभागवत कुर्तकोटी, पी-एच्० डी०। अब आपका नाम है—जगद्गुरु श्रीविद्याशङ्कर भारती स्वामी। प्रयाग में जो धर्म्म-सम्मेलन, फ़रवरी १८ में हुए थे, उनमें कई दिनों तक आपने सभापति के आसन पर आसीन हो कर संस्कृत और अँगरेज़ी में बड़े ही विद्वत्तापूर्ण भाषण किये थे।

बम्बई-प्रान्त में धारवाड़ एक ज़िला है। उसमें एक जगह है—कुर्तकोटी। यहीं डाकृर लिङ्गेश का जन्म, ज्येष्ठ कृष्ण १४, शक-संवत् १८०१, अर्थात् विक्रम-संवत् १९३६, को हुआ। अँगरेज़ी आपने स्कूल में मैट्रिक तक पढ़ी। पर परीक्षा नहीं दी। संस्कृत-भाषा में आपका विशेष अनुराग था। अतएव घर पर ही आपने एक पण्डित से संस्कृत पढ़ी। फिर आपने काशी और कलकत्ते की यात्रा की। वहाँ के विद्वान् आपकी विद्वत्ता देख कर चकित हो गये। उन्होंने आपको विद्याभूषण की पदवी प्रदान की।

डाकृर लिङ्गेश को वेदान्त से विशेष प्रेम है। आपने वेदान्त-ग्रन्थों का खब परिशीलन किया है और भारतीय तत्त्वज्ञान की मनमानी प्राप्ति की है।

बङ्गलोर के रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट और अमलनेर के इन्स्टीट्यूट आव् फिलासफी की संस्थापना में आपने भी बड़ी सहायता दी है। "संस्कृत रिसर्च" नाम के अँगरेज़ी पत्र का सम्पादन भी आप कर चुके हैं।

पूर्वीय दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करके ही आप चुप न रहे, पश्चिमी दर्शन-शास्त्रों का भी यथेष्ट अध्ययन आपने किया। फिर आपने भगवद्गीता पर एक निबन्ध, अँगरेज़ी में, लिखा। वह इतना विद्वत्तापूर्ण था कि वाशिंगटन (अमेरिका) की ओरियण्टल यूनिवर्सिटी ने उस पर मुग्ध हो कर आपको पी-एच० डी० की उपाधि से भूषित किया। आपने अँगरेज़ी में दो और पुस्तकें लिखी हैं—"The Study of Sanskrit और The Heart of the Bhagawadgita" वे भी विद्वज्जनों के आदर की चीज़ हैं। संस्कृत भाषा में तो आपने वेदान्त पर आठ दस छोटी बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन आपने विवेचक दृष्टि से किया है। इँगलेंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रान्स और इटली के कितने ही संस्कृतज्ञ दर्शन-शास्त्रियों से चर्चा करने का अवसर आपको मिला है। आपका वेदान्त-ज्ञान इतना बढ़ा चढ़ा है कि बम्बई के विश्वविद्यालय ने आपको वेदान्त-विषय में एम० ए० का परीक्षक नियत किया है।

जब से आप आचार्य्य-पद पर विराजमान हुए हैं आप धर्म और शिक्षा के प्रचार में खूब दत्त-चित्त हैं। भेंट और आचार्य-दक्षिणा की रक़म आप लोकोपयोगी कामों में ही लगाते हैं। संस्कृत-भाषा और वेदान्त के अध्ययनेच्छुकों को आप छात्रवृत्ति भी दिया करते हैं। हाल ही में आपने संस्कृत-विद्या के पुनरुज्जीवन का बड़ा ही सुन्दर उपक्रम किया है। "फ्रेंच एकाडेमी" और "ब्रिटिश एकाडेमी" की शैली पर आप भारत में भी "इंडियन एकाडेमी" नाम का एक सरस्वती-पीठ स्थापन करना चाहते हैं। इसका कार्य्यारम्भ भी आपने कर दिया है और भारतीय विद्वानों की जो सहानुभूति इस योजना के विषय में उन्हें प्राप्त हुई है उसे देखते आशा होती है कि आपका मनोरथ-तरु शीघ्र ही फूलने और फलने लगेगा।

आपके विचार व्यापक और उदार हैं। आपकी राय में देशकाल के अनुसार धर्म्मशास्त्र में परिवर्तन करना अनुचित नहीं। नीतिनिष्ठ, परन्तु धार्मिक विषय में उदासीन अथवा अश्रद्धालु, मनुष्य को आप पतित नहीं मानते। वर्तमान जाति-भेद-पद्धति में कुछ सुधार करना आप आवश्यक समझते हैं। अन्त्यजों और शूद्रों के साथ समान बरताव करने

के आप पक्षपाती हैं। छुआ-छूत के आप क़ायल नहीं। स्त्रियों और पुरुषों का दरजा आप समान समझते हैं। सार्वजनिक कामों में स्त्रियों के योगदान के आप समर्थक हैं। भिक्षा-वृत्ति के आप विरोधी हैं। धार्मिक सत्ता पर आप प्रतिनिधिक-सत्ता का प्रभुत्व रखना अच्छा समझते हैं। विधवा-विवाह और मिश्र-विवाह के विषय में आपकी राय है कि विवाह की पवित्रता जितनी क़ायम रखी जासके उतना ही अच्छा है। आपका कथन है कि प्रौढ़-विवाह प्रचलित हो जाने से विधवा-विवाह का प्रश्न आप ही हल हो जायगा। पुरुषों के द्वितीय विवाह के आप घोर विरोधी हैं। युवक विधुर को भी, आपकी राय में, विवाह की पवित्रता के ख़याल से, पुनर्विवाह करना उचित नहीं।

"दाक्षिणात्य"

भारत की प्राचीन मूर्त्तिकारी।

भारतवर्ष की प्राचीन शिल्पकला का घनिष्ठ सम्बन्ध धर्म से सर्वदा रहा है। प्राचीन भारतवर्ष के चित्रकार तथा मूर्त्तिकार अपनी अपनी विद्या तथा कला-कौशल का उपयोग संसार की साधारण वस्तुओं के सम्बन्ध में न करते थे। भारतीय चित्रकार तथा मूर्त्तिकार का मुख्य उद्देश देवताओं के चित्र तथा मूर्त्तियाँ बनाना है। हमारे यहाँ मनुष्य-जीवन की घटनाओं के चित्र तथा मानव-मूर्त्तियाँ निर्म्माण करना चित्रकार तथा मूर्त्तिकार का धर्म नहीं माना गया। शुक्राचार्य्य ने "शुक्रनीति" में कहा है—

अपि श्रेयस्करं नृणां देवबिम्बमलक्षणम्।
सलक्षणं मर्त्यबिम्बं नहि श्रेयस्करं सदा॥

अर्थात् चित्रकार तथा मूर्त्तिकार के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह सदैव देव-मूर्त्तियाँ बनाया करे। मनुष्यों की आकृतियाँ अथवा तसवीरें बनाना केवल बुरा ही नहीं अपवित्र भी है। देव-मूर्त्ति चाहे कितनी ही भद्दी क्यों न हो वह सुन्दर से सुन्दर मानव-मूर्त्ति से अच्छी है। यही कारण है कि प्राचीन भारतवर्ष की जितनी मूर्त्तियाँ अभी तक मिली हैं प्रायः सबकी सब या तो किसी देवता या महापुरुष की हैं या अन्य धर्म-सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर बनाई गई हैं।

भारतवर्ष की प्राचीन मूर्त्तिकारी के इतिहास का आरम्भ अशोक के समय से और अन्त मुसलमानों के आक्रमण से होता है। अर्थात् ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी से लगा कर ईसा के बाद बारहवीं शताब्दी तक का, प्राचीन भारतीय मूर्त्तिकारी का, इतिहास हमें मिलता है। कोई भी मूर्त्ति या पत्थर की कारीगरी, जो अभी तक मिली है, अशोक के पहले की नहीं है। इसका कारण यह मालूम होता है कि अशोक के पहले इमारतें तथा मूर्त्तियाँ काठ की बनाई जाती थीं। अशोक के समय में ही पत्थर की मूर्त्तियाँ और मकान पहले पहल बनने लगे। अतएव भारतीय मूर्त्तिकारी का प्रारम्भ अशोक के समय से और अन्त मुसलमानों के आक्रमण से ही समझना चाहिए। मुसलमानों के आक्रमण के बाद कोई ऐसी मूर्त्ति या प्रतिमा नहीं मिलती जो प्राचीन आदर्श तक पहुँचती हो।

भारतवर्ष की प्राचीन मूर्त्तियाँ, समय के अनुसार, चार भागों में बाँटी जा सकती हैं—यथा—

(१) मौर्यकाल—ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक (300 B. C. to 100 B. C.)

(२) कुषानकाल—ईसा के बाद पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक (100 A. D. to 300 A. D.) इस काल की मूर्त्तियों के दो भेद हैं—(क) गान्धार-मूर्त्तिकारी, (ख) स्वदेशी कुषान-मूर्त्तिकारी।

(३) गुप्तकाल—ईसा के बाद तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक (300 A. D. to 600 A. D.)

(४) मध्यकाल—ईसा के बाद सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक (700 A. D. to 1200 A. D.)

अब भारतवर्ष की प्राचीन मूर्त्तिकारी का संक्षिप्त इतिहास, प्रत्येक काल की मूर्त्तियों के लक्षण और उनके उदाहरण क्रम से दिये जाते हैं—

(१) मौर्यकाल।

सिकन्दर की मृत्यु के थोड़े समय बाद—अर्थात् ईसा के ३२३ वर्ष पूर्व—चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के राज्यसिंहासन पर

आरूढ़ हुआ और २४ वर्ष तक समस्त उत्तरी भारत पर राज्य करता रहा। दक्षिण में उसका राज्य नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। जब सिल्यूकस ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया तब इसने उसे युद्ध में परास्त करके उससे सिन्धु नदी और हिन्दूकुश-पर्व्वत के बीच का देश—काबुल, कन्धार और हिरात—छीन लिया तथा उसकी लड़की का पाणिग्रहण भी किया। चन्द्रगुप्त के बाद उसका बेटा बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। कोई २५ वर्ष तक उसने राज्य किया। उसके बाद महाप्रतापी अशोक मौर्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ और ४१ वर्ष तक (ईसवी सन् के पूर्व २७३ से २३२ तक) इस बड़े साम्राज्य का शासन किया। अशोक का घनिष्ठ सम्बन्ध दक्षिण भारत, लङ्का तथा सीरिया, इजिप्ट, सिरीन, मेसिडोनिया, और एपाइरस नाम के ग्रीक अर्थात् यूनानी राज्यों से भी था। अशोक ने युवावस्था में बौद्ध धर्म ग्रहण किया और जैसे जैसे समय बीतता गया, उसका धार्म्मिक उत्साह भी बढ़ता गया और वह अपनी समस्त शक्ति तथा धन बौद्ध धर्म के प्रचार में ख़र्च करने लगा। पुरानी से पुरानी जो मूर्त्ति या पत्थर की कारीगरी अब तक मिली है वह, जैसा कि पहले कहा गया है, अशोक के समय की है। अशोक के पिता तथा पितामह बिन्दुसार और चन्द्रगुप्त ने महल और मन्दिर इत्यादि अवश्य बनवाये होंगे, किन्तु उनका कोई भी चिह्न बाक़ी नहीं बचा। इसका कारण यही मालूम होता है कि अशोक के पूर्व इमारतें तथा मूर्त्तियाँ काठ की बनाई जाती थीं, जो अब बिलकुल नष्ट हो गई हैं।

मौर्यकाल की इमारतें तथा मूर्तियाँ पूर्ण रूप से स्वदेशी नहीं हैं। उन पर प्राचीन पर्शिया (फारिस या ईरान) की सभ्यता का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। अशोक और प्राचीन ईरान के बादशाह दारा, इन दोनों के शिलास्तम्भों, शिलालेखों और इमारतों के खम्भों को ध्यानपूर्वक देखने से यही ज्ञात होता है। अशोक के शिलालेखों का ढङ्ग भी वैसा ही है जैसा कि ईसा के ५०० वर्ष पहले "पर्सिपोलिस" और "नक्शइरुस्तम्" में दारा बादशाह के खुदवाये शिलालेखों का है। प्राचीन ईरान के शिलास्तम्भों के शिखर, जो अब तक प्राचीन ईरान की राजधानी "पर्सिपोलिस" और "सूसा" में विद्यमान हैं, घण्टाकार होते थे और उन पर एक दूसरे के आमने सामने पीठ कर के बैठे हुए हाथी, घोड़े या सिंह की मूर्त्तियाँ रहती थीं। ये दोनों बातें अशोक के शिलास्तम्भों और भरहुत, साँची, मथुरा और बुद्धगया के स्तूपों के चारों ओर पत्थर के परिवेष्टनों (Railings) में मिलती हैं। मालूम होता है कि अशोक के समय में पहले पहल जब काठ या लकड़ी के स्थान पर पत्थर की इमारतें और मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगीं तब उन पर प्राचीन ईरान की मूर्त्तिकारी तथा स्थापत्यविद्या (Architecture) का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अशोक की आँखों के सामने ईरान के शिलालेखों, शिलास्तम्भों, इमारतों और मूर्त्तियों के उदाहरण थे। उन्हें देख कर अशोक ने अपने शिलालेख, शिलास्तम्भ और महल इत्यादि बनवाये होंगे।

पर अब तक अशोक के समय की जो पत्थर की चीज़ें मिली हैं वे बहुत नहीं हैं। उसके बनवाये हुए महल और मन्दिर इत्यादि का अब कुछ भी चिह्न बाक़ी नहीं। तथापि उसके शिलालेखों, शिलास्तम्भों और उन पर गढ़ी हुई मूर्त्तियों से अशोक-काल की भारतीय मूर्त्तिकारी का कुछ कुछ अनुमान हो सकता है। अशोक के समय की मूर्त्तिकारी का बड़ा अच्छा उदाहरण उसका एक शिलास्तम्भ है। वह चम्पारन ज़िले के लौड़ियानन्दनगढ़ नाम के ग्राम में खड़ा है (चित्र नम्बर (१)) यह स्तम्भ ३२ फीट ऊँचा है। उसका पत्थर बहुत ही चिकना है। ऊपर की ओर वह कम मोटा होता गया है। उसकी गुलाई आधार के पास ३५½ इञ्च और शिखर के पास २२½ इञ्च है। प्राचीन ईरान के स्तम्भ-शिखरों की तरह उसका शिखर भी घण्टाकार है और उस पर एक सिंह-मूर्त्ति है। इसी तरह का एक शिलास्तम्भ सारनाथ (बनारस) में भी है। वह इतना चिकना (पालिश्ड) है कि मालूम होता है, अभी बन कर तैयार हुआ है। उसका भी शिखर घण्टाकार है। शिखर पर चार सिंह-मूर्त्तियाँ आमने सामने पीठ किये खड़ी हैं (चित्र नम्बर (२)) सिंह और घण्टाकार शिखर के बीच के भाग में बैल, घोड़ा, हाथी तथा सिंह की एक एक मूर्त्ति है। इन मूर्त्तियों के बीच के भाग में एक एक धर्मचक्र (पहिया) भी है। वह इस बात को सूचित करता है कि भगवान् बुद्ध ने सारनाथ ही में प्रथम बार अपने धर्म का पहिया ढुलकाया था और बौद्ध-धर्म का प्रचार वहीं से आरम्भ हुआ था। सिंहों पर भी एक "धर्मचक्र" था जो काल के प्रभाव से अब नष्ट हो गया है। उसके कुछ

टुकड़े सारनाथ में, स्तम्भ के पास ही, मिले थे। भारतीय पुरातत्त्व तथा कला के विद्वानों का मत है कि किसी दूसरे देश में पशुओं की ऐसी सच्ची, सुन्दर, स्वाभाविक और सजीव प्राचीन-मूर्त्ति मिलना कठिन है जैसी कि सारनाथ के अशोक-स्तम्भ पर है। इन मूर्त्तियों में प्राचीन ईरान की मूर्त्तिकारी की थोड़ी बहुत झलक अवश्य है, किन्तु भारतीय मूर्त्तिकारों ने इस विषय में विदेशियों से जो बातें ग्रहण की हों उन्हें उन्होंने अपने भावों में ऐसा ढाल लिया है कि साधारण मनुष्य को विदेशी प्रभाव का पता मिलना कठिन है।

अशोक के बाद मौर्यकाल के अन्य चार स्मारक चिह्न भिन्न भिन्न चार स्थानों में, मिलते हैं। वे हैं—साँची, भरहत और अमरावती के स्तूप और बुद्ध-गया के प्राचीन ध्वंसावशेष। इन चारों का समय ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी से लगा कर पहली शताब्दी तक माना गया है। साँची और भरहत के स्तूपों के चारों ओर पत्थर का घेरा या परिवेष्टन Railing है। इन परिवेष्टनों की बनावट से मालूम होता है कि उन पर सङ्गतराश का काम नहीं, किन्तु बढ़ई का काम है। उन पर जो खुदाई की गई है वह लकड़ी पर की गई खुदाई से मिलती जुलती है। जान पड़ता है, जब पत्थर की इमारतें तथा मूर्त्तियाँ बननी शुरू हुईं तब जो काम पहले काठ या लकड़ी पर होता था वही पत्थर पर होने लगा। यह बात साँची, भरहत और गया के परिवेष्टनों और तोरणों पर खुदी हुई मूर्त्तियों तथा बेलबूटों से अच्छी तरह सिद्ध होती है (चित्र नम्बर (२))।

मौर्यकाल की मूर्त्तिकारी को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि उस समय भारतवर्ष सुख और समृद्धि से भरा पूरा था। लोग स्वतन्त्र, सुखी और चिन्ता-रहित थे। उस समय मूर्त्तिकार को मूर्त्तिकारी के उन कठिन नियमों में जकड़बन्द न होना पड़ता था, जो आगे चल कर गुप्त-काल में प्रचलित हो गये। इस समय की मूर्त्तियों में एक प्रकार की सजीवता, सादापन तथा प्राकृतिकता है जो बाद की मूर्त्तियों में नहीं मिलती। इस काल का सबसे बड़ा स्मारक चिह्न भूपाल-रियासत में साँची का स्तूप है। साँची का स्तूप बुद्ध भगवान् की अस्थियों पर बनाया गया था। इस स्तूप के चारों ओर पत्थर का एक घेरा और तोरण (फाटक) हैं, जिन पर तरह तरह की मूर्त्तियाँ और बेलबूटे खुदे हुए हैं (चित्र नम्बर (३)) इनमें से कुछ मूर्त्तियाँ केवल सजावट के लिए और कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर बनाई गई हैं। पहले प्रकार की मूर्त्तियों में पवित्र स्थानों, पवित्र वृक्षों और स्तूपों के दर्शन तथा पूजा के लिए जानेवाले जलूसों और मेलों के चित्र हैं। दूसरे प्रकार की मूर्त्तियों में बुद्ध भगवान् के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली प्रधान प्रधान घटनाओं तथा उनके पूर्वजन्मों की कथाओं के चित्र हैं।

मौर्यकाल की मूर्त्तिकारी में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। इस काल में स्वयं बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति, कहीं भी, चित्रित नहीं मिलती। बुद्ध भगवान् का अस्तित्व कुछ चिह्नों से सूचित किया जाता था, जैसे "बोधिवृक्ष" (पीपल-वृक्ष), "धर्मचक्र" अथवा "स्तूप"। इनमें से प्रत्येक चिह्न बुद्ध के जीवन की किसी न किसी प्रधान घटना का परिचायक है। पीपल का वृक्ष यह सूचित करता है कि बुद्ध ने इसी पेड़ के नीचे बैठ कर बुद्ध-पद प्राप्त किया था। इसी तरह पहिया बुद्ध के धर्म-प्रचार के आरम्भ का सूचक है और स्तूप बुद्ध के निर्वाण (मृत्यु) का चिह्न है (चित्र नम्बर (४), (५), और (६))। इन चिह्नों से वे स्थान भी सूचित किये जाते हैं जहाँ ये प्रधान घटनायें हुई थीं। इसी कारण, मालूम होता है, अशोक ने अपने सारनाथ-स्तम्भ के शिखर पर धर्मचक्र का चिह्न भी अङ्कित किया था, जो अब नष्ट हो गया है।

मौर्यकाल की मूर्त्तियों में पुरुषों की वस्त्र-सामग्री एक धोती मात्र थी। शरीर का ऊपरी भाग बिलकुल नग्न रहता था। इस काल की मूर्त्तियों में अँगरखा या कुर्ता कहीं भी नहीं मिलता। सिर पर एक मुड़ासा या पगड़ी रहती थी, जो मुग़ल-बादशाहों की पगड़ियों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। पुरुषों और विशेष करके स्त्रियों की मूर्त्तियाँ गहनों से लदी हुई मिलती हैं। इस काल की मूर्त्तियों के सिर लम्बे, चहरे गोल और भरे हुए, आँखें बड़ी बड़ी, ओंठ मोटे और कान प्रायः लम्बे हैं। पुरुषों की पगड़ी या मुड़ासा इतना अधिक उभड़ा हुआ है कि उसके कारण शरीर के अन्दाज़ से सिर बड़ा मालूम होता है। स्त्रियों की मूर्त्तियों में भी केवल नीचे का भाग वस्त्र से ढँका हुआ मिलता है। ऊपरी भाग, पुरुषों की तरह, बिलकुल नग्न रहता है। पुरुषों और स्त्रियों की मूर्त्तियों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि स्त्रियों के गहने और सिर के

वस्त्र अधिक क़ीमती और सुन्दर मालूम होते हैं (चित्र नम्बर (७) ।

(२) कुषान-काल ।

अशोक के बाद मौर्य-साम्राज्य का वही हाल हुआ जो औरङ्गज़ेब के बाद मुग़ल-साम्राज्य का हुआ । मौर्य-साम्राज्य बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया । उसके दूरवर्त्ती प्रान्त स्वतन्त्र होकर अलग अलग राज्य बन गये । इस मौक़े को देख कर बैक्ट्रिया और पार्थिया के ग्रीक राजाओं ने, जो इतिहास में इन्डो-ग्रीक और इन्डो-पार्थिअन (Indo-Greeks and Indo-Parthians) के नाम से प्रसिद्ध हैं, उत्तर पञ्जाब पर आक्रमण कर के उस पर अपना अधिकार जमा लिया । प्रायः दो सौ वर्ष तक 190 B.-C. to 20 A. D.) पञ्जाब और पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त इन ग्रीक राजाओं के आधिपत्य में रहा । इन राजाओं में डेमेट्रिअस, मिनैन्डर (मिलिन्द), एज़ेस, गन्डोफरेस, और हर्मिअस मुख्य हैं । हर्मिअस आख़िरी ग्रीक बादशाह था, जिसने पञ्जाब और सीमाप्रान्त पर राज्य किया । इसी के समय में कुषानों अथवा इन्डोसीदिअनों (Indo-Scythians) का आक्रमण उत्तर पञ्जाब से भारतवर्ष पर हुआ । कुषान अथवा सीदियन उस ख़ानाबदोश जाति को कहते थे जो चीनी-तुर्किस्तान से, भोजन और जीवन-निर्वाह की तलाश में, घूमती फिरती भारतवर्ष में आनिकली थी । इस जाति का पहला राजा, कड़फ़ाइसिस प्रथम, था जिसने सन २० ईसवी (A. D. 20) में भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर-सीमा प्रान्त का आधिपत्य, ग्रीक बादशाह हर्मिअस से छीन कर, अपने हस्तगत कर लिया । इसके बाद कडफ़ाइसिस द्वितीय, कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव नाम के और पाँच कुषान-राजाओं ने राज्य किया । कुषान-राजाओं के समय में, जो मोटे तौर पर ईसा की पहली तीन शताब्दियाँ माना जाता है, भारतवर्ष की मूर्त्ति-निर्माण-कला की बड़ी उन्नति हुई । इस काल की मूर्तियों के दो भेद हैं । एक वह जो केवल भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (Frontier Province) तथा उत्तर पञ्जाब में पाया जाता है और जिसका ग्रीस-देश की मूर्त्तिकारी से घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह गान्धार-मूर्त्तिकारी के नाम से विख्यात है । दूसरा भेद वह जिसकी उत्पत्ति पश्चिमोत्तर-प्रान्त तथा पञ्जाब में नहीं किन्तु भारतवर्ष के मध्यभाग—मथुराजी, सारनाथ, तथा अमरावती—में हुई और जिस पर ग्रीक-मूर्त्तिकारी का इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि गान्धार-मूर्त्तिकारी पर पड़ा है । इसकी शैली (Style) गान्धार-शैली से बिलकुल भिन्न है । इस लेख में इसका नाम स्वदेशी-कुषान-मूर्त्तिकारी रक्खा गया है ।

(क) गान्धार-मूर्त्तिकारी ।

ऊपर लिखा गया है कि पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त तथा पञ्जाब में ग्रीक बादशाहों का आधिपत्य प्रायः दो सौ वर्षों तक रहा । इन बादशाहों के समय में पश्चिमोत्तर-प्रान्त तथा पञ्जाब की मूर्त्तिकारी पर ग्रीस देश की मूर्त्ति-निर्माणकला का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । पश्चिमोत्तर-प्रान्त की मूर्त्तिकारी का नाम "गान्धार" इसलिए पड़ा कि इस शैली की मूर्त्तियाँ केवल उस प्रदेश में पाई जाती हैं जो प्राचीन समय में "गान्धार" कहलाता था । महाभारत के पाठकों को मालूम होगा कि कौरवों की माता गान्धारी इसी गन्धार-देश के राजा की कन्या थी । आजकल का पेशावर ज़िला, काबुल की तराई, स्वात, बुनेर, सिन्धु और झेलम नदियों के बीच का प्रदेश, तथा तक्षशिला प्राचीन समय में "गान्धार" के नाम से प्रसिद्ध था । मोटे तौर पर आजकल का पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त प्राचीन समय का "गान्धार" समझना चाहिए । इन स्थानों में जो प्राचीन मूर्त्तियाँ मिलती हैं वे सब की सब बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली हैं । जैन या हिन्दूधर्म की एक भी मूर्ति अभी तक यहाँ नहीं मिली ।

मौर्यकाल की मूर्त्तिकारी से कुषानकाल की मूर्त्तिकारी की प्रधान विशेषता यह है कि इसी अर्थात् कुषान-काल में पहले पहल हमें बुद्ध भगवान् की मूर्त्तियाँ मिलती हैं । मौर्यकाल में बुद्ध का अस्तित्व कुछ चिह्नों से सूचित किया जाता था । पर कुषान-काल में बुद्ध की साक्षात् मूर्ति बना कर उसकी पूजा की जाती थी । इसलिए गान्धार-मूर्तिकारी की प्रधान विशेषता बुद्ध भगवान् की मूर्तियाँ हैं । गान्धार-देश में ऐसी मूर्त्तियाँ अधिक मिलती हैं जिन पर बुद्ध भगवान् या उनके जीवन की प्रधान घटनाओं की मूर्त्तियाँ चित्रित हैं । दिसंबर १९१७ की सरस्वती में "बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनायें" नाम का लेख देखिए । इन सब मूर्त्तियों में बुद्ध भगवान् की युवावस्था की मूर्त्ति दिखलाई गई है ।

गान्धार-मूर्त्तिकारी में बुद्ध की आकृति बहुत ही दिव्य तथा प्राचीन ग्रीस के सूर्यदेवता "अपोलो" की शकल की है। बुद्ध के सिर पर एक उष्णीश (पगड़ी) के आकार की जटा बँधी रहती है, जो बुद्ध का एक प्रधान लक्षण है (चित्र नम्बर (८))। जटा के बाल घुघराले और एक ओर मुड़े हुए रहते हैं। इस जटा से मूर्ति की शोभा द्विगुणित हो जाती है। दोनों भौंहों के बीच में बालों की एक गोल बिन्दी रहती है जिसे संस्कृत में "ऊर्णा", कहते हैं (चित्र नम्बर (८))। यह "ऊर्णा" बुद्ध के जन्म से थी और महापुरुष का एक प्रधान लक्षण समझी जाती थी। गान्धार-मूर्त्तिकारी में बुद्ध कभी पद्मासन बैठे हुए और कभी खड़े और दहना हाथ छाती तक "अभय मुद्रा" में उठाये हुए मिलते हैं। कभी कभी बुद्ध भगवान् के दोनों अथवा एक ओर बोधिसत्त्व (भविष्यत् में बुद्धपदवी को प्राप्त होने वाले) की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों में प्रधान भेद यह है कि बुद्ध संन्यासी के वेष में दिखलाई पड़ते हैं और बोधिसत्त्व सुन्दर वस्त्र तथा मुकुट आदि अलङ्कारों से भूषित राजा महाराजा के सदृश। आजकल के संन्यासियों की तरह बुद्ध भगवान् के दोनों कन्धों से एक चादर पैर तक लटकती हुई देख पड़ती है, जिसकी सिकुड़न तथा उतार-चढ़ाव बहुत सफ़ाई के साथ दिखलाये गये हैं। यहाँ तक कि उससे शरीर की बनावट और गठीलापन बहुत ही ख़ूबी के साथ प्रकट होता है। गान्धार-मूर्त्तियों के सिरों के चारों ओर एक प्रभामण्डल भी रहता है (चित्र नम्बर (८))।

गान्धार-मूर्त्तिकारी में एक विशेष बात यह है कि बुद्ध के जीवन की प्रधान प्रधान घटनाओं के चित्रों में बुद्ध भगवान् के साथ साथ "वज्रपाणि" की मूर्त्ति अवश्य मिलती है। बौद्धधर्म के ग्रन्थों में "वज्रपाणि" इन्द्र का दूसरा नाम है। इन्द्र सर्वदा हाथ में वज्र लिये बुद्ध भगवान् के साथ साथ उनकी रक्षा के लिए रहते थे। गान्धार-मूर्त्तिकारी में वज्रपाणि का सिर तथा शरीर का ऊपरी भाग प्रायः नग्न दिखलाया जाता है। उनके डाढ़ी भी रहती है और वे हाथ में वज्र के आकार का एक अस्त्र भी लिये रहते हैं।

गान्धार-मूर्त्तिकारी ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। इससे ईसा के बाद तीन चार सौ वर्ष का उत्तरी भारत का इतिहास आँखों के सामने आ जाता है। गान्धार-मूर्त्तियों में उत्तरी भारत के तात्कालीन समाज, सभ्यता, धर्म तथा कलाकौशल का चित्र खिँचा हुआ मिलता है। इन मूर्त्तियों में राजा से लेकर रङ्क तक, समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों का चित्र मिलता है। गान्धार-मूर्त्तिकारी के ऐतिहासिक महत्त्व को पूर्णतया बतलाने के लिए एक स्वतन्त्र लेख चाहिए। इस लेख में उसका नामोल्लेख मात्र पर्य्याप्त है।

(ख) स्वदेशी कुषान-मूर्त्तिकारी।

इसके मूल में स्वदेशी भावों की प्रधानता है। इस पर ग्रीक-मूर्त्तिकारी का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है; किन्तु वह इतना थोड़ा है और स्वदेशी भावों में इतना डूब सा गया है कि सहसा ज्ञात नहीं होता। इसकी उत्पत्ति तथा प्रचार ईसवी सन् की प्रथम तीन शताब्दियों में मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती में अधिकता से था।

ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में मथुरा बहुत बढ़ी चढ़ी नगरी थी। कुषानवंश के राजाओं के अनेक शिलालेख यहाँ मिले हैं। उनसे पता लगता है कि उनके समय में मथुरा बड़े महत्त्व का स्थान था। यहीं पर कुषानवंश के महाराजा कनिष्क की क़द्देआदम मूर्त्ति, कुछ वर्ष हुए, पाई गई थी और यहीं पर पहला शिलालेख, शुद्ध संस्कृत-भाषा में, मिला है, जो कुषानवंश के महाराजा वासिष्क के समय का है। कुशानकाल में मथुरा-नगरी बौद्ध, जैन तथा हिन्दू इन तीनों धर्मों का केन्द्र भी थी और तीनों धर्मों के अनुयायियों की दृष्टि में यह पवित्र समझी जाती थी। इसके समीप लाल पत्थर की कई खानें हैं, जिससे प्राचीन-काल से ही मथुरा-नगरी मूर्त्तिनिर्माणकला का एक केन्द्र बन गई थी। यहाँ के मूर्त्तिकार समस्त उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थे। जिस तरह, आज कल, जयपुर की मूर्त्तियों का प्रचार उत्तरी भारत में है उसी तरह, प्राचीन समय में, मथुरा की बनी हुई मूर्त्तियों का प्रचार था। मथुरा की मूर्त्तिकारी इतनी प्रसिद्ध थी कि उत्तरी भारत के धनी मनुष्य अपने इष्टदेवताओं की बड़ी बड़ी मूर्त्तियाँ मथुरा से बनवा कर, सैकड़ों मील दूर, अपने अपने स्थानों को ले जाते थे। उदाहरण के लिए मथुरा की बनी हुई बहुत बड़ी बड़ी कई मूर्त्तियाँ, चार सौ मील दूर सारनाथ में मिलती हैं। केवल कुशानकाल में नहीं, किन्तु, बाद को, गुप्तकाल में भी, मथुरा की मूर्त्ति-

निर्माणकला वैसी ही उन्नत अवस्था में थी। कुषानवंशी राजाओं का राज्य गान्धार में भी था और मथुरा में भी। यही कारण है, जिससे मथुरा की मूर्त्तिकारी पर गान्धार-मूर्त्तिकारी का कुछ प्रभाव मालूम होता है। सम्भव है, गान्धार-प्रान्त के कुछ मूर्त्तिकार मथुरा में उस समय आये हों और अपना प्रभाव मथुरा की मूर्त्तिनिर्माणशैली पर डाल गये हों। मथुरा में कुछ मूर्त्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनके वस्त्र, भाव तथा आकृति बिलकुल ग्रीकों (यूनानियों) के सदृश हैं।

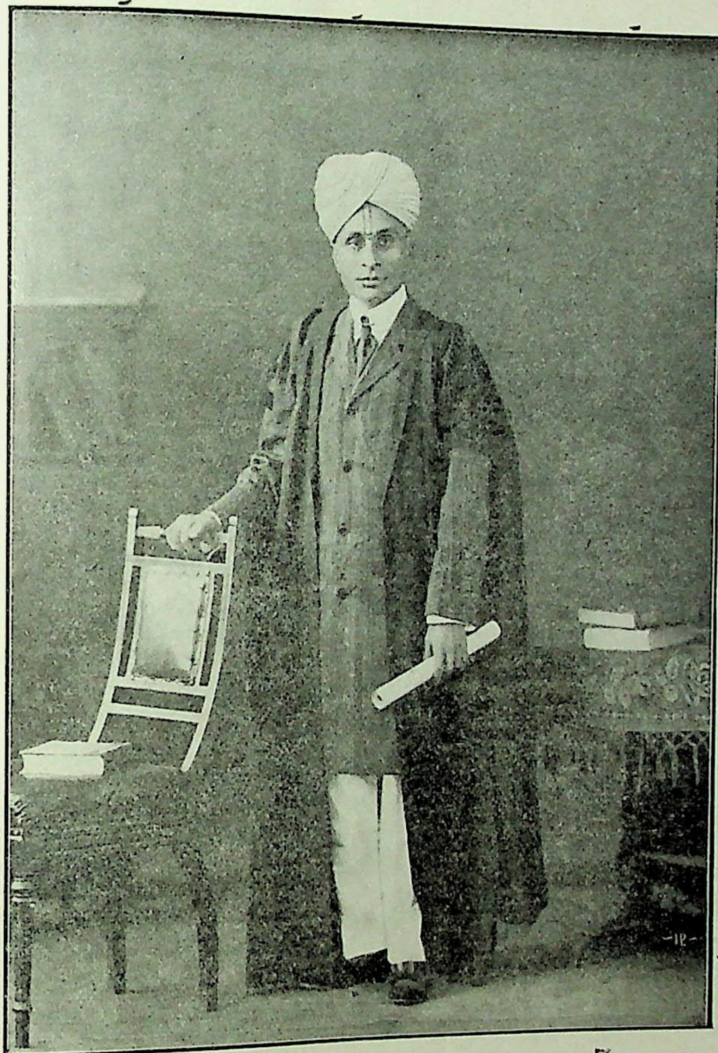
मथुरा के समान सारनाथ भी कुषानकाल में बौद्ध और जैन-धर्म का केन्द्र था। सारनाथ में इन दोनों धर्मों के अनेक मन्दिर और मठ थे, जिन्हें बारहवीं शताब्दी के अन्त में तअस्सुबी मुसलमानों ने तोड़ कर मिट्टी में मिला दिया। हिन्दू-धर्म के केन्द्र, बनारस, के प्राचीन मन्दिरों और मूर्त्तियों का भी यही हाल हुआ। सारनाथ के मूर्त्तिकार, साधारण तौर पर, चुनार के पीले पत्थर की मूर्त्तियाँ बनाते थे। अशोक का सारनाथवाला शिलास्तम्भ भी इसी पत्थर का बना हुआ है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, धनी मनुष्य प्रायः मथुरा की बनी हुई मूर्त्तियों को अधिक पसन्द करते थे और वहीं से अपने इष्टदेवताओं की मूर्त्तियाँ बनवा कर सारनाथ में स्थापित करते थे। सारनाथ की बनी हुई कुषानकाल की मूर्त्तियों पर भी कुछ न कुछ ग्रीक-प्रभाव पड़ा मालूम होता है।

बरार-प्रान्त में अमरावती-नगर भी कुषानकाल में मूर्त्ति-निर्माण-कला का एक केन्द्र था। यहाँ पर एक स्तूप के ध्वंसावशेष में सङ्गमरमर की बहुत सी मूर्तियाँ हैं। वे इतनी उत्तम हैं कि मूर्ति-निर्माण-कला के मर्मज्ञों की राय में वे भारतीय मूर्तिकारी की पराकाष्ठा हैं। उनकी शैली गान्धार और मथुरा की शैलियों से मिलती जुलती है। उनमें स्वदेशी भावों की प्रधानता होते हुए भी ग्रीक-मूर्तिकारी का जो प्रभाव उन पर पड़ा है उसका पता भी आसानी से लग सकता है।

गान्धार-मूर्तिकारी की तरह मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती की मूर्तिकारी में भी एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। इसी काल में हमें, पहले पहल बुद्ध की मूर्त्ति दिखलाई पड़ती है। कुषानकाल के पहले की कोई भी बुद्ध-मूर्ति हमें, इन स्थानों में भी, नहीं मिलती। गान्धार-देश में केवल बौद्ध-धर्म्म-सम्बन्धिनी मूर्त्तियाँ मिलती हैं; किन्तु मथुरा तथा सारनाथ में कुषानकाल की बौद्ध, जैन और हिन्दू तीनों धर्मों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्त्तियाँ मिलती हैं। गान्धार-मूर्त्तियों की तरह मथुरा इत्यादि में भी कुषानकाल की बुद्ध-मूर्त्तियों के सिरों पर एक उष्णीष (जटा) है (चित्र नं० (९))। किन्तु बाल घूँघरवाले नहीं। दोनों भौंहों के बीच में बालों की एक गोलाकार बिन्दी अर्थात् ऊर्णा भी रहती है, जो बुद्ध का एक प्रधान लक्षण समझा गया है। बुद्ध के दोनों कन्धों से एक चादर पैर तक लटकती रहती है, जिसकी सिकुड़न और उतार-चढ़ाव गान्धार-मूर्त्तियों की तरह होता है। किन्तु कपड़े की बारीकी इतनी ख़ूबी के साथ नहीं दिखलाई गई जैसी कि गुप्तकाल की मूर्त्तियों में देखी जाती है (चित्र नम्बर (१०))। मूर्त्ति के सिर के चारों ओर एक बिलकुल सादा तथा अलङ्काररहित प्रभामण्डल भी रहता है। बाद को, गुप्तकाल में, यही प्रभामण्डल सादा नहीं, किन्तु बेल-बूटों से ख़ूब सजा हुआ मिलता है। कुषानकाल की विशेषतायें गुप्तकाल की मूर्त्ति-कारी के लक्षण बताने के समय अधिक स्पष्ट हो जायँगी। कुषानकाल तथा गुप्तकाल की मूर्त्तिकारी की परस्पर तुलना करने से दोनों कालों की मूर्त्तिकारी की विशेषतायें अच्छी तरह समझ में आ सकती हैं।

(३) गुप्तकाल।

ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के अन्त और तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में कुषानवंश का अन्त हो जाता है। जैसा कि प्रायः सब बड़े बड़े राज्यों के अधःपतन और नाश के बाद होता है, कुषान-राजाओं के अधःपतन के बाद भी भारतवर्ष अनेक छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। उन राज्यों का कुछ भी ऐतिहासिक हाल नहीं मिलता। वस्तुतः ईसा की तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष में अराजकता फैली हुई थी। इस समय का भारतवर्ष का इतिहास अन्धकार में छिपा हुआ है। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में फिर एक नये साम्राज्य का उदय होता है, जो इतिहास में गुप्त-साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस साम्राज्य की स्थापना से भारतवर्ष में एक नये युग का आरम्भ हुआ और फिर से भारतवर्ष का इतिहास अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आया। गुप्तवंश



डाक्टर लिङ्गेश महाभागवत कुर्त्तकोटी, पी-एच० डी० ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

के आदि राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने, सन् ३२० ईसवी में, इस साम्राज्य की नींव डाली। चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद इस वंश में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) तथा कुमारगुप्त प्रधान राजा हुए। मोटे तौर पर ईसा की चौथी, पाँचवीं, और छठी शताब्दी गुप्तवंश के राजाओं का शासनकाल समझना चाहिए। गुप्त-राजाओं के शासन-काल में भारतवर्ष की सभ्यता चरम सीमा को पहुँची हुई थी। यह समय, बौद्धों के बाद, भारतवर्ष में हिन्दू-धर्म तथा संस्कृत-भाषा के पुनरुज्जीवन का समय था। इस समय भारतवर्ष में प्रत्येक विद्या तथा कला-कुशलता उन्नत अवस्था में थी। गुप्त-काल की मूर्त्तिकारी में उस काल की उच्च सभ्यता तथा उन्नति की झलक कुछ कुछ मिलती है। इस काल में बौद्ध तथा हिन्दू दोनों धर्मों की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। सारनाथ तथा मथुरा के अजायबघरों में गुप्तकाल की मूर्त्तियों का अच्छा सङ्ग्रह है। उनको देखने से इस काल की मूर्त्तिकारी का अच्छा अनुमान हो सकता है। इस काल की बहुत सी मूर्त्तियों पर शिलालेख भी खुदे हुए हैं, जिनसे उन मूर्त्तियों का समय भी निर्द्धारित हो सकता है।

गुप्तकाल की मूर्त्तियों में एक विचित्र आकर्षण-शक्ति है, जो दूसरे काल की मूर्त्तियों में नहीं। विशेषकर इस काल की बुद्ध-मूर्त्तियों की आकृति बहुत ही गम्भीर, शान्त तथा उच्च भावों से पूर्ण है। गुप्तकाल की बुद्ध-मूर्त्तियों के देखने से चित्त में एक प्रकार की विचित्र शान्ति तथा भक्ति का उदय होता है और बुद्ध भगवान् का जैसा आदर्श, जैसी पवित्रता और जैसी शान्ति सुनने में आती है वह सब आँखों के सामने आ जाती है। यह बात अन्यकाल की मूर्त्तियों में नहीं। कुषानकाल की मूर्त्तियों में जो कुछ विदेशी भाव थे वे गुप्तकाल की मूर्त्तियों में बिलकुल नहीं पाये जाते। शरीर की बनावट, चेहरे का भाव, वस्त्रविन्यास तथा बालों की सजावट सबसे, पूर्ण-रूप से, स्वदेशी भाव टपक रहा है। कुषानकाल की बुद्ध-मूर्त्तियों में प्रभामण्डल बिलकुल सादा रहता था। गुप्तकाल में वही बेल-बूटों से ख़ूब सजा हुआ मिलता है। कुषानकाल की मूर्त्तियों में वह गम्भीरता, शान्ति तथा चित्ताकर्षक भाव नहीं हैं जो गुप्तकाल की मूर्त्तियों में हैं। कुषानकाल की मूर्त्तियों के बाल घूँघरवाले नहीं हैं। गुप्तकाल की मूर्त्तियों के बाल घुँघराले और छल्लेदार हैं, जिससे मूर्त्ति का सौन्दर्य दुगना बढ़ जाता है। कुषानकाल की मूर्त्तियों में कपड़े की वह बारीकी नहीं जो गुप्त-काल की मूर्त्तियों में देखने को मिलती है। गुप्त-काल की मूर्त्तियों में कपड़े इतने बारीक दिखलाये गये हैं कि उनमें से प्रत्येक अङ्ग साफ़ साफ़ झलकता है (चित्र नम्बर (१०))

इस काल का सबसे अच्छा नमूना एक बुद्ध-मूर्त्ति है जो सारनाथ के अजायबघर में रक्खी हुई है (चित्र नम्बर (१०) यह बुद्ध-मूर्त्ति सफ़ेद पत्थर की साढ़े पाँच फुट ऊँची है। बुद्ध भगवान् का हाथ उपदेश-मुद्रा में है। यह चित्र उस घटना का है जब बुद्ध ने प्रथम बार बौद्ध-धर्म का उपदेश, अपने पाँच शिष्यों को, किया था। यह घटना बौद्ध-धर्म के इतिहास में "धर्मचक्र-प्रवर्तन" के नाम से प्रसिद्ध है। सिर के चारों ओर एक प्रभामण्डल है, जो बेलबूटों से ख़ूब सजा हुआ है। बुद्ध की आँखों तथा चेहरे का भाव ऐसा गम्भीर तथा शान्त है, और शरीर की बनावट ऐसी सुडौल और सुन्दर है कि आँखें सहसा मूर्त्ति की ओर आकर्षित हो जाती हैं। बुद्ध शरीर पर एक वस्त्र धारण किये हुए हैं। वह इतना महीन है कि उसके भीतर से उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग झलक रहा है। लम्बे कान तथा दीर्घ भौंवें बुद्ध के महापुरुषत्व की सूचक हैं। बुद्ध के नीचे एक "धर्मचक्र", बुद्ध के पाँच शिष्य, तथा एक स्त्री और एक बालक है। स्त्री तथा बालक कदाचित् इस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करनेवाले हैं।

इस काल की अनेक पौराणिक मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं, जिन के विषय में लेख बहुत बढ़ जाने के डर से यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। इस काल की पौराणिक मूर्त्तियाँ भी बौद्ध-मूर्त्तियों की तरह सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं तथा गुप्त-काल की मूर्त्तिकारी के पूर्वोक्त समस्त गुणों से अलङ्कृत हैं।

(४) मध्यकाल।

पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हूणों के कई आक्रमण भारतवर्ष पर हुए, जिनसे गुप्त-साम्राज्य का एक प्रकार से अन्त हो गया। हूणों ने केवल आक्रमण ही करके सन्तोष न किया, किन्तु मालवे और पञ्जाब में बस कर ५०—६० वर्षों तक वे राज्य भी करते रहे। हूणों के अत्याचार से पीड़ित होकर नरसिंहगुप्त बालादित्य तथा यशोधर्मन आदि कई राजाओं ने मिल कर सन् ५२८ ईसवी में उनके राजा मिहिरगुल को परास्त किया और हूणों को भारतवर्ष से निकाल बाहर

किया। इसके बाद, छठी शताब्दी में, भारतवर्ष का इतिहास फिर अन्धकार में छिप गया। इस समय भारतवर्ष में अराजकता छाई हुई थी। भारतवर्ष में कोई सम्राट् न था। वह कई छोटे छोटे राज्यों में बँट गया था। वस्तुतः यह समय भारतवर्ष के इतिहास में अन्धकार का समय था। ईसा की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में फिर एक नये साम्राज्य की स्थापना होकर एक नवीन युग का उदय होता है। यह साम्राज्य भारतवर्ष के इतिहास में हर्ष-साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। महाराज हर्ष ने सन् ६०६ से ६४७ ईसवी तक उत्तरी भारतवर्ष में इस बड़े साम्राज्य का शासन किया। इन्हीं के दरबार में महाकवि बाणभट्ट थे। बौद्ध चीनी-यात्री हुएन्सङ्ग इन्हीं के शासनकाल में भारतवर्ष में आया था। उसका लिखा हुआ भारतवर्ष का वर्णन उस समय के इतिहास की बड़ी भारी सामग्री है।

हर्ष के समय से मध्यकाल की मूर्त्तिकारी का आरम्भ होता है। मध्यकाल की मूर्त्तिकारी का समय ईसा की सातवीं शताब्दी से लगा कर बारहवीं शताब्दी तक माना गया है। भारतवर्ष का यह समय बौद्ध-धर्म के ह्रास और पौराणिक हिन्दू-धर्म के उत्थान का समय था। हूणों के बाद ५०० वर्षों तक किसी विदेशी जाति का आक्रमण भारतवर्ष पर नहीं हुआ। इस अमन-चैन के ज़माने में हिन्दुओं ने अपनी समस्त शक्ति हिन्दू-धर्म के भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों के निकालने और उनका प्रचार करने में लगा दी। अतएव मध्यकाल में हिन्दू-धर्म-सम्बन्धिनी मूर्त्तियों ही की प्रधानता है। गुप्तकाल में बौद्ध-धर्म की मूर्त्तियाँ अधिक मिलती हैं, किन्तु मध्यकाल में बौद्ध-मूर्त्तियाँ बहुत ही कम और हिन्दू-धर्म की अधिक मिलती हैं।

मध्यकाल की मूर्त्तियों में वह गाम्भीर्य और गौरव नहीं है जो गुप्तकाल की मूर्त्तियों में मिलता है। इस काल की मूर्त्तियों में अमानुषिक भावों की प्रधानता है। इस काल के मूर्त्तिकार मूर्त्तियों का शरीर आदि मनुष्यों की तरह नहीं बनाते, किन्तु उनमें ऐसे भाव तथा चिह्न दरसाते हैं जिससे वे अमानुषिक और अप्राकृतिक प्रतीत होती हैं; जैसे—दो से अधिक हाथ और एक से अधिक सिर इत्यादि। इस काल में शैव, शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ इसी तरह की हैं। इन मूर्त्तियों में देवीदेवताओं का स्वरूप वैसा ही बनाया जाता है जैसा रूप उनका साम्प्रदायिक ग्रन्थों में दिया गया है। साम्प्रदायिक नियमों के अनुसार मूर्त्तियों का स्वरूप बनाने में मूर्त्तिकार जकड़ सा जाता है। वह अपनी कल्पना-शक्ति से काम नहीं ले सकता। उसका समस्त ध्यान इसी बात में लगा रहता है कि मूर्त्ति ठीक ठीक उन बातों को प्रकट करती है कि नहीं जो उन देवीदेवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखी गई हैं। इसी से इस काल की मूर्त्तियाँ वैसी स्वतन्त्र-भाव-युक्त, गम्भीर तथा चित्ताकर्षक नहीं हैं जैसी कि गुप्त-काल की होती थीं।

इस काल की आदर्श-मूर्त्तियाँ निज़ाम हैदराबाद की रियासत में, एलोरा-गुफा, में हैं। एलोरा में पहाड़ काट कर कई गुफायें बनाई गई हैं। उनमें शैव और वैष्णव-सम्प्रदाय की बहुत सी मूर्त्तियाँ हैं, जो मध्यकाल की मूर्त्तिकारी के सब से अच्छे नमूने समझे जाते हैं। एलोरा-गुफा की मूर्त्तियों का समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना जाता है। उनमें से एक गुफा में कैलास नाम का मन्दिर, पत्थर काट कर, बनाया गया है। कैलास-पर्वत पर शिव और पार्वती बैठे हुए हैं; नीचे रावण पर्वत को उखाड़ना चाहता है। पहाड़ हिलने से पार्वती डर कर सहसा महादेव से लिपट जाती हैं। पार्वती की परिचारिका भी डर के मारे उठ कर भाग रही है। किन्तु महादेव रावण के सिर पर स्थित कैलास को अपने एक पैर से इस ज़ोर से दबाते हैं कि रावण जहाँ का तहाँ खड़ा रहता है। इसी का दृश्य पाठक चित्र नम्बर (११) में देखेंगे। इस मूर्त्ति में मूर्त्तिकार ने रावण का औद्धत्य तथा पराक्रम और पार्वती का सम्भ्रम बहुत ही ख़ूबी के साथ प्रकट किया है। मूर्तिनिर्माण-कला की दृष्टि से, तथा भावों के चित्रण में, यह मूर्त्ति मध्यकाल की मूर्त्तिकारी का सब से अच्छा नमूना समझी गई है। मथुरा तथा सारनाथ में भी इस काल की अनेक सुन्दर मूर्त्तियाँ मिलती हैं।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ होता है। इसी समय से मध्य-काल तथा भारतवर्ष की प्राचीन मूर्त्तिकारी का अन्त समझना चाहिए। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण से भारतीय मूर्त्तिकारी का ह्रास होना शुरू होता है और बारहवीं शताब्दी में उसका बिलकुल अन्त हो जाता है। इसका कारण

यही है कि उस समय देश का देश मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के लिए युद्ध में लगा हुआ था। युद्ध के सिवा लोगों का ध्यान किसी और तरफ़ था ही नहीं। विपत्ति के समय कला और कारीगरी की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत किसे रहती है? मूर्त्तिकारों और कारीगरों को भी अपना अपना घर द्वार छोड़ कर भागना पड़ा होगा। इसी से इस समय की, और इसके बाद की, बहुत कम मूर्त्तियाँ मिलती हैं। जो मिलती भी हैं वे बहुत ही भद्दी और निकृष्ट हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में मुग़लों के शासन-काल में फिर से मूर्त्तिनिर्माण-कला तथा अन्य कलाओं का पुनरुज्जीवन होता है। किन्तु उससे इस लेख का सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं।

जनार्दन भट्ट

सम्पादकों और अनुवादकों का ऊधम।

मौलिकता की भूमि पर साहित्य की नींव का पड़ना ही नैसर्गिक नियम है; पर आज कल इस नियम के अनेकों अपवाद देख पड़ते हैं। बल्कि यों कह सकते हैं कि हमारे अपवादों की बदौलत अब इस नियम की सत्ता ही उठ सी गई है! कारण यह है कि छापेख़ाने और डाकख़ाने की कृपा से, दूसरी भाषाओं के साहित्यों को अवगत करने के साधन सुलभ हो गये हैं। विचारपूर्वक देखा जाय तो यह भी एक कारण है जिससे मौलिकता का अस्तित्व दब सा गया है। हम हिन्दी-साहित्य की दशा को ध्यान में रखते हुए ही यह सब कह रहे हैं। अतएव हमारे विचार दूसरी भाषाओं के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं या नहीं, और होते हैं तो कहाँ तक, इस पर विचार करने के खटराग में हम नहीं पड़ा चाहते।

आज कल हिन्दी-साहित्य में जिधर देखिए उधर ही जल्दी काम और सस्ते दामवाली कहावत चरितार्थ होती हुई दिखाई दे रही है। हिन्दी-प्रेमी कहलानेवालों के हाथों बेचारी हिन्दी की तो बड़ी ही दुर्दशा है। उन्नति के नक़ारख़ाने में वास्तविकता की तूती की बोलती बन्द है। उस बेचारी की आवाज़ सुनता ही कौन है? मतलब यह कि लोग विचारपूर्वक यह देखने का कष्ट नहीं उठाते कि हम उन्नति कर भी रहे हैं या नहीं; हम किधर झुक रहे हैं; वहाँ कुछ सार भी है या नहीं; या यों ही जोश में अन्धाधुन्ध लपके पड़ते हैं। सड़ी गली और निकम्मी पुस्तकों के ग़लत-सलत और आदर्श-हीन अनुवादों की बदौलत यदि किसी भाषा या राष्ट्रभाषा की उन्नति होना सम्भव है, तो हमारी हिन्दी भी अब उन्नति की चरम सीमा को शीघ्र ही पहुँच जायगी; बल्कि सम्भव हुआ तो उसे लाँघ भी जायगी और ऐसी जगह जा पहुँचेगी कि बस—यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते।

सम्पादकों का काम है, भाषा तथा साहित्य की गति की पूरी पूरी देख-रेख रखना और त्रुटियों से उसे बचाना। पर यहाँ का हाल कुछ और ही है। यहाँ अपने ही साहित्य की गर्दन सम्पादक-पुङ्गवों द्वारा सरे बाज़ार नापी जा रही है और कोई चूँ नहीं करता! 'परस्परं प्रशंसन्ति' वाले मसले का दर्शन दिन-दहाड़े, और फिर भी लालटेन जला जला कर, कराया जा रहा है। मिथ्या प्रशंसा के पुल पर से साहित्य-शिशु अथाह सागर में ढकेला जा रहा है! साहित्य की उन्नति में अनुवादों द्वारा योग देना बुरा नहीं। पर केवल अनुवादों के ही सहारे, अपरिचित भावों के ज़बर्दस्ती प्रचार के ऊपर ही अवलम्बित रह कर, साहित्य को उन्नत कर डालने का बीड़ा उठा कर स्वाभाविकता और सुन्दरता का बहिष्कार कर देना घोर परतन्त्रता, बुद्धि-हीनता, प्रतिभा-शून्यता और भिखमङ्गेपन

का परिचय देना ही नहीं, बल्कि भावी उन्नति के मार्ग में बबूल के काँटे बखेरना है। जो मस्तिष्क अपनी प्रतिभा की बदौलत कितनी ही मौलिक रचनायें करके हिन्दी का सम्मान बढ़ा सकते थे वे आज अनुवादक, बल्कि यों कहना चाहिए कि किसी न किसी अन्य-प्रान्तीय भाषा के अक्षर-ज्ञान की बदौलत, प्रकाशकों के क्रीत-दास बने हुए हैं! बजाय इसके कि अपनी सामाजिक अवस्था में सुधार करने की चेष्टा की जाय हमें ज़बर्दस्ती वङ्ग या महाराष्ट्र-प्रान्त की सामाजिक अवस्थाओं की दुर्दशायें और उनके सुधार के उपाय-पुञ्ज सुझाये जा रहे हैं, जिनसे रत्ती भर भी फ़ायदा नहीं, बल्कि उलटी बड़ी भारी हानि यह हो रही है कि 'हम क्या हैं' इसको भी हम भूले जा रहे हैं। यदि बँगला या मराठी की अच्छी अच्छी पुस्तकों का अनुवाद हो जाय तो कोई बुराई नहीं, पर केवल अक्षर पहचान कर निकम्मी पुस्तकों के अनुवादक बन बैठने की धुन हमारी रही सही इज्ज़त में भी बट्टा लगवा रही है।

हमारी इस चोरी-चकारी की आदत की बदौलत कितने ही हिन्दीविरोधियों के दिमाग़ चढ़ गये हैं। उनका कहना है कि हिन्दी में हई क्या! बँगला की रद्दी पुस्तकों के अनुवाद ही तो हैं। पर यहाँ सुनता कौन है? यहाँ तो दाम और नाम पाने की वह धुन सवार है जिसका कुछ हिसाब नहीं। खेद है कि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा पाये हुए पदवी-धारी सज्जन भी अनुवाद के गपड़-घेसले में कूद कर हाथा-बाहीं कर रहे हैं। वे लोग अपनी योग्यता की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। अगर वे चाहें तो बहुत से मौलिक लेख लिख सकते हैं। पर ऐसा करे कौन! ओह, बेढब नशा चढ़ा है। देखिए, अनुवाद, और सो भी ग़लत! और किसका? और किसी काम का भी नहीं!

सच पूछिए तो इन लोगों ने हिन्दी के सिर पर इतनी बदनामी लादी है कि इनके साथ काम करने को जी नहीं चाहता। चोरों का साथी गँठकटा! एक उदाहरण लीजिए। हमारे एक मित्र को आख्यायिकायें पढ़ने का बहुत दिनों से शौक़ रहा है। दुर्भाग्य से आप बँगला भी जानते हैं। अतएव आपने कई आख्यायिकायें बँगला से अनुवाद करके छपाईं। इसी प्रकार आख्यायिकायें पढ़ते पढ़ते आपकी प्रतिभा सहसा जाग्रत हुई, और अब बँगला के ढँग की मौलिक आख्यायिकायें भी आप बहुत अच्छी लिखने लगे हैं। आपकी शिकायत है कि मेरी मौलिक आख्यायिकायें भी अनुवादित ही समझी जाती हैं! और, लोग यह भी समझते हैं कि मैं बँगला से आख्यायिकायें चुरा कर उन्हें प्रकाशित कराता हूँ, पर बँगला का नाम नहीं देता! ख़ूब! बद अच्छा बदनाम बुरा! यह दशा देख कर तो यही जी चाहता है कि बेहतर होता अगर इस देश पर डाकख़ाने और छापेख़ाने की कृपा ही न हुई होती—ताकि हम लोग कम से कम अपने आपे में तो रहते।

अब सम्पादकों की बात सुनिए। जिसे और कोई भी काम नहीं मिलता, जो गणित में कमज़ोर होने के कारण सातवें या आठवें दरजे के आगे न घिसट सका, वही बँगला या और किसी प्रान्तीय लिपि के अक्षर मात्र पहचान कर बड़ी धूमधाम से हिन्दी-सम्पादकों की पंक्ति में बैठा बातें बघार रहा है। जिसके लेख या तुकबन्दी को दूसरे अख़बारों ने छापने से इन्कार कर दिया उसीने चट नया अख़बार निकाल दिया, और जब वह न चला तब हिन्दीवालों के सिर कृतघ्नता के कलङ्क का टीका लगा दिया! कहिए, क्या सस्ता खेल है! एकोऽहं बहु स्याम् वाली प्रवृत्ति के कारण ही निर्विकार ब्रह्म को त्रिगुणमयी उपाधि ग्रहण करनी पड़ी; पर हिन्दीवालों ने और भी आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने कवि-लेखक-सम्पादक-प्रकाशक-विक्रेता-देशभक्त-रूपिणी



करवीर-मठ के शङ्कराचार्य्य श्रीविद्याशङ्कर भारती।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

षड्गुणमयी मूर्ति धारण कर परमात्मा की उस त्रिगुणमयी मूर्ति को भी नगण्य सा कर दिखलाया! द्वैत—बुद्धि के कारण, जैसे उसकी माया हमारी समझ में नहीं आती वैसे ही इनकी माया भी, इनके विराट् रूप के रौब के कारण, हम नहीं समझ सकते। सच मानिए, जिन्हें हिन्दी में एक पत्र लिखने का भी शऊर नहीं, बोल चाल की हिन्दी में जो ठीक ठीक बातें भी नहीं कर सकते वे, आज, चाहे जिस विषय की पुस्तक का धड़ाधड़ सम्पादन करने को तैयार हैं। आप कहेंगे कि विषय न सही, भाषा को ही वे लोग दुरुस्त कर देते होंगे, क्योंकि भाषा की त्रुटियों को दूर कर देना भी तो सम्पादकों का एक कर्त्तव्य है। पर महोदय, जिन सज्जनों के 'हाथी आई' संस्कार तक अभी दूर नहीं हुए हैं (और न इस जन्म में दूर होने की आशा ही है) वे किस बिर्ते पर किसी की भाषा को दुरुस्त करने का साहस करते हैं, यह समझ में नहीं आता। हँसी नहीं, हिन्दी-साहित्य-जीवियों में प्रतिष्ठा और लक्ष्मी जैसी टके सेर मारी मारी फिरती हैं वैसी दुनिया के पर्दे पर और कहीं न मिलेगी—लूट ले जिसका जी चाहे। लल्लूजीलाल, राजा लक्ष्मण-सिंह, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र आदि प्राचीन लेखकों की स्वाभाविकता-पूर्ण भाषा में कतर-ब्योंत की कारस्तानी दिखलाना हिन्दी-साहित्य के क्रमशः विकास के इतिहास का साधन नष्ट करके हिन्दी की जड़ पर कठिन कुठाराघात करना है। किसी को भी ऐसा करने का अधिकार नहीं, चाहे वह हिन्दी-कोविद-रत्न हो या हिन्दी-अजागलस्तन। पर खेद की बात है कि अब ऐसा भी ग़ज़ब देखने में आरहा है! आज लल्लूजीलाल, अथवा राजा साहब, अथवा मिश्रजी अथवा और दूसरे प्राचीन लेखकों की आत्मायें उन सम्पादकों अथवा संशोधक-महोदयों से रो रो कर कह रही होंगी कि दया करो, जो भाषा हमने लिखी है उसे वैसी ही रहने दो, हमारी स्वाभाविक भाषा वही है, उसे अपनी निरङ्कुशता का शिकार न बनाओ। पर सम्पादक महोदय क्यों सुनने लगे—हम चौड़े, बाज़ार सकड़ा!

इधर तत्समानन्दियों ने भी बड़ा बखेड़ा मचा रक्खा है। ये लोग भाषा की ख़ास ख़ूबियों के ज़रा भी क़ायल नहीं। ये हिन्दी के प्रत्येक शब्द को वही पुराने कपड़े ज़बर्दस्ती पहनाना चाहते हैं। इनकी बदौलत हिन्दी एक प्रफुल्लित कुसुमोद्यान से बदल कर सङ्कुचित बीहड़ होती जारही है। ज़रा ज़रा सी बात के लिए संस्कृत के व्याकरण की टाँग तोड़नेवाले व्याकरणियों ने भी इनका ख़ूब साथ दिया है। इन तत्समानन्दियों के मारे हमारे 'बनारसीदास' जी बेतरह परेशान हैं। मारे फ़िक्र के उन्हें रात भर नींद नहीं आती। 'बनारसीदास' से वे ज़बर्दस्ती 'वाराणसीदास' बना दिये जायँगे, इसकी उन्हें उतनी अधिक चिन्ता नहीं; उन्हें डर है कि हिन्दी में अपनी धाक जमाने के लिए कहीं कोई तत्समानन्दी उन्हें 'वाराणसीदास' से 'वाराणसी-दस्यु' न कर डाले! इन तत्समानन्दियों से भाषा के माधुर्य की रक्षा भगवान् ही करे तो करे।

अब हमारी अन्तिम प्रार्थना यही है कि यह लेख द्वेष-बुद्धि से नहीं लिखा गया है। अतएव इस पर संजीदगी के साथ विचार करने की आवश्यकता है। आगे आप की मरज़ी—हमें जो कहना था कह चुके।

बदरीनाथ भट्ट

—

समालोचना।

गत दिसम्बर मास की सरस्वती में "समालोचना का सत्कार" शीर्षक लेख पढ़ कर अधिकांश लेखक और प्रकाशक सचेत हो गये होंगे। उसमें सम्पादक महाशय ने स्तुति-याचक लेखकों

की अच्छी तरह ख़बर ली है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उसमें सम्पादक महाशय ने अपनी स्वाभाविक क्षमता को तिलाञ्जलि दे दी है। समालोचक भी मनुष्य है, देवता नहीं। यदि सौ पचास ख़ानगी (Private) और सार्वजनिक (Public) धमकियाँ सुनने के बाद, कुछ कड़ा उत्तर उन्होंने अपनी पत्रिका में दिया तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। यदि और समाचार-पत्रों के सम्पादक अपनी पत्र-पत्रिकाओं को आपस के वाद-प्रतिवाद से भरा रखते हैं और समाचार-पत्र के कालमों को अपने शत्रुओं से बदला लेने का ज़रिया समझते हैं तो सरस्वती-सम्पादक ने छठे-छमाहे कुछ लेखकों की ख़बर ली तो बुरा नहीं किया। मेरा तात्पर्य्य उनके लेख के प्रतिवाद करने का नहीं है। मुझको अभी तक समालोचना के लिए कोई ग्रन्थ भेजने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है और न मैं अभी लेखक-श्रेणी में ही हूँ। हाँ, हिन्दी तथा अँगरेज़ी-साहित्य से अलबत्ते मेरा थोड़ा बहुत परिचय है और यह भी मैंने जानने का प्रयत्न किया है कि दोनों भाषाओं के साहित्यों में समालोचना किस किस प्रकार की होती है, और उसने साहित्य-वृद्धि में कहाँ तक सहायता दी है। अस्तु।

हिन्दी-गद्य का प्रादुर्भाव अँगरेज़ी-भाषा के भारतवर्ष में आने के बाद हुआ है और समालोचना का वर्त्तमान ढँग भी उसी समय से हुआ है। अँगरेज़ी-समालोचना के ढँग से हमारी समालोचना का ढँग बहुत कुछ मिलता-जुलता है। परन्तु जहाँ कहीं अन्तर है वहाँ संस्कृतज्ञों के शास्त्रार्थ के ढँग की झलक मालूम पड़ती है।

अँगरेज़ी-साहित्य में समालोचना करना प्रत्येक प्रभावशाली लेखक का कर्त्तव्य समझा जाता है। इँगलिस्तान का जन-समाज, प्रायः प्रत्येक पुस्तक निकलने पर, इन समालोचकों के विचार की राह देखता रहता है और उन्हीं की सम्मति के अनुसार उस पुस्तक की प्रतिष्ठा या प्रतिकूलता होती है। समालोचना करना रोज़गार नहीं समझा जाता। जिसने जिस विषय में गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया है उसी को उस विषय के ग्रन्थों की समालोचना करने का अधिकार रहता है और उसी की सम्मति पर पुस्तक और उसके लेखक की प्रतिष्ठा अवलम्बित रहती है। पर हिन्दी-साहित्य में, प्रत्येक व्यक्ति को हर किसी विषय की पुस्तक की समालोचना करने का अधिकार प्राप्त है, यदि किसी समाचार-पत्र या मासिक पत्रिका के कालम उसकी सेवा के लिए अपनी जगह ख़ाली कर दें। समालोचना करने में वे अपनी बड़ी प्रतिष्ठा समझते हैं। लेखक को लेखन-विषय में अपने से कमज़ोर समझ कर भी यदि उन्होंने उसकी तारीफ़ कर दी, तो मानों याचक का घर भर दिया और यदि भाषा के कुछ दोष दिखा दिये तो "इति-कर्तव्य" से पाक हो गये। मानों समालोचक का काम केवल क्षुद्र पुस्तकों ही की समालोचना करना है। एक तो ईश्वर की कृपा या अनकृपा से अच्छी पुस्तकें हिन्दी-साहित्य में निकलती ही कम हैं; और, यदि, निकलीं भी तो उनकी समालोचना करनेवाले नहीं निकलते। तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, लल्लूलाल, राजा शिवप्रसाद आदि हिन्दी के धुरन्धर लेखकों की पुस्तकों की समालोचना में कितने ग्रन्थ लिखे गये हैं? यही क्यों, प्राचीन भारतवर्ष के संस्कृत-कवियों ही पर कितने समालोचन-ग्रन्थ विद्यमान हैं? हाँ, (हमारे जैसे) टुटपुँजिये लेखकों की टिप्पणियाँ अलबत्ते प्रत्येक पत्रिका को सुशोभित करती हैं। क्योंकि सम्पादक महाशय लेखक के द्वार पर पुस्तक के लिए भीख तो माँगने जाते नहीं, यदि लेखक ने पुस्तक भेज दी तो समालोचना कर दी, नहीं तो लेखक अपने घर ख़ुश और सम्पादक महाशय अपने घर ख़ुश।

यहाँ तक तो हुई समालोचना-ग्रन्थों की बात।

अब आलोचना के ढँग का क़िस्सा सुनिए। हम अभी कह चुके हैं कि समालोचना करने का वर्तमान ढँग हमने अँगरेज़ी से सीखा है। परन्तु बुड्ढा लड़का जिस तरह नया सबक़ पढ़ाये जाने पर भी अपने पुराने सबक़ को नहीं भूलता, उसी तरह, हम भी प्राचीन पाठ नहीं भूले कि भाषा और व्याकरण के दोष किस तरह निकाले जा सकते हैं। क्योंकि इस गुण में संस्कृत के हमारे विद्वान् बहुत प्राचीन समय से दक्ष हैं। किन्तु भाषा के दोषों के साथ विचार कहाँ तक दूषित हैं, उन विचारों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, वर्त्तमान विचार-प्रणाली से वे कहाँ तक भिन्न हैं, वे किस कारण से उत्पन्न हुए, कहाँ तक पुराने विचारों से मिलते हैं, कहाँ तक नये कहे जा सकते हैं—इस का विवरण करना और वह भी इस ढँग से कि किसी को बुरा मानने की बहुत कम जगह रहे। ये लक्षण बिरले ही समालोचकों में पाये जाते हैं। सच्ची बात के कहने के भी बहुत से ढँग हो सकते हैं। परन्तु हमारे सच्चे समालोचकों में बहुत कम ऐसे हैं जिनको, लट्ठमार ढँग को छोड़ कर, कोई दूसरे ढँग याद हों।

परन्तु समालोचक का काम केवल दोष ही ढूँढ़ निकालना नहीं है।

अच्छी समालोचना—सच्ची नहीं—साहित्य के उत्तम अङ्ग की ओर जन-समाज का ध्यान आकर्षित करती है और कलङ्कित अङ्ग को, भूल जाने के बहाने, समाज की दृष्टि से हटा कर परदे की आड़ में रख देती है। मज़ाक उड़ाने से, गालीगलौज करने से, लेखक और समालोचक दोनों के भावों पर तो बुरा असर होता ही है, साहित्य भी कलङ्कित हुए बिना नहीं रहता।

समालोचक-समुदाय का यह कहना कि वह साहित्य-वृद्धि में कारणीभूत होता है थोड़ी ही दूर तक सच है। क्योंकि विचारों के गढ़नेवाले तो होते हैं सामाजिक और उन्हीं के आश्रय पर, प्रतिभाशाली लेखक, उन्हीं विचारों को इस ढँग से प्रकट करते हैं कि वे सर्वथा नये मालूम पड़ते हैं। वे किसी तरह की प्रत्यक्ष सहायता नहीं पहुँचा सकते। क्या वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), टेनीसन (Tennyson), या शेक्सपियर (Shakespeare) ने किसी व्याकरण की परीक्षा उत्तीर्ण करके कविता लिखना प्रारम्भ किया था? ऐसे लेखक गढ़े नहीं जा सकते। ये रत्न तो कभी कभी संसार को चकित करने के लिए उत्पन्न हो जाते हैं। समालोचना के स्तुति-स्तोत्र तथा ईर्षा-बाणों की पहुँच के वे ऊपर हैं। हाँ, समालोचक तीसरे दरजे के लेखकों को उनके गुण-दोष बता कर उनका बहुत कुछ सुधार कर सकता है। क्या ही अच्छा हो, यदि इस कार्य्य को परिपूर्ण करने में यह समुदाय समर्थ हो।

साहित्य-विषयक इस व्यवहार में समालोचक और लेखक, दोनों को, बहुत कम लाभ पहुँचता है। लेखक महाशय तो इस लिए पुस्तक भेजते हैं कि उनकी पुस्तकें बिकें और उनका नाम हो। पर, बहुतेरे समालोचक की पदवी से विभूषित महाशय इतना ही लिख देते हैं—"पुस्तक मिलने का पता–, दाम—, लेखक और प्रकाशक महाशय का नाम—, पृष्ठ-संख्या—, जिल्द, काग़ज़ और छपाई अच्छी है। पुस्तक सर्व-साधारण के पढ़ने के योग्य है। बड़े परिश्रम से लिखी गई है"। मेरी समझ में, यदि पुस्तक रद्दी है तो उसकी समालोचना करना ही ठीक नहीं है। यदि वह इस अभिप्राय से भेजी जाय तो उसे लौटा देना चाहिए और मित्र-भाव से प्रेषक को समझा देना चाहिए कि उसमें भाषा और विचार-सम्बन्धी क्या क्या दोष हैं। अच्छा हो, यदि उसका दूसरा संस्करण छपे तो वे अशुद्धियाँ या विचार की भूलें दुरुस्त कर दी जायँ। यदि किसी प्रतिभाशालिनी लेखनी से वह पुस्तक निकली हो तो उसकी विचार-पूर्ण समालोचना करनी चाहिए। इस दशा में लेखक को दोष दूर करने के लिए

अनुमति देने या उसकी झूँठमूठ प्रशंसा कर देने से काम न बनेगा। यदि पुस्तक का विषय ऐसा हो कि पत्रिका का सम्पादक अपने को उसकी समालोचना के अयोग्य समझे तो उसका भार पत्रिका के लेखकों में से जिसको वह ठीक समझे, दे दे।

रह गई यह बात कि समालोचना किस ढँग की होनी चाहिए। सो इसके विषय में इतना कह देना आवश्यक है कि अँगरेज़ी-साहित्य में कड़ी समालोचना से हानि नहीं, किन्तु लाभ है; क्योंकि वह साहित्य प्रौढ़ावस्था को पहुँच गया है। उसमें सैकड़ों पुस्तकें निकला करती हैं। इस लिए दूध को पानी से अलग करने की आवश्यकता पड़ती है। पर हिन्दी-साहित्य में तो उपन्यास और धार्मिक विवाद को छोड़ कर और किसी विषय की पुस्तकें बहुत ही कम निकलती हैं। ऐसी दशा में कड़ी समालोचना, यदि पुस्तक उस योग्य भी हो, हिन्दी-साहित्य को हानि ही पहुँचाती है। लेखक अपने दोष स्वीकार कर लें और उनको दूर करने का प्रयत्न करें तब तो समालोचक का परिश्रम सफल हुआ; नहीं तो, उलटी हानि; गालियाँ सुनिए, उनका उत्तर दीजिए और साहित्य को गन्दा कीजिए। इस लिए जहाँ तक हो, दोषों को छिपा देना या उनको इस तरह से प्रकट करना, जिससे छुईमुई लेखकों का भी मुख फीका न पड़े। हिन्दी-साहित्य की इस दशा में यह परमावश्यक है।

शिष्य बने बिना गुरुत्व की पदवी नहीं प्राप्त हो सकती। अच्छे समालोचक बनने के लिए कुछ समय तक अच्छे लेखकों की सेवा करना परम आवश्यक है। दोष निकालना सेवा करना नहीं है। उनके गूढ़ विचारों को समझने का प्रयत्न करना और सर्व-साधारण का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करना—इससे जो कुछ सहायता साहित्य को पहुँच सकती है वह छुट-भइये लेखकों की अशुद्धियों को आजन्म ठीक करने से नहीं हो सकती। मानवशास्त्र का एक सिद्धान्त है कि मनुष्य का चित्त बुरे विचारों का तिरस्कार करने से उतनी जल्दी अच्छे विचारों की ओर नहीं आकर्षित होता जितना कि उन्हीं विचारों को प्रिय और आकर्षक बनाने के प्रयत्न करने से होता है। यदि गन्दे उपन्यासों से सर्व-साधारण का चित्त हटाना है, तो उनको अच्छे उपन्यास दिखाइए। यदि बुरी कविता से कवियों को वर्जित करना है, तो तुलसीदास और कालिदास की प्रशंसा के लच्छे बाँध दीजिए। अवश्य मनुष्य उनको पढ़ने और समझने का प्रयत्न करेंगे और गन्दे कवियों के मुख, सुननेवालों की कमी होने के कारण, आप ही आप बन्द हो जायँगे।

अन्त में मैं एक सूचना करने का साहस करता हूँ। यदि समालोचकों का काम अच्छे साहित्य की सेवा करना है तो उनमें से कुछ तुलसीदास, बिहारीलाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि हिन्दी के धुरन्धर लेखकों की सेवा करने का प्रयत्न करें। अँगरेज़ी में एक एक कवि के विषय में जितना आलोचना-साहित्य है उसकी बराबरी करना तो दूर है; कम से कम इतना तो हो सकता है कि मेन आव् लेटर्स (Men of Letters) माला की भाँति हम भी एक हिन्दी-साहित्य-मणि-माला गूँथना आरम्भ करें। उसमें हमारे साहित्य-रत्नों की अच्छी परख की जाय। कार्य्य कठिन अवश्य है और तैयारी भी बहुत कुछ दरकार है। मिश्रबन्धुओं ने इस विषय में जो कुछ किया है वह प्रशंसनीय है। उनके "विनोद" और "नवरत्न" से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। जिस लेखक के ग्रन्थों का अध्ययन करने में यह जानना परमावश्यक है कि उसके जीवन-चरित्र पर समय का क्या प्रभाव पड़ा और उसके जीवन ने उन विचारों को कहाँ तक परिवर्तित किया, यह उसके बनाये हुए ग्रन्थों को अवलोकन करने से और उस काल के और कवियों के विचारों से उसकी तुलना करने से ज्ञात हो सकता है।

विषय बहुत गम्भीर है। मेरी क्षुद्र बुद्धि में जो कुछ आया लिख दिया है। यदि हिन्दी के धुरन्धर विद्वानों में से कोई महाशय इस विषय पर ध्यान दें तो साहित्य का बहुत कुछ भला हो सकता है।

कालिदास कपूर

निवेदन

इस लेख में अनेक बातें ऐसी हैं जिनका उत्तर दरकार था। पर लेखक महाशय ही की नीति के अनुसार हम उन्हें अपने उत्तर से क्षुब्ध अतएव उत्साहहीन नहीं करना चाहते। यही सोच कर हम उनकी इस सूचना पर भी कुछ नहीं कहते कि समालोचक को रद्दी पुस्तकें लौटा देना और लेखक को मित्रभाव से उसके दोष बता देना चाहिए।

सरस्वती-सम्पादक।

सत्य-हरिश्चन्द्र-नाटक।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ने इसे प्रकाशित किया है। इसका मूल्य है =)॥ किसी ने सच कहा है कि लेखक की प्रतिभा का पता तभी चलता है जब उसकी पुस्तक के कापी-राइट का समय बीत जाता है। यदि अवधि समाप्त होते ही प्रकाशक-श्रेणी दङ्गल में फाँद पड़े, तब तो समझिए कि लेखक चिरकाल के लिए जीवित रहा। परन्तु, यदि, पहली आवृत्ति के बाद दूसरी का समय ही न आवे तो समझिए कि लेखक समाज की योग्यता के बहुत कुछ ऊपर है; समाज उसके गूढ़ विचारों को समझने के लिए तैयार नहीं; या यह कि उसके विचार इतने पुराने हैं और इस ढँग से प्रकट किये गये हैं कि समाज उनसे परिचय प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। अवधि समाप्त हो जाने पर अभी तक नागरी-प्रचारिणी सभा ही ने दङ्गल में पग रक्खा है, सो भी डरते डरते। क्योंकि मन्त्री महाशय लिखते हैं कि यदि इस पुस्तक की बिक्री अधिक हुई और भारतेन्दु जी के अन्य ग्रन्थों की स्वल्प मूल्य पर प्राप्त करने की सर्वसाधारण की रुचि का स्पष्ट प्रमाण मिला तो सभा भारतेन्दुजी के अन्य ग्रन्थ भी यथाक्रम प्रकाशित करेगी। आशा है, अब तक इस रुचि का स्पष्ट प्रमाण मन्त्री महाशय को मिल चुका होगा, अस्तु—

सत्यहरिश्चन्द्र भारतेन्दुजी की कवित्व-शक्ति का परम प्रिय पुञ्ज है, क्योंकि उसके नायक प्रातःस्मरणीय रामचन्द्र के पूर्वज हरिश्चन्द्र और आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्म-दाता हरिश्चन्द्र के नामों और गुणों में बहुत कुछ समता है। कवि महाशय भी नायक में जगह जगह पर अपने सत्याभिमान, काशी-प्रेम और करुणामय हृदय की झलक दिखाये बिना नहीं रहते। पहले ही से वे अपने मित्र पण्डित शीतलाप्रसादजी के वाक्य को सूत्रधार के मुँह से अनुवाद करा देते हैं—

> जो गुन नृप हरिचन्द्र में, जगहित सुनियत कान।
> सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान ॥

उपक्रम में तो भारतेन्दुजी यही लिखते हैं कि पण्डित बालेश्वरप्रसाद जी की आज्ञा के अनुसार उन्होंने यह नाटक लड़कों ही के लिए लिखा है; परन्तु भाषा और भाव इसके ऐसे गूढ़ हैं कि छोटे छोटे लड़के इससे बहुत कम लाभ उठा सकते हैं। हम लोगों को उनके इस विचार से इतना लाभ अवश्य हुआ कि इसमें शृङ्गार-रस की पुट नहीं दी गई। हरिश्चन्द्र–विषयक नाटकों में सब से अधिक मान इसी का है। इसका एक यह भी कारण है।

अब यह देखना चाहिए कि किन बातों में सत्य-हरिश्चन्द्र का पद इस नाम के और नाटकों से ऊँचा है। भारतेन्दुजी को शायद अँगरेज़ी में शेक्सपियर के नाटकों और संस्कृत में कालिदास, भारवि इत्यादि के नाटकों को छोड़ कर और बहुत कम नाटक देखने का अवसर मिला होगा। याद रहे, उस समय

तक बङ्गाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने जन्म भी नहीं लिया था। परन्तु यह प्रतीत होता है कि मानसिक भावों की तरफ़ उनकी यहाँ तक पहुँच अवश्य थी कि करुणारस और बीभत्स-रस के साथ शृङ्गार और हास्यरस का मिलान नहीं हो सकता। करुणा-रस फुल-झड़ी की तरह उड़ जाय, यदि हास्य का तनिक भी अंश उसमें हो; और शृङ्गार से घृणा होने लगे, यदि बीभत्सरस के साथ उसका योग हो। हरिश्चन्द्र की कथा करुणा-रस-पूर्ण है और नाटक भी अवश्यमेव वैसा ही होना चाहिए। इसी लिए भारतेन्दुजी हरिश्चन्द्र के साथ विदूषक नहीं रखते कि कहीं सत्याभिमान का मज़ाक न उड़ जाय। साधारण नाटक-कार शेक्सपियर की नक़ल करने के लिए दुःखान्त नाटक के नायक के साथ विदूषक रख देते हैं। परन्तु 'लियर' और 'हरिश्चन्द्र' की कोई समता नहीं। लियर का विदूषक तो केवल उसकी मूर्खता पर हँस कर बुड्ढे के अभाग्य पर दर्शकों के आँसू बहाता है। यदि हरिश्चन्द्र का विदूषक एक क्रोधी ब्राह्मण के नाम तमाम जायदाद दे देने पर उनकी हँसी उड़ावे तो हरिश्चन्द्र का सब अभिमान हवा हो जाय, दर्शक खिलखिला पड़ें और नाटक का आशय ही भङ्ग हो जाय।

अधिकतर नाटक-कम्पनियाँ वेश्या का नाच दिखाने के लिए शैव्या को उसी के हाथ बिकवाती हैं। परन्तु भारतेन्दुजी ऐसा नहीं करते। शैव्या उपाध्याय के घर पण्डिताइन की सेवा करने के ही लिए बिकती है। इससे उनके सामाजिक विचारों की स्वच्छता का बहुत कुछ पता चलता है।

रोहिताश्व को तक्षक से डसे जाने का दृश्य कदाचित् उन्होंने इस लिए नहीं दिखाया कि रोहिताश्व अभी बहुत छोटा है; तुतला कर बातें करता है; अलग दृश्य में साथियों के साथ मिल कर गाना, और साँप से डसे जाने पर विलाप करना उसके लिए असम्भव है। या इस लिए उस दृश्य को नहीं दिखाया कि कहीं करुणा-रस की मात्रा बहुत अधिक न हो जाय।

यों तो सत्यहरिश्चन्द्र आद्योपान्त रुचिकर है, परन्तु तीसरे और चौथे अङ्क में विस्तार के कारण वह इतना रोचक नहीं। आरम्भ में नारद सत्पात्र के हाथ हरिश्चन्द्र का दान देना ठीक समझते हैं, परन्तु एक क्रोधी और द्वेषी ब्राह्मण की सेवा में हरिश्चन्द्र का सर्वस्व अर्पण कर देना वर्तमान विचारों से विभूषित हृदय को अवश्य खटकता है। यदि लेखक का यह आशय कि "निर्गुण सत्य सर्वोपरि है" सिद्ध हो जाय तो मानसिक भावों को तोड़ने मरोड़ने में भी कोई हर्ज नहीं। तीसरे अङ्क में कवि महाशय ने काशी और भागीरथी की महिमा अपने नाम-राशि के मुख से कहलाई है। वह उनके काशी-प्रेम का उबाल है, न कि नाटक का कोई अंश। चौथे अङ्क में श्मशान-विषय का लम्बा वर्णन नायक से ही एकान्त में कराना भी कुछ समझ में नहीं आता। यदि किसी दृश्य का वर्णन करना हो तो कोई सुननेवाला चाहिए। एकान्त के विचार तो बाहरी दृश्य से अनभिज्ञ रहते हैं। मन उस समय केवल उस समय के लड़नेवाले विचारों के मध्य में फैसला करने में लगा रहता है। हैम्लेट के एकान्त समय के वाक्य देखिए। वे हरिश्चन्द्र के एकान्त वर्णन से कितने भिन्न हैं। इस तुलना से मेरा अभिप्राय भारतेन्दुजी की प्रतिष्ठा कम करने का नहीं है। आशय यह है कि नाटक-रचना की कठिनता का पता लग जाय। यही उनके लिए क्या कम है कि संसार के हैम्लट समान प्रसिद्ध नाटक से सत्यहरिश्चन्द्र की तुलना की जाय; और यही उस समय के देखते हुए उनकी प्रतिभा-शालिनी लेखनी के लिए क्या कम है कि उन्होंने

कहीं कहीं यह मानसिक युद्ध दिखाने का प्रयत्न तो किया! बिकने के पहले जो आवाज़ें नेपथ्य से आती हैं वे हृदयाकाश ही के प्रश्न हैं; और करुणा-रस के प्रवाह के मध्य में जिस समय हरिश्चन्द्र आत्म-हत्या करने से रुक जाते हैं उस समय मानसिक भावों के विवाद की कुछ झलक मिलती है। ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलते। उनका कम होना ही उनके प्रकट करने की कठिनता को सूचित करता है। यह भी कहा जा सकता है कि घोर दुःख की दशा में विलाप करना कठिन होता है, परन्तु भारत के तप्त जल-वायु से द्रवित हृदय अपने दुःख को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। योरोपीय और भारतीय कविता में यही अन्तर है कि शीत-प्रधान देश होने के कारण पहली में कर्म द्वारा भाव प्रकट होते हैं, परन्तु दूसरी अर्थात् भारतीय कविता में जिह्वा में उनको दवाने का बल कम रहता है। जो कुछ हो, भारतीय कविता के ढँग के विचार से विलाप की मात्रा का अधिक होना कोई दोष नहीं। हाँ, हरिश्चन्द्र जैसे धैर्यवान् पुरुष का पुत्र-शोक होने पर भी रोना कुछ खटकता अवश्य है। परन्तु याद रखना चाहिए कि सत्य-हरिश्चन्द्र के जन्मदाता के कोमल हृदय में इतनी जगह नहीं थी कि वे पुत्र-शोक के सदृश अपार दुःख को चुपचाप सह लेते।

क्या उन्होंने काँपती हुई क़लम से न लिखा होगा—"कहैंगे सबै ही नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी"। प्यारे हरिश्चन्द्र तुम्हारी कहानी ही नहीं रह गई। यह क्या तुम्हारे लिए कम गौरव की बात है कि तुम्हारा लगाया हुआ हिन्दी-साहित्य-वृक्ष अब फलने फूलने भी लगा है।

कालिदास कपूर

राजकुमारी रूपवती का पत्र।

(महाराना राजसिंह के नाम)

(१)

सिद्धश्री कुल-कीर्त्तिकारक कृती चित्तौर चूड़ामणि,
राजन्यव्रत धन्य धारक सुधी श्रीराजसिंहाग्रणी!
कैसे पत्र लिखूँ तुम्हें कुलवती में क्षत्रिया बालिका,
होती है रुधिर-प्रदान करके जो शील-सञ्चालिका?

(२)

साक्षी हैं सुर, किन्तु, जो पर नहीं मैं जानती हूँ तुम्हें,
हा लज्जा, कब से अभिन्न अपना मैं मानती हूँ तुम्हें!
तो, लो, भेंट स्वरूप गुप्त अपने हृद्भाव लाके स्वयं,
होती रूपवती पद-प्रणत है प्रत्यक्ष आके स्वयं।

(३)

आई हूँ किस हेतु मैं, अब सुनो भिक्षा मुझे चाहिए,
भिक्षा? हा हतशील, और अब क्या शिक्षा तुझे चाहिए?
मेरा स्वत्व रहा न मृत्यु पर भी रक्षार्थ जो मैं मरूँ;
लज्जा भी रहती नहीं यदि यहाँ मैं आज लज्जा करूँ!

(४)

भिक्षा जीवन की? न, जीवन तुम्हें मैं दे चुकी आप ही,
होता जो अपने अधीन वह तो पाती न सन्ताप ही।
देती आज सहर्ष और रखती लज्जा अनायास ही,
भिक्षा की यह भावना फटकने पाती नहीं पास ही॥

(५)

जो हो, सम्प्रति मैं यहाँ पर बड़ी आपत्ति में हूँ पड़ी,
लज्जा छोड़ समक्ष आज इससे मैं हो गई हूँ खड़ी।
मेरा विश्रुत नाम ही बन गया मेरे लिए वाम है,
नीचे हो तुम और ऊपर वही धर्माग्रही राम है॥

(६)

आतारक्त सिताम्बु, खड्ग-रसना, साम्राज्य-तृष्णा हरे!
ऐसे भीषण भूरि भाव जिसमें हैं पूर्व ही से भरे।
है जो आलमगीर किन्तु जिसकी औरङ्ग़ज़ेबी मची,
पृथ्वी में शनि-दृष्टि से न उसकी दूरस्थ में भी बची!

(७)

डोले का 'फ़रमान' पाकर पिता उन्मत्त से हो रहे,
ज्वाला से अपमान की जल रहे, वे धैर्य हैं खो रहे।

शाही फ़ौज कि जो सगर्व मुझको लेने यहाँ आ रही,
देंगे वे असिनीर-अर्घ्य उसको, हैं ठान बैठे यही ॥

(८)

क्या होगा इससे परन्तु यह भी वे जानते हैं स्वयं ;
तो क्यों केवल नाश का हठ वृथा वे ठानते हैं स्वयं ?
जाते स्कन्ध न क्यों मिला कर वहाँ आँवेर के स्कन्ध से ?
शाही मंसबदार क्यों न बनते वे शाह-सम्बन्ध से ?

(९)

ऐसा उत्तर अन्ततः सहज ही देंगे न सीसोदिया ,
देंगे तो फट जायगा प्रथम ही आरावली का हिया !
शूरों के असि-सार से रचित भी चित्तोर ढा जायगा ;
सारी क्षत्रिय-सृष्टि का, अधिक क्या, कल्पान्त आ जायगा !

(१०)

छोटे पार्थिव हैं पिता, इसलिए क्या धर्म को छोड़ दें ?
मर्यादा निज कीर्त्तिमान कुल की वे आप ही तोड़ दें ?
छोटा वैभव वित्त हो, पर कहीं छोटा नहीं धर्म तो ।
होता है अपने अधीन सब का कर्त्तव्य या कर्म तो ॥

(११)

सो जावें सब एक साथ सहसा आँवेर सो जाय जो ?
नक्षत्रोदय भी न हो गगन में सूर्यास्त होजाय जो ?
पीछे जो कुछ हो परन्तु उनकी तो धारणा है यही—
जीते-जी अपमानता न हम से यों जा सकेगी सही ॥

(१२)

मेरा क्या मत है ? नरेन्द्र, अब भी जो जानना है इसे,
मातः पद्मिनि, उत्तरार्थ इसके तो मैं पुकारूँ किसे ?
मेरा क्या मत है, तुम्हीं त्रिदिव से आ के बता दो इन्हें ,
जो शिक्षा तुम दे गईं जगत से जा के जता दो इन्हें ॥

(१३)

मेरा क्या मत है मनीषि ! मुझसे क्या पूछते हो भला ?
पूछो आत्म-सुकीर्त्ति से कि जिसकी है व्योम में भी कला !
क्षत्राणी भय से कि लोभ-वश हो जो धर्म को छोड़तीं ।
तो सम्बन्ध अवश्य ही जनकजा लङ्केश से जोड़तीं ॥

(१४)

जो मेरा भुज-पाश शक्ति रखता कीनाश के पाश की
तो देती गलबाँह मैं यवन को होती क्रिया नाश की ।
पा लेता फल लुब्ध पामर अभी स्पर्द्धा अहङ्कार का ,
कोई साहस भी कभी न करता ऐसे अनाचार का ॥

(१५)

हूँ मैं किन्तु मनस्वि ! हाय अबला बाला अशक्ता वशा;
आई हूँ अतएव मैं शरण में है शोचनीया दशा ।
जानों जो अब योग्य सो तुम करो मैं भी कहो, क्या करूँ ?
जीना या मरना अधीन समझो, जीती रहूँ या मरूँ ?

(१६)

मुक्ता से गुण कर्णशुक्तिपुट में जो थे तुम्हारे उगे;
मेरे मानस-हंस ने प्रथम ही वे प्रेम से हैं चुगे ।
यों तो लोभ असीम है पर यही था भाग्य मेरा बड़ा,
आई आज विपत्ति है इसलिए प्रत्यक्ष होना पड़ा ॥

(१७)

सच्ची वीर कहानियां सुन मुझे होता बड़ा हर्ष था ;
हो जो सङ्कट में परिस्फुट वही भाता जनोत्कर्ष था ।
श्रद्धा से वर वंश-वृत्त सब हैं मैंने तुम्हारे सुने
कोई भी अपने हितार्थ उनसे चारित्र्य-चर्चा चुने ॥

(१८)

गाथायें सुन, सीख, जाकर अहा ! मैं मग्न होती कभी,
साके, जौहर सोच गद्गद हुई आंखें भिगोती कभी ।
आता था मन में—क्षमा तुम करो ऐसी बड़ी धृष्टता—
लावे खींच कहीं वही दिन यहाँ मेरी शुभाकृष्टता !

(१९)

जैसे पूर्वज थे, सुना जब तुम्हें वैसा व्रती साहसी ;
आई बाहर एक साथ उर से आवेग की आह-सी !
ऊँचा था अभिलाष हाय ! मन की मैं तुच्छ थी, और हूँ ;
कुल्या होकर सिन्धु ओर लपकूँ भूली कहाँ ठौर हूँ !

(२०)

आशा खोकर अन्त में बस यही सोची बड़ी साधना ;
काटूँ आयु किसी प्रकार करके मैं ईश्वराराधना ।
होती थी वह भी न किन्तु मुझसे निष्काम के भाव से
इच्छा थी, पर-जन्म में प्रिय तुम्हें पाऊँ इसी चाव से ।

(२१)

लाती थी प्रभु-मूर्त्ति को जब अहो ! प्रत्यक्ष में ध्यान में
पाती थी तब सामने बस तुम्हें अज्ञान या ज्ञान से ।
तो भी मैं तुमको किसी विध वहाँ पीछे छिपाती रही,
चेष्टा किन्तु न आज मैं कर सकी जो भाग्य है हो वही ॥

(२२)

मेरे सम्मुख आज भी बस तुम्हीं प्रत्यक्ष से हो खड़े,
छाती काँप रही परन्तु भय से हैं विघ्न पीछे पड़े।
पापात्मा शिशुपाल सा यवन है मैं रुक्मिणी सी फँसी,
मेरे कृष्ण, तुम्हीं सवेग सुध लो होने न पावे हँसी॥

मैथिलीशरण गुप्त

—:o:—

भारतीय पुरातन राजनीति

[१]

गुप्तचर-विभाग।

भाषाओं में संस्कृत भाषा का आसन बहुत ऊँचा है। जिस समय विविध-विद्या-विशारद दिग्विजयी विद्वान् नाना नव-रचनाओं द्वारा उसकी अर्चा किया करते थे वह समय उसके लिए कल्पवृक्ष के सदृश था। यह उन्हीं ग्रन्थकारों की अपूर्व उपासना का मधुर फल है जो संस्कृत-भाषा में लिखे गये कितने ही ग्रन्थ आज भी अपना सानी नहीं रखते। इसे अत्युक्ति न समझिए। संस्कृत-साहित्य के पर्य्यालोचन से ज्ञात होता है कि किसी समय उस में प्रत्येक विषय के कितने ही ग्रन्थ विद्यमान थे। परन्तु कराल काल की अतर्क्य गति के कारण अब उनमें से अधिकांश या तो अप्राप्य हो गये हैं या सर्व-संहारकर्त्ता काल के गाल के ग्रास बन गये हैं। पाठकों को अप्रैल, १९१६, की "सरस्वती" में प्रकाशित "संस्कृत-साहित्य का महत्त्व" शीर्षक लेख न भूला होगा। उस से हमारे कथन की ख़ूब पुष्टि होती है। अस्तु। बचा खुचा जो कुछ ग्रन्थ-समूह अब भी मौजूद या उपलब्ध है वह भी हमारी प्राचीन सभ्यता और उन्नति का उद्घोषक और भारतीय सौभाग्य-सूर्य्य के मध्याह्नवर्ती होने का स्मारक-स्तम्भ है। संस्कृत-साहित्य वर्तमान काल में—इस विज्ञान-प्रधान युग में—भी हमें नवजीवन प्रदान करने की शक्ति रखता है। अतएव, आइए, हम भी उसे स्नेहभरी दृष्टि से देखें, जिस से हमारा हृदय स्नेह-स्निग्ध हो जाय—हमारे हृत्सागर में नेह की नई नई लहरें हिलोरें लेने लगें।

आज हम आप को यह सुनाना चाहते हैं कि प्राचीन समय में भारतीय नीतिकारों के राजनीति-विषयक सिद्धान्त कैसे थे। अनेक लौकिक विद्याओं से राजनीति बढ़कर है। क्योंकि अन्य कितनी ही विद्याओं का यथेष्ट विकास राजनीति पर ही अवलम्बित है। अतएव प्रत्येक राजा को, राज्य-शासन का पात्र होने के लिए, नय-निपुण होने की परम आवश्यकता है। राजनीति के एक भाग का नाम है—गुप्तचर-विभाग। इस विभाग का ज्ञान तो राजा के लिए अत्यन्त ही आवश्यक क्या अनिवार्य है। क्योंकि राजा के लिए अपने राज्यान्तर्गत प्रत्येक स्थल और प्रत्येक व्यक्ति आदि की स्थिति के ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। और गुप्तचर ही इस ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं। अतएव हम इस लेख में उन्हीं सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करेंगे जिनका सम्बन्ध गुप्तचर-विभाग से है।

प्राचीन नीतिकारों ने चार को चक्षु की उपमा दी है। वह यथार्थ भी है। नेत्र के दो प्रधान कार्य होते हैं—(१) दृष्टिगत वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसे तद्वत् व्यक्त करना और—(२) सावधानता-पूर्वक भय और आपत्ति की सूचना देना अर्थात् वही काम करना जो रेलगाड़ी के "Alarm Signal" को करने पड़ते हैं। इन कामों को करते समय चक्षु इस बात का विचार नहीं करते कि द्रष्टा अर्थात् देखनेवाले को ये प्रिय हैं या नहीं। इसी तरह गुप्त-चर अर्थात् जासूस भी देखी गई बात ज्यों की त्यों अपने प्रभु को कह सुनाता है। उसे इस बात का डर नहीं रहता कि यह बात मेरे मालिक को बुरी लगेगी या भली। यह तो हुआ जासूस का पहला कार्य्य। अब दूसरा सुनिए—नेत्रहीन मनुष्य पग पग पर ठोकरें खाता है। अन्त में वह कहीं न कहीं गिर भी पड़ता है। उसे आप पूरा पराधीन समझिए। वह सदा दूसरे के इङ्गितों के अनुसार नाचा करता है—उसे नाचना ही पड़ता है। इसी तरह बिना गुप्तचर का नरेश, चर्म्म-चक्षुओं के विद्यमान और अविकृत रहते भी, अन्धा ही है। चमड़े की आँखें सब कहीं, सब वस्तुओं को, एक ही साथ, नहीं देख सकतीं। दूरवर्ती वस्तुओं के अवलोकन के लिए तो वे उपयोगी ही नहीं। वहाँ तो भेदिया ही काम देता है। अतएव भेदिया-विहीन नरेश राजनीति के राज-मार्ग में पद-पद पर चूकता है, ठोकरें खाता है और अन्त में आत्मपतन कर डालता है। आत्मसमर्पण करते ही उसे औरों के इशारों पर नाचना पड़ता है।

इस के अतिरिक्त, सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र ही ऐसी इन्द्रिय है जो, दूर ही से, प्राणी को लाभ अथवा हानि-कारक पदार्थ दिखा देती है। अब यह बात दर्शक की इच्छा के अधीन है कि वह लाभकारक पदार्थ से लाभ उठावे या न उठावे और हानिकर वस्तु से अपना बचाव करे या न करे। नेत्र का काम तो सूचना भर कर देने का है। ठीक यही काम जासूस का भी है। अन्य समस्त राज-कर्म्म-चारियों में अकेला गुप्तचर ही ऐसा चाकर है जो राजा को भली और बुरी बातों की खरी सूचना पहले से कर देता है। इस सूचना से लाभ उठाना न उठाना राजा की विद्या-बुद्धि और शक्ति पर अवलम्बित है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र की भीतरी और बाहरी समस्त दशाओं का और भिन्न भिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शासक को गुप्तचरों की अनिवार्य्य आवश्यकता है। उनके बिना न तो वह लोकानुरञ्जक शासन ही कर सकता है और न राज्य-कण्टकों को उन्मूलित ही कर सकता है। पक्षान्तर में, चार-संयुक्त राजा हर समय चौकन्ना रहता है—चारों के द्वारा अपने घातक शत्रुओं का पता पा कर वह उनके प्रतिरोध की चेष्टा करता है।

गुप्तचर में प्रधान गुण तीन होने चाहिए—(१) चाञ्चल्य-हीनता, (२) अमृषावादिता और (३) तर्क-वितर्क-शीलता।

चार को चञ्चल न होना चाहिए। उसके लिए गम्भीर होने की बड़ी आवश्यकता है। छिछोरपन से दूसरों पर उसकी महत्त्वमुद्रा नहीं जमने पाती। चपलता के कारण वह दूसरों के दिल की गहरी बातों की थाह नहीं लगा सकता। इसके विरुद्ध, सम्भव है, चञ्चलता के कारण वह अपनी गुप्त बातों का भी पता औरों को दे दे। चालाक आदमी चपल मनुष्य को किसी तरह अपने वश में करके उससे अपना मतलब गाँठ लिया करते हैं। व्यसनों की जड़ भी चञ्चलता ही है। चाञ्चल्य ही के कारण मनुष्य व्यसनी बनता है। अतएव गुप्तचर में लोलता का लेश मात्र न होना चाहिए।

अब दूसरे गुण, अमृषावादिता, को लीजिए। उसके बिना गुप्तचर अपने स्वामी का कार्य्य-साधक नहीं हो सकता। यही नहीं, उलटा वह घातक हो जाता है। चार के झूठ बोलने से अनेक अनर्थ हो जाते हैं। सच तो यह है कि असत्यवादी चार, चार नहीं रहता। उसे तो अपने प्रभु के समक्ष बात बिलकुल सत्य, ज्यों की त्यों, कहनी चाहिए; फिर चाहे वह स्वामी को प्रिय लगे चाहे अप्रिय। यथार्थ बात कहना ही उसका कर्तव्य है। उसकी नियुक्ति का प्रधान उद्देश्य यही है। राजा, चाटुकारी—ठकुर-सुहाती—कहने के लिए चार को नौकर नहीं रखता। इस बात पर चार को बहुत ध्यान रखना चाहिए।

तीसरा गुण तर्क-वितर्क-शीलता है। एक बात से दूसरी बात का रहस्य ज्ञात कर लेना इसी गुण का कार्य्य है। इस गुण के कारण चार अनेक गुप्त बातों की गुत्थियाँ आप ही सुलझा लेता है। इससे काम सरलता और शीघ्रता से हो जाता है। राजनीतिकारों ने पर-मर्म-वेदिता को ही बुद्धि का फल बताया है। इससे तर्क-वितर्क-शीलता का महत्त्व बढ़ जाता है। वैसे तो राजनीति के क्षेत्र में पग पग पर पर-मर्मज्ञता की आवश्यकता होती है। परन्तु चार-कर्म्म में वह दूसरे नेत्र का काम देती है। इसी गुण को संसार ने "हिये की आँख" कह कर इसका सम्मान किया है।

चरों का वेतन नियत नहीं होता। कार्य्य के महत्त्व के अनुसार पारितोषिक ही उनका वेतन है। इनाम के लालच से तथा स्वामी से सत्कार पाने की कामना से वे अपनी जान तक को जोखिम में डाल कर कठिन से कठिन काम कर लेते हैं।

असङ्केतित स्थान से जब जासूस लौट कर आवे तब एकाएक उसकी बात पर विश्वास न करना चाहिए। जब तक अन्य एक दो गुप्तचर, जो उससे अपरिचित हों, आकर वही बात न कह दें—उसी की बात का समर्थन न करें—तब तक उसके कथन के अनुसार कोई काम न कर बैठना चाहिए। गुप्तचर यथासम्भव ऐसे ही नियत करने चाहिए जो आपस में अपरिचित हों और उनका कार्य्यक्रम ऐसा निश्चित करना चाहिए जिससे वे एक दूसरे से अपरिचित रहें भी।

चार उसी वेश में मालिक के पास आवे जिसमें वह बाहर घूमता था। ऐसा करने से राजमहल के भी आदमी उसे न पहचान सकेंगे।

राजा को चाहिए कि वह गुप्तचर को चार बजे रात ही को अँधेरे ही में काम के लिए बिदा कर दे। उसके जाने के लिए यही समय उपयुक्त है।

चारों के प्रधान भेद दो हैं—(१) स्थायी और (२)

यायी। स्थायी अपने वास-स्थान ही में रहता है। गुप्तचर के नाते वह बाहर नहीं आता जाता। घर ही पर बैठे बैठे अपने से मिलनेजुलनेवालों की चेष्टाओं को वह भाँपता रहता है और यथासमय उन्हें अपने स्वामी पर प्रकट कर देता है। ऐसे पुरुष पर जनता सन्देह नहीं कर पाती। यायी चार कार्य्यवश अपने कार्य्यक्षेत्र में मनमाना प्रवेश और कृत्य कर सकता है। इन दोनों प्रकारों के चारों के कुल ३९ वर्ग हैं। उनका भी ब्योरा सुन लीजिए—

(१) कार्पटिक—प्राचीन काल में इस व र्ग में पर-मर्मवेदी प्रौढ़ विद्यार्थी रहते थे। विद्यालय के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की चेष्टाओं पर ध्यान रखना इसी दल का काम था। जब कोई अपराधी भाग कर विद्यार्थी के रूप में किसी पाठशाला में जा छिपता तो इसी वर्ग का चर उसे अपनी चालाकी और कार्य्य-कुशलता से पकड़वा देता था। पर यह मण्डली विद्यालय में उतना ही काम कर सकती थी जितना कि विद्यार्थी की हैसियत से कोई विद्यालय में कर सकता है। विद्यालय के अध्यापकों तथा सञ्चालकों के कितने ही कार्य्य-कलाप और चेष्टा-समूह विद्यार्थियों तथा जन-साधारण से छिपे रहते हैं। अतएव उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए कार्पटिक उपयोगी नहीं। उसके लिए एक और ही वर्ग था। उसका नाम था—

(२) उदास्थित—इस श्रेणी के लोग आचार्य की योग्यता के होते थे; अर्थात् (अ) किसी शास्त्र के प्राञ्जल विद्वान्; (आ) किसी महाविद्यालय के आचार्य; (इ) बहु-शिष्यवान्—जिनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ़ी चढ़ी हो; (ई) राज्य से वृत्ति पानेवाले और (उ) सूक्ष्म-बुद्धिवाले। यही लोग उदास्थित श्रेणी में नामाङ्कित होते थे।

(३) गृहपतिक—इस समुदाय में पटवारी भरती होते थे। उनका काम अपने अधीन ग्रामों की, अन्य पटवारियों की और अफ़सरों की चेष्टाओं को जानना था। यदि कोई नया आदमी किसी गाँव में आ बसता तो गृहपति उसके कुल और शील की जानकारी प्राप्त करता था।

(४) वैदेहिक—इसमें सेठ, साहूकार प्रवेश पाते थे। वे अपने सह-व्यवसायी सेठों और व्यापारियों की कारवाइयों पर ध्यान रखते थे। सन्देह होने पर वे भेदिया पुलिस को ख़बर देते थे। वे लोग छिपे छिपे सब बातों की तहक़ीक़ात करते थे।

(५) तापस—इस थोक के चार साधुवेश में रहते थे। उनका काम था—लोगों का चरित देखना; छिपे हुए अपराधियों को खोजना; जन-समाज के विचारों और प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना। उनके साथी उनके शिष्य बने रहते थे। कुछ लोग साधारण आदमी की तरह जनता में घूमते फिरते और साधु-बाबा की प्रशंसा करते और गुण गाते रहते थे। इस ढँग से इस वर्ग का चर लोगों पर अपनी प्रभाव-पुट डाल कर, उनके दिल में घुस जाता और उनके गुप्त मनोविकारों, विचारों, प्रवृत्तियों और मशवरों को जान लेता था।

(६) कितव—इस दरजे के गुप्तचर जुए के अड्डों के मालिक बनते थे। वे जुआरियों के दिल टटोला करते थे।

(७) किरात—इस जमात में बौने आदमी लिये जाते थे। रनिवास की निगरानी इन्हीं के सिपुर्द थी।

(८) अक्षिशालिक—इस विभाग का चर घर घर चित्र बेचता फिरता और लोगों के विचार सुना करता था।

(९) यमपट्टिक—इस वर्ग का जासूस कपड़ा बेचनेवाले के वेश में घर घर घूमता रहता और लोगों के हालचाल जाना करता था।

(१०) आहितुण्डिक—इस दल का भेदिया सँपेरे के रूप में रहता और लोगों के कामों को निरखता रहता था। वह अपने काम के आदमियों को भी जन-समुदाय में से ढूँढ़ निकालता था। चाणक्य को ऐसे ही एक आहितुण्डिक जासूस द्वारा राक्षस की मुँदरी मिली थी। कौटिल्य ने उस अङ्गुलीयक को अँगुली में पहनते समय कहा था—यह अँगूठी ही हाथ नहीं लगी, स्वयं राक्षस चङ्गुल में आ फँसा है।

(११) शौण्डिक—इस समाज में कलवार भरती होते थे। वे शराबियों के ऊपर ध्यान रखते थे। मद्यपी, शराब के नशे में चूर होकर, प्रायः गुप्त से भी गुप्त बातें बक डालते हैं। इन सब पर ग़ौर करते रहना इनका काम था।

(१२) शौभिक—ये बहुरूपिये के वेश में रहते थे। छद्म-वेश में ये घर घर जाते और घर तथा बाहरवालों की हरकतों पर नज़र रखते थे। घर में छिपे हुए आदमियों की ये टोह लेते और रात-बिरात नगर में घूम फिर कर, कहाँ क्या हो रहा है, इस पर ध्यान रखते थे।

(१३) यातचर—इनके दो विभाग थे। एक वर्ग का जासूस चोरों और डाकुओं से मिल कर उनके साथ चोरी करता और डाके डालता था। परन्तु पीछे से कोई ऐसी चाल चल जाता जिससे सब चोर और डाकू पकड़ जाते। चोरों और डाकुओं इत्यादि के दल का पता लगाना इसका काम था। दूसरे वर्ग में ऐसे चर भरती होते थे जो क़ैदियों के साथ क़ैदी होते और क़ैदख़ाने में रहते थे। क़ैदियों से हिल मिल कर वे उनके सलाह-मशवरे और षड्यन्त्र की बातें सुनते थे।

(१४) विट—ये वेश्याओं के दलाल बन कर रहते थे। वेश्या-गामियों का हालचाल जानना इनका कर्त्तव्य था। अवसर आने पर ये वेश्यावास में उनके प्रेमियों को पकड़ा देते थे।

(१५) विदूषक—इस कोटि में मसख़रे लिये जाते थे। हँसी-मज़ाक के द्वारा ये औरों के गुप्त भेदों का पता लगाते थे। आमोद और मनोरञ्जन की सामग्री इनके पास यथेष्ट होने के कारण लोगों का जमघट इनके पास ख़ूब होता था। अतएव, औरों की अपेक्षा इन्हें अपना मतलब गाँठने में बड़ा सुभीता रहता था। अभीष्ट व्यक्ति को ये भी समुदाय में से खोज निकालते थे।

(१६) पीठ-मर्द्दक—इस समुदाय में कामशास्त्र सिखानेवाले लोग भरती किये जाते थे। ये लोग भी कामियों की बातें सुना करते थे। इस वर्ग में राजों-महाराजों तथा अन्य माननीय पुरुषों के सहायक उदात्त पुरुष भी प्रविष्ट होते थे। विष्णुगुप्त की ओर से मलयकेतु के यहाँ भागुरायण इसी श्रेणी का चर बन कर गया था।*

(१७) नर्तक—इस वर्ग में वही नियुक्त होते थे जिनकी आजीविका नृत्य के द्वारा चलती थी। इस दल का चर पिशवाज़ पहन कर नृत्य करता और रङ्गशाला में अभिनय करता था। इस का काम दर्शकों और अपने सङ्गी साथियों की चेष्टाओं पर ध्यान रखना था। यदि दर्शक-मण्डली में से किसी अपराधी का पता लगाना होता तो नर्तक उसे पहचानने और ढूँढ़ निकालने का उद्योग करता था।

* विशाखदत्त-कृत "मुद्राराक्षस" में मलयकेतु और भागुरायणवाला प्रकरण देखिए।

(१८) गायक—इस समूह में वे पुरुष भरती होते थे जो वेश्याओं को नाचना, गाना, पुरुषों को किस तरह वश में करना, अपने प्रेमियों से किस प्रकार धन ऐंठना इत्यादि सिखाया करते थे। ये भी वहाँ आनेवाले लोगों की बातें तथा मशवरे सुना करते। वेश्यागार में हुई घटनाओं का असली रूप इन्हीं के द्वारा ज्ञात होता था।

(१९) वादक—इस पंक्ति में हर तरह के बाजे बजानेवाले तथा दूसरों को वाद्य-विद्या सिखानेवाले दाख़िल किये जाते थे। जन-समुदाय के कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना इनका काम था।

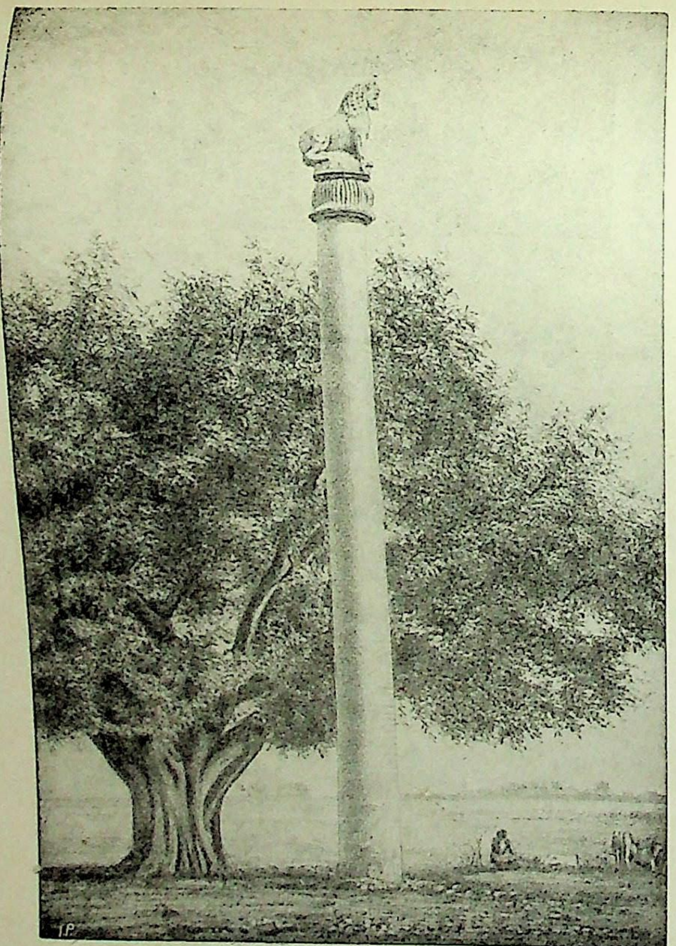
(२०) वाग्जीवी—चारण, भाट आदि इस दल में रहा करते थे। ये लोग राजों, महाराजों का यशोगान किया करते थे। अपने स्वामी के आदेश के अनुसार किसी को किसी के विरुद्ध उकसाना इनका कर्तव्य था। राक्षस ने जब मौर्य्य और कौटिल्य के मनमुटाव की बात सुनी तब उसने इसी विभाग के दो चार नियुक्त किये थे। इस दल की एक शाखा और थी। उसमें सारथि भरती किये जाते थे।

(२१) गणक—इस कोटि में ज्योतिषी रहते थे। विपक्षी इनसे मुहूर्त पूँछने जाते तो ये उन्हें उलटा मुहूर्त बता देते थे। मुहूर्त पूछने में इनको मनुष्य का कार्य भी मालूम हो जाता था। बस, फ़ौरन, वे उसकी ख़बर अपने मालिक को दे देते थे। कौटिल्य ने क्षपणक के वेश में विष्णुशर्मा नाम के अपने सतीर्थ—सहाध्यायी—को राक्षस के पास इसी वर्ग का चर बना कर भेजा था।

(२२) शाकुनिक—इस वर्ग के चर साधारण जन-समाज को शकुन बताते थे। अतएव ये अनायास ही लोगों की इच्छाओं से परिचित हो जाते थे और तुरन्त अपने स्वामी को सचेत कर देते थे। गणकों के सदृश ये भी कभी कभी विपरीत शकुन बता दिया करते थे।

(२३) भिषक्—इनमें आयुर्वेद-वेत्ता वैद्य तथा शल्य-तन्त्रज्ञ शस्त्र-वैद्य (Surgeon) रहा करते थे। इन के पास हर तरह के और हर जगह के रोगी आया करते थे। उनके रहस्य जानने के अलावा ये अपने स्वामी के निदेश के अनुसार रोगी को प्राणघातक ओषधि भी देदेते थे।

(२४) ऐन्द्रजालिक—इस वर्ग में जादूगर नियत

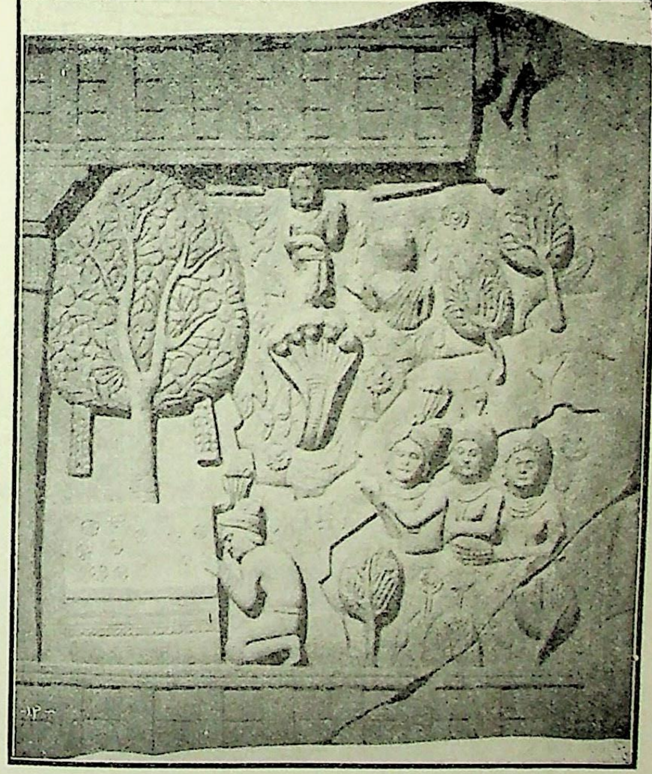


अशोक-स्तम्भ (लौड़िया नन्दनगढ़) (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (१)

अशोक-स्तम्भ का शिखर (सारनाथ) (मौर्यकाल) चित्र नम्बर (२)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

साञ्चीस्तूप का तोरण (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (३)



बोधिवृक्ष की पूजा (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (४)

किये जाते थे। ये लोग अपने हस्त-कौशल तथा दृष्टिबन्ध से जनता को आश्चर्य में डाल कर अपना मतलब सिद्ध कर लिया करते थे। जनसमूह में से अपराधी को खोज लेना, लोगों के आचार-व्यवहार पर ध्यान रखना और खेल ही खेल में अपना काम कर लेना इनके कार्य्य थे। महाकवि दण्डी ने अपने दशकुमारचरित में राजकुमार राजवाहन का विवाह अवन्तीश्वर मानसार की कन्या अवन्ति-सुन्दरी के साथ भरे दरबार में विद्येश्वर नामक ऐन्द्रजालिक के द्वारा माया से ही कराया है। विद्येश्वर राजवाहन की ओर से इस श्रेणी का गुप्तचर बन कर गया था।

(२५) नैमित्तिक—इस दल में वे पुरुष लिये जाते थे जो जनसमाज को लक्ष्य-वेध-कला सिखलाते थे। शिक्षार्थियों की प्रासङ्गिक बातें सुनना तथा उनके उद्देश का ज्ञान प्राप्त करना इनका काम था।

(२६) सूद—इस दरजे में पाक-कला-कुशल अर्थात् रसोइये भरती होते थे। ये लोग बताये गये स्थान में जाकर रसोइये बन जाते थे और खानेवालों के घर का सब हाल जान जाते थे। साङ्केतिक व्यक्ति को विष इत्यादि खिला कर मार डालना भी इस दल के चार का काम था।

(२७) आरालिक—इस शाखा में हलवाई भरती होते थे। ये लोग अपने यहाँ से मिठाई ले जानेवालों के नाम, धाम तथा आकृति इत्यादि से परिचय कर लेते थे। और यदि कोई अपराधी इनके यहाँ मिठाई लेने आता और हलवाई उसे पहचान जाता तो वह अपने अधिकारियों द्वारा उसे पकड़वा देता। ये लोग भी सङ्केतित व्यक्ति को मिठाई में विष देकर मार डालते और चोरों-डाकुओं का पता पाने की भी चेष्टा करते थे।

(२८) संवाहक—इसमें हज्जाम भरती होते थे। हजामत बनाने और पैर दाबने से इनकी आजीविका चलती थी। ये लोग बाल बनाते और पैर दाबते समय अपना इष्ट-साधन कर लेते थे। इसका एक और भेद भी था। उसमें कुली भरती होते थे। वे मज़दूरी करानेवाले के वासस्थान का पता याद रखते और उसके चेहरे को पहचान लेते थे। जब किसी से ये आपत्ति की आशङ्का समझते, तुरन्त उसकी खबर अपने उच्च अधिकारी को दे देते।

(२९) तीक्ष्ण—इस दल में ऐसे उत्कट साहसी पुरुष प्रविष्ट होते थे जो अपनी जान तक को विपदानल में झोंक कर कठिन से कठिन काम कर लाते थे।

(३०) रसद—इस वर्ग में रस देनेवाले लोग लिये जाते थे। ये अपने स्वामी के सङ्केत के अनुसार किसी को ऐसा रस पिलाते थे कि बेचारा युगान्तर के लिए सो जाता था।

(३१) क्रूर—इसमें वे लोग दाख़िल किये जाते थे जो अपने बन्धुओं की भी मुरव्वत या लिहाज़ न कर के अपने नामानुसार करतूत करते थे।

(३२) से (३५) जड़, मूक, बधिर और अन्ध—इन वर्गों के गुप्तचर छद्म से यथाक्रम मूर्ख, गूँगे, बहरे और अन्धे बन कर रहते थे। इन वेशों में ये लोगों के चालचलन और व्यवहारबर्ताव को भाँपते रहते थे।

इन चारों में कोई कोई तो ऐसे होते थे जो दोनों ओर से वेतन फटकारते थे। स्त्रियाँ भी जासूसी करती थीं।

पाठको, राजनीति कितनी मायामयी है, इसका विचार आप अकेले में बैठ कर कीजिए। हम भी अब अपनी लेखनी को अकेले में छोड़ते हैं।

गोविन्दराय परवार, काव्यतीर्थ

गायकवाड़ की प्राच्य-पुस्तक-माला।

किसी समय भारत में अनन्त ग्रन्थरत्न थे। कालप्रभाव और राज्यक्रान्ति आदि कारणों से उनका अधिकांश नष्ट हो गया। इससे भारत की जो हानि हुई है उसकी इयत्ता नहीं। अन्य हानियों की पूर्ति हो सकती है, पर इस तरह की हानि की पूर्ति सम्भव नहीं। लाखों ग्रन्थ विदेश चले गये। तिस पर भी अभी, मालूम नहीं, कितना हस्तलिखित ग्रन्थ-समुदाय प्राचीन पुस्तकालयों में कृमि-कीटों का खाद्य बन रहा है। इन ग्रन्थरत्नों का कुछ कुछ पता कुछ समय से लगने लगा है। जब बम्बई से काव्य-माला का

निकलना आरम्भ हुआ तब लोगों की आँखें सी खुल गईं। अनेक नई नई पुस्तकें देखने में आईं। जिनका उल्लेख टीकाकारों की टीकाओं में ही मिलता था वे पढ़ने को मिलने लगीं। इसके बाद मदरास, माइसोर, ट्रावनकोर आदि से भी पुस्तक-मालायें निकलीं। कुछ प्राचीन पुस्तकें गवर्नमेंट ने, कुछ एशियाटिक सोसायटी ने, कुछ अन्य देशों के विद्वानों ने भी प्रकाशित कीं। पर इतने से भी उनकी संख्या कम न हुई। दिन पर दिन बढ़ने सी लगी। नवीन नवीन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता लगने लगा। तब मालूम हुआ कि अब भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों में अपरिमेय ज्ञानराशि छिपी पड़ी है। इस राशि का उद्घाटन या जीर्णोद्धार करने के इरादे से बौद्धों, जैनों और कुछ अन्य सज्जनों ने भी प्रयत्न आरम्भ कर दिया। तांजोर, पाटन और जैसलमेर आदि के पुस्तकागारों की पुस्तकों की सूचियाँ तैयार हुईं। इन सब पुस्तकों के प्रकाशन से भारत के पूर्व वैभव का जो पता लगेगा उससे हम लोगों का नत मस्तक कुछ तो अवश्य ही उन्नत हो जायगा।

महाराजा बड़ोदा के राज्य में कई प्राचीन पुस्तकालय हैं। उन्होंने भी अब इन पुस्तकालयों की पुस्तकों के उद्धार की आज्ञा दे दी है। बड़ोदे से एक पुस्तकमाला निकलने लगी है। उसका नाम है—Gaikwad's Oriental Series। इस पुस्तक-माला की दो पुस्तकों की आलोचना सरस्वती में निकल चुकी है। अब हमें ३ पुस्तकें और मिली हैं—

(१) तर्कसंग्रह मूल्य २)
(२) राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य ,, १।।।)
(३) पार्थपराक्रम ,, ।=)

ये तीनों पुस्तकें अच्छे काग़ज़ पर, सुन्दर टाइप में, छपी हैं। टाइप बड़ा है। ऊपर काग़ज़ की पतली जिल्द है। सम्पादन सब का बड़ी योग्यता से हुआ है। आरम्भ में एक एक विस्तृत भूमिका अँग-रेज़ी में है। उसमें पुस्तक, पुस्तककर्त्ता तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। बड़ोदे की सेंट्रल लाइब्रेरी के अध्यक्ष को लिखने से ये पुस्तकें मिल सकती हैं।

तर्कसंग्रह—यह न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता का नाम आनन्दज्ञान या आनन्दगिरि था। वे संन्यासी थे। यह नाम संन्यास लेने के बाद का है। गृहस्थाश्रम का नाम था—जनार्दन। पुस्तक की भूमिका में सम्पादक, टी० एम० त्रिपाठी, बी० ए०, ने इनके विषय में अनेक बातें लिखी हैं। उनसे जान पड़ता है कि आनन्दज्ञानजी द्वारका के शारदा-मठ के आचार्य्य थे। उनके विद्यागुरु सारस्वत-व्याकरण के कर्त्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य्य और दीक्षा-गुरु शुद्धानन्द नाम के संन्यासी थे। आनन्दगिरि का समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि आनन्दगिरि महाविद्वान् थे। सम्पादक त्रिपाठीजी ने इनके रचे हुए १५ ग्रन्थों के नाम दिये हैं, जो छप चुके हैं। सात ऐसे ग्रन्थों के भी नाम आपने दिये हैं जो अब तक छपे नहीं। और भी दस बारह ग्रन्थों के नाम आपने बताये हैं जिनके विषय में अभी सन्देह है। सम्भव है वे भी सभी या उनमें से कुछ आनन्दगिरि ही के लिखे हुए हों।

प्रस्तुत पुस्तक को अन्नभट्ट का रचित वह छोटा तर्कसंग्रह न समझना चाहिए जो काशी की प्रथमा परीक्षा का पाठ्य ग्रन्थ है। आनन्दगिरि का तर्क-संग्रह बड़ा गहन ग्रन्थ है। इसमें लेखक ने वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी योग्यता से किया है। उन्होंने भेदवाद या द्वैत-भाव माननेवालों की उक्तियों के टुकड़े टुकड़े उड़ा दिये हैं। आनन्दगिरि बड़े उद्भट तार्किक थे। आपने अद्वैत, अभेदवाद या वेदान्त का समर्थन अखण्डनीय युक्तियों से किया है।

इस पुस्तक की केवल एक ही प्रति पाटन के एक ग्रन्थभाण्डार में प्राप्त हुई है। उसी के आधार

पर इसका सम्पादन हुआ है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे भी इसके आरम्भ के २२ पृष्ठ-व्यापी उपोद्घात से इस ग्रन्थ तथा इसके कर्त्ता के सम्बन्ध की मुख्य मुख्य बातें जान सकते हैं।

राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य—राष्ट्रौढ-शब्द हिन्दी "राठोड" का संस्कृत-रूप है। अर्थात् इस काव्य में राठोड-वंश का वर्णन है। इसके कर्ता का नाम रुद्र-कवि है। वह दाक्षिणात्य था। उसके पिता का नाम अनन्त और पितामह का केशव था। मयूरगिरि के राजा नारायणशाह और उसके पुत्र प्रतापशाह के समय में वह विद्यमान था—उन्हीं का आश्रित था। इस काव्य की रचना उसने १५१८ शक (१५९६ ईसवी) में की। इस कवि के एक और काव्य का भी पता लगा है। उसका नाम है—जहाँगीरशाह-चरित। लक्ष्मण-पण्डित नाम के एक आदमी से राठोड-वंश का वर्णन सुन कर उसने इस महाकाव्य की रचना की है। उसने लिखा है—

शाके भोगिशशीपु भूपरिमिते संवत्सरे दुर्मुखे
मासे चाश्वयुजे सितप्रतिपदि स्थाने मयूराचले।
श्रीमल्लक्ष्मणपण्डितोदितकथामाकर्ण्य रुद्रः कविः
श्रीनारायणशाहकीर्तिरसिकं काव्यं व्यधान्निर्मलम्।

अपने विषय में आपने लिखा है—

आसीत्कोऽपि महीमहेन्द्रमुकुटालङ्कारहीरावली—
तेजःपुञ्जनितान्तरञ्जितपदः श्रीकेशवाख्यो बुधः।
विद्वन्मण्डलमण्डनं समभवत्तस्मादनन्ताभिध—
स्तत्पुत्रो जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वन्द्वार्चनाप्तधीः।
राष्ट्रौढक्षितिपालवंशमुकुटालङ्कारचूडामणि—
श्रीनारायणशाहजीवनविधेः सत्कीर्तिमुक्तावलीम्।
विद्वत्कुण्डलभूषणानि विशदश्लोकैरगुम्फद्गुण—
स्फारैः पण्डितमण्डलाम्बुजरविः श्रीरुद्रनामा कविः॥

इससे पाठक देखेंगे कि इस कवि ने नैषधचरित-कार श्रीहर्ष के मार्ग का अनुसरण किया है। जिस प्रकार श्रीहर्ष ने अपने माता-पिता का नाम दिया है, उसी तरह इसने भी अपने पिता-पितामह का नाम दिया है। श्रीहर्ष ने लिखा है कि मुझे चिन्तामणि मन्त्र के प्रभाव से कवित्वशक्ति प्राप्त हुई है। रुद्र कवि का कहना है कि जगदम्बिका की पादपद्म-सेवा से मुझे बुद्धि की प्राप्ति हुई है। यह भी सम्भव है कि रुद्र कवि की माता का नाम जगदम्बिका रहा हो। श्रीहर्ष की उक्ति है—

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

रुद्र ने श्रीहर्ष के "मुकुटालङ्कारहीरः" पद को प्रायः ज्यों का त्यों उठा कर ऊपर के श्लोक में रख दिया है। इसके सिवा श्रीहर्ष ही के सदृश प्रत्येक सर्ग के अन्त में आपने भी एक एक श्लोक वैसा ही लिखा है। यथा—

श्रीमद्बागुलभूमिपालतिलकश्रीशाहनारायण—
स्फूर्जित्कीर्तिचरित्रचित्रितपदे राष्ट्रौढवंशाभिधे।
भव्ये दक्षिणदिग्भवेन कविना रुद्रेण सृष्टे महा-
काव्येऽस्मिन्कृतवैरिवीरविजयः सर्गस्तु विंशोऽगमत्।

इस प्रकार, केवल अन्तिम चरण में, कथा-नुसारी परिवर्तन करके आपने सब सर्गों के अन्त में यही श्लोक दिया है। सर्गों की संख्या २० है। श्रीहर्ष के काव्य की छाया भी रुद्र के काव्य में जगह जगह पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि यह कवि श्रीहर्ष का भक्त था। नैषधचरित इसे खूब याद था। उसे यह बहुत पसन्द करता था। इसी से उसका अनुसरण इसने किया है।

इस काव्य का सम्पादन यम्बर कृष्णमाचार्य्य नाम के एक विद्वान् ने किया है और इसकी भूमिका सी० डी० दलाल, एम० ए०, महाशय ने, अँगरेज़ी में, लिखी है। भूमिका में कवि, काव्य, मयूरगिरि, नारायणशाह, प्रतापशाह आदि के सिवा उस समय का आवश्यक इतिहास और काव्य का सारांश भी दलाल महाशय ने दिया है। राठोड़ों के वंश का वर्णन, तत्कालीन राजनैतिक अवस्था तथा और भी अन्यान्य बातों का उल्लेख आपने किया है। इससे इस

काव्य का महत्त्व बढ़ गया है और इसमें वर्णन की गई घटनायें समझने में बहुत सहायता मिलती है। यह काव्य यद्यपि ऐतिहासिक है तथापि इसमें कहीं कहीं कुछ प्रमाद भी है। उसका ज्ञान भूमिका पढ़ने से अच्छी तरह हो जाता है।

नारायणशाह और उसके पूर्वजों का वर्णन मुसल्मानों के लिखे हुए इतिहास-ग्रन्थों में भी मिलता है। इनका देश बागलाना कहलाता था। इस वंश के आदि-पुरुष बागुल के नाम पर उसका नामकरण हुआ है। ये लोग अपने को राठोड़-वंशी कहते थे। इनकी उत्पत्ति, राज्य-प्राप्ति, शासन और उत्कर्ष आदि का वर्णन रुद्र कवि ने ख़ूब नमक-मिर्च लगा कर किया है।

इस वंश के राजाओं की राजधानी मयूरगिरि या मयूराचल थी। उसका वर्तमान नाम मुल्हेर है। यह नगर पहले ख़ानदेश के अन्तर्गत था, अब नासिक ज़िले में है। यह पहाड़ पर बसा हुआ है। अब प्रायः उजाड़ है। किसी समय इसकी ख़ूब उन्नति थी। इसका क़िला बहुत मज़बूत था। सात वर्षों तक घेरे जाने पर भी वह मुसल्मानों के कब्ज़े में न आया। तब अकबर ने राजा से सुलह कर ली। उसे उलटा कुछ दिया और यह वादा करा लिया कि अब से हमारे मुल्क में लूट मार न होने पावे। देहली और दक्षिण के बीच का मार्ग सुरक्षित रखना। राजा ने कहा—बहुत अच्छा। इसके बाद मयूरगिरि के अधिकारियों ने मुसल्मानों की मदद भी बहुत की। कई लड़ाइयों में वे शामिल रहे और बड़ी वीरता दिखाई।

इन्हीं सब घटनाओं का वर्णन रुद्र कवि ने इस महाकाव्य में किया है। इसके आरम्भ के कुछ सर्ग वंशादि-वर्णन से भरे हुए हैं। बीच के कई सर्ग—१४ से १७ तक—जल-विहार, ऋतुवर्णन आदि लिखने में ख़र्च हो गये हैं। ऐसा न करने से इसकी गिनती महाकाव्य में कैसे होती?

रुद्र कवि की कविता में एक गुण बड़ा भारी है। वह है—प्रसाद-गुण। आप अनुप्रास के बड़े भक्त थे। पर अनुप्रास की सिद्धि में प्रसाद-गुण नष्ट नहीं होने पाया। उदाहरण—

तदीयसूनुर्महनीयसेनः पराक्रमन्यक्कृतभीमसेनः।
शशास भूमीमथवीरसेनः प्रतापसंशोषितवीरसेनः॥१॥
नृपेण तेनाजनि कान्तिवीरः प्रचण्डमार्तण्डकुलैकवीरः।
यात्रासु पङ्क्तीकृतसिन्धुनीरः परावलीदीपशिखासमीरः॥२॥
[द्वितीय सर्ग

आनन्दसन्दोहगलन्मरन्दे कालीचलापाङ्गमिलन्मिलिन्दे।
सानन्दवृन्दारकवृन्दवन्द्ये वन्दे महादेवपदारविन्दे॥२७॥
कात्यायनीकेलिविलासलोलं समुल्लसत्कुञ्जरचर्मचोलम्।
वक्षस्थलव्यालफणावचूलं चेतश्चिरं चिन्तय चन्द्रचूडम्॥२८॥
[पञ्चम सर्ग

पार्थपराक्रम—यह व्यायोग नाम का रूपक है। परमार प्रह्लादनदेव इसका कर्ता है। इसका सम्पादन पूर्वोक्त चिमनलाल डी० दलाल महाशय, एम० ए०, ने किया है। आपने आरम्भ में एक अच्छा उपोद्घात, अँगरेज़ी में, जोड़ दिया है। इसका लेखक संवत् १२२० और १२६५ के बीच विद्यमान था। वह आबू के परमार राजा धारावर्ष का छोटा भाई था। वह बहुत समय तक युवराज-पद पर भी अधिष्ठित था। इन परमारों की राजधानी चन्द्रावती नगरी थी। वर्तमान पालनपुर इसी प्रह्लादनदेव का बसाया हुआ है। यह राजकुमार कवि, कविवत्सल, सुभट और अच्छा विद्वान् था। सोमेश्वर कवि ने इसकी प्रशंसा में लिखा है—

देवी सरोजासनसम्भवा किं कामप्रदा किं सुरसौरभेयी
प्रह्लादनाकारधरा धरायामायातवत्येष न निश्चयो मे।

धारावर्ष की आज्ञा से एक उत्सव में खेले जाने के लिए इसकी रचना प्रह्लादन ने की थी। इसकी कथा महाभारत के विराट-पर्व से ली गई है। दुर्योधन विराट-राज की गायें हरण कर रहा था। उसे परास्त करके अर्जुन ने गायें छुड़ा ली थीं। अर्जुन के उसी पराक्रम का वर्णन इस पुस्तक में है। इसमें

प्रधान रस वीर है। कविता ओजस्विनी है। भाषा गद्यपद्यात्मक है। दो एक उदाहरण—

धृतराष्ट्रसुतैर्दृष्टः किरीटी विश्वतोमुखः।
एकोऽप्यनेकधा वल्गाज्ञात्मा नैयायिकैरिव॥

नैयायिक जिस तरह एक आत्मा को अनेक रूपों में देखते हैं उसी तरह धृतराष्ट्र-सुतों को सब तरफ़ अर्जुन ही अर्जुन दिखाई दिये!

शून्ये राष्ट्रे प्रविष्टोऽयमाहर्तुं सुरभीरिमाः।
कर्णौ निष्कृत्य पार्थेन मुक्तः कौरवकुक्कुरः॥

इस श्लोक में दुर्योधन के लिए कुक्कुर (कुत्तं) की पदवी देना ज़रा खटकता है।

भूमिका के पृष्ठ २ के नोट नंबर ४ में "नाक-नायकसभास्तम्भेन"—इस अंश में "नाक" शब्द रह गया है।

यह पुस्तक भी पाटन के पुस्तक-भाण्डार की दो प्रतियों के आधार पर सम्पादित हुई है।

दुखिया किसान।

कौन सुनेगा, दीन जनों की राम-कहानी; दीनबन्धु भी भूल गये वह बान पुरानी।
रहे बहुत दिन मौन सही सब की मन मानी; आंखों से बह गया धैर्य्य हो हो कर पानी॥
कल न सही, तो काल ही, किसी तरह कट जायगा।
रोयेंगे कुछ देर तो, कुछ तो दुख घट जायगा॥ १॥

सहृदय पाठक हृदय ज़रा अपने सँभाल लें; आहँ ये अरमान आज अपने निकाल लें।
कानों में कुल क्रूर रुई या "काक" डाल लें; और मूँद लें नेत्र, नशीली सुरा ढाल लें॥
बन जायें बेहोश यों कुछ प्रभाव उन पर न हो।
फट न कहीं जाये, अगर हृदय प्रौढ़ पत्थर न हो॥ २॥

हाय! वही हम, प्रथम सभ्यता जिनसे फैली; हुए अजान, असभ्य हुई ऐसी मति मैली।
भरी निरन्तर लोक-उदर की हमने थैली; हुए तिरस्कृत किन्तु, जगत की देखी शैली॥
परम पतित समझे गये, छोड़ा सबने साथ है।
हाय! हवन करते हुए जला हमारा हाथ है॥ ३॥

हमने पहले पहल वस्त्र जग को पहनाये; पेड़ों के वे पत्र और मृगचर्म्म छुड़ाये।
जिन से थे सब लोग भयानक वेश बनाये; पर मर्म्मान्तक दुःख हाय! पलटे में पाये॥
सबल जिन्हें करते गये वही गला घोंटे गये।
हा! कपास ही की तरह हमको वे ओटे गये॥ ४॥

इस भारत में कहो नहीं क्या क्या उपजाया? सच पूछो, तो इसे हमीं ने स्वर्ग बनाया॥
यह माना, है यहाँ प्राकृतिक दृश्य सुहाया; पर केवल छवि देख पेट किसने भर पाया?
कहते हैं सब अन्न ही प्राणों का आधार है।
जो क्षुधार्त है उसे तो सूना सब संसार है॥ ५॥

हल-मन्दर से क्षेत्र-जलधि हमने मथ डाले; केवल चौदह नहीं, सैकड़ों रत्न निकाले।
बड़े बड़े भूपाल, मुनीश्वर हम ने पाले; किये अन्त में गये हाथ नीले, मुँह काले॥

देख यहाँ की यह दशा होता अति सन्ताप है।
हलवाहक के हाथ का जल तक पीना पाप है ॥ ६ ॥

जो पलते हैं, सदा हमारे टुकड़े खाकर ; रुधिर चूसते वही अन्त में अवसर पाकर।
बड़ा कर दिया जिन्हें विभव, सम्पदा बढ़ा कर ; पटक रहे हैं वही हमें अब उठा उठा कर ॥
काल-चक्र के क्या कहें कैसे चक्कर हो गये !
(गुरु जी तो गुड़ ही रहे , चेले शक्कर हो गये) ॥ ७ ॥

ग्राम नगर क्या देश भरे पूरे हैं हमसे ; सबका पोषण-भार लिया है अपने दम से।
पर, खलते हैं लोग हमीं को बढ़ कर यम से ; सुनिए वह सब कथा आज हमसे क्रम क्रम से ॥
करते इस संसार में नरक-भोग की पूर्त्ति हैं।
दुर्बलता, दुख, दीनता, दरिद्रता की मूर्त्ति हैं ॥ ८ ॥

रचते हैं कृषि-यज्ञ खेत को कुण्ड बना कर ; करते सकल विधान मन्त्र से बिरहे गा कर।
धान्य और धन, धाम होमते हैं श्रद्धा कर ; देते हैं जब देव, यज्ञ-फल हाथ बढ़ा कर ॥
अन्यायी नर-पशु उसे हमसे लेते छीन हैं।
बन जाते इस तरह से हम कौड़ी के तीन हैं ॥ ९ ॥

भरत-भूमि के बने महा दुखिया किसान हैं ; कुछ भी पाते नहीं, लड़ाते लाख जान हैं।
जर्जर तन हो गये; खिन्न, दुख-भरे, म्लान हैं ; कहाँ सो गये दीन-बन्धु, करुणानिधान हैं !
एक दीन के लिए भी परम दया आती रही।
कोटि कोटि हम हैं, नहीं क्या अब वह छाती रही ? ॥ १० ॥

*जहाँसोज़ तैमूर चन्द ही रोज़ रहा था ; जले हज़ारों ग्राम, रुधिर का नद उमड़ा था।
जो जो दुख आ पड़ा, धैर्य्य से उसे सहा था ; दीन वचन, हा हन्त न हमने कभी कहा था ॥
वैर पड़ा पापी उदर हारे इसकी लाग से।
हा ! हा ! अब तो जल रहे हैं दोज़ख़ की आग से ॥ ११ ॥

पक्षी भी भर पेट कहीं चुग चर लेते हैं ; वन्यजन्तु भी उदर किसी विध भर लेते हैं।
प्राणों का आधार, कुछ न कुछ कर लेते हैं ; क़र्ज़ किसी से कभी न खर, शूकर लेते हैं ॥
और एक हम हैं कि नित बढ़ता ऋण का भार है।
फिर भी हमको पेट भर प्राप्त नहीं आहार है ॥ १२ ॥

मज़दूरी भी समय समय पर कर लाते हैं ; जो कुछ मिलता, कहीं शाम तक घर लाते हैं।
चूनी लाते कभी, कभी चोकर लाते हैं ; तम्बाकू भी चिलम दो चिलम भर लाते हैं ॥
उड़ा धुएँ के साथ ही देते हृद्गत ताप हैं।
धोखा दे कर पेट को सो रहते चुपचाप हैं ॥ १३ ॥

कपड़े कैसे, किसी भाँति लज्जा ढक जाती ; घरवाली की कभी नहीं है बक झक जाती।
वे दुख देती शीत, हाय छाती पक जाती ; सिकुड़े सिकुड़े देह, रात भर में थक जाती ॥
ऊँची नीची भूमि है, फटा पुराना टाट है।
अपने शयनागार में शर-शय्या का ठाट है ॥ १४ ॥

* जगद्दाहक।

हाथ हाथ दीवार धरा उस पर छप्पर है ; टूटा टटवा लगा, टकटकी लगी उधर है ।
चोरों का डर नहीं, हिंस्र जीवों का डर है ; है यह नरक-निवास हाय ! काहे का घर है ॥
आँधी, पानी की नहीं हो पाती कुछ रोक है ।
साफ़ नज़र आता यहाँ मृत्युलोक, यह लोक है ॥ १५ ॥

बैलों की भी साथ हमारे क़िस्मत फूटी ; छाई है बस एक छपरिया उन पर टूटी ।
पड़ी घास है वही सबेरे थी जो छूटी ; पड़े सोचते हम कि कहीं मिलती वह बूटी ॥
चर लेने से जिसे फिर चारा कभी न चाहते ।
तो सम्भव था कुछ दिवस अपना साथ निबाहते ॥ १६ ॥

ऋण से अपना रोम रोम तक हाय लदा है ; कैसे होंगे उऋण यही चिन्तना सदा है ।
कहां सूद दर सूद, सूद तक नहीं अदा है ; क्या जाने भगवान ! भाग्य में हाय ! बदा है ॥
कभी कभी तो रात भर रहते हैं, इस शोक में ।
होगा हम सा भाग्यहत और कौन इस लोक में ॥ १७ ॥

अपना जीवन नहीं एक यह बीहड़ वन है ; यहाँ नहीं हैं फूल, खिँचा काँटों में तन है ।
हाकिम-हरहा हड़े, व्याघ्र-व्योहर-गर्जन है ; सुपथ नहीं सूझता, रात दिन व्याकुल मन है ॥
बिच्छू के से डङ्क हैं पटवारी भी मारते ।
कर ली छाती वज्र है, हिम्मत कभी न हारते ॥ १८ ॥

घोर परिश्रम, कठिन तपस्या हम करते हैं ; पड़ते विघ्न, परन्तु नहीं बहुधा डरते हैं ।
आशा-सिन्धु में पड़े डूबते हैं, तरते हैं; जीते ही हैं न तो, न तो हम अब मरते हैं ॥
यद्यपि हैं हम कम नहीं बहुत बड़ा परिवार है ।
पर अशक्तता-दैन्य से जीवन हमको भार है ॥१९॥

हैं अलज्ज, जो कर लेते विष-पान नहीं हैं; समझे हमको लोग मनुज-सन्तान नहीं हैं ।
देते शिक्षित इधर पूर्ण क्यों ध्यान नहीं हैं; आँखें इनके नहीं, हाय ! या कान नहीं हैं ॥
विपदा पर विपदा सदा हम पर है आती रही ।
पुण्यभूमि से क्या दया बिल्कुल ही जाती रही ? ॥२०॥

दया न कोई करे, दया की चाह नहीं है; दैव सहावे दुःख, हमें परवाह नहीं है ।
हम हैं कष्ट-सहिष्णु निकलती आह नहीं है; होने पाता किन्तु हाय ! निर्वाह नहीं है ॥
देश-बन्धु ही बन रहे, हम को यम के दूत हैं ।
हाय ! स्वार्थ, अन्याय से खलते कुटिल कपूत हैं ॥२१॥

हो न अगर विश्वास आप गाँवों में जायें; देखें, यदि दुर्दशा कलेजा थामे आयें ।
आती हैं नित नई सिरों पर हाय ! बलायें; बच्चे दाबे हुए बग़ल में भूखी मायें ॥
भग्न-हृदय हैं, नग्न सी खेत निराने में लगीं ।
साग पात जो कुछ मिला उसके खाने में लगीं ॥२२॥

पतियों को लेगये लोग बेगार पकड़ कर; जो कुछ बोले, ठीक कर दिया थप्पड़ जड़ कर ।
बहुत गये चुप चाप, खाय क्या मार अकड़ कर ? हुआ छूटना कठिन, कठिन पञ्जे में पड़ कर ॥

ज़मींदार है या कि वे निर्दय थानेदार हैं ।
हम बेचारों के लिए दार बने सबदार* हैं ॥ २३ ॥

खेतों पर कुछ नहीं हाय ! अधिकार हमारा; सुनती कुछ भी नहीं, उग्र. सरकार हमारा ।
कैसे हो, हो कहाँ, कहो सुविचार हमारा; एक करे तो करे, न्याय कर्त्तार हमारा ॥
सो जीते तो जगत में इसकी कुछ आशा नहीं ।
इसी लिए तो हमें अब जीवन-अभिलाषा नहीं ॥२४॥

भरने भर को हमें पोत भरना क्या कम है; नज़र, भेंट ने और कर दिया नाकों दम है ।
कलह परस्पर और पुलिस का भी ऊधम है; हैं निरीह हम, हुआ सितम पर हाय सितम है ॥
घोर पतन तो हो चुका, रही श्वास ही शेष है ।
नहीं जानते भाग्य में लिखा और क्या क्लेश है ॥२५॥

कैसी शिक्षा, यहाँ पेट में आग लगी है; बन्द हमारे लिए अभी तक नहीं ठगी है ।
रिश्वत का बाज़ार गर्म है कला जगी है; किसकी मति रह गई नहीं जो पाप-पगी है ॥
मिलते हैं जितने हमें सभी लूटना चाहते ।
लुंज लवा पर बाज़ से झपट टूटना चाहते ॥२६॥

× × × × × × × ×

सच है जब दिन किसी जाति के गिर जाते हैं; सब के मन बन्धुत्व-भाव से फिर जाते हैं ।
जो करते अन्याय उन्हीं के सिर जाते हैं; पर वे ऐसे स्वार्थ-बुद्धि से घिर जाते हैं ॥
अपना ही हित अहित है इन्हें सूझ पड़ता नहीं ।
सदियों तक मिटती कभी उनकी यह जड़ता नहीं ॥२७॥

अगर हमारे बन्धु हमारे पिण्ड न पड़ते—तो श्रम करते हुए न हम यों हाय ! उजड़ते ।
हमें लूटने पर न लोग यदि ऐसे अड़ते—तो न निकम्मे बने, पड़े भवनों में सड़ते ॥
निकल पैठ कर कुछ कहीं उद्यम-धन्धे देखते ।
अपना ही हित अहित तो कुछ वे अन्धे देखते ॥२८॥

याद रहे यह अगर कहीं हम मर जायेंगे—नरक-निवासी पितर न उनके तर जायेंगे ।
अस्थि, चर्म्म से पेट न उनके भर जायेंगे, बन जब सारे खेत विकट ऊसर जायेंगे ॥
आठ आठ आँसू तभी रोयेँगे मतिमन्द ये ।
लूट रहे हैं अभी तो लूट लूट आनन्द वे ॥२९॥

× × × × × × × ×

प्रिय पाठक ! सुन चुके आज कृषकों का रोना; बचा हुआ निज समय आप अब व्यर्थ न खोना ।
बने जहाँ तक दुखी जनों के आँसू धोना; जब तक सँभले ये न, नहीं कुछ उन्नति होना ॥
प्रतिशत अस्सी तक यही भारत में आबाद हैं ।
धर्म्म-धुरी धारण किये इन में ध्रुव, प्रह्लाद हैं ॥३०॥

सनेही

* शूली ।

संस्कृत की 'टिपरारी' ।

(१)



रोप के वर्तमान युद्ध में टिपरारी ने खूब नाम पाया। आयरलैंड के एक कोने में टिपरारी नामक एक न-जाना-सुना गाँव है। किसी दिलचले कवि ने उसे एक गीत में अमर कर दिया है। गीत में टिपरारी-निवासी किसी कल्पित ग्रामीण का भोलापन और देश-प्रेम दिखाया गया है। परन्तु जैसे तुलसीदासजी ने साबर-मन्त्रों के लिए कहा है कि 'अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू' वैसे ही अँगरेज़-सिपाही लाम में इस व्यङ्गमय गीत को गाकर बहुत आश्वासन पाते हैं। जहाँ थकावट और घबराहट के बादल उनके प्रसन्न मुखों पर छाये कि टिपरारी की धुन ने उन्हें चौगुना चमका दिया। इस युद्ध में टिपरारी पर और भी शान चढ़ी,—फ्रेंच में, जर्मन में, हिन्दी में, उर्दू में उसके अनुवाद हुए। हमारे जवान भी 'कद्दू मज़ेदार' और 'बलूची जालमा' की जगह उसे अलापने लगे। अँगरेज़-सिपाही किस प्रकार हँसता-खेलता मृत्यु के मुख में धँस जाता है, किस प्रकार कमर कमर भर कीच में वह ठट्ठा करता रहता है, इसका मानो टिपरारी विज्ञापन हो गया, मन्त्र हो गया। टिपरारी के शब्द और अर्थ का विचार करके आज यह दिखाना है कि इससे मिलता हुआ भावमय काव्य हमारे यहाँ भी है।

टिपरारी का गीत यह है—

१ Up to mighty London came
  An Irishman one day;
As the streets were paved with gold
  Sure everyone was gay.
Singing songs of Piccadilly
  Strand and Leister—square
Till Paddy got excited
  Then he shouted to them there:
It's a long way to Tipperary
  It's a long way to go
(टेक) It's a long way to Tipperary
  To the sweetest girl I know.
Goodbye Piccadilly
  Farewell, Leister—square
It's a long, long way to Tipperary
  But my heart's right there.
२ Paddy wrote a letter to
  his Irish Molly o
Saying should you not receive it
  Write and let me know
If I make mistakes in spelling
  Molly dear, said he,
Remember it's the pen that's bad
  Don't lay the blame on me.
(टेक) It's a long way etc.
३ Molly wrote a neat reply
  To Irish Paddy o
Saying Mawklin wants
  to marry me and so
Leave the Strand and Piccadilly
  Or you will be to blame
For love has fairly drove me silly
  Hoping you are the same.
(टेक) It's a long way.

ज़रा इसके भाव को देखिए। जैसे हमारे यहाँ शिकारपुर के या भीगाँव के या बदायूं के भोले सरदार प्रसिद्ध हैं, वैसे अँगरेज़ी-साहित्य में आयरलैंड के निवासी 'पैडी' के उपनाम से बनाये जाते हैं। एक दिन पैडी लन्दन-महानगर में आया। कलकत्ते में एकदम पहुँचनेवाले भोजपुरिये और बम्बई में अचानक आ धमकनेवाले मारवाड़ी की तरह वह भौंचक रह गया। वहाँ की सड़कें मानो सोने से मढ़ी हुई थीं, सब लोग प्रसन्न थे और पिकाडिली के जौहरी बाज़ार, स्ट्रैंड के मोती-कटरे और लीस्टर-स्कायर के मानिक चौक के सब गीत गा रहे थे। पैडी साहब को भी जोश आ गया और आप चिल्ला उठे—"मेरी टिपरारी बहुत बहुत दूर है; बहुत ही दूर है। मेरी प्रियतमा के पास टिपरारी जाना यहाँ से बहुत ही दूर पड़ता है। पिकाडिली,

सलाम और लीस्टर स्कायर, नमस्कार। टिपरारी बहुत ही दूर है, पर मेरा हृदय वहीं है"।

चमत्कार यह है कि लन्दन के ऐश्वर्य के आगे भी वह अपने छोटे से गाँव और वहाँ पर अपनी परिचिता सुन्दरी की धुन में रमा हुआ कहता है कि मेरा हृदय वहीं है।

दूसरी कड़ी का विरोधात्मक हास्य देखिए। पैडी ने अपनी आयरलेंड-निवासिनी प्रेयसी मौली को पत्र लिखा कि यदि तुम्हें यह पत्र न मिले तो लिख कर मुझे सूचना देना! यदि मेरे लेख में कोई अशुद्धि हो तो याद रखना कि क़लम ख़राब है, (आँगन टेढ़ा है) मुझे दोष न देना!!

तीसरी कड़ी में मौली का उत्तर बड़ी सफ़ाई से दिया गया है। वह कहती है कि तुम्हारे यहाँ से चले जाने पर दूसरों की बन आई है। माकलिन मुझसे विवाह करना चाहता है। इस लिए स्ट्रैंड और पिकाडली को छोड़ कर चले आओ, नहीं तो सब दोष तुम्हारे सिर रहेगा, क्योंकि प्रेम ने मुझे पागल कर रक्खा है और (जैसे चिट्ठियों में कुशल-समाचार लिखते हैं) आशा है कि तुम भी वैसे ही होगे!!!

इसके पीछे क्या हुआ, यह गीत में नहीं। मौली और टिपरारी का दोहरा आकर्षण पैडी को लन्दन की सुवर्ण-वीथिका (सोनागाछी नहीं) से खींच ले गया होगा और हिन्दी के एक पुराने भावमय गीत के अनुसार—

कब ऊगेगो सुक्र ? चले चालो।
गोरी ने डोला कसवायो रसिया ने सिकल कर्यो भालो॥

(२)

महाभारत का युद्ध हो रहा है। भीष्म और द्रोण मर चुके हैं। कर्ण बड़े अभिमान के साथ सेनापति बन कर अर्जुन से लड़ने चले हैं। मद्रराज शल्य इस शर्त पर उनका सारथि बना है कि मैं जो चाहूँ सो कर्ण को सुना दूँ। कर्ण ने युद्ध-क्षेत्र में आते ही डींग मारना आरम्भ किया। कहता है कि अब अर्जुन और कृष्ण मरे। मुझे कोई अर्जुन को दिखा तो दे। मैं दिखानेवाले को छै हथनियों-वाला सोने का रथ दूँ, गले में सोना पहने हुए दासियाँ दूँ, चौदह वैश्यग्राम—मारवाड़ी सेठों के गाँव (इसका स्वारस्य शेख़ावाटी के ठाकुरों से पूछना चाहिए)—दे दूँ। यों ही वह शेख़ी बघारता गया। शल्य ने उसे झिड़कना शुरू किया। शल्य कहता है कि जो तेरे पास इतना रुपया है तो यज्ञ क्यों नहीं करता ? क्या तुझे इस तरह मृत्युमुख में जाने से रोकनेवाले मित्र नहीं ? माता की गोद में पड़ा पड़ा तू चन्द्रखिलौना माँगता है! क्या कभी गीदड़ ने शेर को मारा है ? हंस की चाल चलने-वाले कौवे की तरह ही तेरी दुर्गति होगी!

कर्ण को क्रोध आ गया। एक तो ऐसी झिड़क, दूसरे शाप की झिड़क सुनते ही तू निस्तेज हो जायगा। शल्य पहले यह प्रतिज्ञा करा कर सारथि बना था कि जो चाहूँ सो कह लूँ। अब कर्ण ने जले दिल से शल्य को बुरा भला कहना आरम्भ किया। शल्य मद्रदेश का राजा था। मद्र पश्चिमी पञ्जाब है, जहाँ उस समय वाहीक नामक अनार्य जाति आ बसी थी। पाणिनि के समय में भी व्यास-नदी के उत्तर तट पर वाहीकों के ग्राम और कूप बन गये थे। वाहीकों के रीति-रिवाज से कुरुक्षेत्र और आर्य्यावर्त के निवासी बहुत घिनाते थे। मद्र और वाहीक की उस समय वही प्रसिद्धि थी जो तुलसी-दास और कबीर के समय मगह (मगध) की थी। कर्ण ने कई अध्यायों में वाहीकों की बुराई की है, उनका खाना, पहनाव, स्त्रियों का व्यभिचार, अधर्म सब कुछ बखान कर शल्य को गालियाँ दी हैं कि ऐसे पापियों का तू षष्ठांशभोगी राजा है! शल्य से चिढ़ कर उसके देशवासियों को गाली देना कोई तर्क तो नहीं, पर क्रोधी कहीं तर्क की परवा करता है ? शल्य चुपचाप इन कुवाच्यों को पीता

गया। उसने कर्ण के देश के लिए कुछ भी न कहा। पर कर्ण की वीरता पर वह गीला कम्बल डालता गया और उसे बकने दिया। उसका उद्देश सिद्ध हो रहा था। भर्त्सना से कर्ण की वीरता पानी पानी हो रही थी और शाप का प्रभाव चढ़ रहा था। केवल अन्त में शल्य ने कहा—"कर्ण, तुम्हारे अङ्ग-देश में भी आतुरों को मरने के लिए छोड़ देते हैं और स्त्रियों तथा पुत्रों को बेच दिया करते हैं; प्रत्येक देश में सदाचार और दुराचार होते हैं। इससे क्या?"

जो हो, अपनी जलन में कर्ण ने जो वाहीकों के आचरण का चित्र खींचा है वह बड़ा ही ओजस्वी है और ऐतिहासिक मूल्य रखता है। समाज-वर्णन के ये तीन चार अध्याय महाभारत के समुद्र में भी अनूठे रत्न हैं। जगह जगह पर कर्ण ने कुरुराज धृतराष्ट्र के दरबार में आये हुए प्रवासी ब्राह्मणों और वाहीकों की गाथायें उद्धृत की हैं। ये गाथायें समाजचित्रण की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। कुछ तो उनमें इस ढँग की हैं जैसे—"राँड साँड सीढ़ी संन्यासी। इनसे बचे तो सेवै कासी", "जाय कलकत्ते + + खाय अलबत्ते", "जाओ कुल्लू हो जाओ उल्लू", "गये चम्बा बड़ा अचम्भा"—इत्यादि। इन संक्षिप्त लोकोक्तियों में जन-समाज के मत का जो चित्रण है वह कितने स्वारस्य से भरा हुआ है! कर्ण की गाथाओं में से कुछ गाथायें ये हैं—

१—मद्रदेश की स्त्री से यदि काँजी माँगो तो वह जाँघें समेट कर कहती है कि मैं अपने बेटे को दे दूँ, पति को दे दूँ, पर काँजी न दूँ।

२—युगन्धर (देश) में जल पीकर, अच्युत-स्थल में रह कर और भूतलय में नहा कर भला कहीं स्वर्ग को जा सकता है?

३—गोवर्धन नामक बड़ और सुभाण्ड नामक शहर ये दोनों कलि के द्वार हैं, यह मैं लड़कपन से सुनता आया हूँ।

४—वाल्हीक पृथ्वी के मैल हैं।

५—वाल्हीका और ह्रीक विपाशा में दो पिशाच थे। वाहीक उनके पुत्र हैं; प्रजापति की सृष्टि ही नहीं!

६—वहाँ ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है: क्षत्रिय वैश्य, शूद्र होकर नाई हो जाता है; नाई फिर ब्राह्मण हो जाता है!

७—बिच्छू का विष उतारने के लिए और राक्षस का आवेश मिटाने के लिए वाल्हीकों के पाप की दुहाई दी जाती है।

जिन गाथाओं में वाल्हीक-स्त्रियों के दुराचार का वर्णन है उनका अनुवाद करना उचित नहीं।

(३)

ख़ैर, उन गाथाओं में एक गाथा है—

[तासां किलावलिप्तानां निवसन् कुरुजाङ्गले।
कश्चिद् वाल्हीकदुष्टानां नातिहृष्टमना जगौ]
स नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी
मामनुस्मरती शेते वाल्हीकं कुरुवासिनम्।
शतद्रुं नु कदा तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलजङ्घाः शुभाः स्त्रियः?
मनःशिलोज्ज्वलापाङ्गो गौर्यस्ताः काकुकूजिताः
कम्बलाजिनसंवीता रुदन्त्यः प्रियदर्शनाः।
मृदङ्गानकशङ्खानां मर्दलानाञ्च निःस्वनैः
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम्।
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु
अपूपान् सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान्।
पथिषु प्रबलो भूत्वा तथा सम्पततोऽध्वगान्
चेलापहारं कुर्वाणास्ताडयिष्याम भूयसः।

कोई प्रवासी वाल्हीक कुरुदेश में आया हुआ है। प्रवासी को आर्यभूमि का चमत्कार लुभा नहीं सका। वह अपने देश की स्त्रियों की याद करके गा रहा है—हाय, अवश्य वह बृहदाकार और गौर शरीरवाली स्त्री, बारीक पश्मीना पहने हुए, मुझ

कुरुदेश-प्रवासी वाह्लीक की याद करती हुई सो रही होगी (इधर की स्त्रियाँ ठिँगनी और साँवली और सूती कपड़े पहननेवाली, पेशावर की तरफ़ की स्त्रियाँ अब भी बृहती, गौरी और सूक्ष्मकम्बल-वासिनी!) कब मैं सतलज को पार करके, और सुन्दर रावी को लाँघ कर स्वदेश पहुँचूँगा और कब सुन्दर, मोटी जाँघोंवाली, मनःशिला की सी उज्ज्वल कनखियोंवाली, गोरी, सदा मोड़ के लटके से बोलनेवाली, कम्बल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती और प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूँगा? (इतने में उसको अपनी प्यारी जन्मभूमि का स्मरण आ गया) ढोल, नगारे, शंख और मर्दल बजते जायँगे, और मतवाले होकर हम गधों, ऊँटों और खच्चरों पर चढ़े चढ़े चले जायँगे! वहाँ शमी, पीलु और करीर के जङ्गल हैं। हमारे लिए मार्ग बड़ा सुखदायक है! वहाँ हम मट्ठे के साथ पूए और सत्तू के लड्डू खाते जायँगे और राह चलते हुए मुसाफ़िरों के कपड़े तक उतार कर उन्हें खूब लूटेंगे; मारेंगे!

कितना भावमय वर्णन है। अर्धसभ्य जाति के देश-प्रेम, भोजन, विहार और व्यवसाय का कितना अच्छा चित्र है। इस गीत की अन्तिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाहीक की आँखों में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूंगजी जवाहरजी की धमाल सुन कर शेख़ावाटी के सफ़ेद दाढ़ीवाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है। चाहे उसकी पथरकला-बन्दूक़ की नाली में अब मकड़ी के जाले लग गये हों और उसकी ज़ंगली तलवार नन्हें बच्चों के सिरहाने रह कर भूत-प्रेतों को टालने ही के काम की रह गई हो, पर उस समय के राय-बहादुर सेठ करोड़ीमल, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, की ख़ैर न उस ऊँट चढ़े राजपूत से मिलने पर थी और न ख़च्चरों पर चलनेवाले सत्तू खानेवाले इस वाहीक से!

इस गीत की समता का 'टिपरारी' से विचार पाठक ही करें।

श्रीचन्द्रधर शर्मा

कटूक्ति।

(चन्द्रमा के प्रति)

(१)

तुझे मिला है विमल व्योम ऊँचा सिंहासन,
जहाँ तारका-निचय मुदित करता सबका मन।
तेरी गोरी कीर्ति दिशाओं में छाई है;
अमृत और विष दोनों ही तेरे भाई हैं।
किन्तु तुझे जिसने दिये निज तन, मन, धन, बल, सुयश,
खानी पड़ती आग है उस चकोर को हो विवश।

(२)

नीरस सिकता और सरस शीतल जलधारा,
बन जाती है सदृश निशा में जिसके द्वारा।
जो थोड़ा भी छिद्र देख भीतर घुस जाती,
अन्दर जाकर विशद आत्म-आभा फैलाती।
विधु, तेरी उस दीप्ति से व्याप्त यदपि भू भाग है,
तो भी तेरे हृदय में गहरा काला दाग़ है!

(३)

दोनों ही का जनक यदपि शुचि शीतल जल है;
मनो-मोहकर सौरभ भी अतिशय निर्मल है।
कण्टक भी दोनों की जड़ में जड़े विषम हैं;
नाम-मात्र का वर्ण भेद है, दोनों सम हैं।
फिर भी तेरा प्रिय बना हुआ कुमुद-समुदाय है;
अति अप्रिय है पद्म-गण, क्या यह सच्चा न्याय है?

श्रीहरिवंश मिश्र

पार्वती-परिणय-नाटक।



हुत से इतिहासज्ञ विद्वानों की यह धारणा है कि पार्वती-परिणय नाटक के कर्त्ता प्राचीन बाणभट्ट हैं, जो कादम्बरी, हर्षचरित और चण्डीशतक के निर्माता हैं। क्योंकि इस नाटक की प्रस्तावना में लिखा है—

"अस्ति कविसार्वभौमो वत्सान्वयजलधिकौस्तुभो बाणः।"

प्रसिद्ध बाणभट्ट भी वत्सवंश-सम्भूत थे, यह हर्षचरित देखने से विदित होता है। और, उनके ग्रन्थों के तथा इस नाटक के कई स्थलों में सादृश्य भी ज्ञात होता है। जैसा—

उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरोन्नमनकाले।
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्धमाना सुता पितरम्॥

हर्षचरिते

कुचयुगलं परिणद्धं यथा यथा वृद्धिमेति तन्वङ्ग्याः।
वरचिन्ताहृतमनसस्तथा तथा कार्श्यमेति मे गात्रम्॥

पार्वतीपरिणय

"सौहार्दमयीव शालभञ्जिका सौन्दर्यदेवतेव विग्रहिणी"—इत्यादि गद्य-वाक्यों की शैली भी प्राचीन बाणभट्ट का स्मरण कराती है। ग्रन्थों में प्रायः शब्द और अर्थ के परस्पर मेल से उनका कर्ता एक ही अनुमित होता है। कालिदास के मेघदूत का "आशाबन्धः कुसुमसदृशं—" इत्यादि का भाव—"शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्" विक्रमोर्वशी और "गुरुअं विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि"—शाकुन्तल के वाक्यों से सङ्गत होता है। इस प्रकार की अनेक बातों का सामञ्जस्य भिन्न भिन्न ग्रन्थों की एक-कर्तृकता को सिद्ध करता है। इसके सिवा, रीति-नीति-वर्णन-नैपुण्य भी प्रमाण माना जाता है। अतएव पार्वती-परिणय के भीतरी लक्षणों से यह प्राचीन बाणभट्ट कृत ही है, यही मत या निश्चय अनेक विद्वानों का है।

परन्तु यह नाटक प्राचीन बाणभट्ट-कृत नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि रूपक-नाटक के लक्षण-प्रसङ्ग में प्राचीन दशरूपक से लेकर साहित्यदर्पण तक, किसी भी ग्रन्थ में, इसका नाम तक किसी ने नहीं लिया। प्रायः दूसरे अलङ्कार-ग्रन्थों में भी इसका एक श्लोक तक उद्धृत नहीं। यदि यह प्राचीन बाणकृत होता तो अवश्य ही, प्रसङ्गानुसार, कोई न कोई श्लोक इसका उद्धृत मिलता। इसमें सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है। और भावों का किंवा वाक्यों का जो सादृश्य मिलता है वह अन्यान्य कवियों के ग्रन्थों में भी पाया जाता है। अतएव इससे एककर्तृकता अथवा भिन्न-कर्तृकता का साधन या निराकरण नहीं हो सकता। इस नाटक की कथा-घटना, रस-पुष्टि और वर्णना-चातुर्य को देख कर कोई अनुभवी पुरुष इसे बाणभट्ट-कृत नहीं कह सकता। जिस लेखक ने कादम्बरी का वर्णन किया है क्या उसीका इस नाटक में किया हुआ पार्वती-वर्णन हो सकता है? यह बात तो श्रद्धा-जड़ भी नहीं मान सकता। इस नाटक के कर्त्ता वामन भट्ट बाण हैं, जो वत्सवंश में पैदा हुए और वीरनारायणचरित नामक गद्य काव्य एवं शब्द-रत्नाकर-निघण्टु के कर्ता हैं। इनका नाम इस देश में प्रायः प्रसिद्ध नहीं। वामन शब्द तो निकल गया है। केवल बाण ही रह गया है, सो भी प्राचीन बाण के साथ सायुज्य को प्राप्त हो गया!

शब्दरत्नाकर-निघण्टु के आदि में लिखा है—"जागर्ति वामनो बाणो वत्सवंशशिखामणिः"। वीरनारायणचरित में भी लिखा है—"......भुवने वामने भट्टबाणे" इत्यादि। दक्षिण-देश में वेम नामक एक राजा हो गया है। वीरनारायण भी उसीका नाम था। उसीके नाम से उक्त गद्य-काव्य वामन-बाण ने बनाया है। राजा स्वयं भी विद्वान् था। अमरुकशतक की टीका के अन्त में लिखा है—"इति श्रीवीरनारायणसकलविद्याविशारदपेद्दकोमटिवेमभूपालरचिता शृङ्गारदीपिकाख्या व्याख्या समाप्ता।" तो अब वेमभूपाल का समय क्या था, यह निश्चित होने से वामन-बाण जी का पता भी लग जायगा। एपिग्राफिआ इंडिका में वीरनारायण-वेम का एक ताम्रपत्र प्रकाशित हुआ है। उसमें उसके वंश का पूरा वर्णन है—"श्रीशाके गुणरामविश्वगणिते......" इत्यादि श्लोक से उसका

समय शालिवाहन-शक १३३३ ज्ञात होता है। इसमें ७८ वर्ष जोड़ देने से १४११ ईसवी सन् सिद्ध हुआ। अर्थात् पन्द्रहवीं सदी के पूर्व-भाग में वेम-भूपाल और वामन-बाण की स्थिति मालूम होती है। ऐतिहासिक तत्त्वों की पर्यालोचना से भी यही काल प्रमाणित होता है। विद्यारण्य के एक शिष्य भी बाण नामक थे। सम्भव है, वे यही हों। चतुर्थाश्रम में प्रसिद्ध श्रीसायणमाधवाचार्य ने विद्यारण्य के नाम से श्रीविजयनगर-महाराज के मन्त्रि-पद पर अवस्थित हो कर गृहस्थाश्रम बिताया था। विजयनगर वेमभूपाल की नगरी के पास ही था। सायण-माधवाचार्य का समय भी ताम्रपत्रों से ईसा की चौदहवीं सदी का अन्त किंवा पन्द्रहवीं सदी का आरम्भ-काल सिद्ध है।

पार्वती-परिणय-नाटक शिवपुराण की पार्वती-विवाह-कथा के आधार पर रचा गया है। इसी कथा का आश्रय कालिदास ने अपने कुमारसम्भव में भी लिया है। जैसे कालिदास ने शब्द और अर्थ से शिवपुराण का आश्रय लेकर अपना काव्य बनाया है वैसे ही इस कवि ने कुमारसम्भव का अनुसरण किया है। यही नहीं, दूसरे प्राचीन गद्य-पद्य ग्रन्थों का भी उसने पूरा आश्रय लिया है। यद्यपि इस नाटक में कोई विशेष चमत्कार और वर्णन-नैपुण्य नहीं है, तो भी यह है अच्छा। कोई कोई श्लोक किंवा गद्य के कुछ भाग बड़े मधुर हैं। ऐसे दो चार श्लोक सुन लीजिए—

दनुजो वा मनुजो वा मुनिरपि वा मुग्धचन्द्रचूडो वा।
सुरलोकसुन्दरीणां स भवतु बद्धः कटाक्षशृङ्खलया॥

\+ \+ \+

वाचालयन्नथ कुलानि वनप्रियाणां
अङ्कूरयन् मलयमारुतकन्दलानि।
सख्युः प्रसूनविशिखस्य भुजावलेपं
संवर्धयन्मधुरजृम्भतकाननेषु॥

\+ \+ \+

आधूय चन्दनतरूनुत्तमनद्यास्तरङ्गमालिङ्ग्य।
आदाय कमलसौरभमङ्कुरितो मलयशैलपवमानः॥

आदाय चापमधिरोपितषट्पदज्यं
तस्मिन् हिमाचलमुपेयुषि पञ्चबाणे।
वेलातिलङ्घि किमपि प्रणयातिरेकात्
द्वन्द्वानि लौल्यमभजन्त विमोहितानि॥

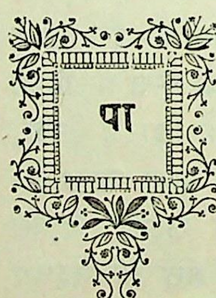
इस नाटक का एक उत्तम संस्करण मदरास-प्रान्त के वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। उसके सम्पादक मदरास के अभिनव-भट्ट बाण श्रीकृष्णमाचार्य महोदय हैं। आपका अगाध संस्कृत-पाण्डित्य और संस्कृत पुस्तकों का नव्य परिपाटी से सम्पादन शिक्षित समाज पर विदित ही है। आपने इस नाटक का सम्पादन बड़ी मार्मिकता से किया है और सरस संस्कृत में एक प्रस्तावना भी लिखी है। उसी के आधार पर यह लेख लिखा गया है।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

सेन-वंश का इतिहास।

(लेखक—साहित्याचार्य्य पण्डित विश्वेश्वरनाथ शास्त्री)

(१)



पालवंशियों का राज्य अस्त होने पर बङ्गाल में सेन-वंशी राजाओं का राज्य स्थापित हुआ। यद्यपि इनके शिला-लेखों और दान-पत्रों से प्रकट होता है कि ये चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे और अद्भुतसागर नामक ग्रन्थ से भी यही बात सिद्ध होती है, तथापि देवपर (बङ्गाल) में मिले हुए बारहवीं शताब्दी के विजयसेन के लेख (१) में इन्हें ब्रह्मक्षत्रिय लिखा है—

तस्मिन्सेनान्ववाये प्रतिसुभटशतोत्सादनब्रह्मवादी।
स ब्रह्मक्षत्रियाणामजनि कुलशिरोदामसामन्तसेनः॥

अर्थात् उस प्रसिद्ध सेन-वंश में, शत्रुओं को मारनेवाला, वेद पढ़नेवाला तथा ब्राह्मण और क्षत्रियों का मुकुट-स्वरूप, सामन्तसेन उत्पन्न हुआ।

१. (Ep. Ind., Vol. I, P. 307).

बङ्गाल के सेनवंशी वैद्य अपने को विख्यात राजा बल्लाल-सेन के वंशज बतलाते हैं। जनरल कनिङ्गहाम का भी अनुमान है कि वङ्गदेश के सेन-वंशी राजा क्षत्रिय न थे, वैद्य ही थे। परन्तु रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर ओझा उनसे सहमत नहीं। वे सेनवंशी राजा बल्लालसेन को वैद्य बल्लालसेन से पृथक् अनुमान करते हैं। यही अनुमान ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि बङ्गाल में बल्लालसेन नाम का एक अन्य ज़मींदार भी बहुत विख्यात हो चुका है। वह वैद्यजाति का था। उसका भी एक जीवनचरित "बल्लालचरित" के नाम से प्रसिद्ध है। उसके कर्ता गोपालभट्ट ने, जो उक्त बल्लालसेन का गुरु था, अपने शिष्य को वैद्यवंशी लिखा है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि वैद्य बल्लालसेन सेन-वंशी बल्लालसेन के २५० वर्ष बाद हुआ था। इससे स्पष्ट है कि सेनवंशी राजा बल्लालसेन वैद्य बल्लालसेन से पृथक् था और उसके समय का बल्लाल-चरित भी इस बल्लालचरित से जुदा था। दोनों का एक ही नाम होने से यह भ्रम उत्पन्न हुआ है, और, जान पड़ता है, इसी भ्रम से उत्पन्न हुई किंवदन्ती को सच समझ कर अबुलफ़ज़ल ने भी सेन-वंशियों को वैद्य लिख दिया है। उनके शिलालेखों से उनके चन्द्रवंशी होने के कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(१) राजतयाधिपति सेन-कुलकमल-विकास-भास्कर सोमवंशप्रदीप। (१)

(२) भुवः काञ्चीलीलाचतुरचतुरम्भोधिलहरी-
परीताया भर्ताऽजनि विजयसेनः शुचिकुले। (२)

इस वंश के राजा पहले कर्णाटक की तरफ़ रहते थे। सम्भव है, वहाँ पर वे किसी के सामन्त राजा हों। परन्तु वहाँ से हटाये जाने पर पहले पहल सामन्त सेन वङ्गदेश में आया और गङ्गा के तट पर रहने लगा। (३)। बहुतों का अनुमान है कि वह प्रथम नवद्वीप में आकर रहा था।

इनके राज्य-काल में बौद्धधर्म का नाश होकर वैदिक धर्म का प्रचार हुआ।

१—सामन्त सेन।

दक्षिण के राजा वीरसेन के वंश में यह राजा उत्पन्न हुआ था। इसीसे इस वंश की श्रृङ्खलाबद्ध वंशावली मिलती है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र का अनुमान है कि वङ्गदेश में कुलीन ब्राह्मणों को लानेवाला शूरसेन नाम का राजा यही वीरसेन है; क्योंकि शूर और वीर दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। परन्तु इतिहास से सिद्ध होता है कि वङ्गदेश में शूरसेन नाम का प्रतापी राजा सामन्तसेन से बहुत पहले हो चुका था और सेनवंशी वीरसेन तो स्वयं दक्षिण से हारकर वहाँ आया था।

हरिमिश्र घटक की कारिका (वंशावली) में लिखा है "महाराज आदिशूर ने कौलाचन्देस (कन्नौज राज्य में) से क्षितीश, मेधातिथि, वीतराग, सुधानिधि और सौभरि, इन पाँच विद्वानों को परिवार सहित लाकर यहाँ पर रक्खा। कुछ समय बाद गौड़-देश पर देवपाल का राज्य हुआ। इसके पश्चात् जब विजयसेन का पुत्र, बल्लालसेन, वहाँ की राजगद्दी पर बैठा तब उसने उन कुलीन ब्राह्मणों के वंशजों को बहुत से गाँव आदि (१) दिये।"

इससे सिद्ध होता है कि आदि-शूर पालवंशी राजा देवपाल से भी पहले हुआ था।

कुछ लोगों का अनुमान है कि आदिशूर कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के समकालीन राजा शशाङ्क से आठवीं पीढ़ी में था। यदि यही अनुमान ठीक हो तब भी वह बङ्गाल के सेनवंशी राजाओं से बहुत पहले हो चुका था। पण्डित गौरीशङ्करजी का अनुमान है कि कन्नौज से कुलीन ब्राह्मणों को बङ्गाल में लाकर बसानेवाला आदिशूर, शायद कन्नौज का राजा भोजदेव हो, जिसका दूसरा नाम आदि-वाराह था। वाराह और शूकर ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अतएव आदिवाराह का आदिशूकर और शूकर का प्राकृत आदि के संसर्ग से शूर हो गया होगा। अतः सम्भव है कि आदिवाराह और आदिशूर एक ही पुरुष के नाम हों।

यह भी अनुमान होता है कि कन्नौज के राजा भोजदेव, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि, और बङ्गाल के पालवंशी एक ही वंश के हों; क्योंकि एक तो ये दोनों सूर्यवंशी थे। दूसरे, जब राठोड़ राजा इन्द्रराज तीसरे ने महीपाल (क्षितिपाल) से कन्नौज का राज्य छीन लिया तब बङ्गाल के पालवंशी राजा धर्मपाल ने इन्द्रराज से कन्नौज छीन कर फिर से महीपाल को ही वहाँ का राजा बना दिया।

१. (J. Bm. A. S., 1896, P. 13).
२. (अद्भुतसागर, श्लोक ४)
३. (Ep. Ind., Vol. I, P. 307-8).

१. (J. Bm. A. S., 1896, P. 21).

डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और जनरल कनिङ्गहाम, सामन्तसेन को वीरसेन का पुत्र या उत्तराधिकारी अनुमान करते हैं। परन्तु हेमन्तसेन के पुत्र विजयसेन के लेख में लिखा है—

क्षोणीन्द्रैर्वीरसेनप्रभृतिभिरभितः कीर्तिमद्भिर्बभूवे।..............

तस्मिन्सेनान्ववाये.......ब्रह्मनिकुलशिरोदाम सामन्तसेनः॥ (१)

अर्थात् उस वंश में वीरसेन आदि राजा हुए और उसी सेन वंश में सामन्तसेन उत्पन्न हुआ॥

इससे वीरसेन और सामन्तसेन के बीच दूसरे राजाओं का होना सिद्ध होता है।

सम्भव है, ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध (विक्रम-संवत् की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध) में सामन्तसेन हुआ हो।

उसके पुत्र का नाम हेमन्तसेन था।

२—हेमन्तसेन।

यह सामन्तसेन का पुत्र था और उसी के पीछे राज्य का अधिकारी हुआ। इसकी रानी का नाम यशोदेवी था, जिससे विजयसेन का जन्म हुआ।

सामन्तसेन और हेमन्तसेन, ये दोनों साधारण राजा थे। इनका अधिकार केवल बङ्गाल के पूर्व के कुछ प्रदेश पर ही था। ये पालवंशियों के सामन्त ही हों तो आश्चर्य नहीं।

३—विजयसेन।

यह हेमन्तसेन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। अरिराज, वृषभशङ्कर और गौड़ेश्वर इसके उपनाम थे। दानसागर में इसे वीरेन्द्र का राजा लिखा है (२)। इससे प्रतीत होता है कि सेनवंश में यह पहला प्रतापी राजा था।

इसके समय का एक शिलालेख देवपाड़ा में मिला है। उसमें लिखा है कि इसने नान्य और वीर नामक राजाओं को बन्दी बनाया तथा गौड़, कामरूप और कलिङ्ग के राजाओं पर विजय प्राप्त (३) किया।

विन्सेंट स्मिथ ने १११९ से ११५८ ईसवी तक इसका राज्य होना माना है।

१. (Ep. Ind., Vol. I, P. 307).

२. (J. Bm. A. S., 1896, P. 20).

३. (Ep. Ind., Vol. 1, P. 309),

पूर्वोक्त 'नान्य' बहुत करके नेपाल का राजा 'नान्यदेव' ही होगा। वह विक्रम-संवत् ११५४ (शक-संवत् १०१९) में विद्यमान था (१)। नेपाल में मिली हुई वंशावलियों में नेपाली संवत् ९, अर्थात् शक-संवत् ८११, में नान्यदेव का नेपाल विजय करना लिखा है। परन्तु यह समय नेपाल में मिली हुई प्राचीन लिखित पुस्तकों से नहीं मिलता। (२)

नेपाली संवत् के विषय में नेपाल की वंशावली में लिखा है कि दूसरे ठाकुरी-वंश के राजा अभयमल्ल के पुत्र जयदेवमल्ल ने नेवारी (नेपाली) संवत् प्रचलित किया था। इस संवत् का आरम्भ शक-संवत् ८०२ (ईसवी सन् ८८० और विक्रम-संवत् ९३७) में हुआ था। जयदेवमल्ल कान्तिपुर और ललितपट्टन का राजा था। नेपाल-संवत् ९ अर्थात् शक-संवत् ८११, श्रावण-शुक्ल-सप्तमी, के दिन कर्णाटक के नान्यदेव ने नेपाल विजय करके जयदेवमल्ल और उसके छोटे भाई आनन्दमल्ल को, जो भाटगाँव आदि सात नगरों का स्वामी था, तिरहुत की तरफ़ भगा दिया था (३)।

इससे प्रकट होता है कि नेपाल-संवत् का और शक-संवत् का अन्तर ८०२ (विक्रम-संवत् का ९३७) है। इसी वंशावली में आगे यह भी लिखा है कि नेपाल-संवत् ४४४, अर्थात् शक-संवत् १२४५, में सूर्यवंशी हरिसिंहदेव ने नेपाल पर विजय प्राप्त किया (४)। इससे नेपाली संवत् और शक-संवत् का अन्तर ८०१ (विक्रम-संवत् का ९३६) आता है।

डाक्टर ब्रामले के आधार पर प्रिन्सेप साहब ने लिखा है कि नेवर (नेपाल) संवत् आक्टोबर (कार्तिक) में प्रारम्भ हुआ और उसका ९५१ वाँ वर्ष ईसवी सन् १८३१ में समाप्त हुआ था (५)। इससे नेपाली संवत् का और ईसवी सन् का अन्तर ८८० आता है। डाक्टर कीलहार्न ने भी नेपाल में प्राप्त हुए लेखों और पुस्तकों के आधार पर, गणित करके, यह सिद्ध किया है कि नेपाली संवत् का आरम्भ २० आक्टो-

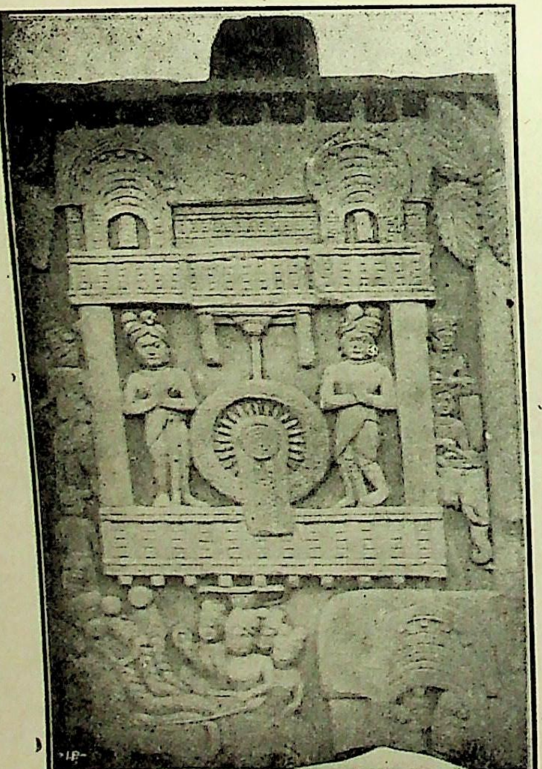
१. (Ep. Ind., Vol. 1, P. 313, note 57).

२. (Ep. Ind., Vol. 1, P. 313, note 57).

३. (Ind. Ant., Vol. XIII, P. 514).

४ (प्रिन्सेप्स एण्टिक्विटीज़, यूज़फुल टेबल्स, भाग २, पृ. १६६)

५. (Ind. Ant., Vol. XVII, P. 246).



धर्मचक्र की पूजा (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (५)

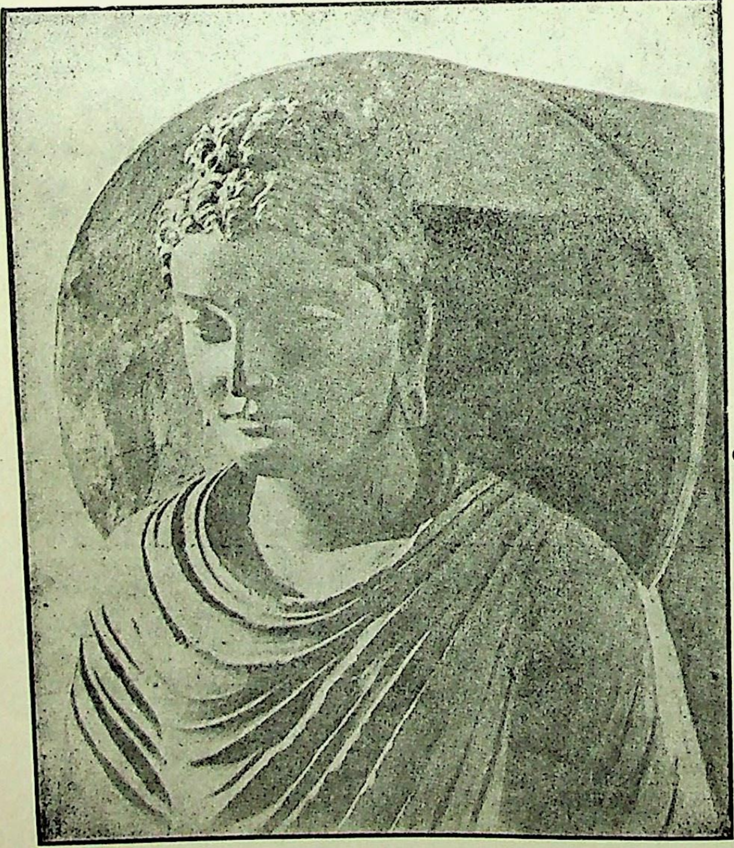


स्तूप की पूजा (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (६)



पुरुष और स्त्री (मौर्यकाल)।
चित्र नम्बर (७)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।



भगवान् बुद्ध (गान्धार-मूर्तिकारी)।
चित्र नम्बर (८)



भगवान् बुद्ध, मथुरा (स्वदेशी कुषान-मूर्तिकारी)।
चित्र नम्बर (९)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

बर, ८७६ ईसवी (विक्रम-संवत् ९३६, कार्तिक शुक्ल १) को हुआ था।

विजयसेन के समय में गौड़-देश का राजा महीपाल (दूसरा), शूरपाल या रामपाल में से कोई होगा। इनके समय में पाल-राज्य का बहुत सा भाग दूसरों ने दबा लिया था। अतः, सम्भव है, विजयसेन ने भी उससे गौड़-देश छीन कर अपनी उपाधि गौड़ेश्वर रक्खी हो।*

इसके पुत्र का नाम बल्लालसेन था।

४—बल्लालसेन।

यह विजयसेन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस वंश में यह सबसे प्रतापी और विद्वान् हुआ, जिससे इसका नाम अब तक प्रसिद्ध है। महाराजाधिराज और निश्शङ्क-शङ्कर इसकी उपाधियाँ थीं। विक्रम-संवत् ११७६ (ईसवी सन् १११६) में इसने मिथिला पर विजय प्राप्त किया। उसी समय इसके पुत्र लक्ष्मणसेन के जन्म की सूचना इसको मिली। उसकी यादगार में विक्रम-संवत् ११७६ (ईसवी सन् १११६ = शक-संवत् १०४१) में इसने, अपने पुत्र लक्ष्मण-सेन के नाम का संवत् प्रचलित किया। तिरहुत में इस संवत् का आरम्भ माघ शुक्ल १ से माना जाता है।

इस संवत् के समय के विषय में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रमाण एक दूसरे से विरुद्ध मिलते हैं। वे ये हैं—

(क) तिरहुत के राजा शिवसिंहदेव के दानपत्र में लक्ष्मणसेन-संवत् २९३, श्रावण शुक्ल ७, गुरुवार, लिख कर साथ ही—"सन् ८०१, संवत् १४५५, शाके १३२१" लिखा है।

(ख) डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के मतानुसार ईसवी सन् ११०६ (विक्रम संवत् ११६२, शक-संवत् १०२७) के जनवरी (माघशुक्ल १) से इसका प्रारम्भ हुआ। (१) "बङ्गाल का इतिहास" नामक पुस्तक के लेखक, मुन्शी शिवनन्दन-सहाय, का भी यही मत है।

(ग) मिथिला के पञ्चाङ्गों के अनुसार लक्ष्मणसेन-संवत् का आरम्भ शक-संवत् १०२६ से १०३१ के बीच के किसी वर्ष से होना सिद्ध होता है। परन्तु इससे निश्चित समय का ज्ञान नहीं होता (१)।

(घ) अबुल-फ़ज़ल के लेखानुसार इस संवत् का आरम्भ शक-संवत् १०४१ में (२) हुआ था।

(ङ) स्मृति-तत्त्वामृत नामक हस्त-लिखित पुस्तक के अन्त में लिखे संवत् के अनुसार अबुलफ़ज़ल का पूर्वोक्त मत ही पुष्ट होता है।

उपर्युक्त शिवसिंह के लेख और पञ्चाङ्गों आदि के आधार पर डाक्टर कीलहार्न ने गणित किया तो मालूम हुआ कि यदि शक-संवत् १०२८, माघ-शुक्ल १, को इसका प्रारम्भ माना जाय तो पूर्वोक्त ६ तिथियों में से ५ के वार ठीक ठीक मिलते हैं और यदि शक-संवत् १०४१, कार्त्तिक-शुक्ल १ को इस संवत् का पहला दिन माना जाय तो छहों तिथियों के वार मिल जाते हैं। परन्तु अभी तक इसके आरम्भ का पूरा निश्चय नहीं हुआ।

ऐसा भी कहते हैं कि जिस समय बल्लालसेन ने मिथिला पर चढ़ाई की उसी समय, पीछे से, उसके मरने की ख़बर फैल गई तथा उन्हीं दिनों उसके पुत्र लक्ष्मणसेन का जन्म हुआ। अतः लोगों ने बल्लालसेन को मरा समझ कर उसके नवजात बालक लक्ष्मण को गद्दी पर बिठा दिया (३) और उसी दिन से यह संवत् चला।

विक्रम-संवत् १२३५ (शक-संवत् ११००) में लक्ष्मण-सेन गद्दी पर बैठा। अतएव यह संवत् अवश्य ही लक्ष्मणसेन के जन्म से ही चला होगा।

बल्लाल ने पालवंशी राजा महीपाल दूसरे को क़ैद करने-वाले कैवर्तों को अपने अधीन कर लिया था। कहा जाता है कि उसने अपने राज्य के पांच विभाग किये थे—१—राढ, (पश्चिमी बङ्गाल), २—वरेन्द्र (उत्तरी बङ्गाल), ३—बागड़ी, (गङ्गा के मुहाने के बीच का देश), ४—वङ्ग (पूर्व बङ्गाल) और ५—मिथिला।

* अबुलफ़ज़ल ने बल्लाल के पिता इसी विजयसेन से इनकी वंशावली लिखी है। परन्तु विजयसेन की जगह उसने सुखसेन लिखा है।

१. (J. B. A. S., Vol. 47, Part I, p. 398.)

१. (Book of Indian Eras, p. 76-79.)

२. (J. B. A. S., part I, p. 1-2.)

३ (लघु भारत, द्वितीय खण्ड, पृ. १४० और J. Bm. A. S., 1896, p'26.)

पहले से ही वङ्ग-देश में बौद्ध-धर्म का बहुत ज़ोर था। अतएव धीरे धीरे वहाँ के ब्राह्मण भी अपना कर्म छोड़ कर व्यापार आदि कार्यों में लग गये थे और वैदिक धर्म नष्ट-प्राय हो गया था। यह दशा देख कर पूर्वोल्लिखित राजा आदिशूर ने वैदिक धर्म के उद्धार के लिए कन्नौज से उच्चकुल के ब्राह्मणों और कायस्थों को लाकर बङ्गाल में बसाया। उनके वंश के लोग अब तक कुलीन कहलाते हैं। आदिशूर के बाद इस देश पर बौद्धधर्मावलम्बी पालवंशियों का अधिकार हो जाने से वहाँ फिर वैदिक-धर्म की उन्नति रुक गई। परन्तु उनके राज्य की समाप्ति के साथ ही साथ बौद्ध धर्म का लोप और वैदिक धर्म की उन्नति का प्रारम्भ हो गया तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था से रहित बौद्ध लोग वैदिक धर्मावलम्बियों में मिलने लगे। इस समय बल्लालसेन ने वर्ण-व्यवस्था का नया प्रबन्ध किया और आदिशूर द्वारा लाये गये कुलीन ब्राह्मणों का बहुत सन्मान किया।

बल्लालसेन-चरित में लिखा है—

"बल्लालसेन ने एक महायज्ञ किया। उसमें चारों वर्णों के पुरुष निमन्त्रित किये गये। बहुत से मिश्रित वर्ण के लोग भी बुलाये गये। भोजनपान इत्यादि से योग्यतानुसार उनका सन्मान भी किया गया। उस समय, अपने को वैश्य समझनेवाले सोनार बनिये अपने लिए कोई विशेष प्रबन्ध न देख कर असन्तुष्ट होगये। इस पर क्रुद्ध होकर राजा ने उन्हें सच्छूद्रों (अन्त्यजों से ऊपर के दरजेवाले शूद्रों) में रहने की आज्ञा दी, जिससे वे लोग वहाँ से चले गये। तब बल्लालसेन ने जाति में उनका दरजा घटा दिया और यह आज्ञा दी कि यदि कोई ब्राह्मण इनको पढ़ावेगा या इनके यहाँ कोई कर्म करावेगा तो वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जायगा। साथ ही उन सोनार-बनियों के यज्ञोपवीत उतरवा लेने का भी हुक्म दिया। इससे असन्तुष्ट होकर बहुत से बनिये उसके राज्य से बाहर चले गये। परन्तु जो वहीं रहे उनके यज्ञोपवीत उतरवा लिये गये। उन दिनों वहाँ पर ब्राह्मण लोग दास-दासियों का व्यापार किया करते थे। यही बनिये उनको रुपया क़र्ज़ दिया करते थे। परन्तु पूर्वोक्त घटना के बाद उन बनियों ने ब्राह्मणों को धन देना बन्द कर दिया। फलतः उनका व्यापार भी बन्द हो गया। तब सेवक न मिलने लगे। लोगों को बड़ा कष्ट होने लगा। उसे दूर करने के लिए बल्लालसेन ने आज्ञा दी कि आज से कैवर्त (नाव चलानेवाले और मछली मारनेवाले अर्थात् मल्लाह और मछुए) लोग सच्छूद्रों में गिने जायँ और उनको सेवक रख कर, उनके हाथ से जल आदि न पीने का पुराना रिवाज उठा दिया जाय। इस आज्ञा के निकलने पर उच्च वर्ण के लोगों ने कैवर्तों के साथ परहेज़ करना छोड़ दिया।

कैवर्तों की प्रतिष्ठा-वृद्धि का एक कारण और भी था। बल्लालसेन का पुत्र लक्ष्मणसेन अपनी सौतेली माँ से असन्तुष्ट होकर भाग गया था। उस समय इन्हीं कैवर्तों ने उसका पता लगाने में सहायता दी थी। ये लोग बड़े बहादुर थे। उत्तरी बङ्गाल में ये लोग बहुत रहते थे। इससे उनके उपद्रव आदि करने का भी सन्देह बना रहता था। परन्तु पूर्वोक्त आज्ञा प्रचलित होने पर ये लोग नौकरी के लिए इधर उधर बिखर गये। इन्हीं ने पालवंशी महीपाल को क़ैद किया था।

बल्लालसेन ने उनके मुखिया महेश को महामण्डलेश्वर की उपाधि दी थी और अपने सम्बन्धियों सहित उसे दक्षिण-घाट (मण्डलघाट) भेज दिया था।

कैवर्तों की इस पदवृद्धि को देख कर मालियों, कुम्भकारों और लुहारों ने भी अपना दरजा बढ़ाने के लिए राजा से प्रार्थना की। इस पर राजा ने उन्हें भी सच्छूद्रों में गिनने की आज्ञा दे दी। उसने स्वयं भी अपने एक नाई को ठाकुर बनाया।"

सोनार-बनियों के साथ किये गये बरताव के विषय में भी लिखा है कि ये लोग ब्राह्मणों का अपमान किया करते थे। उनका मुखिया बल्लाल के शत्रु मगध के पालवंशी राजा का सहायक था। मुखिया ने अपनी पुत्री का विवाह भी पाल राजा से किया था।

उपर्युक्त वृत्तान्त बल्लाल-चरित के कर्ता अनन्त-भट्ट ने शरणदत्त के ग्रन्थ से उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ बल्लालसेन के समय में ही बना था। अतः उसका लिखा वर्णन झूठ नहीं हो सकता।

बल्लालसेन अपनी ही इच्छा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था के नियम बनाया करता था, यह भी इससे स्पष्ट प्रतीत होता है।

आनन्द-भट्ट ने यह भी लिखा है कि बल्लालसेन बौद्धों

(तान्त्रिक बौद्धों) का अनुयायी था। वह १२ वर्ष की नटियों और चाण्डालिनियों का पूजन किया करता था। परन्तु अन्त में बदरिकाश्रम-निवासी एक साधु के उपदेश से वह शैव होगया था। उसने यह भी लिखा है कि ग्वाले, तम्बोली, कसेरे, ताँती (कपड़े बुननेवाले), तेली, गन्धी, वैद्य और शाङ्खिक (शङ्ख की चूड़ियाँ बनानेवाले) ये सब सच्छूद्र हैं और सब सच्छूद्रों में कायस्थ श्रेष्ठ हैं (१)।

सिंहगिरि के आधार पर, अनन्त-भट्ट ने यह भी लिखा है कि सूर्यमण्डल से शाक-द्वीप में गिरे हुए मग-जाति के लोग ब्राह्मण हैं (२)।

इतिहासवेत्ताओं का अनुमान है कि ये लोग पहले ईरान की तरफ़ रहते थे। वहाँ ये आचार्य का काम किया करते थे। वहीं से ये इस देश में आये। ये स्वयं भी अपने को शाक-द्वीप—शकों के द्वीप के—ब्राह्मण कहते हैं। ये फलित-ज्योतिष के विद्वान् थे। अनुमान है कि भारत में फलित-ज्योतिष का प्रचार इन्हीं लोगों के द्वारा हुआ होगा। क्योंकि वैदिक ज्योतिष में फलित नहीं है।

५५० ईसवी के निकट की लिखी हुई एक प्राचीन संस्कृत-पुस्तक नेपाल में मिली है। उसमें लिखा है—

ब्राह्मणानां मगानाञ्च समत्वं जायते कलौ।

अर्थात् कलियुग में ब्राह्मणों का और मग लोगों का दरजा बराबर हो जायगा (३)। इससे सिद्ध है कि उक्त पुस्तक के रचना-काल (विक्रम-संवत् ६०७) में ब्राह्मण मगों से श्रेष्ठ गिने जाते थे।

अलबेरुनी ने लिखा है कि अब तक हिन्दुस्तान में बहुत से ज़रतुश्त के अनुयायी हैं। उनको मग कहते हैं (४) मग ही भारत में सूर्य के पुजारी हैं।

शक-संवत् १०५६ (विक्रम-संवत् ११६४) में मग-जाति के शाकद्वीपी ब्राह्मण गङ्गाधर ने एक तालाब बनवाया था। उसकी प्रशस्ति गोविन्दपुर में (गया ज़िले के नवादा विभाग में) मिली है। उसमें लिखा है कि तीन लोक के रत्नरूप अरुण (सूर्य के सारथि) के निवास से शाकद्वीप पवित्र है। यहाँ के ब्राह्मण मग कहाते हैं। ये सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। इन्हें श्रीकृष्ण का पुत्र शाम्ब (१) इस देश में लाया था। (२) इससे भी ज्ञात होता है कि मग लोग शाक-द्वीप से ही भारत में आये हैं। यह गङ्गाधर मगध के राजा रुद्रमान का मन्त्री और उत्तम कवि था। उसने अद्वैत-शतक आदि ग्रन्थ बनाये हैं।

पूर्व-कथित बल्लालचरित शक-संवत् १४३२ (विक्रम-संवत् १५६७) में आनन्द-भट्ट ने बनाया। उसने उसे नवद्वीप के राजा बुद्धिमत् को अर्पण किया। आनन्दभट्ट बल्लाल के आश्रित अनन्त-भट्ट का वंशज था, और उक्त नवद्वीप के राजा की सभा में रहता था। आनन्द-भट्ट ने यह ग्रन्थ निम्न-लिखित तीन पुस्तकों के आधार पर लिखा है।

१—बल्लाल सेन को शैव बनाने वाले (बदरिकाश्रम-वासी) साधु सिंहगिरि-रचित व्यासपुराण।

२—कवि शरणदत्त का बनाया बल्लालचरित।

३—कालिदास नन्दी की जयमङ्गलगाथा।

साधु सिंहगिरि तो वल्लालसेन का गुरु ही था। परन्तु पिछले दोनों, शरणदत्त और कालिदास नन्दी, भी उसके समकालीन ही होंगे, क्योंकि शक-संवत् ११२७ (विक्रम-संवत् १२६२) में लक्ष्मण-सेन के महामाण्डलिक, बटुदास के पुत्र, श्रीधरदास, ने सदुक्तिकर्णामृत नामक ग्रन्थ सङ्ग्रह किया था। उसमें इन दोनों के रचित पद्य भी दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में बङ्गाल के कोई ४०० से अधिक कवियों के श्लोक सङ्ग्रह किये गये हैं। अतएव यह ग्रन्थ इन कवियों के समय का निर्णय करने के लिए बहुत उपयोगी है। इस ग्रन्थ के कर्ता का पिता बटुदास लक्ष्मणसेन का प्रीति-पात्र और सलाहकार सामन्त था (३)।

बल्लालसेन विद्वानों का आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं भी विद्वान् था। शक-संवत् १०६१ (विक्रम-संवत् १२२६) में उसने दान-सागर नामक पुस्तक समाप्त की और इसके एक वर्ष पहले, शक-संवत् १०६० (वि० सं० १२२५) में

१ (J. Bm. A. S. Pro., 1902, January.)
२ (J. Bm. A. S. Pro., 1901, P. 75.)
३ (J. Bm. A. S. Pro., 1902, P. 3.)
४ (Alberunis' India, English translation, Vol. I, P. 21.)

१. इसकी माता का नाम जाम्बवती था।
२. (Ep. Ind., Vol. II, p. 333.)
३. (J. Bm. A. S. Pro., 1901, p. 75.)

अद्भुतसागर नामक ग्रन्थ बनाना प्रारम्भ किया था। परन्तु इसे समाप्त न कर सका। बल्लालसेन की मृत्यु के विषय में इस ग्रन्थ में लिखा है—

शक-संवत् १०९० (विक्रम-संवत् १२२५) में बल्लालसेन ने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया और इसके समाप्त होने के पहले ही उसने अपने पुत्र लक्ष्मणसेन को राज्य सौंप दिया। साथ ही इस पुस्तक के समाप्त करने की आज्ञा भी दे दी। इतना काम करके गङ्गा और यमुना के सङ्गम में प्रवेश करके अपनी रानी सहित उसने प्राण त्याग किया। इस घटना के बाद लक्ष्मणसेन ने अद्भुतसागर समाप्त करवाया।

बल्लालसेन की गङ्गा-प्रवेश वाली घटना शक-संवत् ११००, विक्रम-संवत् १२३५ या ईसवी सन् ११७८ के इधर उधर होनी चाहिए; क्योंकि लक्ष्मणसेन का महामाण्डलिक श्रीधरदास, अपने सदुक्तिकर्णामृत ग्रन्थ की समाप्ति का समय शक-संवत् ११२७ (विक्रम-संवत् १२६२ = ईसवी सन् १२०५) लिखता है। उसने यह (१) भी लिखा है कि यह संवत् लक्ष्मणसेन के राज्य का सत्ताईसवाँ वर्ष है।

लक्ष्मणसेन का जन्म शक-संवत् १०४१ (विक्रम-संवत् ११७६) में हुआ था। उस समय उसका पिता बल्लालसेन मिथिला विजय कर चुका था। अतएव यह स्पष्ट है कि उस समय के पूर्व ही वह (बल्लालसेन) राज्य का अधिकारी हो चुका था। अर्थात् बल्लालसेन ने ५९ वर्ष से अधिक राज्य किया।

यदि लक्ष्मणसेन के जन्म के समय बल्लालसेन की अवस्था २० वर्ष की ही मानी जाय तो भी गङ्गा-प्रवेश के समय वह ८० वर्ष के लगभग था। ऐसी अवस्था में यदि अपने पुत्र को राज्य सौंप कर उसने जल-समाधि ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि प्राचीन समय से ऐसा ही होता चला आया है।

बहुत से विद्वानों ने बल्लालसेन के देहान्त और लक्ष्मणसेन के राज्याभिषेक के समय से लक्ष्मणसेन-संवत् का चलना अनुमान करके जो बल्लालसेन का राजत्वकाल स्थिर किया है वह सम्भव नहीं। यदि वे दानसागर, अद्भुतसागर और सूक्तिकर्णामृत नामक ग्रन्थों को देखते तो उसकी मृत्यु के समय में उन्हें सन्देह न होता। मिस्टर प्रिंसैप ने अबुलफ़ज़ल के लेख के आधार पर ईसवी सन् १०६६ से ११९६ तक ५० वर्ष बल्लालसेन का राज्य करना लिखा है। परन्तु जनरल कनिङ्गहाम ने १०५० ईसवी से १०७६ ईसवी तक और डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने ईसवी सन् १०५६ से ११०६ तक अनुमान किया है। परन्तु ये समय ठीक नहीं जान पड़ते। मित्र महोदय ने दानसागर की रचना के समय का यह श्लोक उद्धृत किया है—"पूर्णे शशिनवदशमिते शकाब्दे" परन्तु इसका अर्थ करने में १०९१ की जगह, भूल से, १०१९ रख दिया गया है। बस इसी एक भूल से आगे बराबर भूल होती चली गई है।

पुराने पत्रों में बल्लालसेन का जन्म शक-संवत् ११२४ (विक्रम-संवत् १२५९) में होना लिखा है। वह भी ठीक नहीं है। विन्सेंट स्मिथ साहब ने बल्लाल का समय ११५८ से ११७० ईसवी तक लिखा है।

(असमाप्त)

१. (Notes on Sanskrit Mss., Vol. III, p. 141.)

उद्गार।

मेरे जीवन की लघु तरणी !
आँखों के पानी में तर जा ॥
मेरे उर का छिपा ख़ज़ाना,
अहङ्कार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त स्वेद-बूँदों में ढर जा ॥ १ ॥
मेरे नयनों की चिर-आशा,
प्रेम-पूर्ण सौन्दर्य-पिपासा,
मत कर नाहक़ और तमाशा;
आ मेरी आहों में भर जा ॥ २ ॥
मृदुल मनोरथ-तरु में फूला,
फूल ! रङ्ग में अपने भूला,
भूल चुका बस जो कुछ भूला,
अब अपनी डाली से झर जा ॥ ३ ॥
चढ़ी हृदय में चिता कराला,
ऊपर नभ तक उठती ज्वाला,
मरण-दुःख ! ले मुक्ता-माला,
गिर कर अब उसमें तू मर जा ॥ ४ ॥

अय मेरे प्राणों के प्यारे !
इन अधीर आँखों के तारे !
बहुत हुआ मत अधिक सता रे !
बातें कुछ भी तो अब कर जा ॥ ५ ॥

मानस-भवन पड़ा है सूना,
तमोधाम का बना नमूना,
कर उसमें प्रकाश अब दूना,
मेरी उग्र वेदना हर जा ॥ ६ ॥

मोहित तुझको करनेवाली
नहीं आज मुख की वह लाली,
हृदय-यन्त्र यह रक्खा खाली,
अब नूतन-सुर उसमें भर जा ॥ ७ ॥

—मुकुटधर

विविध विषय।

१—संस्कृत के नाटक शोकपर्य्यवसायी क्यों नहीं हैं ?



संस्कृत-भाषा में ऐसा कोई नाटक नहीं जो शोकान्त हो। यह अकारण नहीं। हमारे यहाँ के नाट्यशास्त्र का नियम है कि नाटक दुःखान्त न होना चाहिए। यही नहीं, उसमें नाटक के बीच में भी ऐसे प्रयोग का निषेध है जो ग्लानि या खेद उत्पन्न करे। दूसरे यह कि हम, भारतवासी, जीवन के आदर्श पर ही दृष्टि रखते चले आये हैं। हमारा ध्यान इसी बात पर रहा है कि जीवन कैसा हो; इस बात पर नहीं कि जीवन जैसा है वैसा ही रहे। यही कारण है कि हमने इतिहास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया; आध्यात्मिक ज्ञान पर ही ज़ोर देते रहे। इसी लिए हमारे नाटकों में भी उन घटनाओं के दिखलाने का निषेध किया गया है जो साधारण तौर पर होती तो हैं, पर अच्छे मन को बुरी लगती हैं।

पश्चिमी जातियाँ जीवन के वर्तमान दृश्य पर विशेष दृष्टि रखती हैं। अतएव उनके नाट्यशास्त्र में शोकान्त नाटक के निषेध का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

हमारे यहाँ प्रायः कोई भी पुस्तक मङ्गलाचरण—देवता की स्तुति—के बिना आरम्भ नहीं होती। विशेष करके नाटक में तो अवश्य ही आशीर्वाद, नमस्कार अथवा अन्य रूप में ईश्वर की स्तुति की जाती है। इसके साथ ही दर्शकों की कुशलता के लिए भी प्रार्थना की जाती है। क्योंकि उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिए नाटक खेला जाता है। इस स्थिति में यदि मृत्यु या वियोग आदि का दृश्य अन्त में दिखाया जाय तो फिर नाटक के आदि में किया गया मङ्गलाचरण व्यर्थ ही हो जाय।

हमारे यहाँ नायक साधारणतः ऐसा व्यक्ति चुना जाता है जिसका नाम मात्र सुनने से पवित्रता या महत्ता का चित्र हृत्पटल पर खिंच जाता है। ऐसे अलौकिक पुरुषों के चरित्र का अन्त यदि शोकात्मक हो तो भी उसे वैसा ही दिखलाना हमारे नाट्यशास्त्र के नियम के विरुद्ध है। इसका विपरीत दृश्य दिखाने से दर्शकों का आनन्द बढ़ जाता है। देखिए, उत्तर-रामचरित में, सीता-वनवास के बाद, सुख-पूर्वक राम और सीता का संयोग हो जाता है।

जिस समय हमारे यहाँ नाटक की सृष्टि हुई उस समय हमारी अध्यात्म-विद्या की दशा हीन होती जा रही थी। अर्थात् संसार को असार मानने की ओर हमारी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। हम संसार के उज्ज्वल और आनन्दमय दृश्य को भूलते जा रहे थे। हममें यही भाव बढ़ता जा रहा था कि यहाँ पाप, भय और दुःख का ही राज्य है। संसार असार नहीं—फिर चाहे वह युद्ध का मैदान हो, चाहे फूल की सेज; इसका दृश्य रङ्ग-मञ्च पर दिखाना उस समय की आवश्यकता थी। पर इसका उद्देश वही था जो वेदान्त आदि का है। भेद इतना ही था कि उनमें पाप के रोगों की दवा जहाँ कड़वी थी वहाँ वह मधुमिश्रित कर दी गई। क्लेश-कारक तप आदि के स्थान पर जादू की लालटेन के दृश्य दिखाये जाने लगे। तत्कालीन नाटककारों की धारणा हो गई थी कि पापियों को पाप का दृश्य दिखा कर सीधे रास्ते पर चलने का उपदेश करना ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा करने से वे कहते हैं कि देखो, हमें पापी बनाया। फलतः उनकी रुचि पाप में बढ़ती है।

इससे कोई यह न समझे कि नाटककार शोक का वर्णन करते ही नहीं; करते हैं; पर किस लिए ? अन्त के सुख की मात्रा-वृद्धि के लिए—उसकी महत्ता बढ़ाने के लिए।

ब्रजलाल महाजन (बी० ए०)

२—मनःशक्ति का विलक्षण प्रभाव।

शरीर और मन अन्योन्याश्रित हैं। शरीर को कष्ट मिलने से उसका प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है और मन के अस्वस्थ होने पर शरीर भी रुग्ण हुए बिना नहीं रहता। तथापि शरीर की अपेक्षा मन विशेषता रखता है। मन शरीर से इच्छानुसार कार्य्य करा लेता है। विचार की दृढ़ता, अर्थात् विश्वास, का प्रभाव शरीर पर बड़ा चमत्कारी होता है। इसका एक उदाहरण सुनिए—

अमेरिका के मानस-शास्त्रियों ने एक बार एक अद्भुत प्रयोग किया। वे यह जानना चाहते थे कि मनःशक्ति या विश्वास का प्रभाव शरीर पर क्या होता है। एक व्यक्ति न्यायालय से प्राण-दण्ड पा चुका था। प्रयोगेच्छुकों ने उसे अदालत से इस शर्त पर ले लिया कि हम इसे जीता न छोड़ेंगे; इसका प्राण-नाश तो हो जायगा, पर ऐसे ढँग से कि इसे ज़रा भी कष्ट न होने पावेगा। फिर उन्होंने इस पर अपना प्रयोग आरम्भ किया। पहले उन्होंने उसे एक मेज़ पर लिटाया। उसके हाथ बाँध दिये और आँखों पर भी एक पट्टी बाँध दी। कान सिर्फ़ खुले रक्खे। इस तरह उन्होंने कान छोड़ कर वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के सब साधन बन्द कर दिये। फिर एक आदमी ने कहा—मैं इसकी गरदन की मुख्य रक्तवाहिनी नस में नश्तर लगाये देता हूँ, जिस से इसके शरीर का सारा ख़ून निकल जाय। दूसरों ने इसका समर्थन किया। तब उसने उसकी गरदन की रग टटोल कर ज़ोर से एक चुटकी ली। उस मनुष्य ने जाना—नश्तर लगा दिया। फिर गरदन के पास ही रबर की एक नली रख दी गई और उसमें से बूँद बूँद पानी नीचे रक्खे हुए एक बरतन में गिराया जाने लगा तथा उसे सुना कर कह दिया गया कि ख़ून निकलने लगा। उस आदमी को विश्वास हो गया कि ख़ून टपक रहा है। पर बात वास्तव में ऐसी न थी। थोड़ी देर बाद एक मनुष्य ने कहा—"यों बूँद बूँद ख़ून निकालने से तो बहुत समय लग जायगा। आप लोगों की राय हो तो मैं नस का मुँह और बड़ा कर दूँ।" यह कह कर उसने ज़ोर से एक और चुटकी ली और कहा—अब नस का छेद काफ़ी बड़ा हो गया; थोड़ी ही देर में सारा ख़ून शरीर से निकल जायगा। साथ ही उस रबर की नली से अधिक पानी गिराया जाने लगा। तब दूसरा आदमी उसके हृदय और नाड़ी की गति देख कर कहने लगा—नाड़ी और हृदय की गति बहुत मन्द हो गई है; थोड़ी ही देर में बिलकुल बन्द होना चाहती है। यह सुन सुन कर उस व्यक्ति को विश्वास हो गया कि अब मेरा अन्त समय निकट आ पहुँचा। ज्यों ज्यों उसका विश्वास दृढ़ होता जाता था त्यों त्यों उसका शरीर शिथिल और चेष्टायें शून्य होती जाती थीं। हृदय और नाड़ी की गति में भी पहले की अपेक्षा आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। अन्त में प्रयोग-कर्त्ताओं ने रबर-नालिका से पानी टपकाना बन्द करके कह दिया कि अब इसके शरीर में ज़रा भी ख़ून बाक़ी नहीं रह गया। थोड़ी देर बाद डाक्टरों ने परीक्षा करके कहा कि अब यह पाँच मिनिट से अधिक ज़िन्दा नहीं रह सकता। बस, पाँच मिनिट बाद फिर डाक्टरों ने जो उसे देखा तो बिलकुल ठण्डा—चेतनाशून्य—पाया।

इससे जाना जाता है कि विचार की दृढ़ता, निश्चय या विश्वास का कैसा अद्भुत प्रभाव शरीर पर होता है।

काशीप्रसाद बाजपेयी

३—गवर्नमेंट और अँगरेज़ी अख़बार।

मार्च में गवर्नर जनरल के कौंसिल की कई बैठकें हुईं। एक में माननीय ख़ान-बहादुर मीर असदअलीख़ाँ ने गवर्नमेंट से एक प्रश्न बड़े पते का पूछा। उन्होंने प्रश्न किया कि क्या अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों के अँगरेज़ी अख़बारों की कुछ कापियाँ गवर्नमेंट भी ख़रीदती है? और ख़रीदती है तो किसकी कितनी? उत्तर में कहा गया—"हाँ"—और एक तालिका पेश की गई। उसके अनुसार जिस पत्र की जितनी कापियाँ मोल ली जाती हैं उनके नाम और उनकी संख्या नीचे देखिए—

नाम	कापियों की संख्या
(१) पायनियर	४४
(२) टाइम्स आफ़ इंडिया	२९
(३) स्टेट्समैन	२७
(४) सिविल ऐंड मिलिटरी गैज़ट	२६
(५) कैपिटल	१८
(६) इँगलिशमैन	१३
(७) मदरास-मेल	१३

(८) बङ्गाली	११
(९) ट्रिब्यून	१०
(१०) हिन्दू	प्रत्येक ८ की
(११) अमृत-बाज़ार-पत्रिका	
(१२) बाम्बे क्रानिकल	
(१३) लीडर	
(१४) न्यू इंडिया	७
(१५) जस्टिस	६
(१६) मराठा	६

इनमें से (१) से (७) तक के पत्र अँगरेज़ों के हैं और (८) से (१६) तक के हिन्दुस्तानियों के। इस तालिका से स्पष्ट है कि किस अख़बार को गवर्नमेंट कितने महत्त्व का समझती है। पायनियर शीर्ष-स्थानीय है। इससे कोई शायद यह समझे कि कापियों की संख्या की न्यूनाधिकता गवर्नमेंट की कृपा की न्यूनाधिकता से भी कुछ सम्बन्ध रखती है। पर गवर्नमेंट कह सकती है, इसका सबूत क्या? गवर्नमेंट के बड़े अफ़सर जिसे अपने अधिक काम का समझते हैं उसे अधिक पढ़ते हैं। देशियों की राय जानने की शायद वे उतनी ज़रूरत नहीं समझते जितनी ज़रूरत अँगरेज़ अख़बार-नवीसों की राय जानने की समझते हैं। परन्तु देशी सम्पादक ही इस देश के निवासियों की यथार्थ स्थिति जान सकते हैं, विदेशी नहीं। अतएव (८) से (१६) तक के पत्रों को ही अधिक लेना और पढ़ना राजा और प्रजा दोनों ही के लिए विशेष लाभदायक है।

४—दुर्भिक्ष पर सरकारी रिपोर्ट।

१९१३–१४ का साल इस प्रान्त के लिए बड़ी विपत्ति का था। उस साल, अवर्षण के कारण, दुर्भिक्ष या अकाल पड़ गया था। ऐसे कुसमय में प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य-पालन के लिए इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने भी मिहनत मज़दूरी करनेवालों के लिए कुछ काम खोले थे। लोगों को तक़ावी दी थी। कहीं कहीं लगान छोड़ दिया था। कहीं कहीं मुलतवी कर दिया था। इन्हीं सब बातों का वर्णन उसने अपनी एक विस्तृत रिपोर्ट में किया है। रिपोर्ट का सम्बन्ध है तो १९१३-१४ के साल से, पर निकली है यह अब—कोई चार वर्ष बाद। इसके लेखानुसार दुर्भिक्ष के साल फ़सल न होने से, काश्तकारों को २७½ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी।

इसके सिवा करोड़ों रुपये के पशु उनके मर गये। चारा मिला ही नहीं। पशु बचें कैसे? यह हानि फसल नष्ट हो जाने की हानि के अलावा हुई। पिछले दुर्भिक्षों में इतनी हानि न हुई थी। देखिए—

१८९६-९७ में ३४,५०,००,००० रुपये की और १९०७-०८ में ५७,००,००,००० की ही हानि हुई थी। पर १९१३-१४ में ५७½ करोड़ का धक्का बेचारे कृषकों को लगा। दुर्भिक्ष-पीड़ितों को गवर्नमेंट ने कितनी मदद दी, इसका लेखा भी सुनिए—

१८९६-९७ में	२,१७,००,०००	रुपया
१९०७-०८ में	२,०५,१५,०००	
१९१३-१४ में	३४,३०,०००	

पिछले दुर्भिक्ष में हानि तो हुई ५७½ करोड़ की, पर मदद गवर्नमेंट से मिली केवल ३४ लाख तीस हज़ार की! बैल-बधिये भी मरे, अन्न भी न पैदा हुआ, सरकार ने मदद भी कम की। इस आपत्ति-परम्परा को तो देखिए। एक हिसाब से सरकार से जो कम मदद मिली सो अच्छा ही हुआ। क्योंकि इस तरह की मदद लौटानी पड़ती है और रुपया वसूल करने में बड़ी कड़ाई की जाती है। ऐसे समय में सरकार दुखी—ग़रीबों को कुछ रुपया यों भी देकर उनके प्राण बचाती है। इस तरह दी गई रक़म का हिसाब नीचे देखिए—

	रुपया
१९०७-०८ में	५४,३७,०००
१९१३-१४ में	१२,०६,०००

पिछला दुर्भिक्ष पहले की अपेक्षा अधिक भीषण था। पर सरकार ने पहले की अपेक्षा चौथाई से भी कम उदारता दिखाई। इसका कारण शायद रुपये की कमी हो। भूखा दूसरे को भला क्या खिलावेगा? सरकार ने इतना और भी किया कि १९१३-१४ में ४८,५४,००० रुपया मालगुज़ारी मुआफ़ कर दी और पशुओं की रक्षा के लिए २१ लाख रुपया ख़र्च कर दिया।

५—लन्दन के अख़बारों की बिक्री।

भारत के अख़बारों का प्रचार बहुत ही कम है। एक

समय था जब किसी अख़बार की ५०० कापियों का बिक जाना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी । अब वे दिन नहीं रहे । अब अख़बारों का प्रचार बहुत बढ़ गया है । पर, इस देश में, अब भी एक भी अख़बार ऐसा नहीं जिसकी एक लाख क्या पचास हज़ार कापियां भी छपती हों । सुनते हैं, तिलक महाराज के केसरी का प्रचार बहुत अधिक है । पर उसकी भी कापियों की संख्या बहुत करके पचास हज़ार से कम ही होगी । अब विलायत के अख़बारों का हाल सुनिए । लन्दन से जो दैनिक पत्र निकलते हैं उनकी कापियों की संख्या, १९१४ ईसवी में, अर्थात् युद्धारम्भ के पहले, इस प्रकार थी—

नाम	कापियों की संख्या
(१) डेली क्रानिकल	३,०८,७७७
(२) डेली एक्सप्रेस	४,००,०००
(३) डेली मिरर	६,६०,०००
(४ डेली टेलिग्राफ़	१,८३,३६३
(५) टाइम्स	१,५०,०००
(६) डेली मेल	८,१४,६१२

इनमें से नंबर (१), (४) और (५) की कापियों की संख्या प्रचार-संख्या नहीं, किन्तु बिकी हुई कापियों की संख्या है । नंबर (१) और (३) का जितना मूल्य पहले था अब उसका दूना हो गया है । इसका कारण युद्ध है । पर मूल्य बढ़ जाने पर भी इनकी बिक्री अब पहले से भी अधिक है । डेली-एक्सप्रेस पहले चार ही लाख निकलता था; पर अब छः लाख निकलने लगा है । डेली मिरर का प्रचार तो बहुत ही बढ़ा हुआ है । कुछ कम दस लाख कापियाँ उसकी पहले ही निकलती थीं । अब तो उनकी संख्या और भी बढ़ गई होगी । कुछ ठिकाना है ! वहाँ लोगों को युद्ध की ख़बरें पढ़ने का इतना चाव रहता है कि वे अख़बार पहले पढ़ लेते हैं; मुँह में रोटी का टुकड़ा पीछे डालते हैं । क्या कभी भारत के भी अख़बारों के भाग्य खुलेंगे ?

६—कृषि की उन्नति के लिए सरकारी चेष्टा ।

१९१६-१७ में कृषि-विषयक कामों में कितनी और किस तरह की उन्नति हुई, इसका वर्णन गवर्नमेंट ने अपनी एक रिपोर्ट में किया है । उसमें लिखा है कि गवर्नमेंट का विशेष ध्यान अनाज की उपज बढ़ाने की ओर है । विशेष करके गेहूँ की उपज । १९१५—१६ में ३,०३,२०,००० एकड़ ज़मीन में गेहूँ बोया गया था । १९१६—१७ में वह रक़बा बढ़ कर ३,२९,४०,००० एकड़ हो गया । पहले साल ८६,५२,००० टन गेहूँ पैदा हुआ था । रिपोर्ट के साल उसकी पैदावार बढ़ कर १,०१,५८,००० टन हो गई । इस पिछली पैदावार में से ७,३३,६६४ टन गेहूँ विदेश भेजा गया । बाक़ी यहीं रहा । पूसा के गेहूँ नंबर १२ की ख़ूब माँग रही । इसे काश्तकार बहुत पसन्द करते हैं । मामूली गेहूँ से इस गेहूँ की पैदावार सवाई होती है । इसका दाना भी ख़ूब बड़ा होता है और हवा से यह गिरता भी कम है । इसका बीज बढ़ाने की चेष्टा हो रही है । क्योंकि अभी यह इतना कम बोया जाता है कि सब को इसका बीज नहीं मिलता । कोई ५० हज़ार एकड़ में यह अकेले संयुक्त-प्रान्त में बोया जाता है । गेहूँ की और अच्छी नसलें पैदा करने की भी चेष्टा हो रही है । कृषि के महकमे ने ईख की भी कितनी ही नई नई नसलें तैयार की हैं । आज कल ६७ प्रकार की ईख इस देश में बोई जाती है । पहले इसकी संख्या कोई दस ही बारह थी । सिगरेट बनाने योग्य तम्बाकू भी पैदा की गई है । अब उसकी भी खेती होती है और दिन पर दिन वृद्धि पर है । नील की पैदावार बढ़ाने के लिए भी गवर्नमेंट बहुत प्रयत्न कर रही है । उस पर उसने अब टैक्स भी लगा दिया है । विदेश भेजने पर भेजनेवाले को टैक्स देना पड़ता है । यह इस लिए कि यहाँ की नील यहीं रहे, उसके कारोबार की वृद्धि हो और उसके बनाने के ढंग में वैज्ञानिक उन्नति की जाय ।

७—रोमन अक्षरों के प्रचार की चेष्टा पर विचार ।

फ़रवरी १९१८ के माडर्न रिव्यू में बाबू श्यामाचरण गंगूली, बी० ए० का एक लम्बा लेख निकला है । उसमें आपने, पहले, रोमन-लिपि के प्रचार-सम्बन्ध में की गई चेष्टाओं का संक्षिप्त इतिहास लिखा है । आपने दिखाया है कि कब, किस ने, किस प्रकार के प्रयत्न इस विषय में किये और उनको कहाँ तक सफलता हुई । ३६ वर्ष हुए जब जे० एफ़० ब्राउन नामक एक साहब ने, जो २४ परगने में जज थे, बङ्किम बाबू की दुर्गेशनन्दिनी को रोमन में प्रकाशित किया । भाषा बँगला ही रही, केवल लिपि रोमन कर दी गई । इस पर श्यामाचरण बाबू ने वर्तमान रोमन-लिपि के

दोष बताये और कहा कि जैसी लिपि यह है वैसी ही रखने से उसमें पूर्वी भाषाओं की पुस्तकें शुद्धतापूर्वक नहीं छप सकतीं। आप हैं तो इसी लिपि के व्यापक प्रचार के पक्ष-पाती, पर उसमें अपने मन का संशोधन चाहते हैं। यह संशोधन किस प्रकार का होना चाहिए, इस का विवरण भी आपने दिया है। आप का कथन है कि जिन जिन देशों में यह लिपि प्रचलित है उनको चाहिए कि वे सब एक-मत हो कर इसकी सदोषता दूर करदें और अपनी भाषाओं के उच्चारण और लिखावट में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें भी मार भगावें। तब कहीं रोमन लिपि का व्यापक व्यवहार साध्य हो सकेगा। जब तक "गेव" (Gave) और "हैव" (Have) आदि के उच्चारण में समता न होगी तब तक अभीष्ट-सिद्धि न हो सकेगी। लिखने और छापने की लिपि की विभिन्नता भी दूर होनी चाहिए।

इसके बाद आपने पादरी नोल्स साहब की पुस्तक का हवाला देकर उनकी उक्तियों का खण्डन किया है। पादरी साहब भारत की निरक्षरता का कारण यहाँ की लिपि बताते हैं। श्यामाचरण बाबू इसे उनका भ्रम समझते हैं। ब्रह्मदेश की लिपि टेढ़ी-मेढ़ी है। पर वहाँ रोमन-लिपि के प्रयोक्ता स्पेन और पोर्चुगल की अपेक्षा साक्षरता अधिक है। अतएव निरक्षरता का कारण यहाँ की लिपियाँ नहीं, शिक्षा-प्रचार के साधनों की कमी है।

जर्मनी के लेपसियस नामक एक विद्वान् ने देवनागरी-लिपि की बड़ी प्रशंसा की है। उसे उसने विज्ञान-सम्मत बताया है और राय दी है कि उसके मुक़ाबले में भारतवासी वर्त्तमान रोमन-लिपि को नहीं ग्रहण कर सकते। क्योंकि उसमें अनेक दोष हैं। इस विद्वान् ने सुधरे हुए रोमन-अक्षरों का निर्म्माण भी किया है। तथापि अभी तक उनका भी प्रचार नहीं हुआ। इसी से प्रबन्ध-लेखक ने रोमन-लिपि में और भी सुधार करने की आवश्यकता बताई है और उस सुधार का दिग्दर्शन भी किया है। पर वह इतना जटिल है कि उसके प्रचार की सम्भावना बहुत ही कम है। इसी से हम उसका उल्लेख नहीं करते। आपका कहना है कि देवनागरी-लिपि में भी दोष हैं। क्योंकि बङ्गाली लिखते तो "दक्षिण" हैं, पर बोलते या पढ़ते हैं "दोक्खिन"। सो आप के विचारानुसार यह दोष बङ्गालियों की उच्चारण-विलक्षणता का नहीं; देव-नागरी-लिपि की सदोषता का है। अस्तु, आपका यह कहना बहुत ठीक है कि जो पश्चिमी पण्डित इस देश में रोमन-लिपि चलाना चाहते हैं वे ज़रा अपने घर का कूड़ा-कचरा तो पहले साफ़ करदें। अपनी लिपि को वे पहले सुधार लें तब और देशों में उसे प्रचलित करने की चेष्टा करें।

८—मोड़ी बनाम बालबोध।

महाराष्ट्र-प्रान्त में किसी समय सरकारी कचहरियों और दफ़्रों में मोड़ी ही का दौरदौरा था। कुछ समय हुआ, गवर्नमेंट ने, इस विषय में, बहुत कुछ फेरफार कर दिया। उसने उस प्रान्त के मध्य-भाग (Central Division) में मोड़ी की जगह बालबोध-लिपि को दे दी। थाना, कुलाबा और रत्नागिरी-ज़िलों में भी उसने बालबोध का ही प्रचार कर दिया। इस पर वहाँ के कौंसिल में, सरकारी और ग़ैर-सरकारी मेम्बरों के बीच, परस्पर, तुमुल वाग्युद्ध हुआ। मताधिक्य के कारण, गवर्नमेंट को निरुपाय होकर प्रजापक्ष की राय माननी पड़ी। यह राय थी मोड़ी को प्रचलित रखने के पक्ष में। कौंसिल की कारखाई की जो रिपोर्ट उस समय अख़बारों में निकली थी उससे सूचित हुआ था कि बेचारी बालबोध-लिपि को सम्पूर्ण-भाव से पराजय स्वीकार करना पड़ेगा। पर बात वैसी नहीं हुई। उसके प्रचार के लिए फिर भी यथेष्ट साधन विद्यमान रहेंगे। गवर्नमेंट ने अपने मन्तव्य में उसके बहिष्कार की मंज़ूरी नहीं दी। उसने आज्ञा दी है कि रजिस्टरार लोगों के दफ़्रों में जो रजिस्टर रहते हैं उनसे सम्बन्ध रखनेवाली दस्तावेज़ों और नक़लों में, लोगों के हक़ों के इन्दराज जिन रजिस्टरों में किये जाते हैं उनमें, और प्रजा को जो नोटिसें भेजी जाती हैं उनमें भी एकमात्र बालबोध-लिपि का ही प्रयोग किया जाय। और सब काग़ज़ात में जिसका जी चाहे मोड़ी लिखे, जिसका जी चाहे बालबोध। पर शर्त यह है कि जो कुछ लिखा जाय साफ़ लिखा जाय, घसीट नहीं। लिपि घसीट है या नहीं, इसका फ़ैसिला सरकारी अफ़सर करेंगे। इस प्रकार, फिर भी बालबोध-लिपि की ही जीत रही। अफ़सर लोग मोड़ी लिपि अच्छी तरह नहीं पढ़ सकते। उधर मुहर्रिरों की आदत पड़ रही है घसीट लिखने की। अब यदि वे अपनी आदत न छोड़ेंगे तो उनके लिखे हुए काग़ज़ न लिये जायँगे। इस झंझट से बचने के लिए

बालबोध का आश्रय लिये बिना निस्तार न होगा। फलतः बालबोध का विशेष प्रचार हुए बिना न रहेगा। यह बहुत ही उचित हुआ। इससे मोड़ी-प्रियों को भी अपनी प्रियतमा लिपि से सम्बन्ध-विच्छेद न करना पड़ेगा, शर्त यह है कि वे उसे स्वच्छ और सादे कपड़े पहनावें।

९—माइसोर में चन्दन के तेल के कारख़ाने।

सम्पत्तिमान् और प्रभुताशाली होने के लिए व्यापार से बढ़ कर और कोई साधन नहीं। चार वर्ष पहले जर्म्मनी का व्यापार ख़ूब बढ़ा चढ़ा था। अब जापान व्यापार-वृद्धि की चेष्टा में रत है। इसीलिए उसकी ओर समस्त राष्ट्रों की दृष्टि लगी हुई है। जो देश अपनी ही उपज से अपने ही देश में जितना अधिक माल तैयार कर सकता है उसे उतना ही अधिक लाभ होता है। माइसोर की सरकार इस तत्त्व से भली भाँति परिचित है। यही कारण है जो माइसोर-राज्य में व्यापार के वर्धक उद्योग-धन्धों की वृद्धि की जा रही है। चन्दन के तेल के भी दो कारख़ाने वहाँ हैं—एक बँगलोर में, दूसरा माइसोर में। पहले बँगलोर में कारख़ाना खोला गया। प्रयोग-द्वारा सफलता-प्राप्ति का विश्वास हो जाने पर माइसोर में दूसरा कारख़ाना खोला गया। यह कारख़ाना बहुत बड़ा है। माइसोर-रियासत की चन्दन की सारी पैदावार तथा कुर्ग-प्रान्त और मदरास-प्रदेश से भी मिलनेवाली सामग्री से तेल बनाने की क्षमता इस कारख़ाने में है। कोई २० लाख रुपये साल का तेल उसमें से निकलता है। अभी कारख़ाना खुले एक ही वर्ष हुआ है। पर कहते हैं कि बँगलोर और माइसोर के दोनों कारख़ाने जब अच्छी तरह चल निकलेंगे तब रियासत को आज से चौगुनी आमदनी होने लगेगी। कारख़ाने में समस्त आवश्यक और उत्तम वैज्ञानिक सामग्री, जो इस स्थिति में उपलब्ध हो सकती है, सङ्ग्रह की गई है। युद्ध के पहले माइसोर का सारा चन्दन विशेष करके जर्म्मनी को जाता था। युद्ध छिड़ने पर माइसोर-सरकार ने अपनी ही रियासत में तेल बनाने का उद्योग किया। इस अनुकूल समय में यहाँ व्यापार और उद्योग-धन्धों की अभिवृद्धि होनी चाहिए। भारतवासियों, विशेष कर समर्थ देशी राज्यों, को इस अवसर से लाभ उठाना चाहिए। भारत की भूमि "रत्नगर्भा" है। प्रकृति ने उसे समस्त आवश्यक पदार्थों से परिपूर्ण बनाया है। जीवन की समस्त प्रयोजन-पूर्ति की सामग्री यहाँ भिन्न भिन्न रूपों में विद्यमान है। आवश्यकता है सिर्फ़ कुशल कारीगरों की और उत्साहवान् संरक्षकों की। यह अभाव दूर होते ही भारत की दीनता भी दूर होजायगी।

१०—अमेरिका और भारत में शिक्षा की दशा।

अमेरिका और भारतवर्ष के शिक्षाप्रबन्ध में आकाश-पाताल का अन्तर है। शिक्षा का उद्देश या अन्तिम परिणाम होना चाहिए—शिक्षार्थी की समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास। अमेरिका की शिक्षा-प्रणाली का सङ्गठन इसी उद्देश से किया गया है। पर भारत की दशा ऐसी नहीं। यहाँ का शिक्षाक्रम बहुत ही सदोष है। उसके सङ्गठन में भारत की परिस्थिति, पूर्वपरम्परा, जीवन के उद्देश और उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया गया। यहाँ के स्कूल-कालेज सच्चे नागरिक पैदा नहीं करते। पर अमेरिका की दशा ऐसी नहीं। वहाँ के शिक्षार्थी केवल किताबी कीड़े नहीं बनाये जाते। गट्ठे भर किताबें पढ़ कर परीक्षायें पास करना ही वहाँ की शिक्षा का उद्देश नहीं। शैशव अवस्था ही से वहाँ शिक्षा का आरम्भ होता है। ४ वर्ष से कम अवस्था के लड़कों को तरह तरह के आकर्षक खिलौनों के द्वारा शिक्षा दी जाती है—उनकी जिज्ञासा जागृत की जाती है। फिर ६ वर्ष की उम्र में बच्चा आरम्भिक स्कूल में भेजा जाता है। वहाँ उसके शरीर की पुष्टि और विकास पर पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता है। १४ वर्ष की अवस्था में वह हाई-स्कूल में प्रवेश करता है। जीवन के लिए आवश्यक कोई विषय ऐसा नहीं जिसकी शिक्षा वहाँ के हाईस्कूलों में न दी जाती हो। विद्यार्थी मनमाना विषय लेकर उसमें विज्ञता-लाभ कर सकता है। उसके लिए सब अनुकूल साधन वहाँ प्रस्तुत रहते हैं। यदि वह सम्पादक होना चाहे तो सम्पादन-कला का आवश्यक ज्ञान वहाँ प्राप्त कर सकता है। वह इञ्जीनियर, व्यवसायी, वकील, चित्रकार, या जो कुछ होना चाहता है बेखटके हो सकता है। विद्यार्थिनियों के लिए भी ऐसे ही सुभीते हैं। जो विद्यार्थी हाई-स्कूल तक ही पढ़ना चाहता है उसके लिए उन विषयों के अध्ययन में समय गँवाने की आवश्यकता नहीं है जो कालेज के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य्य हैं। इस तरह की समुचित शिक्षा प्राप्त करके जब अमेरिका का विद्यार्थी हाईस्कूल से निकलता

है, फ़ौरन अपने अभीष्ट कार्य्य की सिद्धि में लग जाता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे नौकरी की दरख़्वास्त करूँ ? किसकी सिफ़ारिश पहुँचाऊँ ? इसका कारण यह है कि वह केवल काल्पनिक संसार में ही विचरण नहीं करता। व्यावहारिक समुद्र में भी वह गहरे ग़ोते लगाता है। जहाँ की माध्यमिक शिक्षा का यह फल है वहाँ की उच्च अर्थात् कालेज की शिक्षा के विषय में तो कहना ही क्या।

अब अमेरिका के शिक्षा-विस्तार का हाल सुन लीजिए। वहाँ के संयुक्त राज्यों में, १९१२ ईसवी में, ५ और ८ वर्ष के बीच की उम्र के लड़कों की संख्या २ करोड़ ५० लाख थी। उनमें से २ करोड़ १० लाख से भी अधिक लड़के वहाँ के स्कूलों में पढ़ते थे। अर्थात् सौ में ८४ से भी अधिक लड़के उस समय वहाँ शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। उनकी शिक्षा में २ अरब १७ करोड़ रुपये उस वर्ष ख़र्च हुए। पर भारत में १९१५–१६ ईसवी में शिक्षा-प्रचार में कुल दो ही करोड़ रुपये ख़र्च हुए। भारत की जन-संख्या अमेरिका की लोक-संख्या से बहुत अधिक है। तिस पर भी यहाँ के शिक्षाप्रचार में बहुत ही कम ख़र्च होता है। अमेरिका में शिक्षार्थियों की अधिकता का कारण यह है कि वहाँ प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य्य है और मुफ़्त दी जाती है। वहाँ की सरकार भी बड़ी उदार है। वह जनता में शिक्षा-प्रचार करना अपना बहुत बड़ा कर्त्तव्य समझती है।

अमेरिका की रियासतों में सैकड़ों हाई-स्कूल हैं। उन में भी शिक्षा प्रायः मुफ़्त ही दी जाती है। १९१२ ईसवी में वहाँ १३ हज़ार हाई-स्कूल थे। इनके अतिरिक्त ५९६ कालेज या विश्वविद्यालय थे। अर्थात् कोई फ़ी डेढ़ लाख आदमियों पीछे १ कालेज या विश्वविद्यालय था। वहाँ की सिर्फ़ एक ही स्टेट में ३३ कालेज या विश्वविद्यालय हैं!

अमेरिकावासियों का सिद्धान्त है कि मिहनत या मज़दूरी करने से मनुष्य नीच नहीं हो जाता। इसी सिद्धान्त पर दृष्टि रख कर वहाँ शिक्षा दी जाती है। देहाती और शहराती सभी लड़के वहाँ समदृष्टि से देखे जाते हैं और सभी को समान सुभीते प्राप्त हैं। शिक्षा में अमेरिका इँगलेंड से भी बढ़ा चढ़ा है।

११—मुरब्बे और चटनी।

बाबूलाल बूबना एंड कम्पनी, मरचेंटस एंड कमीशन एजंट्स, ने देहली से छोटे छोटे ६ डिब्बे भेजे हैं। उनमें पाँच प्रकार के मुरब्बे और एक प्रकार की चटनी है। तफ़सील यह है—

		निर्ख़ फ़ी सेर
(१)	मुरब्बा सन्दल,	२।)
(२)	,, आम,	।।।=)
(३)	,, करौंदा,	१=)
(४)	,, आँवला,	१।=)
(५)	,, सेब,	१=)
(६)	टमाटम चटनी,	१।)

ये सब चीज़ें, विशेष करके नं० (६), रोचक और स्वादिष्ट हैं। मँगानेवालों को सन्तोष दे सकती हैं। और देशों में इस तरह की चीज़ों की बहुत खपत है। यहाँ भी इस व्यवसाय का सूत्रपात हो गया, यह अच्छा हुआ।

१२—महँगी और सरकारी उदारता।

अनाज बहुत महँगा होगया है और होता जाता है। थोड़ी आमदनी के सरकारी मुलाज़िमों के लिए अपने बाल-बच्चों का पालन करना कठिन हो रहा है। उनकी तकलीफ़ें देख कर इस सूबे की सरकार को दया आई है। उसने २७ मार्च १९१८ को एक आज्ञापत्र निकाला है। उसमें लिखा है कि १ अप्रेल से उन लोगों को २) महीना महँगी का अलौंस दिया जाय जिनकी तनख़ाह १६) से अधिक पर ३०) से अधिक नहीं। १६) या उससे कम तनख़ाह पानेवालों को १) ही रुपया महीना अलौंस दिया जायगा। छः महीने तक इस आज्ञा के अनुसार काम होगा। आगे की बात आगे देखी जायगी। चौकीदारों और पटवारियों को यह अलौंस न मिलेगा। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्यूनीसिपैलिटी आदि भी यदि इसी निर्ख़ के अनुसार अलौंस देना चाहें तो दे सकेंगी। सरकार को कोई एतराज़ न होगा। इस दयादान के सम्बन्ध में एक शर्त रक्खी गई है। गेहूँ, जौ, चना, बाजरा और ज्वार आदि जो अनाज जहाँ खाया जाता होगा वहाँ उसका निर्ख़ फ़ी रुपया १२ सेर से कम होना चाहिए। जिस ज़िले में अनाज का

निर्ख़ १२ सेर या उससे अधिक होगा वहाँ अलौंस न मिलेगा। जहाँ मिलेगा वहाँ भी बड़े झंझट के बाद। हर महीने ज़िले के कलेक्टर साहब को एक निर्ख़नामा भेजना पड़ेगा। उसमें सब तरह के मामूली अनाजों का निर्ख़ हफ़्तेवार दिया जायगा। फिर हर अनाज के निर्ख़ का माहवारी औसत निकाला जायगा। इसी तरह सब अनाजों का भी औसत निर्ख़ दिखाना पड़ेगा। तब कहीं अकौंटेंट जनरल साहब, कलेक्टर की सरटीफिकट देख कर, बिल का रुपया दिये जाने का हुक्म देंगे। कमायूँ डिवीज़न के पहाड़ी हिस्सों और देहरादून के ज़िले के लिए कुछ और ही प्रबन्ध किया जायगा। अलौंस के ये नियम वहाँ के लिए नहीं।

१३—हिन्दी का आठवाँ साहित्य-सम्मेलन।

इस सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में सानन्द होगया। अच्छी धूमधाम रही। मण्डप बहुत विशाल था। उपस्थित जन-समुदाय की संख्या कोई १० हज़ार बताई जाती है। दो तीन सौ स्त्रियाँ भी पधारी थीं। प्रतिनिधि भी कई सौ थे। लोग दूर दूर से आये थे। गान्धीजी के नाम में कुछ जादू सा है। जब से यह बात प्रकट हुई कि आप ही सम्मेलन के सभापति होंगे तभी से इस अधिवेशन के महत्त्व का अन्दाज़ा लोगों को होगया था। उनका अनुमान ठीक निकला। उपस्थिति के लिहाज़ से भी यह अधिवेशन सबसे बढ़ कर रहा और अर्थ-प्राप्ति के लिहाज़ से भी। ३० हज़ार रुपये की प्राप्ति हुई। उसमें से १० हज़ार महाराजा होलकर ने दिया; इतना ही आपने गत वर्ष मराठी-सम्मेलन को दिया था। रायबहादुर सेठ हुकुमचन्द ने भी १० हज़ार देने का वादा किया। सम्मेलन हिन्दी के एक विद्या-मन्दिर की संस्थापना का विचार कर रहा है। रायबहादुर का यह दान इसी मन्दिर के उपलक्ष्य में दिया गया है। इसके सिवा कोई १० हज़ार रुपये का चन्दा और भी हुआ। इस प्रकार तीस-बत्तीस हज़ार की अर्थ-प्राप्ति हुई समझिए।

कितने ही बड़े बड़े आदमी इस अधिवेशन में आये। कुछ राज-प्रतिनिधि और राजपुरुष भी उपस्थित हुए। कई विद्या, धन और धरा के अधीशों के सहानुभूति-सूचक पत्र और तार प्राप्त हुए। इन्दौर में राजाश्रय-प्राप्ति और कार्य्य-कर्त्ताओं की योग्यता के कारण इस अधिवेशन की शोभा और कार्य्य-क्षमता पहले सम्मेलनों से अवश्य ही बढ़ गई।

कई प्रस्ताव यथापूर्व किये गये और पास हुए। कुछ नवीन प्रस्तावों ने भी निश्चय का रूप पाया। कई भद्र-महिलाओं ने स्पीचें दीं और हिन्दी-भाषा का गुण गाया। लेख और कवितायें पढ़ी गईं। साल भर की रिपोर्ट का सार सुनाया गया।

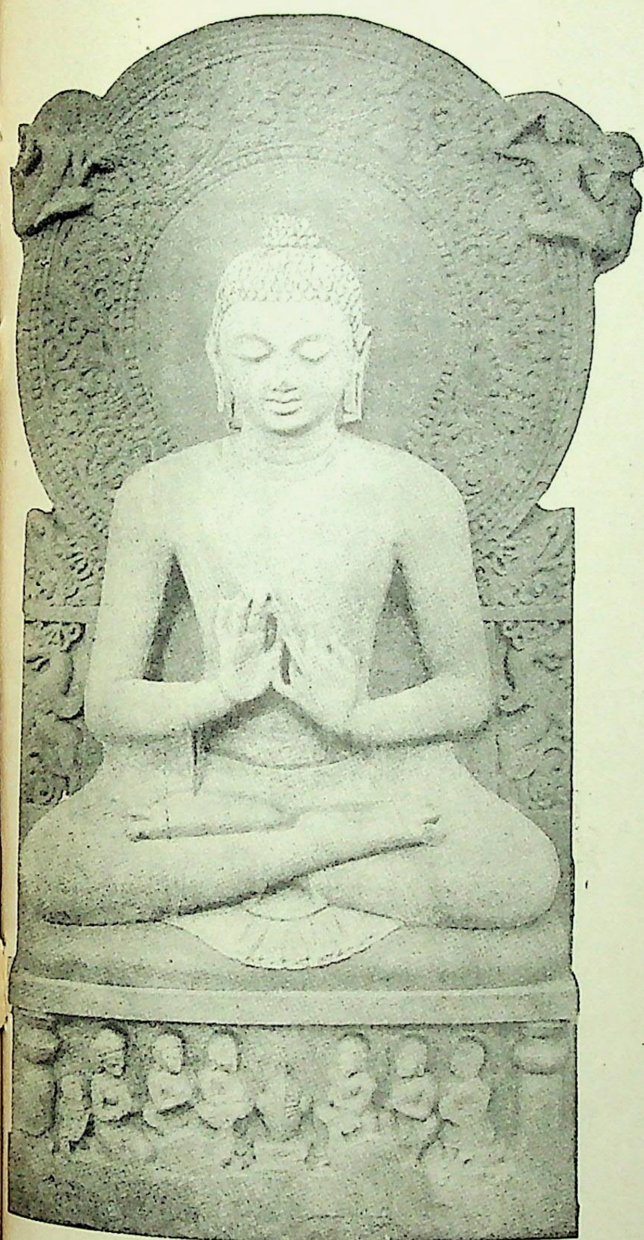
गान्धीजी ने अपना वक्तव्य अपनी हिन्दी में सुनाया। हिन्दी-साहित्य की जटिल समस्यायें—विभक्ति-प्रत्यय, व्याकरण-विचार, शब्दार्थ-चिन्ता आदि की गाँठें—सुलझाने के झमेले में न पड़ कर आपने सिर्फ़ अधिक आवश्यक ही बातें कहीं—हिन्दी ही व्यापक भाषा है और हो सकती है, हिन्दी-उर्दू जुदी जुदी दो भाषायें नहीं, ईर्षा और दुराग्रह छोड़कर सरल हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार बढ़ाना चाहिए, यही सन्देश आपने सबको सुनाया। अन्तिम दिन, कार्य्यावसान का अवसर आने पर, आपने अपने को दीन और जनता का दरिद्र दास बता कर श्रोताओं का हृदय पानी पानी कर दिया!

इस अधिवेशन में विशेष काम यह हुआ कि मदरास-प्रान्त में हिन्दी-प्रचार करने का निश्चय किया गया। इस निमित्त एक कार्य्य-कारिणी कमिटी बनी। कुछ लोग मदरास की भाषायें सीख कर वहाँ जायँगे और कुछ हिन्दी सीखने के लिए मदरास से यहाँ बुलाये जायँगे। फिर, यही लोग वक्तृता तथा उपदेश आदि के द्वारा मदरास-प्रान्त में हिन्दी का प्रचार-मार्ग प्रशस्त करेंगे। जो लोग इस तरह भाषा-शिक्षा पावेंगे उनके ख़र्च का बोझ सम्मेलन अपने ऊपर लेगा और सीख चुकने पर उन्हें माक़ूल तनख़्वाह देगा। गुजरात, महाराष्ट्र और मदरास जाकर हिन्दी पढ़ाने के लिए कुछ अध्यापक भी नियत किये जायँगे।

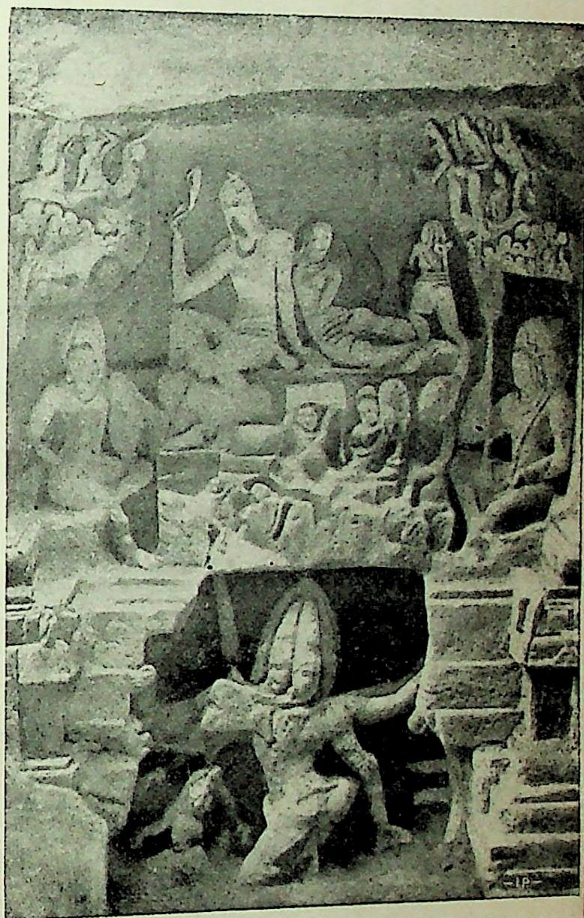
एक विशेष काम और भी हुआ। एक सस्ती पुस्तक-माला निकाली जायगी।

हमारी राय तो यह है कि सम्मेलन को जो रुपया मिला है उसका ¾ अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित करने ही में ख़र्च किया जाय। हर साल दस पाँच पुस्तकें अच्छी अच्छी निकलें। नहीं तो, और सब बातें अनुकूल होने पर भी, आधुनिक हिन्दी-साहित्य का "भिखार"-पन जल्द जाने वाला नहीं।

———



भगवान् बुद्ध, सारनाथ (गुप्तकाल)।
चित्र नम्बर (१०)



कैलास-पर्वत को उठाये हुए रावण (मध्यकाल)।
चित्र नम्बर (११)

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

पुस्तक-परिचय।

१—Red Cross Work—बड़े सुन्दर टाइप में, चिकने काग़ज़ पर छपी हुई, इस ६८ पृष्ठों की अँगरेज़ी पुस्तक की एक कापी, इस प्रान्त के भूतपूर्व लफ्टिनेंट गवर्नर, सर जेम्स मेस्टन, की आज्ञा से, वार बोर्ड के सेक्रेटरी ने लखनऊ से भेजने की कृपा की है। युद्ध में घायल हुए सैनिकों को आराम पहुँचाने के लिए, १९१४ से १९१७ तक, इस प्रान्त की भिन्न भिन्न संस्थाओं ने जो कार्य्य किया—जितना रुपया और जितनी सामग्री एकत्र की, उसका वर्णन इसमें है। इसकी भूमिका लाट साहब ने खुद ही लिखी है। इसमें इस प्रान्त की लेडीज़ असोसिएशन, रेड-क्रास सोसायटी, स्पेशल वारफंड, "अवर डे" और बेलजियन रिलीफ़ आदि के लिए किये गये भिन्न भिन्न औदार्य्य-सूचक कार्यों का विवरण है। इन सब संस्थाओं के लिए इस प्रान्त ने कोई ८० लाख रुपया दिया। अकेले "अवर डे" की मद में कुछ कम २० लाख रुपया आया। लेडीज़ असोसिएशन अर्थात् स्त्रियों की कमिटी ने ३,६६,४०० रुपये इकट्ठा किये। महाराजा बलरामपुर ने कुछ कम २ लाख दिये। २६ हज़ार रुपये कानपुर-ज़िले के कार्य्य-कर्त्ताओं के परिश्रम से प्राप्त हुए। इसके सिवा और भी बहुत सी ऐसी सहायतायें मिलीं जिनका हिसाब नहीं मालूम हुआ। घायलों, रोगियों और दीन-दुखियों की सेवा-शुश्रूषा करना और उन्हें आराम पहुँचाना मनुष्य का कर्तव्य है। इस प्रान्त ने इस कर्तव्य का पालन अच्छी तरह किया, यह बड़े सन्तोष की बात है।

२—वेङ्कटेश्वर-प्रेस की पुस्तकें—जयपुर के पण्डित हनूमान शर्म्मा की प्रेरणा से ५ पुस्तकें इस प्रेस से समालोचनार्थ प्राप्त हुई हैं। पहली पुस्तक है—वर्ष-प्रबोध। यह ज्योतिष का ग्रन्थ है। मेघविजय-गणि नामक किसी जैन पण्डित का रचा हुआ है। इसकी पृष्ठ-संख्या २८३ है। इसमें प्रत्येक नये संवत् से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं—राजा आदि का विचार, ग्रहों के उदयास्त, ग्रहों के चार, वर्षा-योग, शुभाशुभ शकुन आदि। संस्कृत के नीचे श्रीमान् हनूमान शर्म्मा-कृत हिन्दी-टीका भी इसमें है। दूसरी पुस्तक है—चिकित्सासमूह। इसका दूसरा नाम है—घरू और सफरी वैद्य। यह ठाकुर कल्याणसिंह वर्म्मा की लिखी हुई है। मनुष्यों के साधारण रोगों के उपचारों के सिवा हाथी, घोड़े, ऊँट और गाय, बैल, बकरी आदि की चिकित्सा का भी वर्णन इसमें है। आदि में कुछ चित्र भी हैं। जो बात हिन्दी में है वही अँगरेज़ी में भी लिख दी गई है। पुस्तक विशेष उपयोगिनी है। जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठ-संख्या १२१ है। तीसरी पुस्तक है—वासिष्ठी हवनपद्धति। इसमें ग्रह-शान्ति के लिए वसिष्ठ जी के मतानुसार हवन-विधि है। प्रयोगादि का उल्लेख, श्रीयुत हनूमान शर्म्मा का किया हुआ, नीचे पाद टीका में, हिन्दी-भाषा में, दिया हुआ है। यह बड़े सुभीते की बात हुई है। इसमें ९१ पृष्ठ हैं। टाइप बड़ा है। चौथी पुस्तक है—सोमवती कथा। इसकी पृष्ठ-संख्या ४७ है। मुख्य कथा के अतिरिक्त इसमें निर्णय, पूजाविधि और उद्यापन आदि का वर्णन भी है। पूर्वोक्त शर्म्माजी की लिखी हुई हिन्दी-टीका भी सम्मिलित है। पाँचवीं पुस्तक—चतुर्थ-वर्ण-संस्कार-पद्धति—में ५५ पृष्ठ हैं। टाइप बड़ा है। शर्म्मा-महाशय-कृत हिन्दी-टीका से यह भी युक्त है। शूद्रों को जो जो संस्कार करने चाहिए उन सब का विधि-पूर्वक वर्णन इसमें किया गया है। मूल्य किसी पर लिखा नहीं।

※

३—भगवान् बुद्धदेव—लेखक, श्रीयुत काशीनाथ; प्रकाशक, प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर; आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या ३२ + २५०; मूल्य १।) शायद ही कोई लिखा-पढ़ा भारतवासी ऐसा होगा जो बौद्ध धर्म्म के जन्मदाता दया, सत्य और ज्ञान के प्रबल प्रचारक भगवान् बुद्ध के नाम को न जानता हो। पुस्तक की भूमिका के शब्दों में उन्हीं "महा-पुरुष की जीवन-कथा और उनका पावन उपदेश" इस पुस्तक में "अपूर्व रोचकता और सहृदयता के साथ पाठकों की भेंट किया गया है।" यद्यपि यह पुस्तक "एक प्रसिद्ध अँगरेज़ी पुस्तक—The Gospel of Buddha—पर अधिकांश आधारित है" तथापि इसके भूमिका-लेखक की राय में "इसकी तुलना अन्य किसी जीवनी से नहीं हो सकती है। × × × इसके पाठ से उच्च जीवनाभिलाषी जन अपने जीवन को पवित्र करके मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकेंगे।"

※

४—योगसार—इसका आकार बड़ा है; छपाई और काग़ज़ सुन्दर है; मनोहर जिल्द बँधी हुई है; मूल्य पुस्तक पर लिखा नहीं। मिलने का पता—मन्त्री, जैन-सिद्धान्त-प्रका-

शिनी संस्था, ९, विश्वकोश लेन, बाग़बाज़ार, कलकत्ता। यह एक प्राचीन पुस्तक है। जैनाचार्य्य अमितगति इसके कर्त्ता हैं। इनका समय विक्रम-संवत् ८००—९०० के बीच मालूम होता है। ग्रन्थ बड़ा गहन है। अर्थ-गाम्भीर्य्य से भरा हुआ है। जीवाधिकार, अजीवाधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार आदि ९ अधिकारों या अध्यायों में विभक्त है। नाम इसका योगसार है, पर है यह अध्यात्म-विषय की पुस्तक। विषय-विवेचन इसमें जैन-धर्म्म के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। मूल-संस्कृत के नीचे श्रीगजाधरलालजी न्यायतीर्थ का लिखा हुआ हिन्दी-भावार्थ है। इससे मूलग्रन्थ का मतलब समझने में बहुत सुभीता होता है। बड़ी उत्तम पुस्तक है।

❋

५—संस्कृत-व्याकरण, प्रथम भाग—इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १७०, छपाई साधारण, जिल्द बँधी हुई, मूल्य १० आने, मिलने का पता—दास-ब्रदर्स, कुतुब फरोश, अनारकली, लाहोर। इसकी रचना दो महाशयों ने मिल कर की है—गणपतिराय, एम० ए० ने और सन्त गोकुलचन्द शास्त्री, बी० ए० ने। इस व्याकरण का ढँग नया है। भाण्डारकर की संस्कृतमार्गोपदेशिका के ढँग का होने पर भी, नीचे, पादटीकाओं में, पाणिनि के सूत्र और शब्द-साधनिका भी है। उदाहरण और शब्दमालिका के सिवा अभ्यास के लिए संस्कृत और हिन्दी के वाक्य-समूह भी दिये गये हैं। मैट्रिकुलेशन तक संस्कृत पढ़नेवालों के काम की सभी बातें इसमें सरलतापूर्वक समझाई गई हैं। विद्यार्थियों के सिवा और लोग भी इससे लाभ उठा सकते हैं। अच्छी पुस्तक है। पञ्जाब के शिक्षा-विभाग ने इसे मिडिल स्कूलों के लिए मञ्जूर किया है। इसमें एक दोष यही है कि इसकी हिन्दी कहीं कहीं त्रुटिपूर्ण है—यथा, "पद का (के) विशेषण हो जाते हैं।" पृष्ठ १८।

❋

६—गायत्रीमन्त्रार्थभास्करः। पृष्ठ-संख्या १३५, टाइप और काग़ज़ अच्छा, जिल्द बँधी हुई, मूल्य १ रुपया, मिलने का पता—बाबू बलदेवप्रसाद, वकील, हाईकोर्ट, फ़ैज़ाबाद। इस पुस्तक का संग्रह और सम्पादन कई विद्वानों ने मिल कर किया है। इसमें गायत्रीमन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ, उसका महत्त्व, उसके नाम, उस पर किये गये अनेक भाष्य, उसके जप की विधि, उसका अष्टक इत्यादि अनेक विषयों का संग्रह विविध ग्रन्थों से किया गया है। मूल संस्कृत के नीचे उसका भावार्थ भी हिन्दी में दिया गया है। अपने विषय की यह एक ही पुस्तक आज तक हमारे देखने में आई है। दिव्य है। भावुक हिन्दुओं के लिए सर्वथा संग्रहणीय है।

❋

७—ग़रीबों का डाक्टर। आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या २४८, छपाई अच्छी, मूल्य २ रुपये। लेखक—गोपाल रामचन्द्र दाते, वकील, जामनेर, खानदेश, से प्राप्य। डाक्टर शुस्लर ने बायो-केमिक (Bio-chemic) नाम की, १२ दवाइयों से ही अनेक रोग दूर करने की एक चिकित्सा-विधि निकाली है। यह विधि होमियोपैथी चिकित्सा से बहुत कुछ मिलती है। इसी चिकित्सा का विवरण और ओषधि-प्रयोग की विधि आदि का वर्णन इसमें है। भूमिका के लेखानुसार इस विधि का आदर अनेक नामी नामी डाक्टरों ने किया है और रोगनाश में इससे सफलता भी प्राप्त हुई है। पुस्तक की भाषा विलक्षण है। उर्दू, हिन्दी, मराठी की वह खिचड़ी है। अधिकतर बिगड़ी हुई उर्दू की ही है। एक मुसल्मान सज्जन की सहायता से इस तरह की भाषा तैयार हुई है। ख़ैर, एक महाराष्ट्र महाशय ने इस भाषा में पुस्तक लिख कर हिन्दुस्तानी भाषा की उपयोगिता की सर्टीफिकट तो दे दी। लेखक वकील हैं। इस कारण पुस्तक के टाइटिल पेज पर उनका यह लिखना—"Registered under act 25 of 1867"—उनकी क़ानूनदानी का ख़ौफ़नाक नमूना है।

❋

८—चित्रलिपि-प्रवेशिका—इसके दो भाग अलग अलग हैं। एक का नाम आकृति-खण्ड, दूसरे का विवरण-खण्ड है। पहले का मूल्य १२ आने और दूसरे का ४ आने है। आकार बड़ा है। पण्डित गौरीशङ्करजी भट्ट ने इसकी रचना की है। पण्डित मुरलीधर शर्म्मा वैद्य, कछियाना मुहाल, कानपुर, को लिखने से मिलती है। आकृति-खण्ड में कोई साढ़े सात सौ प्रकार की चित्र-लिपियों के नमूने हैं। अधिकतर चित्र वर्णमाला के हैं। ५४ मुद्राक्षर अर्थात्

साङ्केतिक (Monograms) लिपियाँ हैं। ३७ चित्र-बन्ध हैं। इसमें लिपि-विषयक कला का बहुत अच्छा प्रदर्शन है। विवरण-खण्ड में आकृति-खण्ड की लिपियों का वर्णन है। आरम्भ में एक गवेषण-पूर्ण भूमिका है, जिससे लिपि-कला-सम्बन्धिनी अनेक बातें मालूम होती हैं। बड़ी अच्छी पुस्तक है। भट्टजी ने इस विषय में बड़ी योग्यता दिखाई है। वे उत्साह-दान के पूरे पात्र हैं।



९—अब्राहम लिंकन—आकार मध्यम, पृष्ठ-संख्या १६०, काग़ज़ और टाइप अच्छा, मूल्य आठ आने, प्रकाशक—ज्ञानमण्डल, काशी। मराठी की एक पुस्तक का यह स्वच्छन्द अनुवाद है। अनुवादक हैं—पण्डित रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे। लिङ्कन अमेरिका के संयुक्त राज्यों का सभापति था। बड़ा नामी और राजकार्य्य-पटु पुरुष था। गुलामी की प्रथा दूर करने का अधिकांश श्रेय इसी को मिला। इसका चरित मनोरञ्जक और शिक्षादायक है। अतएव पुस्तक के उपादेय होने में सन्देह नहीं। भाषा सीधी सादी है।



१०—मुक्ति का मार्ग—इस मध्यमाकार की ६० पृष्ठों वाली पुस्तक का मूल्य ६ आने है। लखनऊ के हिन्दी-साहित्य-भाण्डार से मिलती है। सुख की प्राप्ति का मार्ग नामक पुस्तक की तरह यह भी जेम्स एलन की एक पुस्तक का अनुवाद है। मूल पुस्तक का नाम है—The Way to Peace इसमें शान्ति-प्राप्ति या मुक्ति का मार्ग बताया गया है। इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि स्वार्थ और माया के त्याग देने से, पाशविक वासनाओं पर जय प्राप्त करने से और इन्द्रिय-निग्रह करने से मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है। उस समय उसको पूर्ण ज्ञान हो जाता है। वह ब्रह्म में लीन हो जाता है और उसमें और परमात्मा में कोई भेद-भाव नहीं रहता। इसी का नाम परम शान्ति और मुक्ति है। यह सुन्दर अनुवाद श्रीयुत बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीय, बी० ए०, का किया हुआ है।



११—सूचीपत्र—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १६४, मूल्य ३ आने। मिलने का पता—साहित्य-सम्मेलन-कार्य्यालय, जबलपुर। जबलपुर के सातवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने एक प्रदर्शिनी भी की थी। उसमें हिन्दी की १३०० पुस्तकें रक्खी गईं थीं। वे अब एक पुस्तकालय का रूप ग्रहण करेंगी। उन्हीं का यह विवरण है। इसमें उन पुस्तकों के नाम, लेखक और प्रकाशक के नाम, मूल्य, विषय-विवेचन तथा संक्षिप्त आलोचना है। बड़े काम की पुस्तक है। इससे हिन्दी-प्रेमियों को अपने मन की पुस्तकें चुन लेने में बड़ी सहायता मिल सकती है। सम्मेलन के कार्य्य-कर्त्ताओं ने ही इसे तैयार किया है। आकार-क्रम से सब पुस्तकों की एक अलग सूची भी यदि इसमें दे दी गई होती तो बहुत अच्छा होता।



१२—फाहियान और हुएनसंग की भारत-यात्रा—इस बड़े आकार की १७५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य १।) है। अँगरेज़ी में ये पुस्तकें लेने से बहुत रुपया ख़र्च करना पड़ता है। पर, छिँदवाड़े के बाबू व्रजमोहनलाल वर्म्मा बी० ए०, ने इन दोनों का अनुवाद इस रूप में निकाल कर इन प्राचीन श्रमण-वृत्तान्तों को हिन्दी में विशेष सुलभ कर दिया। डेढ़ दो हज़ार वर्ष पहले के भारत का हाल जिन्हें जानना हो वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। यह बड़े महत्त्व की पुस्तक है। पर भाषा-विषयक दोषों की अक्षम्य खानि भी है। ऐतिहासिक नामों की भी बड़ी दुर्दशा हुई है। इसमें लिखी गई बातों का ज्ञान अब तक इस देश के बहुत कम पढ़े लिखे लोगों को भी था। मूल पुस्तकें चीनी भाषा में हैं। उनके अँगरेज़ी-अनुवादों के आधार पर इनका यह रूपान्तर हुआ है। वर्म्मा महाशय को ही लिखने से यह मिलती है।

१३—कैलेंडर—यह मथुरा की सुखसंचारक कम्पनी का कैलेंडर है। दीवार पर लटकाने के लिए है। इसमें एक नवीनता है। अँगरेज़ी तारीख़ और महीने के साथ देशी महीना और तिथि के सूचक कार्ड भी हैं। दिन सूचक कार्ड भी हैं। कार्ड सुन्दर और छपाई मनोहारिणी तो नहीं, पर इससे कैलेंडर की उपयोगिता कम नहीं होती। मूल्य आठ आने।



१४—ऊषा-हरण—इस मध्यम आकार की, अच्छी छपी हुई, ८० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ।=) है। इसकी

रचना पण्डित रामदत्तराय शर्म्मा ने की है। मिलती है यह बी० के० एंड को, १४८, बहुबाज़ार स्ट्रीट, कलकत्ते से। यह काव्य है। इसमें बाणासुर की कन्या ऊषा के हरण की कथा, श्रीमद्भागवत के आधार पर, वर्णन की गई है। भाषा पुराने ढंग की है। पर कविता प्रायः सरस है। आरम्भ में १६ पृष्ठों की भूमिका में कवि ने लिखा है—"ऊषाहरण नामक इस तुच्छ काव्य के रचने का अभिप्राय यही है कि हमारे किशोरावस्था-प्राप्त नवयुवक-नवयुवतियाँ पति-पत्नी के वास्तविक प्रेम को हृदयङ्गम कर विशुद्ध श्रृङ्गाररस में मज्जन कर संसार को स्वर्ग-भवन बनायें।" इससे पाठक समझ जायँगे कि इस पुस्तक में इसी श्रृङ्गार-रस का प्राधान्य है। पर भूमिका में एक जगह जो यह लिखा है—"काव्य का सबसे प्रधान गुण प्रेम है" वह चिन्त्य है।



१५—अँगरेज़ी घरेलू चिकित्सा—आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ११८; छपाई और काग़ज़ साधारण, मूल्य तीन आने। इसे मुरादाबाद के पेन्शनयाफ़्ता डाक्टर शङ्करलाल ने लिखा है। इसमें मुख्य मुख्य रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा है। दवायें बहुत ही थोड़ी लिखी गई हैं। वे बिना विशेष प्रयास और ख़र्च के मिल सकती हैं। इसके सिवा इसमें शरीर और चिकित्सा-विषयक और भी बहुत सी बातें हैं। बड़े काम की पुस्तक है। घर में रखने लायक़ है।



नीचे जिनके नाम दिये जाते हैं वे पुस्तकें भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—श्रीआत्मानन्दस्तवनावली—प्रेषक, महाराज कर्पूरविजय, बनारस।

२—ब्रह्मयोगविद्या, ३—लन्दन के पत्र } लेखक, बाबू व्रजमोहनलाल वर्म्मा, छिंदवाड़ा।

४—चिकागो-वक्तृता—प्रकाशक, ब्रह्मचारी चन्द्रनाथ, बनारस सिटी।

५—सिन्धु-समाचार का उन्माद आदि, ६—कन्या ब्रह्मचर्य्याश्रम, ठट्ठा सिन्ध का ३० मास का वार्षिक वृत्तान्त, ७—शिकारपुर-यात्रा } लेखक, महाशय नरसिंहलाल, ठट्ठा, सिन्ध

८—स्वामी विवेकानन्द, भाग चौथा—सम्पादक भास्कर विष्णु फड़के, बम्बई।

९—सूक्ति-सिन्धु—प्रकाशक, गोरखा-एजन्सी, नेपाल।

१०—राजयक्ष्मानाशनयज्ञविधिः—लेखक, पण्डित सीताराम शास्त्री, रावलपिण्डी

११—अद्भुत रहस्य वा विचित्र वाराङ्गना, सचित्र, चार भाग—प्रकाशक, पं० काशीनाथ शर्म्मा, गऊघाट, मथुरा।

१२—समस्त गुजरात पैसा फंड अमदावाद नो द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट, १३—दादाभाई नवरोजी लायब्रेरी अने फ्री रीडींग रूम नो रिपोर्ट } प्रकाशक, कृपाशङ्कर बहेचरलाल पण्डित, अमदाबाद

—

चित्र-परिचय।

चन्द्रमुखी।

सुन्दरी नारियों के मुख की उपमा कविवर चन्द्रमा से देते हैं। चन्द्रबिम्ब की जैसी सुन्दरता, कोमलता और कान्ति जिसके मुख में पाई जाय वही प्रकृत चन्द्रमुखी है। इस संख्या के रङ्गीन चित्र में, पाठक देखें, चित्रकार बाबू रामेश्वर-प्रसाद वर्म्मा इन गुणों को अङ्कित करने में कहाँ तक सफल हुए हैं।

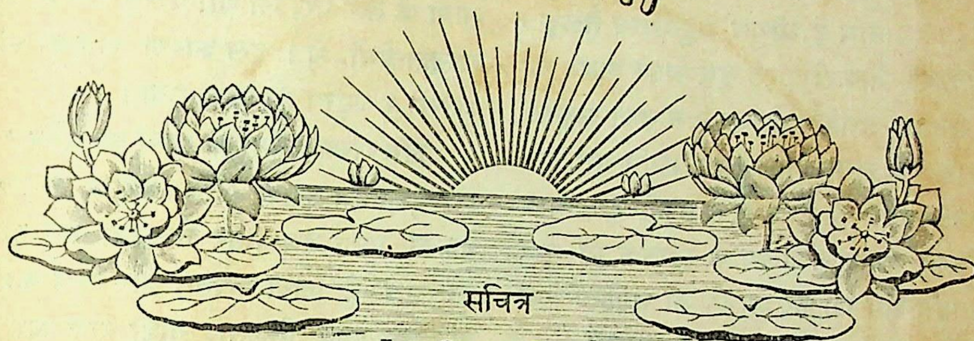
—

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.



अनङ्गवती ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।



भाग १९, खण्ड १] मई १९१८—वैशाख १९७६ [संख्या ५, पूर्ण संख्या २२१

रूप का जादू।

१

निशिकर ने आ शरद-निशा में—
बरसाया मधु दशों दिशा में,
विचरण करके नभो-देश में, गमन किया निज धाम।
पर चकोर ने कहा भ्रान्त हो,
प्रिय-वियोग-दुख से अशान्त हो—
गया छोड़ करके जीवन-धन, मुझे कहाँ हा राम!

२

हुआ प्रथम जब उसका दर्शन,
गया हाथ से निकल तभी मन;
सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात।
वह चित-चोर कहाँ बसता था,
किसको देख देख हँसता था;
पूँछ सका मैं उसे मोह-वश नहीं एक भी बात॥

३

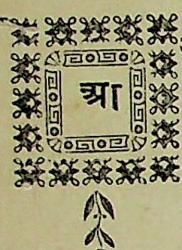
मैंने उसको हृदय दिया था,
रुचिर-रूप-रस पान किया था;
था न स्वप्न में मुझको उसकी निष्ठुरता का ध्यान।
मन तो मेरा और कहीं था;
मुझको इसका ज्ञान नहीं था—
छिपा हुआ शीतल किरणों में है मरु-भूमि महान॥

४

अच्छा किया मुझे जो छोड़ा,
मुझसे उसने नाता तोड़ा;
दे सकता अपने प्रियतम को कभी नहीं मैं शाप।
इतना किन्तु अवश्य कहूँगा
जब तक उसको फिर न लखूँगा
तब तक हृदय-हीन जीवन में, है केवल सन्ताप॥

—मुकुटधर

श्रीयुत मङ्गेशराव रामकृष्ण तैलङ्ग



आज हम एक बहुत बड़े कर्म्मवीर, विद्यानुरागी, सादगी-पसन्द दार्शनिक सज्जन का वृत्तान्त सुनाना चाहते हैं। आपका शुभ नाम है श्रीयुत मङ्गेशराव तैलङ्ग। आपने सरकारी नौकरी करते हुए अपने समय का सदुपयोग संस्कृत-साहित्य के अध्ययन तथा सङ्गीत-कला के साधन में लगाया है। आप यद्यपि भारतीय-शिक्षित-समाजरूपी आकाश के चमकते हुए नक्षत्र नहीं हैं, किसी विश्वविद्यालय के स्नातक भी नहीं हैं, तथापि चुपचाप रह कर आपने जो साहित्य-सेवा तथा सङ्गीतोद्धार किया है वह अनुकरणीय है।

बम्बई-प्रान्त के कनारा ज़िले का मुख्य नगर है—कारवार। उसके पास बाड़ नाम का एक छोटा सा ग्राम है। वहीं श्रीयुत मङ्गेशराव तैलङ्ग का जन्म, सन् १८५९ ईसवी में, हुआ। बाड़ काली नदी पर बसा हुआ है। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही मनोहर है। यह ग्राम अपने बाजन्त्रियों—एक प्रकार के नफ़ीरीवालों—के लिए भी बहुत प्रसिद्ध है। बाजन्त्रियों के मीठे मीठे स्वरों ने बालक मङ्गेशराव के रसिक हृदय पर जादू का असर किया और उसे सङ्गीत-प्रेमी बना दिया। आप जाति के सारस्वत ब्राह्मण हैं। इतनी दूर दक्षिण में पञ्जाब-निवासी, सरस्वती-तटवासी, सारस्वत ब्राह्मणों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। बादशाही समय में दिल्ली के शहन्शाहों के अनेक अहलकार चारों दिशाओं में जाया करते थे और प्रवास के कष्टों के कारण वहीं बस जाते थे। सम्भव है, हमारे चरित-नायक के पूर्व-पुरुष इसी प्रकार दक्षिणवासी हो गये हों। इनके पिता, श्रीयुत रामकृष्ण तैलङ्ग, सरकारी मुलाज़िम थे। वे महाल-करी के पद पर थे।

बालक मङ्गेशराव ने मराठी और कनारी भाषायें बाड़ के प्रारम्भिक मदरसे में पढ़ीं। १५ वर्ष की अवस्था में वह कारवार आया और सन् १८७३ ईसवी में वहाँ के अँगरेज़ी स्कूल में भरती हुआ। सन् १८८० ईसवी में उसने मैट्रिक्युलेशन-परीक्षा पास की। उस परीक्षा के लिए उसने संस्कृत, द्वितीय भाषा के तौर पर, ली थी; परन्तु बचपन ही से आप संस्कृत-प्रेमी थे। इस कारण आपका संस्कृत-प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया।

जॉन रस्किन अँगरेज़ी भाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो चुका है। उसके जीवन-चरित में लिखा है कि उसका पिता जब बाहर निकलता तब बालक जॉन को साथ ले जाया करता, और जहाँ कहीं मनोरम प्राकृतिक दृश्य मिलता, गाड़ी रोक कर पिता-पुत्र पैदल हो लेते और घण्टों रमणीक वनस्थली की शोभा देखा करते। इस प्रकृति-प्रेम का फल-स्वरूप ललित-कला का वह मनोहर साहित्य है जो बड़े होकर रस्किन ने अँगरेज़ी भाषा को भेंट किया। प्रकृति-देवी की गोद में पले हुए हमारे महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, जिनके साहित्य-सरोवर में खिले हुए सरोज-समूह के सौरभ से संसार सुगन्धित हो रहा है। बोलपुर के सुरम्य उद्यान में स्थित इनके शान्तिनिकेतन-विद्यालय से भारतवर्ष को बड़ी आशा है। क्या ही अच्छा हो, जो देहात के शान्त, मधुर तथा पवित्र जीवन के लाभ फिर से भारतवासियों की समझ में आने लगें और वे बाल्यकाल ही से अपनी सन्तान के कोमल हृदयों में प्रकृति-प्रेम के बीज बोने लगें।

कारवार के अँगरेज़ी स्कूल में भरती होने के पहले मङ्गेशराव अपने पिता के पास सूपा (Supa) तथा यलापुर (Yellapur) नाम के स्थानों में रहे। ये स्थान कारवार से कुछ दूर हैं और अपनी रमणीक प्राकृतिक शोभा के लिए विख्यात हैं। यहाँ के नित्य नये मनोरम दृश्य,



श्रीयुत मङ्गेशराव रामकृष्ण तैलंग।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

चित्ताकर्षक रङ्ग-बिरङ्गे फूलों और फलों से लदे हुए भाँति भाँति के वृक्ष, मधुर गान करनेवाले पक्षि-समूह, भारतीय व्योम के ऊषा तथा सायङ्काल के दिव्य दृश्य उन के कोमल हृदय में आप ही आप घर करने लगे। कुछ बड़े हो कर जो उन्होंने कालिदास, बाण, माघ, भारवि, रत्नाकर आदि के ग्रन्थरत्नों का अनुशीलन किया तो इन महाकवियों की कल्पनाशक्ति से प्रादुर्भूत अद्वितीय प्राकृतिक वर्णन मानो उन को प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। इस प्रकृति-प्रेम तथा उच्चकोटि के काव्य के रसास्वादन का यह फल हुआ कि अल्पवय मङ्गेशराव संस्कृत में पद्यरचना करने लगे।

मङ्गेशराव को दो बड़े सहोदरों की सहानुभूति का भी सौभाग्य प्राप्त था। उनके नाम थे—श्रीयुत अनन्तराव तथा श्रीयुत पुरुषोत्तमराव। ये दोनों अँगरेज़ी पढ़े हुए थे और सङ्गीत के बड़े प्रेमी थे। उनकी सहायता से बाल्यकाल ही में मङ्गेशराव की, उत्तर भारत के सङ्गीत में, रुचि पैदा हो गई।

मङ्गेशराव के सब से बड़े भाई अनन्तराव अलगोज़ा बहुत अच्छा बजाते थे, तथा शतरञ्ज के भी विलक्षण खिलाड़ी थे। उन्हीं से इन्होंने शतरञ्ज सीखी और पीछे उसमें अच्छी उन्नति की।

मझले भाई, पुरुषोत्तमराव, ने भारतवर्ष में खूब भ्रमण किया और हिन्दुस्तानी गान-वाद्य में ऐसी उन्नति की कि बड़े बड़े गवैयों की समता करने लगे। इसके अतिरिक्त नाख़ून से काग़ज़ पर चित्र बनाने में उन्होंने अच्छी कुशलता प्राप्त कर ली। सन् १८९३ ईसवी में ये शिकागो की प्रदर्शिनी में भी गये थे। उस समय अमेरिका के समाचार-पत्रों ने आपकी खूब प्रशंसा की थी। आपने हमारे चरित-नायक की संस्कृत तथा सङ्गीत-शिक्षा में सच्चे दिल से सहायता की।

सभ्य संसार में भारत के सिवा कोई विश्व-विद्यालय ऐसा न होगा जहाँ मनुष्य के मानसिक भावों को उन्नत करनेवाले, अन्तःकरण का मार्ज्जन करनेवाले, शान्ति और पवित्रता को बढ़ानेवाले, सङ्गीत-शास्त्र तथा कला का अध्ययन-अध्यापन उचित रीति से न होता हो। "Psychology of Music" नामक पुस्तक से मैं एक अवतरण देता हूँ। कृपा कर उसे पढ़ कर विचार कीजिए कि क्या करना उचित है—

"Music stimulates the nerves of a person very mildly and regulates the flow of blood. It creates a power of concentration in the mind, and spreads an agreeable massive sensation all over the body. The person feels, under the influence of music, disposed to receive impressions from outside. It tills his frame and furrows it, and renders it fertile for the reception and growth of ideas.........When the musical education goes hand in hand with the general education, the art will prove a blessing to mankind, and a source of comfort and pleasure to each and every man.........A musical person with a sound general education is an ornament to society.

मतलब यह कि सङ्गीत की बदौलत मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है। साधारण शिक्षा के साथ साथ यदि सङ्गीत-शिक्षा भी मिले तो मनुष्य अपने समाज का भूषण बन जाय। मङ्गेशराव के हृदय में सङ्गीत-प्रेम स्वाभाविक था। दोनों बड़े भाइयों की सहानुभूति तथा सहायता पाकर वह दिनों दिन बढ़ने लगा। सन् १८८२ ईसवी में, जब वे अपने मँझले भाई पुरुषोत्तमराव के साथ बड़ौदे में थे, उन्हें उत्तरी-भारत के बड़े बड़े उस्तादों का गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय महाराजे सयाजीराव गायकवाड़ के राजतिलक के शुभ अवसर पर अनेक गुणवान् दूर दूर से आयें थे। रामपुर के प्रसिद्ध तथा अपने समय के अद्भुत

बीनकार अलीहुसैनख़ाँ का वीणा-वाद्य आपने कई बार सुना। दिल्ली के प्रसिद्ध गोस्वामी श्रीपन्नालालजी महाराज का सितार-वाद्य तो कोई ६ मास तक सुनने का सैाभाग्य आपको प्राप्त हुआ। उस समय के कई नामी गवैयों का उच्च कोटि का गाना भी आप के कर्णगोचर हुआ। कुछ समय के अनन्तर मुसलमान-सङ्गीत-कला-विशारदों के शिरमैार, परम प्रसिद्ध बीनकार बन्देअलीख़ाँ का अद्भुत वीणा-वाद्य तथा नामी गायक तानरसख़ाँ का गीत-वाद्य भी सुनने का सैाभाग्य आपको प्राप्त हुआ।

युवक मङ्गेशराव पर इन उस्तादों के सङ्गीत-कैाशल का बड़ा प्रभाव पड़ा ग्रैार वह सितार पर, जिसका सीखना सन् १८७७ ईसवी में आरम्भ कर दिया था, दत्तचित्त होकर परिश्रम करने लगा। सितार पर ७ वर्ष परिश्रम करने के पश्चात् उसने सन् १८८४ ईसवी में वीणा उठाई। तारवाले भारतीय बाजों में वीणा सर्वोत्तम बाजा है, पर साथ ही उसका सीखना कठिन भी बहुत है। सुनते हैं, प्रसिद्ध बीनकार बन्देअलीख़ाँ ने १२ वर्ष इस पर इतना परिश्रम किया था कि वीणा को कन्धे पर रक्खे हुए बैठे ही बैठे सोते थे, ग्रैार, अपने अभ्यास में बाधा-भय से दाढ़ी मुड़वा डालते थे कि बाहर निकलने में लज्जा आवे। परिश्रम वह शक्ति है जो सब कठिनाइयों को जीत लेती है। मङ्गेशराव ने भी सरकारी सेवा करते हुए आठ आठ घण्टे रोज़ाना वीणा पर अभ्यास किया। इसका फल यह हुआ कि उनके बायें हाथ से मानों अमृत टपकने लगा। वृद्ध होजाने पर अब भी आप नित्य दो डेढ़ घण्टे वीणा बजाकर भोजन करते हैं।

१८८४ ईसवी में बम्बई की हाईकोर्ट के अपील-विभाग में आप कर्म्मचारी हुए, ग्रैार अपने मनोनिवेशयुक्त परिश्रम, योग्यता, कार्य्यकुशलता आदि सद्गुणों के प्रभाव से ३००) मासिक वेतन पर हेड सरिश्तेदार होगये। आपने कोई ३० वर्ष सरकारी सेवा की ग्रैार अवकाश के समय को, जो बहुधा हुक्का पीने, ताश आदि खेलने, गपशप उड़ाने तथा परनिन्दा में नाश किया जाता है, सङ्गीत-शास्त्र तथा सङ्गीत-कला के अध्ययन ग्रैार संस्कृत-काव्यों तथा दर्शनशास्त्रों के अनुशीलन में व्यतीत किया है।

"सेल्फ़-हेल्प" के कर्त्ता डाक्टर स्माइल्स कहते हैं—मेरी सफलता की कुञ्जी यह है कि मैं एक मिनिट भी बेकार नहीं खोता हूँ। परिश्रम से मुझे इतना प्रेम है कि वह मेरा स्वभाव ही बन गया है'

कई ग्रंशों में इससे भी बढ़ कर परिश्रमशीलता का उदाहरण हमको राजा राममोहनराय, महादेव गोविन्द रानडे तथा बाबू बङ्किमचन्द्र चैटरजी के जीवन-चरितों में मिलता है।

मङ्गेशरावजी को अँगरेज़ी-साहित्य तथा संस्कृत-काव्यों से तो प्रेम था ही, ग्रैार इनमें उन्होंने अच्छी उन्नति भी करली थी, परन्तु संस्कृत के तर्क तथा दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन की ओर उनकी रुचि प्रबल वेग से बढ़ रही थी। भाग्यवश, सन् १८९८ ईसवी में, आपका समागम काशी के एक विद्वान् साधु गोविन्दसिंह से बम्बई में होगया। उनसे आपने न्याय-शास्त्र में मुक्तावलि, वेदान्तदर्शन में वेदान्त-परिभाषा तथा मीमांसा के अर्थसंग्रह का अध्ययन किया। इसके अनन्तर आपने माथुरी पञ्चलक्षणी तथा जागदीशी सिद्धान्तलक्षणा, जो न्यायदर्शन में उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, विधिवत् पढ़े। तत्पश्चात् आपने साहित्य-शास्त्र में काव्य-प्रकाश, न्याय में शक्तिवाद तथा वेदान्त में अद्वैत-सिद्धि नामक ग्रन्थों का अध्ययन, संस्कृत के सुविख्यात विद्वान् श्रीसुदर्शनाचार्य्य शास्त्रीजी से, किया।

इस प्रकार उच्चकोटि के साहित्य में गति हो जाने से आपने न्याय तथा वेदान्त के अनेक गहन ग्रन्थों का मनन किया है। संस्कृत-पद्यरचना की ओर आपकी रुचि बाल्यकाल ही से रही है। इसमें आपने कुछ

मौलिक रचना भी की है। संस्कृत में आप धारा-प्रवाह भाषण कर सकते हैं।

आपने कई प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है, जो अभी तक अप्रकाशित पड़े थे। उन में सब से बढ़ कर भारतीय सङ्गीत का बहुत प्रतिष्ठित ग्रन्थ शार्ङ्गदेव का सङ्गीतरत्नाकर है। उसे चतुर कल्लिनाथ की टीका सहित आपने सम्पादित किया तथा स्वर्गीय एम॰ सी॰ आपटे महाशय ने पूना की आनन्दाश्रम-ग्रन्थमाला में, दो भागों में, प्रकाशित किया। आपके सम्पादित कुछ और ग्रन्थों के नाम ये हैं—मालतीमाधव तथा विक्रमोर्वशीय नाटक, भामिनीविलास, न्याय-लीलावती, उद्भटालङ्कार, अभिधावृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचार, वासुदेव-मनन तथा श्री शङ्कराचार्य्य के भाष्य-सहित वेदान्त का पञ्चीकरण। शतरञ्ज के खेल पर भी आपने एक निबन्ध मराठी में लिखा है। आज कल गायकवाड़ सरकार के आज्ञानुसार Gaikwad's Oriental Series के लिए आप वादीन्द्र के महाविद्या-विडम्बना नामक तर्क-ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे हैं।

१९१४ ईसवी में मङ्गेशराव जी ने पेन्शन ले ली, और अपने दामाद, बम्बई के प्रसिद्ध मूर्तिकार श्रीयुत विनायकराव वाघ, के साथ दिल्ली आये। फाल्गुन के मधुर मास में, एक दिन, स्वर्गीय गोस्वामी श्री-पन्नालाल जी के दीवानख़ाने में एक विचित्र मूर्ति के दर्शन हुए। एक ५५-५६ वर्ष का, साँवला मनुष्य, स्याना क़द, किञ्चित् भारी शरीर, तिलचावले केश तथा मूँछोंवाला, साधारण वस्त्र पहने, कन्धे पर वीणा लिये मुसकुराता हुआ दालान में आया और ऋषि-तुल्य गोस्वामी जी को प्रणाम करने लगा। गोस्वामी जी के यहाँ अनेक गुणी, गवैये, बजवैये अपने अपने हुनर की दाद लेने आया करते थे। परन्तु आज इस तेजस्वी मूर्ति को देख कर गोस्वामी जी ने पलँग से खड़े होकर अभ्यर्थना की। बैठने पर इस व्यक्ति ने कहा—मैं पुरुषोत्तमराव का भाई मङ्गेशराव तैलङ्ग हूँ। बस ३२ वर्ष की बात गोस्वामी जी को याद हो आई। आपके आनन्द का ठिकाना न रहा। गोस्वामी जी के समक्ष मङ्गेशराव ने वीणा बजाई और उनसे प्रशंसा तथा आशीर्वाद पाकर अपने को धन्य माना। जब आपके दामाद श्रीयुत वाघ, जो लार्ड हार्डिंग की मूर्ति बनाने आये थे, लाट साहब की कोठी के निकट एक बँगले में ठहराये गये, तब भी आप प्रायः नित्य प्रति ३।४ मील से गोस्वामीजी के पास आया करते थे। गोस्वामीजी के स्थान पर कई बार नगर के प्रतिष्ठित तथा गुणी पुरुष एकत्र हुए, जिन्हें आपने अपना अमृतमय वीणा-वाद्य सुना कर मुग्ध कर दिया। आप स्वभाव के ऐसे सरल हैं कि यदि एक ही दो मनुष्य आकर सुनने की इच्छा प्रकट करते तो भी आप बिला नख़रे तत्काल वीणा बजाने लगते। यदि कोई संस्कृतज्ञ पण्डित आते तो उन से संस्कृत में वार्तालाप करते। गुरु-शिष्य-समागम के इस शुभ अवसर पर जो पद्य आपने रचे हैं उनमें से कुछ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं—

रम्योद्यानैर्विशदभवनैर्भूषिता सर्वतोऽपि
पूर्वैर्नव्यैरवनिपतिभिः प्रेमपात्रीकृता च।
श्रीवाग्देवी प्रियसहृदयैः संश्रिता या सदा तां
दिल्लीं दृष्ट्वा हृदयममितं मोदमाप्नोति मेऽद्य॥
अस्यां पुर्यां प्रचुरसमयात्पूज्यगोस्वाम्युपाख्यान्
पन्नालालाभिधनिजगुरून्संप्रणम्यास्मि धन्यः।
येषां वीणाप्रणतरसिकान्वीतरागामृतौघान्
ब्रह्मानन्देऽप्यलसधिषणान्हस्तसंस्था विधत्ते॥

मार्च सन् १९१६ ईसवी में बड़ौदे में भारतवर्षीय सङ्गीत-परिषद (All India Musical Conference) हुई थी। उसमें आप सादर आमन्त्रित किये गये थे। अनेक प्राचीन सङ्गीत-शास्त्रों से सङ्कलित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आपने एक महत्त्व-पूर्ण निबन्ध, उत्तर-भारत की संगीत-कली के विकास पर, पढ़ कर सम्मान प्राप्त किया।

प्रकृति-देवी से आपका प्रेम बाल्यकाल से ही चला आता है। आप मनोविनोद के लिए वन के रमणीक दृश्यों के रङ्गीन तथा सादे चित्र बनाया करते हैं। चित्रण-कला आपने किसी से सीखी नहीं। वह केवल आपकी अवलोकन-शक्ति के बढ़ जाने मात्र से उत्पन्न हुई है।

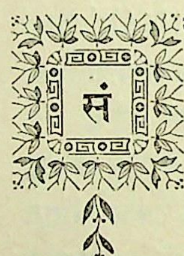
श्रीयुत मङ्गेशराव तैलङ्ग ने आत्मोन्नति, संस्कृत-साहित्य और दर्शन-शास्त्र की सेवा, तथा सङ्गीतोद्धार में समस्त आयु अर्पण कर दी है। अब भी आपका समय इन्हीं के अध्ययन और मनन में व्यतीत होता है। पेन्शन लेकर आप आलस्य के कोने में जाकर बैठ नहीं गये; अब भी उद्यमशील तथा कर्त्तव्य-परायण बने हुए हैं। आपका स्वभाव बहुत सादा--आडम्बर-रहित--है। अपने विषय में आप बहुत कम मुँह खोलते हैं। शान्तिमय, सुखपूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त करने के लिए डाक्टर स्माइल्स ने ठीक ही कहा है--केवल दो बातों की आवश्यकता है—पवित्र जीवन तथा कर्तव्य-परायणता।

यद्यपि मङ्गेशरावजी अपने प्रिय पुरुषार्थों के साधन में चुपचाप आजीवन लगे रहे हैं, तथापि भला कस्तूरी की सुगन्ध कब तक दबी रह सकती है। बम्बई, पूना तथा अन्य स्थानों के अनेक विद्वान् आपको जान गये हैं, और आपको "Hidden Jewel" (गुदड़ी का लाल) कहते हैं। न्यायमूर्त्ति काशिनाथ-त्र्यम्बक तैलङ्ग तथा महात्मा महादेव गोविन्द रानडे तो आपके सद्गुणों पर बहुत ही मोहित थे, और न्यायाधीश होने पर भी आपका बड़ा आदर किया करते थे। डाक्टर सर रामकृष्ण भाण्डारकर भी आपके वीणावाद्य पर मुग्ध हुए हैं। बम्बई के डाक्टर सर भालचन्द्र कृष्ण आपके मित्रों में हैं। इस पर तुर्रा यह कि सिवा अपने सम्पादित ग्रन्थों के प्रकटीकरण के आप कभी जनता के सम्मुख नहीं आये, और न कभी सङ्गीत-कला के प्राणपण-साधन से आपने धनोपार्ज्जन का ज़रा भी विचार किया। ऐसे उच्च-आदर्शवाले, परम पुरुषार्थी महानुभाव का जीवन-चरित कितना शिक्षाप्रद है, यह वाचक स्वयं जान सकते हैं।

"जीवन का सद्व्यवहार" नामक पुस्तक में एक महात्मा ने बहुत सच कहा है—"हे मनुष्य, तेरे जीवन का समय तो बहुत है, परन्तु तू उस पर कुछ भी ध्यान नहीं देता। तुझको समय की आवश्यकता तो है, पर तू उसे व्यर्थ खोता है। तू उसको इस तरह व्यर्थ फेंकता है मानो तेरे पास समय का अटूट ख़ज़ाना हो, और फिर भी पश्चात्ताप करता रहता है कि हाय! मुझे समय नहीं मिला।"

बालकृष्ण शर्म्मा

वीर-बाला जोएन ।



संसार में बहुत सी ऐसी वीर-बालायें हो गई हैं जिन्होंने अपने वीरता के कार्यों से अपने देश और जाति का मुख उज्ज्वल करके अपना नाम लिखने योग्य अमर कर दिया है। भारतवर्ष में भी ऐसी अनेक ललनायें हो गई हैं। परन्तु आज मैं एक विदेशीय—यूरोपियन—ललना का चरित सुनाता हूँ। उसने भी क्षत्राणियों के सदृश वीरता का काम किया और स्वदेश-हित के लिए अपने प्राण भी अर्पण कर दिये। वह जोएन आव् आर्क के नाम से प्रसिद्ध है। उसे हुए यद्यपि पाँच शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी हैं तथापि आज भी सभी कोई उसे सम्मान की दृष्टि से देखता है।

जोएन का जन्म फ्रांस-देश के लोरेन-प्रान्त की सीमा के एक ग्राम डोमरमी (Domremi) में, १४०२ ईसवी में, हुआ था। उसके माता-पिता की अवस्था अच्छी न थी। वे बेचारे धनहीन थे। इस

कारण वे जोएन को शिक्षा न दे सके। पर उसकी माता ने उसे गृहस्थी के कार्यों में कुशल कर दिया और सीना, पिरोना, खाना पकाना इत्यादि भी सिखा दिया।

जब जोएन बड़ी हुई तब उसे अपना पेट पालने के लिए दास्य-वृत्ति की शरण लेनी पड़ी। उसने एक सराय में नौकरी कर ली। वहाँ वह घोड़ों और अन्य पशुओं की देख-भाल करती तथा और भी छोटे मोटे कार्य किया करती। उसी अवस्था से वह दीन-दुखियों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझने लगी। उसे स्वदेश की भलाई का भी बड़ा ध्यान रहता था। वह अपने प्राणों तक को उसकी भलाई के लिए अर्पण करने को उद्यत थी। वह अपने देश की दशा के विषय में हर पुरुष से, जो सराय में ठहरता, पूछ-पाछ करती थी। इस प्रकार उसे अपने देश का बहुत कुछ ज्ञान हो गया था।

उस समय फ़्रांस की दशा बड़ी शोचनीय थी। वहाँ का राज-कार्य अच्छे प्रकार न चल रहा था। ओरलियन्स (Orleans) नामक नगर को एक अँगरेज़ सरदार—सफ़क के अर्ल—(Earl of Suffolk) ने घेर रक्खा था और सब को विश्वास हो गया था कि वह अवश्य ही अँगरेज़ों के हाथ चला जायगा। इस बात का प्रभाव जोएन पर ख़ूब पड़ा। उसे ऐसा जान पड़ने लगा जैसे ईश्वर उसे उसके देश-वासियों का पक्ष लेकर रण में सम्मिलित होने के लिए प्रेरणा कर रहा है। बस, फिर क्या था, वह अपने देश की रक्षा के लिए कमर कस कर तैयार हो गई।

उस समय, १४२९ ईसवी में, वह फ़्रांस के राजा महाराज सप्तम चार्ल्स से मिली। उनसे उसने कहा कि यदि वह पवित्र तलवार, जो सेन्ट कैथरीन नामक गिरजाघर में है, आप मुझे दे दें तो मैं ओरलियन्स का घेरा उठा दूँ और रीम्स (Reims) नगर में आपका अभिषेक कर दूँ। कुछ सोच-विचार के उपरान्त चार्ल्स ने वह तलवार दे दी। उसे लेकर जोएन रवाना हो गई।

उसने पुरुष का वेश धारण किया; घोड़े पर सवार हुई; तलवार हाथ में ले ली और पवित्र झण्डा लेकर जन्मभूमि की सेवा के लिए वह सेना-पति बनी। उसकी दृढ़ता और अनुपम तेज देख कर सेना में वीर-रस का सञ्चार हो आया। दस सहस्र सैनिक लेकर २५ अप्रेल, सन् १४२९ ईसवी, को वह ओरलियन्स के पास पहुँची। उसने वहाँ पर ऐसी वीरता दिखाई और उसके सैनिक ऐसा दिल खोल कर लड़े कि अन्त में उसी की जीत हुई और सफ़क के अर्ल को घेरा उठा कर चले जाना पड़ा। उसने ओरलियन्स में प्रवेश किया। तदनन्तर जून में उसने एक और सरदार को परास्त किया और जुलाई में रीम्स में चार्ल्स का राज्याभिषेक सफलतापूर्वक कर दिया।

जोएन की इस अनुपम वीरता को देख कर चार्ल्स अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उसके चित्र का पदक तैयार करा कर उसे समर के सैनिकों में वितरण कराया। इस वीर-ललना को तो राजा की ओर से सम्मान मिला ही; इसके सम्बन्धियों तक को मानपत्र मिले। इसका ग्राम डोमरेमी सदा के लिए कर से मुक्त कर दिया गया। बड़े बड़े वीर भी उसका सम्मान करने लगे।

अभिषेक के बाद जोएन ने राजा से कहा कि अब मेरा व्रत पूरा हो चुका। अब आप मुझे अपने ग्राम जाने की आज्ञा दीजिए। परन्तु राजा ने, फ़्रांस के तत्कालीन सेनापति ड्यूनैाएस (Dunois) की सलाह के अनुसार, उसे जाने की सम्मति न दी। राजा के आग्रह से उसे राजा के ही पास रहना पड़ा।

इसी बीच में बरगन्डी के ड्यूक (Duke of Burgundy), तथा सफ़क और अरन्डल के अर्लों (Earls of Suffolk and Arundel) ने कम्पीन (Compiegne) नामक फ़्रेंच नगर को घेर लिया।

तब वह राजा चार्ल्स और सेनापति ड्यूनैाएस की सम्मति से कम्पीन की रक्षा के लिए भेजी गई। वहाँ पहले तो उसने ऐसी वीरता दिखाई कि विपक्षियों के छक्के छूट गये, परन्तु, अन्त में, वह एक ज़रा सी भूल के कारण क़ैद कर ली गई। बरगन्डी-वालों ने उसे अँगरेज़ों को सौंप दिया।

उत्थान के उपरान्त सदा ही पतन होता है। यही नियम इसके लिए भी ठीक ठहरा। अँगरेज़ों ने उस पर जादूगरनी होने का इलज़ाम लगाया। ३० मई १४३१ ईसवी को वह जला दी गई।

२५ वर्ष की अवस्था में उसका इस तरह अन्त हुआ। यद्यपि वह संसार में नहीं है तथापि उसका नाम योरप के आबाल-वृद्ध सभी की जिह्वा पर है।

इस वीर-बाला का जीवन-चरित शीलर (Schiller) नामक एक जर्मन नाट्यकार को ऐसा अच्छा लगा कि उसने उसके आधार पर एक उत्तम नाटक लिख डाला। उससे जोएन की कीर्त्ति और भी अधिक उज्ज्वल हो गई है।

श्यामसुन्दर जोशी

वीराङ्गना।

प्रथम सर्ग।

शकुन्तला।

[दुष्यन्त के प्रति]

राज-पद-पङ्कजों में दासी वनवासिनी—
करती प्रणाम है, नरेन्द्र! तुम भूले हो—
उसको, परन्तु कैसे भूले वह तुमको?
आशा-मदोन्मत्ता हा! अभागिनी मैं जो कभी—
देखती हूँ रेणु-राशि उड़ती गगन में,
और सुनती हूँ वायु-शब्द दूर वन में।
तत्क्षण ही चौंकती हूँ और सोचती हूँ यों—
मद-कल-कुञ्जरी है आश्रम में आ रही—
सज्जित मणि-रत्नों से,—सेना लिये सङ्ग में—
वाजि-राजि, रथ-रथी, दास तथा दासियाँ।
आशावश दोनों सखियों को बुला लाती हूँ
और कहती हूँ—"सखि! देखो आज दासी को—
याद किया इतने दिनों में प्राणनाथ ने।
उड़ती है धूलि-राशि देखो, वह नभ में
और सुनो कोलाहल, पौरजन आये हैं—
नाथ के निदेश से सहर्ष मुझे लेने को।"
रोती है नीरव मुझे थाम के प्रियंवदा
और अनुसूया सखी करती विलाप है।
जाती उस कुञ्जवन में हूँ दौड़ कर मैं—
पूजे थे तुम्हारे पद मैंने जहाँ पहले।
देखती हूँ व्यग्रता से चारों ओर उसमें—
फूले फूल, हरित लतायें कलियों भरी।
सुनती हूँ कोकिल की तान, गान भौंरों का
वाद्य-तुल्य स्रोतोनाद। नाचते हैं पत्र भी—
मर्मर-निनाद कर, कूकते कपोत हैं—
मुख को मिला कर कपोतिनी के मुख से—
डालों पर बैठे हुए। निन्दा कर फूलों की—
पूछती हूँ—कुञ्जशोभे! हँसती है आज क्यों?
देती है सुगन्धि-सुधा क्यों तू यहाँ वायु को?
कहती हूँ कोकिल से—कोकिल! तू क्यों भला
ढालता है कर्णामृत आज इस वन में?
रोने की दशा में कभी कोई कहीं गाता है!
कामवश मधु है, तू मधु के अधीन है;
मुग्ध वही काम-रूप-गुण से है जिनके—
कैसे तू उनके बिना आज यहाँ गाता है?
भृङ्ग-रव सुनके विचारती हूँ—धीरे से—
रोती वन-देवियाँ हैं दुःखिनी के दुःख से!
सोचती हूँ स्रोतोनाद सुन—घननाद से!
निन्दा सी करते हैं तुम्हारी वनदेवता
डरती हूँ शाप कहीं दे उठें तुम्हें न वे
कहती हूँ पत्र से कि सीधा जान तुझको
नाचता है वायु तेरे साथ प्रेम करके;
किन्तु फेंक देगा वही करके घृणा तुझे
नीरस हुआ तू जहाँ, हाय! आज ऐसे ही

दूर है किया क्या इस दुःखिनी को देव ने ?
बैठ के रसाल तले, मूँद दग्ध नेत्रों को
भ्रान्त हुई सोचती हूँ—शीघ्र ही मैं पाऊँगी
वे पुनीत पाद-पद्म, छाती है धड़कती—
होता पद-शब्द है तो आँखें खोलती हूँ मैं
हर्ष से, परन्तु मृगी देख के विषाद से
रोने लगती हूँ उसे मार हटा देती हूँ।
भौंरों को पुकारती हूँ—आओ शिलीमुख हे !
पुष्प-सखे, दग्ध इन ओठों पर हा ! तुम्हीं
गूँज कर टूट पड़ो फिर भी तो दासी को
आकर बचाने प्राणनाथ दृष्टि आवेंगे !
किन्तु बुलाती हूँ वृथा, प्रेमी मधु के हैं जो
यह मुख देख कान्त ! आयेँगे वे अब क्यों ?
चाहता है कौन भला नीरस कुसुम को ?
रोती हुई जाती लता-मण्डप में हूँ, जहाँ—
सोच देखो, याद हो नरेन्द्र ! जो तुम्हें—जहाँ
एक दिन बैठ प्रेम-कौतुक से तुमको
पद्म-दल पै थी लिखी गीतिका अभागी ने,—
और जहाँ आकर अचानक ही तुमने
मेटी थी वियोग-व्यथा ; पद्म-पत्र लेके मैं
लिखती हूँ कितना, क्या, कैसे कहूँ अब सो ?
हाथ जोड़ कहती हूँ मैं कभी समीर से—
वायु-कुलराज, तुम्हीं मेरे इस पत्र को
डाल दो उड़ा के शीघ्र राज-पद-पद्मों में,
राजासनासीन जहाँ राजगृह में हों वे
राजराज। मृग से ही शून्य मन से कभी—
कहती हूँ—काम-गति दी है तुझे विधि ने,
ले जा हे कुरङ्ग, तू ही मेरे इस पत्र को
प्राणाधार होवें जहाँ, मरती हूँ मैं यहाँ !
पाला है प्रयत्न कर मैंने तुझे छोटे से;
आज बचा मेरे दग्ध प्राण कृपा करके।
और किससे क्या कहती हूँ, व्यर्थ क्या कहूँ ?
सोच देखो देव, तुम्हीं आवे यदि मन में।
आली अनुसूया या प्रियंवदा को छोड़ के
कोई नहीं जानता है हाय ! इस वन में
दुःख हत-भागिनी का। आती जब पास हैं
दोनों सखियां ये झट पोंछती हूँ आँखें मैं;
क्योंकि मुझे व्याकुल विलोक ऋषि-बालायें
निन्दा करती हैं कटु वाक्यों से तुम्हारी ये;
लगती है वज्र जैसी निन्दा दग्ध उर में,
छाती फटती है, कण्ठ रुँधता है क्षोभ से।
और जितने हैं ठौर रो रो कर सबमें
घूमती हूँ नाथ, जिस वृक्ष तले तुमने
दासी को छला था उस गन्धर्वीय छल से,
फूलों की शय्या रच रुचि से जिस कुञ्ज में
पाद-सेवा की थी यहाँ दासी ने सुहाग में,
उठते हैं कैसे भाव सोच देखो सन्मते,
जाती उस कुञ्ज-गृह में है जब किङ्करी।
हाय ! रे विधाता, यही तेरे मन में था क्या ?
ऐसा ही फल क्या प्रेम-तरु में है फलता ?
घूमती हूँ नित्य इसी भाँति मैं अनाथिनी,
प्राणनाथ, वृद्ध बुआ गौतमी तपस्विनी
मग्न जप-तप में हैं भाग्यवश, अन्यथा
सर्वनाश होता इस बीच में अवश्य ही।
इच्छा नहीं फूल-रत्न गूँथने की बालों में,
अन्न-रुचि दूर हुई देव, नहीं जानती
हाय ! शून्य मन से क्या कहती हूँ किससे।
आह भर पृथ्वी पर गिरती हूँ शोक से,
होती हूँ अचेत, फिर पाके जब चेतना
आँखें खोलती हूँ तुम दीखते हो सामने,
पैरों के पकड़ने को हाथ मैं बढ़ाती हूँ,
पाती नहीं किन्तु हाहाकार कर रोती हूँ।
पूछूँ मैं किससे, मुझे कौन बतलावेगा,
होती किस पाप से है इतनी विडम्बना ?
देता किस दोष से है देव मुझे दण्ड यों ?
करके कृपा जो कभी निद्रा शान्ति-दायिनी
अपनी मृदु गोदी में ठौर मुझे देती है
कैसे कहूँ क्या क्या स्वप्न देखती हूँ तब मैं।
देखती हूँ सौध स्वर्ण-रत्नों से बना हुआ;
हाथीदांत के हैं द्वार, द्वारी जहाँ हाथी हैं;
ठौर ठौर स्वर्णासन और फूल-शय्यायें;
विद्याधरियों से श्रेष्ठ दासियां हैं घूमती,

कोई नाचती है, और कोई वहाँ गाती है,
कोई अलङ्कार कोई राज-भोग लाती है।
देखती हूँ राशि राशि रत्न अलका में ज्यों;
होती हूँ सुगन्धि-मग्न नन्दन-विपिन में—
(तात कण्व से है सुनी नाथ, उसकी कथा)
नन्दन-वनान्तर में मानों मधु-मास में।
सिंहासनासीन तुम्हें देखती हूँ मैं वहाँ—
ऊपर है राज-छत्र, राजदण्ड कर में—
रत्न जिसमें हैं जड़े वसुधा स-सागरा
राज-कर भेंट करती है पद-पद्मों में।
किससे कहूँ रोती हूँ जाग कर कितना?
जानती है दासी हे नरेन्द्र, अमरेन्द्र ज्यों
वैभव तुम्हारा और महिमा तुम्हारी है।
तुलना तुम्हारे कुल, मान, धन की कहाँ?
किन्तु महाराज, धनलोभ नहीं दासी को,
नित्य पद-सेवा करूँ एक यही लोभ है,
नाथ, चिर आशा यही मेरे हत चित्त में।
वास मेरा वन में है, वल्कल वसन हैं,
कन्द-मूल भोजन हैं, शय्या कुश-शय्या है।
राज-सुख-भोग से है नाथ, मुझे काम क्या?
केलि करती है सदा रोहिणी सुधांशु से
नभ में, धरा में उसे पूजती है कैरवी।
दासी कर रक्खो मुझे राजपद-पद्मों में।
मैं चिर अभागिनी हूँ, माता-पिता दोनों ने
त्यागा मुझे जन्म से न जानें किस पाप से?
प्राण बचे दूसरे के यत्न तथा अन्न से?
यह नव यौवन क्या त्यागा आज तुम ने—
प्राणनाथ, वह तो बतादो किस दोष से
दोषी इन चरणों में दासी है शकुन्तला?
रहती थी सुख की खगी जो इस वन में
आकर उसे क्यों भूप, मारा व्याध बन के?
सुनती हूँ रथियों में तुम हो महारथी;
भारत विदित एक-बाहु-बलधारी हो;
क्या यश यशस्वि, पाया, नाश कर कह दो,
हाय! मुझ अबला कुल-बाला के सुख को?
लौट जब आश्रम में तात कण्व आवेंगे
क्या कहूँगी उनसे, बतादो नाथ, दासी को?
दोष जब देंगी तुम्हें रोष करती हुई
दोनों ही सखियाँ तब कैसे उन्हें रोकूँगी
मुझको बतादो? और दग्ध इन प्राणों को
कैसे समझाऊँगी, बतादो हाय! मुझको?
चरणों में देव, यही प्रार्थना है दासी की।
वनचर चर कैसे नहीं जानती हूँ मैं,
जा सकेगा राजपुर-राजसभागृह में।
किन्तु मज्जमान जन सुनती हूँ तृण को
और सामने जो मिले धरता उसी को है।
जीवन की आशा हाय! यों ही कौन छोड़ता?

"मधुप"

हीरों की रानी।



कर्नेल किंगस्टन मर रहे हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान है कि मेरा अन्त समय आ पहुँचा। इसलिए उन्होंने अपनी पुत्री ग्रेस को बुलवा भेजा। जब वह आ गई तब उन्होंने उससे कहा कि बेटी ग्रेस, तुम मेरी पुत्री नहीं हो। बहुत दिन हुए तब तुम्हारे पिता, जो बड़े शिकारी थे, जङ्गली लोगों से लड़ते लड़ते मर गये। मरते समय वे तुमको मेरे सिपुर्द कर गये।

इतना कह चुकने पर कर्नेल ने ग्रेस से कहा कि बेटी जाओ और मेरी डेस्क से चाँदी का एक डिब्बा उठा लाओ। ग्रेस गई और लौट कर उसने देखा कि उतनी ही देर में उसके पिता से भी ज़ियादह प्यारे पालक का दम निकल गया। इससे उसे बड़ा दुःख हुआ। किन्तु उसका दुःख बटानेवाला, गिलबर्ट नामक, कर्नेल का एक स्वामिभक्त नौकर था। कर्नेल के मरने की गड़बड़ी में ग्रेस डिब्बे को भूल गई। उसे जेम्स हेरिंच ने उठा लिया। कर्नेल के वंश में यही एक पुरुष था। परन्तु उसके दुराचरण के कारण कर्नेल ने उसे त्याज्य पुत्र बना रक्खा था। जब उसने डिब्बा

खोला तब उसे उसमें एक बड़ा क़ीमती हीरा दिखाई दिया। उसने उसे तुरन्त अपने पाकेट में रख लिया और कहने लगा कि अब तो तक़दीर खुल गई। यह विचार कर वह चम्पत हो गया।

जब ग्रेस का शोक कुछ कम हुआ तब उसने जाकर डिब्बे को देखा। वह ख़ाली था; परन्तु उसमें एक पत्र था जिसमें लिखा था कि यह पत्र और इसके साथ का हीरा केवल उनके एक वकील को दिखलाया जाय। वह वकील उस हीरे की खान का ठीक ठीक पता बतलायेगा जिसको ग्रेस के पिता ने ढूँढ़ा था। हीरे को उस डिब्बे में न पाकर ग्रेस को शक पैदा हो गया। उसने दास-दासियों से पूँछताछ की। तब उसे यह पता चला कि हेरिच अभी अभी किसी अनिश्चित स्थान को चला गया है। अपने स्वामिभक्त नौकर गिलबर्ट को साथ लेकर वह हेरिच की खोज में चल दी। विधाता उनके कार्य्य में बाधक हुआ। उनके जहाज़ में आग लग गई। सब मल्लाह और मुसाफ़िर अपनी अपनी जान बचाने के लिए नावों की ओर झपटे। परन्तु इस दौड़-धूप में प्रायः सभी डूब गये। किन्तु गिलबर्ट बड़ी कठिनाई और परिश्रम से कुछ दूर सहारा देकर और कुछ दूर घसीट कर अपनी मालकिन को किनारे पर लाया। इस कार्य्य में वह स्वयं अधमरा हो गया था।

जब वे किनारे पर पहुँचे तब उन्हें एक मछुए की झोंपड़ी में शरण मिली। लेकिन उनका सारा माल-असबाब समुद्र में डूब गया था। अतएव अब वे हेरिच का पीछा न कर सके। सबसे पहले उन्हें यह चिन्ता हुई कि अपनी जीविका का कोई उपाय निकालें। सौभाग्य की बात यह थी कि ग्रेस ने अपनी फ़ुरसत का समय नृत्यकला सीखने में लगाया था। इस समय यह विद्या उसके काम आई। उसने एक समाचारपत्र में विज्ञापन पढ़ा कि किसी थियेटर में एक उत्तम नर्तकी—नटी—की आवश्यकता है। वह उसके मैनेजर के पास गई और उसे तुरन्त नौकरी मिल गई। उसने अपने काम में बड़ी सफलता प्राप्त की। इससे उस शहर में हर जगह उसी की चर्चा होने लगी।

उसने अपनी योग्यता और सुन्दरता से काउन्ट आरमण्ड नामक एक युवा और धनी पुरुष के हृदय पर बड़ा प्रभाव पैदा किया। काउन्ट ने उससे जान-पहचान करने की कोशिश की। परन्तु, गिलबर्ट के कारण, पहले उसका प्रयत्न निष्फल हुआ। क्योंकि गिलबर्ट सदा उसकी रक्षा में तत्पर रहता था। परन्तु अन्त में उसे सफलता प्राप्त हुई और वह ग्रेस का प्यार दिलोजान से करने लगा। उसे प्रेम का बदला भी मिला अर्थात् ग्रेस भी उस पर प्रेम करने लगी। तब उसने अपना और अपने प्रेम का परिचय दिया। ग्रेस ने उसे स्वीकार कर लिया। जब उसे अपनी प्रियतमा की आश्चर्य्यजनक और विलक्षण कहानी मालूम हुई तब उसने हेरिच का पीछा करने में ग्रेस और गिलबर्ट की सहायता की। हर प्रकार से वे लोग हेरिच की खोज में जुट गये और अन्त में गुप्तचरों के द्वारा उन्हें ऐसी सुगसुग तो लगी, जिससे वे कुछ कार्य्य कर सकें। परन्तु विशेष बातें बहुत कम मालूम हुईं। हेरिच की ज़िन्दगी बिलकुल आवारह तौर पर व्यतीत होती थी। उसके साथी बदमाश लोग थे। यह भी पता चला कि उसने बहुत सा रुपया लेकर एक मशहूर अमरीकावासी के हाथ एक हीरा बेचा है।

पहले पहल गिलबर्ट ही को हेरिच का सुराग़ लगा। किन्तु उसकी कारखाई इतनी सीधी-सादी थी कि हेरिच ताड़ गया और चौकन्ना हो गया। वह समझ गया कि गिलबर्ट यहाँ क्यों आया है? उसने कहा—यदि इसे पकड़वा दूँ तो अच्छा है। क्योंकि जहाँ गिलबर्ट है वहाँ ग्रेस भी अवश्य होगी और ग्रेस का होना मेरे लिए ठीक नहीं। इसलिए उसने गिलबर्ट के नाम से ग्रेस को एक चिट्ठी लिखी कि तुम मुझे अमुक होटल में मिलो। ग्रेस को तनिक

भी सन्देह न था। इसलिए उसने तुरन्त उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उससे मिलने को चल दी। परन्तु चलते समय आरमण्ड के नाम एक पत्र छोड़ गई कि तुम मुझे अमुक होटल में मिलना। होटल तो एक पूरा जाल था; क्योंकि वह हेरिच के साथियों का अड्डा था। ग्रेस पकड़ गई और वह हेरिच की टोली में जिसका नाम "मौत की खोपड़ीवाला झुण्ड" था, पेश की गई। उसने वीरता से अपने पकड़नेवालों का सामना किया।

आरमण्ड को ज्यों ही ग्रेस का पत्र मिला त्यों ही वह उस होटल की ओर चल दिया। दैवयोग से उसे होटल का असली हाल मालूम हो गया और उसने जाकर पुलिस को सूचना दे दी। परन्तु उन बदमाशों को भी इस बात का पता चल गया कि उनका हाल पुलिस को मालूम हो गया है। वे डरे कि कहीं पकड़ न जायँ। ग्रेस उनके पास थी। उसे दूर करना चाहिए। हेरिच ने उसे बेहोशी की दवा सुँघाई और उसे उठा ले गया। इतने में पुलिस आ गई। ग्रेस का वहाँ पता न था। वहाँ पर केवल उसका एक रूमाल पड़ा मिला।

हेरिच भाग गया और ग्रेस को अपने समुद्र के किनारेवाले मकान में ले गया। वहाँ उसने ग्रेस के गले के हार में वह कागज़ पाया जो हीरे के साथ डिब्बे में बन्द था। उस कागज़ को पढ़ कर उसे यह मालूम हुआ कि मैंने एक हीरे के लालच में आकर एक बड़ी भारी सम्पत्ति खो दी। उसने सोचा कि उस हीरे को फिर प्राप्त करना चाहिए; चाहे इस काम में मेरी सारी सम्पत्ति लग जाय। कुछ दम दिलासा देकर और कुछ भय दिखला कर उसने ग्रेस को अपने साथ अमेरिका चलने को मजबूर किया। जब आरमण्ड और गिलबर्ट बड़ी कठिनाई और दौड़-धूप के बाद समुद्र किनारेवाले मकान पर आये तब उन्होंने देखा कि हेरिच और ग्रेस वहाँ से चले गये थे। ग्रेस जाते समय एक खिड़की पर अपनी अँगूठी से लिख गई थी कि मैं कहाँ जाती हूँ। इसी लेख के सहारे उन्होंने फिर पीछा करना आरम्भ किया। उनके मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित हुईं। वे निराश से होते जाते थे। भाग्यवश उन्होंने डाकख़ाने में पूछपाँछ की तो आरमण्ड के नाम ग्रेस का एक पत्र मिला। उससे उन्हें सारा हाल मालूम हो गया। हेरिच उस हीरे को फिर से ख़रीदने का मौक़ा ढूँढ़ रहा था। तब तक उसने ग्रेस को एक सुनसान मकान में क़ैद कर रक्खा था। हेरिच की अनुपस्थिति में आरमण्ड और गिलबर्ट आ गये और उन्होंने अपने घोड़े उस मकान की खिड़की के नीचे लगा दिये। अपनी जान ख़तरे में डाल कर वह बहादुर लड़की खिड़की से उतरी और अपने प्रियतम की गोद में आ गई। वह उसी के घोड़े पर आगे बैठ गई और स्वतन्त्रता, प्रेम और सम्पत्ति की रक्षा के लिए भागना आरम्भ किया। हेरिच ने आकर देखा कि ग्रेस ग़ायब है। उसने तुरन्त अपने सवारों को आज्ञा दी कि सारा मैदान छान डालो। जिस ओर से ग्रेस आई थी उस ओर एक नदी थी। उसमें एक किश्ती भी पड़ी हुई थी। आरमण्ड और ग्रेस नाव पर बैठ कर चल दिये। हेरिच घोड़ा भगाता हुआ आया; परन्तु उसे बहुत देर हो गई थी। वे लोग दूर निकल गये थे; अब उनके पकड़े जाने की कोई आशा न थी। उसने खेल खेला तो था; परन्तु बाज़ी हार गया। फिर भी वह निराश न हुआ। उसने नदी में अपना घोड़ा छोड़ दिया। परन्तु घोड़ा नदी में लड़खड़ाया और गिर गया। मालिक घोड़े पर से पानी में गिर गया। थोड़ी देर में एक मुर्दे की तरह पानी पर उतराता हुआ दिखाई दिया। ईश्वर के इजलास से न्याय हो गया। आरमण्ड और ग्रेस स्वतन्त्रता और शान्ति के साथ अपना आनन्दजीवन व्यतीत करने लगे।

नारायणप्रसाद अरोड़ा

भारतीय पुरातन राजनीति ।

[२]

दूतविभाग ।

आवश्यकता ।



जिस तरह सर्वसाधारण जन अपना वक्तव्य अपने मुख द्वारा दूसरों के समक्ष प्रकट किया करते हैं उसी तरह राजा-महाराजा अपना कथन अपने दूतों द्वारा अन्य लोगों पर प्रकाशित करते हैं। प्राणी को अपना भाव प्रकट करने के लिए प्रकृति ने मुखरूप साधन प्रदान किया है। उसी तरह, राष्ट्र के अधिष्ठाता को राज्य-सम्बन्धिनी बातें सर्वसाधारण में प्रकाशित करने के लिए राजनीति ने दूतरूप साधन दिया है। यदि प्राणि-वर्ग के वाक्साधन न हो तो प्राणि-समाज को कितनी ही आपत्तियाँ झेलनी पड़ें और उसके कितने ही काम अधूरे रह जायँ। इस बात पर ध्यान देने से मनुष्य के लिए मुख नामक अङ्ग कितना मूल्यवान् और कितना उपकारी है, यह सहज ही में जाना जा सकता है। इसी प्रकार दूत के बिना राजा को भी बहुत से दुःख उठाने पड़ते हैं और वह अपना अभीष्ट काम नहीं कर सकता। जिस मनुष्य में वाक्-चातुर्य है वह अपने काम कभी कभी केवल वचन-बल से ही कर लेता है। उसी प्रकार राज्याधिकारी भी कभी कभी केवल दूत की सहायता से ही कृतकार्य हो जाते हैं। जिस तरह गूँगा मनुष्य मनुष्य-समाज में एक प्रकार से निकम्मा है उसी तरह दूत-शक्ति-विहीन नरपति भी राज-समाज में किसी काम का नहीं। बात है भी ठीक। क्योंकि वह अपने दूत के बिना न तो किसी पर प्रेम ही प्रकाशित कर सकता है और न क्रोध ही। अतएव राज्य-सञ्चालन के लिए दूतों की भी बड़ी आवश्यकता है। वे भी, प्राणि-समाज के लिए मुख की तरह, राज्य के लिए अत्यन्त उपकारी हैं। वे शत्रु को भी मित्र बना सकते हैं।

प्रतिष्ठा—

भी दूत की थोड़ी नहीं है। वह भी मन्त्री की तरह माननीय है। अचिर-अनुष्ठेय अर्थात् अस्थायी कामों में तो वह स्वयं ही मन्त्री है। क्योंकि किसी किसी बात में, नियुक्त मन्त्री की अपेक्षा, दूत का अनुभव बढ़ा चढ़ा होता है। अन्य राष्ट्रों की बातें तो राजा और मन्त्रि-मण्डल अपने दूतों के द्वारा ही जानते हैं। अतएव वे बातें उनके लिए परोक्ष और दूत के लिए प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि दूत स्वयं अन्य राष्ट्रों में जाकर वहाँ की बातें अपनी आँखों से देखता है। अतएव किसी किसी बात में उसका अनुभव मन्त्री की भी अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए आवश्यकतानुसार उससे मन्त्री का भी काम लिया जा सकता है। मन्त्री, राज्य-शक्ति के प्रधान अङ्गों में से है। दूत भी उसके प्रधान अङ्गों में परिगणित है। अतएव साधारण पुरुष को दूत न बनाना चाहिए; जिसमें दूत-कर्म्म करने का गुण निसर्गतः विद्यमान हो उसी को दूत नियुक्त करना चाहिए। अन्य जन की अपेक्षा वह अपने कार्य्य में अधिक चातुर्य्य दिखला सकता है। कवि, मन्त्री, चार और दूत सिखाने पढ़ाने से नहीं बनते। उनमें तो अपना अपना कार्य्य करने का शक्ति-बीज जन्मसिद्ध होता है। पीछे वही बीज अभ्यास-रूप वारि का सेचन पाकर और अङ्कुरित होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसलिए जिस पुरुष को दूत बनाना हो उसमें दौत्य की स्वाभाविक शक्ति के साथ साथ निम्नलिखित गुणों से भी उसकी—

पात्रता

जाँच लेनी चाहिए। सबसे पहला गुण उसमें **स्वामि-भक्ति** होनी चाहिए। यह तो अत्यन्त आवश्यक गुण है। इससे साधारण कर्मचारी भी शून्य न होना चाहिए। फिर दूत की तो बात ही क्या। जिस तरह संख्या-सूचक अङ्क के बिना बिन्दुओं की कुछ भी क़ीमत नहीं उसी तरह स्वामि-भक्ति के बिना दूत में अन्य गुण किसी काम के नहीं।

दूसरा गुण है **अव्यसनिता**। व्यसनग्रस्त मनुष्य से संसार के साधारण काम-काज भी ठीक तरह नहीं बन पड़ते। तब राजनीति के महाजटिल कार्य्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर वह कैसे उत्तम रीति से कार्य्य कर सकता है? चतुर शत्रु व्यसनी के सब कामों और प्रवृत्तियों को पहले ही जान लेता है। इसलिए दूत को किसी भी तरह के व्यसन में लिप्त न होना चाहिए।

तीसरा गुण है **दक्षता**। दक्ष आदमी अपनी दक्षता

के बल दूसरों से भी निज के कार्य्य प्रसन्नता-पूर्वक करा लेता है। वह स्वयं तो अपना कार्य्य उत्तमता से करता ही है। इसके विपरीत, अकुशल मनुष्य बने बनाये काम को भी बिगाड़ बैठता है। अतः दौत्य के सदृश महत्त्वपूर्ण काम के लिए दाक्ष्य की भी बड़ी आवश्यकता है।

चैाथा गुण शुचिता है। शुचिता से तात्पर्य्य यहां केवल शरीर-शुद्धि और उत्तम वेश-भूषा से ही नहीं है, किन्तु उसके साथ साथ, अन्तरङ्गशुद्धि से भी है। लोभकषाय अन्तरङ्ग की निर्मलता तथा कर्तव्य-बुद्धि को नष्ट कर देता है। राज्य-प्रबन्ध के लिए लाञ्चा (घूँस) लकवा का काम करती है। इसलिए दूत को लोभी न होना चाहिए और जब वह लोभी न होगा तब उत्कोच उसके मन को कभी नहीं डिगा सकता। वह अवश्य कर्तव्य-कर्म-निरत बना रहेगा। राजनीति में घूसख़ोर न होना ही शुचिता कहलाती है।

पाँचवाँ गुण अमुमूर्षता है। अमुमूर्षता अर्थात् दूत के काम में रुकावट डालनेवाला किसी तरह का रोग या अपाङ्गता दूत में न होनी चाहिए। जो दूत रोगी बना रहता है वह कभी भी अपना काम उमङ्ग से नहीं कर सकता। वह तो बेचारा स्वयं रोग से बेचैन रहता है और अपने जीवन के अवशिष्ट दिन गिनता रहता है। इस दशा में किस आशा के भरोसे वह दौत्य में पटुता दिखावेगा ? दूत क्षीण-शक्ति भी न होना चाहिए। क्योंकि वह भी मुमूर्षुप्राय ही है।

छठा गुण प्रागल्भ्य है। दूत को प्रौढ़ होना चाहिए, प्रौढ़ होने से ही वह अपना वक्तव्य दूसरे के समक्ष अच्छी तरह कह सकता है। जो प्रगल्भ न हो तो दूसरे का रोब उस पर ग़ालिब हो जाता है और वह अपना कार्य्य-निर्वाह कुशलता से नहीं कर सकता। इसके सिवा प्रौढ़ की चालों को प्रौढ़ ही समझ सकता है। अतएव दूत को प्रगल्भ होना चाहिए।

सातवाँ गुण प्रतिभानवत्व है। प्रत्युत्पन्न-मति (हाज़िर-जवाब) होना भी दूत का कार्य है। प्रतिभाशाली पुरुष ही सभा-चतुर होता है।

आठवाँ गुण है—क्षान्ति। क्षमा-शील पुरुष बड़ा गम्भीर होता है। और गम्भीर मनुष्य ही बड़े बड़े कार्य्य करने का अधिकारी है। लोगों पर उसकी धाक भी खूब जम जाती है। गम्भीर मनुष्य को साधारण बातें, मच्छड़ को गोष्पद की तरह, क्षुब्ध नहीं कर सकतीं। इसलिए दूत के सदृश राज-कर्मचारी को सहनशील भी होना चाहिए। शत्रु के यहाँ जाने पर, सम्भव है, शत्रु उसके स्वामी की, उसके देश की तथा स्वयं उसकी भी बुराई करे। ऐसे समय में दूत को क्रोध के आवेश में आकर आपे से बाहर न होना चाहिए। धीरता से सब कुछ सहना और सुनना चाहिए एवं धीरतापूर्वक ही उसका उत्तर देना चाहिए। ज्ञानी पुरुष वस्तु-स्वभाव के ऊपर न तो आश्चर्य्य प्रकट करते हैं और न दुःख। यदि विष-भक्षण से किसी पुरुष का प्राण-पखेरू उड़ गया और आग में पड़ने से कोई वस्तु जल गई तो इसमें क्या आश्चर्य्य और इससे क्या दुःख! प्राणनाश करना तथा वस्तु को भस्म करना क्रम से विष और अग्नि का कार्य ही है। यही हाल शत्रु का भी है। शत्रु को क्षति पहुँचाना, शत्रु की बुराई करना, यह तो उसका प्रकृति-सिद्ध गुण है। फिर, यदि उसने अपने स्वभावानुसार कोई कार्य किया तो उस कार्य पर विवेकवान् पुरुष को क्रोध या दुःख न करना चाहिए। क्योंकि शत्रु के द्वारा की गई निन्दा या निज के कार्यध्वंस से डरना उचित नहीं। जब ओखली में सिर ही दिया तब मूसलों से क्या डर? इन सब बातों को सोच कर दूत को शत्रु के ऊपर क्रोध न करना चाहिए। यदि चपलता-वश चित्त उत्तेजित हो उठे तो उसके आवेग को मन में ही दबा देना चाहिए। क्योंकि उसे तो अपना काम बनाने से मतलब है; कार्य-सिद्धि ही उसका ध्येय है। अपनी ध्येय-सिद्धि के लिए ध्याता सब विघ्न-बाधाओं का सामना कर लेता है। निन्दा-स्तुति से उसका क्या वास्ता? उसे तो काम से काम। कार्य-ध्वंस मूर्खता का सूचक और कार्य-सिद्धि कुशलता की परिचायक है।

नवाँ गुण परमर्मवेदिता है। जासूस की तरह दूत को भी पर-मर्म-वेदी होना चाहिए। तभी वह दूसरे का हृदय टटोल सकेगा। इस गुण के विषय में पहले लेख में लिखा ही जा चुका है।

दसवाँ गुण उच्च जाति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में से कोई एक-वर्णधारी दूत होना चाहिए। निम्न-वर्ण-प्रसूत अर्थात् असत्कुलोत्पन्न व्यक्ति दूत-पद का अधिकारी नहीं। क्योंकि उसकी प्रकृति स्वभावतः नीच होती है। उसके हृदय में उच्च आदर्श स्थान नहीं पा सकता।

उसके विचार भी विशेष महत्त्व नहीं रखते। नीच पुरुष लालच में भी जल्द फँस जाता है। कुछ ही टके पास होने से उसका दिमाग़ सातवें आसमान से बातें करने लगता है। उस समय वह अपने सामने किसी को कोई चीज़ नहीं समझता। विनय आदि उच्च गुण तो उससे कोसों दूर भागते हैं। उसे सत्कुल-प्रसूत जन की तरह अपकीर्ति इत्यादि का भय नहीं होता। जन्म-संस्कार प्रायः कभी नहीं छूटता। जो जिस कुल में जन्मा है वह उसी कुल के अनुसार व्यवहार करता है। क्योंकि आत्मा के ऊपर जन्म-समय की स्थिति का बड़ा असर पड़ता है। इसलिए हीन कुल को न तो शासन अधिकार देना चाहिए और न दूत के सदृश उच्च पद। अकुलीन मनुष्य यदि भाग्यवश किसी अधिकार को पा जाता है तो वह अपने अधिकृत जनों पर बड़ा अत्याचार करता है और पीछे अपने पद को भी खो बैठता है। क्योंकि निधि पाने की अपेक्षा निधि की रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु यदि कोई नीच-कुलोत्पन्न व्यक्ति पद-विशेष की पात्रता रखता हो तो उसे वह पद देना भी चाहिए। क्योंकि वह भी द्विजों की तरह, उसी राजा की प्रजा है—वह भी द्विजों की तरह उसको कर देता है। राजा को समदर्शी होना चाहिए। इसी में उसका भला है। गुण ही उसकी दृष्टि में अधिकार-दान की कसौटी होनी चाहिए, अन्य बात नहीं।

दूत के भेद

तीन हैं—१ निस्टष्टार्थ, २—परिमितार्थ और ३—शासनहर। निस्टष्टार्थ दूत वह है, जिसकी स्वीकृत सन्धि और विग्रह स्वामी को भी स्वीकार करना पड़ें, अथवा दोनों पक्षों का अभिप्राय समझ कर जो स्वयं अपनी बुद्धि से ठीक उत्तर दे और सुसङ्गत कार्य करे। श्रीकृष्ण पाण्डवों के ऐसे ही दूत थे। परिमितार्थ दूत बातें तो परिमित ही कहता है; परन्तु उतने ही से कार्य ठीक ठीक बना लाता है। शासनहर उतनी ही बातें अपने कार्य-स्थान में जाकर कहता है जितनी मालिक उससे कह देता है। अपनी ओर से उसमें कुछ घटाता बढ़ाता नहीं है।

दूत के लिए निषिद्ध काम।

स्वामी की आज्ञा के बिना दूत को न तो श_ु के न अन्य किसी राजा के राज्य में जाना चाहिए और न वहाँ से केवल अपनी ही इच्छा से चले ही आना चाहिए। यदि ऐसा कोई काम आ पड़े कि दूत को अपना कार्य करके स्वामी के पास शीघ्र पहुँचाना चाहिए; परन्तु शत्रु शीघ्र काम करके न दे, तथा व्यर्थ के लिए विलम्ब करे और दूत को यह बात ज्ञात भी हो जाय कि यह इतना विलम्ब केवल मेरे स्वामी का अहित करने के लिए ही करता है, तो भी दूत को बिना अपना काम किये वहाँ से न लौटना चाहिए। उसे और बातों से क्या काम? उसको तो अपना ही कर्तव्य पालन करना चाहिए। क्योंकि वह केवल अपने ही कर्तव्य भर का उत्तरदाता है। अपने हिताहित का विचार और तदनुकूल व्यवस्था तो राजा और मन्त्रिमण्डल स्वयं कर लेगा। यह दूत का काम नहीं। दूत, पर-राष्ट्र अथवा स्वराष्ट्र से भी अपने स्वामी के पास जासूसों को न भेजे। दूत को अत्यन्त निकट-सम्बन्धी व्यक्ति के सिवा अन्य किसी व्यक्ति के पास न सोना चाहिए। क्योंकि मनुष्य स्वप्न में कभी कभी गुप्त से गुप्त बातें कह डालता है। रूपवान् दूत को किसी सुन्दरी अथवा असुन्दरी स्त्री के भी पास दूत-कर्म के लिए न जाना चाहिए; क्योंकि सम्भव है कि उसके जाल में फँस कर वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाय। इसी प्रकार किसी सुन्दरी को भी सुन्दर पुरुष के पास दौत्य के लिए न जाना चाहिए। अच्छा तो यही है कि स्त्री के पास स्त्री और पुरुष के पास पुरुष दूत बन कर जाय।

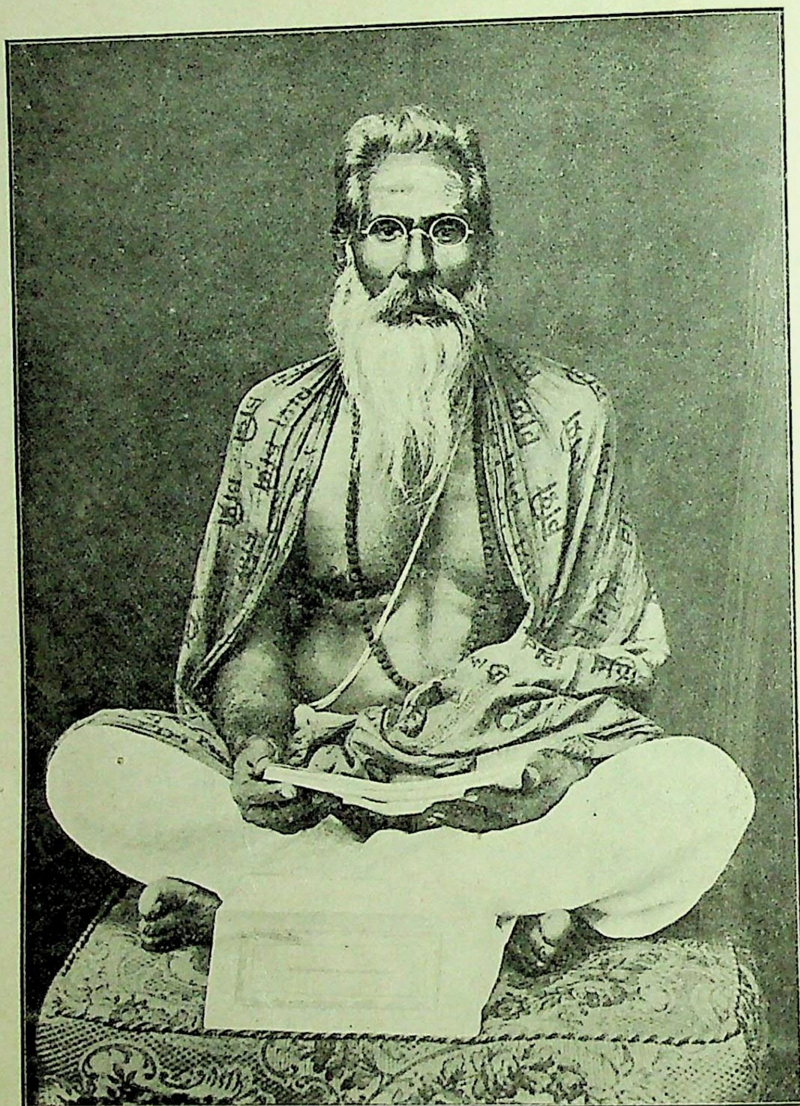
दूत के गुप्त कार्य।

यदि पर-राष्ट्र अपने राष्ट्र में स्थित पर-दूत को अपने यहाँ से अकस्मात् बिदा कर दे तो प्रस्थानित पर-दूत को इस प्रकार अपने बिदा कर दिये जाने का कारण अवश्य ज्ञात कर लेना चाहिए। ऐसे समय में अवश्य दाल में काला होता है। क्योंकि इससे यदि कोई बात छिपानी न होती तो वह एकाएक क्यों बिदा कर दिया जाता। अतएव दूत को अपने चातुर्य से, किसी न किसी तरह, इसका कारण अवश्य जान लेना चाहिए। अर्थात् स्वामि-दोष अथवा स्वदोष से जिन पर-राष्ट्रीय पुरुषों की आजीविका नष्ट हो गई है अथवा जो किसी कारण-विशेष से क्रुद्ध या भयभीत हो रहे हैं या जो अपमानित हैं उन सब का उपकार करके अपनी ओर

मिला लेना चाहिए। अर्थात् आजीविका-भ्रष्ट की आजीविका लगा कर, क्रुद्ध की हाँ में हाँ मिला कर तथा उसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति दिखा कर, अपमानित को सत्कृत कर, भय-भीत को अभय करके और लुब्धक को आवश्यकतानुसार धन देकर, अपने वश में कर ले। ऐसे लोगों को उकसा कर उनके स्वामी के विरुद्ध युद्ध के लिए खड़ा कर देना; राजपुत्रों, उत्तराधिकारियों और कारागारावरुद्ध पुरुषों को उपजाप अर्थात् कानाफूँसी करके अपनी ओर मिलाना; स्वमण्डल-प्रविष्ट गूढ़ पुरुषों की जानकारी रखना; अन्तःपुर-रक्षक, अटवीनिवासिनी प्रजा अर्थात् वन में रहनेवाले, अटवी के अधिकारिवर्ग, राजसम्बन्धी कोश, देश, तन्त्र, मित्र, और रनवास इत्यादि की जाँच नित्य चातुर्य से करना; कन्या, रत्न, वाहन और तीक्ष्णपुरुषों के प्रयोग से पर-प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करना; पर-राष्ट्रीय मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और राज-सम्बन्धियों की आवभगत करके तथा अपने में उनका विश्वास उत्पन्न करा कर शत्रु के इतिकर्तव्य और अन्तःसारता को जानना, ये सब दूत के कर्त्तव्य हैं।

दूत के विषय में फुटकर बातें ।

यदि चाण्डाल भी दूत के नाते से आवे तो वह भी अवध्य है, फिर द्विज की तो बात ही क्या। परन्तु यदि दूत के कारण अपना महान् अपकार होता हो तो उसको भी मार डालना चाहिए। पर दूत का हनन हँसी-खेल नहीं। उसके मारे जाने से राज्य की प्रतिष्ठा में बट्टा लगता है। इसलिए हत्याकारियों को लोहे का सामना करना और आजन्म वैर बिसाना पड़ता है। इसके सिवा सभ्य समाज में हत्याकारियों की बड़ी निन्दा होती है और फिर कोई उनका विश्वास नहीं करता। अतएव हज़ार नुक़सान सह कर भी दूत को न मारना चाहिए। दूत की बदौलत जब बाज़ी पलटने का ही समय आजाय तभी उसका वध करना चाहिए, अन्यथा नहीं। दूसरे एक बात यह भी है कि युद्ध-समाप्ति के समय भी दूत की आवश्यकता पड़ती है। दूत के बिना युद्ध का निपटारा नहीं हो सकता। क्योंकि नीति का वाक्य है—"दूतमुखा वै राजानः" पर यदि वह प्रथम ही मार डाला जाय तो फिर सन्धि-स्थापना करावेगा कौन? इसलिए दूत अवध्य ही है। और, अवध्य होने के ही कारण, वह शत्रु के भी आस्थान (दरबार) में मनमानी बातें कर सकता है। उसे किसी तरह का भय नहीं रहता। जब पर-राष्ट्र का दूत अपने दरबार में आवे तब राजा स्वयं, वीर और भक्त पुरुषों से परिवेष्टित होकर, दूर ही से उसकी बातें सुने। क्योंकि, सुना है, कुटिलात्मा चाणक्य ने बेचारे नन्द को एक तीक्ष्ण पुरुष के द्वारा मरवा डाला था। वह पुरुष दूत के मिष से नन्द के पास गया था। इसी प्रकार पर-दूत के द्वारा लाये गये शासन-पत्रों तथा नज़-राने को भी तब तक न छूना चाहिए जब तक स्वजन उनकी जाँच न कर लें। क्योंकि, कहते हैं, करहटपति (कराड़, ज़िला सतारा) कैटभ ने वसु नामक राजा को स्पर्श-विषाक्त दुशाले से, तथा करवाल-कराल नामक एक और राजा को सर्प-विष-युक्त रत्नों से यमलोक को पहुँचा दिया था। टाड साहब के "राज-स्थान" में भी एक ऐसी ही घटना का उल्लेख है। उसमें एक राजपूत-रानी ने एक नबाब को विषाक्त कपड़े पहना कर मार डाला था। दूत को चाहिए कि जब शत्रु उसकी बुराई करे तब, यदि स्वयं असमर्थ हो तो, सब बातें चुप चाप सुन ले। परन्तु यदि उसके स्वामी या गुरुजनों की निन्दा करे तब कभी चुप न रहे। उसका उत्तर अवश्य दे; अवश्य उसका प्रतीकार करे। कोई भी कुशल नीतिज्ञ पर-दूत की बातों को सोलह आने सच नहीं समझता। क्योंकि वह तो कुत्ते की तरह सदैव अपने स्वामी के ही महत्त्व का बखान करता है। पर-दूत की लम्बी चौड़ी बातों को सुन कर विजिगीषु अर्थात् विजय की इच्छा रखनेवाले को साहस न खो देना चाहिए और न अपनी आत्मा पर शत्रु का महत्त्व ही जमने देना चाहिए। क्योंकि महत्त्व जम जाने पर आत्मा निर्बल और उत्साह-हीन हो जाती है। इसलिए जो आक्रमणेच्छु राजा आक्रम्य राजा के दूत के वचन सुन कर रुक जाय तो उसका नाश निकट ही समझना चाहिए। क्योंकि शत्रु, इसी बीच में, बहुत कुछ सँभल जायगा और वह यह भी समझ जायगा कि यह इस समय निर्बल है। फिर वह स्वयं ही आक्रमण कर बैठेगा। अतएव राजनीति के अनुसार पर-दूत के वचनों पर ही विश्वास कर के न तो शत्रु को उत्कर्ष-शाली ही समझना चाहिए और न अपना अपकर्ष सुन कर अपने को निर्बल ही जानना चाहिए। दूत पर-दूत के सब



स्वर्गवासी पण्डित भीमसेन शर्मा।

जन्मकाल	कैलाशवास
कार्तिक-शुक्ला पञ्चमी	चैत्र-कृष्णा द्वादशी
सं० १९११ वि०	सं० १९७४ वि०

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

रहस्यों को जानने के लिए स्त्रियों, उभयवैतनिकों, तथा पर-दूत के सदृश गुण-आचार-शील-धारी पुरुषों से काम ले।

प्रति-पक्षी का लेख (ख़रीता) चारवेष्टनों से वेष्टित और खड्ग-मुद्रा से मुद्रित होता है।

गोविन्दराय परवार
(काव्यतीर्थ)

पण्डित भीमसेन शर्म्मा।

ज़िला फ़र्रुख़ाबाद में मेरापुर नाम का एक गाँव था। उसी के समीप रामपुर एक बस्ती है। रामपुर किसी क्षत्रिय वंश की राजधानी थी। मेरापुर में उस राजवंश के पुरोहित घृतकौशिक-गोत्री ब्राह्मण रहते थे। उनका आस्पद मिश्र था। कालवश उक्त राजधानी के नष्ट होने पर मेरापुर भी उजड़ गया।

उक्त मिश्र-वंश में से एक पण्डित हरिराम शर्म्मा ज़िला एटा, तहसील अलीगंज, के लालपुर नाम के गाँव में आ बसे। उनसे छठी पीढ़ी में नेकराम शर्म्मा का जन्म हुआ।

हमारे चरित-नायक पण्डित भीमसेन शर्म्मा इन्हीं नेकरामजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९११ में हुआ। ढाई वर्ष की अवस्था होने पर इनकी माता का परलोकवास हो गया। तब से ये पिता के पास रहने लगे और बोलने की शक्ति होते ही हिसाब सीखने लगे, क्योंकि इनके पिता गणित-विद्या में बड़े निपुण थे।

उस समय बालकों के पढ़ने का कोई उचित प्रबन्ध नहीं था। पर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो चुका था। इसलिए गाँव के सब लोगों ने मिल कर एक कायस्थ लाला को उर्दू पढ़ाने पर रक्खा। गाँव के सब लड़कों के साथ पण्डित भीमसेन भी उर्दू पढ़ने लगे। ये अपनी तीव्र बुद्धि से अपना पाठ बड़ी सावधानी से घोख लेते थे। परन्तु लालाजी इनसे प्रसन्न होने के बदले अप्रसन्न थे। वे सोचते थे कि यदि इसी तरह सब लड़के पढ़ गये तो हमारी जीविका कैसे चलेगी। कुछ दिनों के बाद लालाजी चले गये और सब लड़के अधकचरे रह गये। परन्तु भीमसेनजी दूसरे गाँव में जाकर पढ़ आते थे। इस तरह से पढ़ने लिखने योग्य उर्दू की योग्यता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने हिन्दी का अध्ययन आरम्भ किया और इसके पीछे संस्कृत-व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया।

१७ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने घर पर अध्ययन किया; परन्तु संवत् १९२५—२६ में जब स्वामी दयानन्दजी ने फ़र्रुख़ाबाद में संस्कृत-पाठशाला स्थापित की तो ये वहाँ पढ़ने चले गये और अष्टाध्यायी-व्याकरण की श्रेणी में भरती हुए। इन्होंने दो वर्ष में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पढ़ ली और इसके अनन्तर व्याकरण-महाभाष्य, पिङ्गलसूत्र, स्वरप्रकरण, चन्द्रालोककारिका-अलङ्कार और माघ काव्य आदि ग्रन्थों को एक साथ पढ़ा और एक वर्ष में इन सब में प्रवेश कर लिया। तदनन्तर २१ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ और फिर ये काशी में आकर दर्शन-शास्त्र पढ़ने लगे।

इस समय स्वामी दयानन्दजी भी काशी में थे। पण्डित भीमसेन उन्हींके यहाँ लिखा पढ़ी का काम करने लगे। उन्हींके साथ इन्होंने दिल्लीदरबार देखा और दो वर्ष तक पञ्जाब में पर्य्यटन किया। फिर काशी में रह कर ये दर्शन-ग्रन्थ पढ़ने लगे। यहाँ बीमार पड़ने के कारण वे घर को चले गये और वहाँ से फिर स्वामीजी के साथ रहने लगे। संवत् १९४० में जब स्वामी दयानन्दजी का स्वर्गवास हो गया तब ये वैदिक-यन्त्रालय, प्रयाग, में संशोधक के कार्य पर नियत हुए। यहाँ रह कर इन्होंने बहुत सी दर्शन और वैदिक पुस्तकों का भाषानुवाद किया और कई पुस्तकें स्वतन्त्र रचीं। संवत् १९४२ में

इन्होंने आर्य्यसिद्धान्त नाम का एक मासिक पत्र निकाला और उपनिषदादि कई पुस्तकों पर भाष्य लिखे। कुछ दिनों के बाद उक्त प्रेस के मैनेजर से बिगाड़ हो जाने के कारण इन्होंने वह नौकरी छोड़ दी और अपना घर का प्रेस कर लिया।

वैदिक-यन्त्रालय से सम्बन्ध छोड़ने के दस बारह वर्ष के बाद कलकत्ते के सेठ माधवप्रसाद खेमका इनके पास गये और इनसे कहा कि हम यज्ञ किया चाहते हैं। उसे आप वेद की विधि से कराइए। इन्होंने सेठजी के अनुरोध से जब वेद मे यज्ञ की विधि देखी तो उसे प्रायः आर्य्यसमाज के सिद्धान्त के बहुत प्रतिकूल पाया। इन्होंने सेठजी से कहा। सेठजी ने कहा कि आर्य्यसमाज से कुछ प्रयोजन नहीं है। हम वेद-विधि से यज्ञ किया चाहते हैं। अस्तु, इन्होंने उसी समय से आर्य्यसमाज से अपना सम्बन्ध छोड़ दिया और वेद-विधि से यज्ञ कराया। इस पर आर्य्यसमाजी लोग इनसे बहुत कुछ बिगड़े और अख़बारों में इनकी बड़ी निन्दा छापी। इन्होंने उसका प्रतिवाद किया और आर्य्यसमाज को वेद-विरुद्ध धर्म सिद्ध किया। इन्होंने आगरे के आर्य्य-समाज से श्राद्ध-विषय पर शास्त्रार्थ भी किया। इसीके कुछ दिनों बाद ब्राह्मणसर्वस्व नामक मासिक पत्र निकाला। यह पत्र अब भी चलता है।

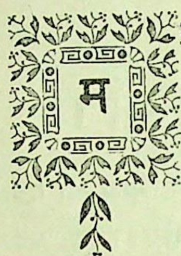
इस समय पण्डित भीमसेनजी इटावा नगर में बैठे भगवद्भजन में समय बिताते हैं और विद्या-व्यसन में रत रहते हैं। एक बार जब आर्य्यसमाज में मांसाहारी दल की प्रबलता हुई तो इन्हें जोधपुर में बुला कर लोगों ने १००) रु० मासिक पर उपदेशक नियत कर के मांस खाने को वेद से सिद्ध कराना चाहा था। पर इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया।

सन् १९१२ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय में आप "वेद" के अध्यापक नियत हुए हैं और अब तक उस काम में लगे हुए हैं।

हिन्दी-कोविद-रत्नमाला में आपका चरित यहीं तक दिया गया है।

बलिदान।

(१)



मनुष्य की आर्थिक अवस्था का सबसे ज़ियादह असर उसके नाम पर पड़ता है। मौज़े बेला के मँगरू ठाकुर जब से कान्सटिबिल हो गये हैं, उनका नाम मङ्गलसिंह हो गया है। अब उन्हें कोई मँगरू कहने का साहस नहीं कर सकता। कल्लू अहीर ने जबसे हलके के थानेदार साहब से मित्रता कर ली है और गाँव का मुखिया हो गया है, उसका नाम कालिकादीन हो गया है। अब कोई उसे कल्लू कहे तो आँखें लाल-पीली करता है। इसी प्रकार हरखचन्द कुरमी अब हरखू हो गया है। आज से बीस साल पहले उसके यहाँ शकर बनती थी, कई हल की खेती होती थी और कारोबार खूब फैला हुआ था। लेकिन विदेशी शकर की आमद ने उसे मटियामेट कर दिया। धीरे धीरे कारख़ाना टूट गया, हल टूट गये, कारोबार टूट गया, ज़मीन टूट गई, गाहक टूट गये और वह खुद भी टूट गया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा, जो एक तकियेदार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिआ करता था, अब सिर पर टोकरी लिये खाद फेंकने जाता है। परन्तु उसके मुख पर अब भी एक प्रकार की गम्भीरता, बातचीत में अब भी एक प्रकार की अकड़, चाल-ढाल में अब भी एक प्रकार का स्वाभिमान भरा हुआ है। इन पर काल की गति का प्रभाव नहीं पड़ा। रस्सी जल गई, पर बल नहीं टूटा। भले दिन मनुष्य के चरित्र पर, सदैव के लिए, अपना चिह्न छोड़ जाते हैं। हरखू के पास अब केवल पाँच बीघा ज़मीन है; केवल दो बैल हैं; एक

ही हल की खेती होती है। लेकिन पञ्चायतों में, आपस के कलह में, उसकी सम्मति अब भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। वह जो बात कहता है बेलाग कहता है और गाँव के नोपढ़े उसके सामने मुँह नहीं खोल सकते।

हरखू ने अपने जीवन में कभी दवा नहीं खाई। वह बीमार ज़रूर पड़ता; कुआँर मास में मलेरिया से कभी न बचता था। लेकिन दस पाँच दिन में वह, बिना दवा खाये ही, चङ्गा हो जाता था। अब के भी, कातिक में, बीमार पड़ा और यह समझ कर कि अच्छा तो हो ही जाऊँगा उसने कुछ परवा न की। किन्तु अब की ज्वर मौत का परवाना लेकर चला था। एक सप्ताह बीता, दूसरा सप्ताह बीता, पूरा महीना बीत गया; पर हरखू चारपाई से न उठा। अब उसे दवा की ज़रूरत मालूम हुई। उसका लड़का, गिरधारी, कभी नीम के सीके पिलाता, कभी गुर्च का सत, कभी गदापूरना की जड़। पर इन ओषधियों से कोई फ़ायदा न होता था। हरखू को विश्वास हो गया कि अब संसार से चलने के दिन आ गये।

एक दिन मङ्गलसिंह उसे देखने गये। बेचारा टूटी खाट पर पड़ा रामनाम जप रहा था। मङ्गलसिंह ने कहा—"बाबा, दवा खाये बिना अच्छे न होगे; कुनैन क्यों नहीं खाते?" हरखू ने उदासीन भाव से कहा—"तो लेते आना।"

दूसरे दिन कालिकादीन ने आकर कहा—"बाबा, दो चार दिन कोई दवा खालो। अब, तुम्हारी जवानी की देह थोड़े ही है कि बिना दवा-दर्पन के अच्छे हो जाव।"

हरखू ने उनसे भी उसी मन्द भाव से कहा—"तो लेते आना।"

लेकिन रोगी को देख आना एक बात है, दवा लाकर उसे देना दूसरी बात है। पहली बात शिष्टाचार से होती है; दूसरी सच्ची सहवेदना से। न मङ्गलसिंह ने ख़बर ली, न कालिकादीन ने, न किसी तीसरे ही ने। हरखू दालान में खाट पर पड़ा रहता। मङ्गलसिंह कभी नज़र आ जाते तो कहता "भैया, वह दवा नहीं लाये?" मङ्गलसिंह कतरा कर निकल जाते। कालकादीन दिखाई देते तो उनसे भी यही प्रश्न करता। लेकिन वह भी नज़र बचा जाते। या तो उसे यह सूझता ही न था कि दवा पैसों के बिना नहीं आती, या वह पैसे को जान से भी प्रिय समझता था, अथवा वह जीवन से निराश हो गया था। उसने कभी दवा के दाम की बात नहीं की। दवा न आई। उसकी दशा दिनों दिन बिगड़ती गई। यहाँ तक कि पाँच महीने कष्ट भोगने के बाद उसने, ठीक होली के दिन, शरीर त्याग दिया। गिरधारी ने उसका शव बड़ी धूमधाम से निकाला। क्रिया-कर्म बड़े हौसले से किया। कई गाँवों के ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया।

बेला में होली न मनाई गई, न अबीर और गुलाल उड़ी, न डफ़ली बजी, न भङ्ग की नालियाँ बहीं। कुछ लोग मन में हरखू को कोसते ज़रूर थे कि इस बुड्ढे को आज ही मरना था, दो चार दिन बाद मरता। लेकिन इतना निर्लज्ज कोई न था कि शोक में आनन्द मनाता। वह शहर नहीं था, जहाँ कोई किसी के काम में शरीक़ नहीं होता, जहाँ पड़ोसी के रोने-पीटने की आवाज़ हमारे कानों तक नहीं पहुँचती।

(२)

हरखू के खेत गाँव-वालों की नज़र पर चढ़े हुए थे। पाँचों बीघा ज़मीन कुवें के निकट, खाद-पाँस से लदी हुई, मेंड़-बाँध से ठीक थी। उनमें तीन तीन फ़सलें पैदा होती थीं। हरखू के मरते उन पर चारों ओर से धावे होने लगे। गिरधारी तो क्रिया-कर्म में फँसा हुआ था। उधर गाँव के मनचले किसान लाला ओङ्कारनाथ को चैन न लेने देते थे। नज़राने की बड़ी बड़ी रक़में पेश हो रही थीं। कोई

साल भर का लगान पेशगी देने पर तैयार था; कोई नज़राने की दूनी रक़म का दस्तावेज़ लिखने पर तुला हुआ था। लेकिन ओङ्कारनाथ सबको टालते रहते थे। उनका विचार था कि गिरधारी के बाप ने इन खेतों को बीस वर्ष तक जोता है; इसलिए गिरधारी का हक़ सबसे ज़ियादह है। वह अगर दूसरों से कम भी नज़राना दे तो खेत उसी को देने चाहिए। अस्तु। जब गिरधारी क्रिया-कर्म से निवृत्त हो गया और चैत्र का महीना भी समाप्त होने आया तब ज़मींदार साहिब ने गिरधारी को बुलाया और उससे पूछा—"खेतों के बारे में क्या कहते हो?"

गिरधारी ने रोकर कहा—"सरकार, उन्हीं खेतों ही का तो आसरा है; जोतूँगा न तो क्या करूँगा?"

ओङ्कारनाथ—"नहीं, ज़रूर जोतो; खेत तुम्हारे हैं। मैं तुमसे छोड़ने को नहीं कहता। हरखू ने उन्हें बीस साल तक जोता। उन पर तुम्हारा हक़ है। लेकिन तुम देखते हो अब ज़मीन की दर कितनी बढ़ गई है। तुम ८) बीघे पर जोतते थे। मुझे १०) मिल रहे हैं; और नज़राने के १००) अलग। तुम्हारे साथ रिआयत करके लगान वही रखता हूँ। पर नज़राने के रुपये तुम्हें देने पड़ेंगे।"

गिरधारी—"सरकार, मेरे घर में तो इस समय रोटियों का भी ठिकाना नहीं है। इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा। जो कुछ जमा जथा थी, दादा के काम में उठ गई। अनाज खलिहान में है। लेकिन दादा के बीमार हो जाने से उपज भी अच्छी नहीं हुई। रुपये कहाँ से लाऊँ?"

ओङ्कारनाथ—"यह सच है, लेकिन मैं इससे ज़ियादह रिआयत नहीं कर सकता।"

गिरधारी—'नहीं सरकार, ऐसा न कहिए; नहीं तो हम बि[illegible] जायँगे। [illegible] होकर कहते [illegible]) [illegible] सकता [illegible]।"

ओङ्कारनाथ चिढ़ कर बोले—"तुम समझते होगे कि हम ये रुपये लेकर अपने घर में रख लेते हैं और चैन की बन्सी बजाते हैं। लेकिन हमारे ऊपर जो कुछ गुज़रती है वह हमीं जानते हैं। कहीं यह चन्दा, कहीं वह चन्दा; कहीं यह नज़र, कहीं वह नज़र; कहीं यह इनाम, कहीं वह इनाम। इनके मारे कचूमर निकला जाता है। बड़े दिन में सैकड़ों रुपये डालियों में उड़ जाते हैं। जिसे डाली न दो वही मुँह फुलाता है। जिन चीज़ों के लिए लड़के तरस कर रह जाते हैं उन्हें बाहर से मँगा कर डालियों में सजाता हूँ। उस पर कभी क़ानूनगो आ गये, कभी तहसीलदार आ गये, कभी डिप्टी साहब का लशकर आ गया। सब मेरे मिहमान होते हैं। अगर न करूँ तो नक्कू बनूँ और सब की आँखों में काँटा बन जाऊँ। साल में हज़ार-बारह सौ मोदी को इसी रसद-ख़ुराक के मद्दे देना पड़ते हैं। यह सब कहाँ से आवे। बस, यही जी चाहता है कि घर छोड़ के निकल जाऊँ। लेकिन हमें तो परमात्मा ने इसी लिए बनाया है कि एक से रुला रुला कर लें और दूसरे को रो रो कर दें। यही हमारा काम है। तुम्हारे साथ इतनी रिआयत कर रहा हूँ। लेकिन तुम इतने पर भी ख़ुश नहीं होते, तो हरि-इच्छा। नज़राने में एक पैसे की भी रिआयत न होगी। अगर एक हफ़्ते के अन्दर रुपये दाख़िल करोगे तो खेत जोतने पाओगे नहीं तो मैं कोई दूसरा प्रबन्ध कर दूँगा"।

(३)

गिरधारी उदास और निराश होकर घर आया। १००) का प्रबन्ध करना उसके क़ाबू के बाहर था। सोचने लगा, अगर दोनों बैल बेच दूँ तो खेत ले कर क्या करूँगा? घर बेचूँ तो यहाँ लेनेवाला है कौन है? और, फिर, बाप-दादों का नाम डूबता है। चार पाँच पेड़ हैं, लेकिन उन्हें बेच कर २५) ३०) से अधिक न मिलेंगे। उधार लूँ तो देगा कौन है! अभी बनिये के ५०) सिर पर चढ़े हैं।

वह एक पैसा भी न देगा। घर में गहने भी तो नहीं हैं। नहीं, उन्हीं को बेचता। ले दे कर एक हँसली बनवाई थी। वह भी बनिये के घर पड़ी हुई है। साल भर हो गया, छुड़ाने की नौबत न आई। गिरधारी और उसकी स्त्री सुभागी दोनों ही इसी चिन्ता में पड़े रहते; लेकिन कोई उपाय न सूझता था।

गिरधारी को खाना-पीना अच्छा न लगता; रात को नींद न आती। खेतों के निकलने का ध्यान आते ही उसके हृदय में एक हूक सी उठने लगती। हाय! वह भूमि जिसे हमने बरसों जोता, जिसे खाद से पाटा, जिसमें मेंड़ें रक्खीं, जिसकी मेंड़ें बनाईं, उसका मज़ा अब दूसरा उठावेगा!

ये खेत गिरधारी के जीवन का अंश हो गये थे। उनकी एक एक अङ्गुल भूमि उसके हृदय-रक्त से रँगी हुई थी। उनका एक एक परमाणु उसके पसीने से तर हो रहा था। उनके नाम उसकी जिह्वा पर उसी तरह आते थे जिस तरह अपने तीनों बच्चों के। कोई चौबीसो था, कोई बाईसो था, कोई नालेवाला, कोई तलैया-वाला। इन नामों के स्मरण होते ही खेतों का चित्र उसकी आँखों के सामने खिँच जाता था। वह इन खेतों की चर्चा इस तरह करता मानो वे सजीव हैं, मानो वे उसके भले-बुरे के साथी हैं। उसके जीवन की सारी आशायें, सारी इच्छायें, सारे मनसूबे, सारी मन की मिठाइयाँ, सारे हवाई क़िले, इन्हीं खेतों पर अवलम्बित थे। इनके बिना वह अपने जीवन की कल्पना ही न कर सकता था। और वे ही अब हाथ से निकले जाते हैं! वह घबरा कर घर से निकल जाता और घण्टों उन्हीं खेतों की मेड़ों पर बैठा हुआ रोता, मानो उनसे बिदा हो रहा है।

इस तरह एक सप्ताह बीत गया और गिरधारी रुपये का कोई बन्दोबस्त न कर सका। आठवें दिन उसे मालूम हुआ कि कालिकादीन ने १००) नज़राना देकर १०) बीघे पर खेत ले लिये। गिरधारी ने एक ठण्डी साँस ली। एक क्षण के बाद वह अपने दादे का नाम लेकर बिलख बिलख रोने लगा।

उस दिन घर में चूल्हा नहीं जला। ऐसा मालूम होता, हरखू आज ही मरा है।

(४)

लेकिन सुभागी यों चुप बैठनेवाली स्त्री न थी। वह क्रोध से भरी हुई कालिकादीन के घर गई और उसकी स्त्री को ख़ूब लथेड़ा। कल का बानी आज का सेठ! खेत जोतने चले हैं। देखें कौन मेरे खेत में हल ले जाता है! अपना और उसका लोहू एक कर दूँ! पड़ोसियों ने उसका पक्ष लिया। सच तो है; आपस में यह चढ़ा-ऊपरी नहीं चाहिए। नारायण ने धन दिया है तो क्या ग़रीबों को कुचलते फिरेंगे? सुभागी ने समझा, मैंने मैदान मार लिया। उसका चित्त बहुत शान्त हो गया।

किन्तु वही वायु जो पानी में लहरें पैदा करती है वृक्षों को जड़ से उखाड़ डालती है। सुभागी तो पड़ोसियों की पञ्चायत में अपने दुखड़े रोती और कालिकादीन की स्त्री से छेड़ छेड़ लड़ती। इधर गिरधारी अपने द्वार पर उदास बैठा हुआ सोचता—अब मेरा क्या हाल होगा? अब यह जीवन कैसे कटेगा? ये लड़के किसके द्वार पर जायँगे? मज़दूरी का विचार करते ही उसका हृदय व्याकुल हो जाता। इतने दिनों तक स्वाधीनता और सम्मान का सुख भोगने के बाद अधम चाकरी की शरण लेने के बदले वह मर जाना अच्छा समझता था। वह अब तक गृहस्थ था; उसकी गणना गाँव के भले आदमियों में थी; उसे गाँव के मामलों में बोलने का अधिकार था। उसके घर में धन न था, पर मान था। नाई, बढ़ई, कुम्हार, पुरोहित, भाट, चौकीदार ये सब उसका मुँह ताकते थे। अब यह मर्य्याद कहाँ! अब कौन उसकी बात पूछेगा? कौन उसके द्वार पर आवेगा? अब उसे किसी के बराबर

बैठने का, किसी के बीच में बोलने का, हक़ नहीं रहा। अब उसे पेट के लिए दूसरों की गुलामी करनी पड़ेगी! अब पहर रात रहे कौन बैलों को नाँद में लगावेगा। वह दिन अब कहाँ, जब गीत गा गा कर हल चलाता था। चोटी का पसीना एड़ी तक आता था, पर ज़रा भी थकान न आती थी। अपने लहलहाते हुए खेतों को देख कर फूला न समाता था। खलिहान में अनाज का ढेर सामने रक्खे हुए अपने को राजा समझता था। अब अनाज के टोकरे भर भर कर कौन लावेगा? अब खाते कहाँ! बखार कहाँ! यही सोचते सोचते गिरधारी की आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती थी।

गाँव के दो चार सज्जन, जो कालिकादीन से जलते थे, कभी कभी गिरधारी को तसल्ली देने आया करते। पर वह उनसे भी खुल कर न बोलता। उसे मालूम होता था कि मैं सब की नज़र में गिर गया हूँ।

अगर कोई उसे समझाता कि तुमने क्रिया-कर्म में व्यर्थ इतने रुपये उड़ा दिये तो उसे बहुत दुःख होता। वह अपने उस काम पर ज़रा भी न पछताता। कहता—मेरे भाग्य में जो लिखा है वह होगा; पर दादा के ऋण से तो उऋण हो गया। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में चार को खिला कर खाया। क्या मरने पीछे उन्हें पिण्डे-पानी को तरसाता!

इस प्रकार तीन मास बीत गये और असाढ़ आ पहुँचा। आकाश में घटायें आईं; पानी गिरा; किसान हल-जुए ठीक करने लगे। बढ़ई हलों की मरम्मत करने लगा। गिरधारी पागल की तरह कभी घर के भीतर जाता; कभी बाहर आता; अपने हलों को निकाल निकाल देखता; इसकी मुठिया टूट गई है; इसकी फाल ढीली हो गई है; जुए में सैला नहीं है। यह देखते देखते वह एक क्षण के लिए अपने को भूल गया। दौड़ा हुआ बढ़ई के पास गया और बोला—"रज्जू, मेरे हल भी बिगड़े हुए हैं; चलो बना दो"। रज्जू ने उसकी ओर करुण-भाव से देखा और अपना काम करने लगा। गिरधारी को भी होश आ गया; नींद से चौंक पड़ा। ग्लानि से उसका सिर झुक गया; आँखें भर आईं; चुपचाप घर चला आया।

गाँव में चारों ओर हलचल मची हुई थी। कोई सन के बीज खोजता फिरता था। कोई ज़मींदार की चौपाल से धानों के बीज लिये आता था। कहीं सलाह होती थी, किस खेत में क्या बोना चाहिए। कहीं चर्चा होती थी कि पानी बहुत बरस गया; दो चार दिन ठहर कर बोना चाहिए। गिरधारी ये बातें सुनता और जलहीन मछली की तरह तड़पता था।

(५)

एक दिन सन्ध्या-समय गिरधारी खड़ा अपने बैलों को खुजला रहा था कि मङ्गलसिंह आये और इधर उधर की बातें करके बोले, "गोईं को बाँध कर कब तक खिलाओगे? निकाल क्यों नहीं देते?"

गिरधारी ने मलिन-भाव से कहा—"हाँ, कोई गाहक आ जाय तो निकाल दूँगा।"

मङ्गलसिंह—"एक गाहक तो हमीं हैं, हमीं को दे दो।"

गिरधारी अभी कुछ उत्तर न देने पाया था कि तुलसी बनिया आया और गरज कर बोला—"गिरधर, तुम्हें रुपये देना है कि नहीं। वैसा कहो। तीन महीने से हीला-हवाला करते चले आते हो। अब कौन खेती करते हो कि तुम्हारी फ़सिल को अगोरे बैठे रहें।"

गिरधारी ने दीनता से कहा—"साह, जैसे इतने दिनों माने हो आज और मान जाओ। कल तुम्हारी एक एक कौड़ी चुका दूँगा।"

मङ्गल और तुलसी ने इशारों से बातें कीं और तुलसी भुनभुनाता हुआ चला गया।

तब गिरधारी मङ्गलसिंह से बोला—"तुम इन्हें ले लो तो घर के घर ही में रह जायँ। कभी कभी आँख से देख तो लिया करूँगा।"

मङ्गल—"मुझे अभी तो ऐसा कोई काम नहीं है; लेकिन घर पर सलाह करूँगा।"

गिरधारी—"मुझे तुलसी के रुपये देना है; नहीं, खिलाने को तो अभी भूसा है।"

मङ्गल—"यह बड़ा बदमाश है; कहीं नालिश न कर दे।"

सरल-हृदय गिरधारी धमकी में आ गया। कार्य्य-कुशल मङ्गलसिंह को सस्ता सौदा करने का यह अच्छा अवसर मिला। ८०) की जोड़ी ६०) में ठीक कर ली।

गिरधारी ने अब तक बैलों को न जाने किस आशा से बाँध कर खिलाया था। आज आशा का वह कल्पित सूत्र भी टूट गया।

मङ्गलसिंह गिरधारी की खाट पर बैठे रुपये गिन रहे थे और गिरधारी बैलों के पास खड़ा विषादमय नेत्रों से उनके मुँह की ओर ताक रहा था। आह! ये मेरे खेतों के कमानेवाले, मेरे जीवन के आधार, मेरे अन्नदाता, मेरी मान-मर्य्यादा की रक्षा करनेवाले, जिनके लिए पहर रात से उठ कर छाँटी काटता था, जिनके खली-दाने की चिन्ता अपने खाने से ज़ियादह रहती थी, जिनके लिए सारा घर दिन भर खेतों में हरियाली उखाड़ा करता था, ये मेरी आशाओं की दो आँखें, मेरे इरादों के दो तारे, मेरे अच्छे दिनों के दो चिह्न, मेरे दो हाथ, अब मुझसे बिदा हो रहे हैं!

जब मङ्गलसिंह ने रुपये गिन कर रख दिये और बैलों को खोल कर ले चले तब गिरधारी उनके कन्धों पर सिर रख कर ख़ूब फूट फूट कर रोया। जैसे कन्या मायके से बिदा होते समय माँ-बाप के पैरों को नहीं छोड़तीं उसी तरह गिरधारी इन बैलों को न छोड़ता था। सुभागी भी दालान में खड़ी रो रही थी और छोटा लड़का मङ्गलसिंह को एक बाँस की छड़ी से मार रहा था।

रात को गिरधारी ने कुछ नहीं खाया। चारपाई पर पड़ रहा। प्रातःकाल सुभागी चिलम भर कर ले गई तो वह चारपाई पर न था। उसने समझा कहीं गये होंगे। लेकिन जब दो तीन घड़ी दिन चढ़ आया और वह न लौटा तो उसने रोना-धोना शुरू किया। गाँव के लोग जमा हो गये। चारों ओर खोज होने लगी, पर गिरधारी का पता न चला।

(६)

सन्ध्या हो गई थी। अँधेरा छा रहा था। सुभागी ने दिया लाकर गिरधारी के सिरहाने रख दिया था और बैठी द्वार की ओर ताक रही थी कि सहसा उसे पैरों की आहट मालूम हुई। सुभागी का हृदय धड़क उठा। वह दौड़ कर बाहर आई और इधर उधर ताकने लगी। उसने देखा कि गिरधारी बैलों की नाँद के पास सिर झुकाये खड़ा है। सुभागी बोल उठी—"घर आओ, वहाँ खड़े क्या कर रहे हो? आज सारा दिन कहाँ रहे?" यह कहते हुए वह गिरधारी की ओर चली। गिरधारी ने कुछ उत्तर न दिया। वह पीछे हटने लगा और थोड़ी दूर जाकर ग़ायब हो गया। सुभागी चिल्लाई और मूर्छित होकर गिर पड़ी।

दूसरे दिन कालकादीन हल लेकर अपने नये खेत पर पहुँचे। अभी कुछ अँधेरा था। वह बैलों को हल में लगा रहे थे कि एकाएक उन्होंने देखा, गिरधारी खेत की मेंड पर खड़ा है। वही मिरज़ई, वही पगड़ी, वही सोंटा। कालकादीन ने कहा—"अरे गिरधारी! मरदे आदमी, तुम यहाँ खड़े हो और बेचारी सुभागी हैरान हो रही है। कहाँ से आ रहे हो?" यह कहते हुए वह बैलों को छोड़ कर गिरधारी की ओर चले। गिरधारी पीछे हटने लगा और पीछेवाले कुवें में कूद पड़ा। कालकादीन ने चीख़ मारी और हल बैल वहीं छोड़ कर भागे।

सारे गाँव में शोर मच गया। लोग नाना प्रकार की कल्पनायें करने लगे। कालकादीन को फिर गिरधारीवाले खेतों में जाने की हिम्मत न पड़ी।

× × × × ×

गिरधारी को ग़ायब हुए ६ महीने बीत चुके हैं। उसका बड़ा लड़का अब एक ईंट के भट्ठे पर काम करता है और २०) महीना घर लाता है। वह अब कमीज़ और अँगरेज़ी जूता पहनता है। घर में दोनों जून तरकारी पकती है और जौ के बदले गेहूँ खाया जाता है। लेकिन गाँव में उसका कुछ भी आदर नहीं है। वह अब मजूरा है।

सुभागी अब पराये गाँव में आये हुए कुत्ते के समान दबकती फिरती है। वह अब पञ्चायतों में नहीं बैठती। वह अब मजूर की माँ है।

कालिकादीन ने गिरधारी के खेतों से इस्तेफ़ा दे दिया है। क्योंकि गिरधारी अभी तक अपने खेतों के चारों तरफ़ मँडराया करता है। अँधेरा होते ही वह मेंड पर आकर बैठ जाता है और कभी कभी रात को उधर से उसके रोने की आवाज़ सुनाई देती है। वह किसी से बोलता नहीं, किसी को छेड़ता नहीं। उसे केवल अपने खेतों को देख कर सन्तोष होता है। दिया जलने के बाद उधर का रास्ता बन्द हो जाता है।

लाला ओङ्कारनाथ बहुत चाहते हैं कि ये खेत उठ जायँ; लेकिन गाँव के लोग अब उन खेतों का नाम लेते डरते हैं।

प्रेमचन्द

धुआँधार।

१ धुआँधार तुम धन्य हो, धन्य तुम्हारा वेश
धन्य हुआ पाकर तुम्हें प्यारा मध्य-प्रदेश।
प्यारा मध्य-प्रदेश लता-तरु-शोभा-मण्डित
जहाँ नर्मदा-विभव देख मोहित कवि-पण्डित।
मर्मर के सुन्दर जहाँ गिरिवर गौरव-गण्य,
प्रभु-रचना-कौशल विमल धुआँधार तुम धन्य॥
२ अप्रतिहत-गति वीर सम, विक्रम विषम विलोक
भग्न मनोरथ पुरुष-गण होते हैं गत-शोक।
होते हैं गत-शोक रोक अपनी दुर्बलता।
साहस देती उन्हें तुम्हारी अद्भुत दृढ़ता।
नहीं वीर-गति रोक सकें बाधायें शत शत,
जल-प्रवाह-प्राखर्य-पूर्ण धारा अप्रतिहत॥
३ रव झरझर सुखकर सुभग धारा दुग्ध-समान
प्रखर-प्रवाह-प्रताप-युत नीर-पतन-उत्थान।
नीर-पतन-उत्थान शैल-सुषमा से शोभित
उत्थित धूमाकार जहाँ है जलकण अगणित।
करते रवि-कर इन्द्र-धनुषमय जिसका अवयव
धुआँधार का दृश्य नर्मदा-ताण्डव भैरव॥
४ करता जब छवि-सुधा से सिञ्चित विश्व विशाल
शरद-पूर्णिमा का विमल चन्द्र-चन्द्रिका-माल।
चन्द्र-चन्द्रिका माल-युक्त तव तत्कालिक छवि
है बस वचनातीत मुग्ध हो जिसे देख कवि।
मर्मरगिरि-उत्तुङ्ग-शृङ्ग की शुचि सुन्दरता
स्वर्ग-दृश्य शशि सलिल-अङ्क पर बिम्बित करता॥

लोचनप्रसाद

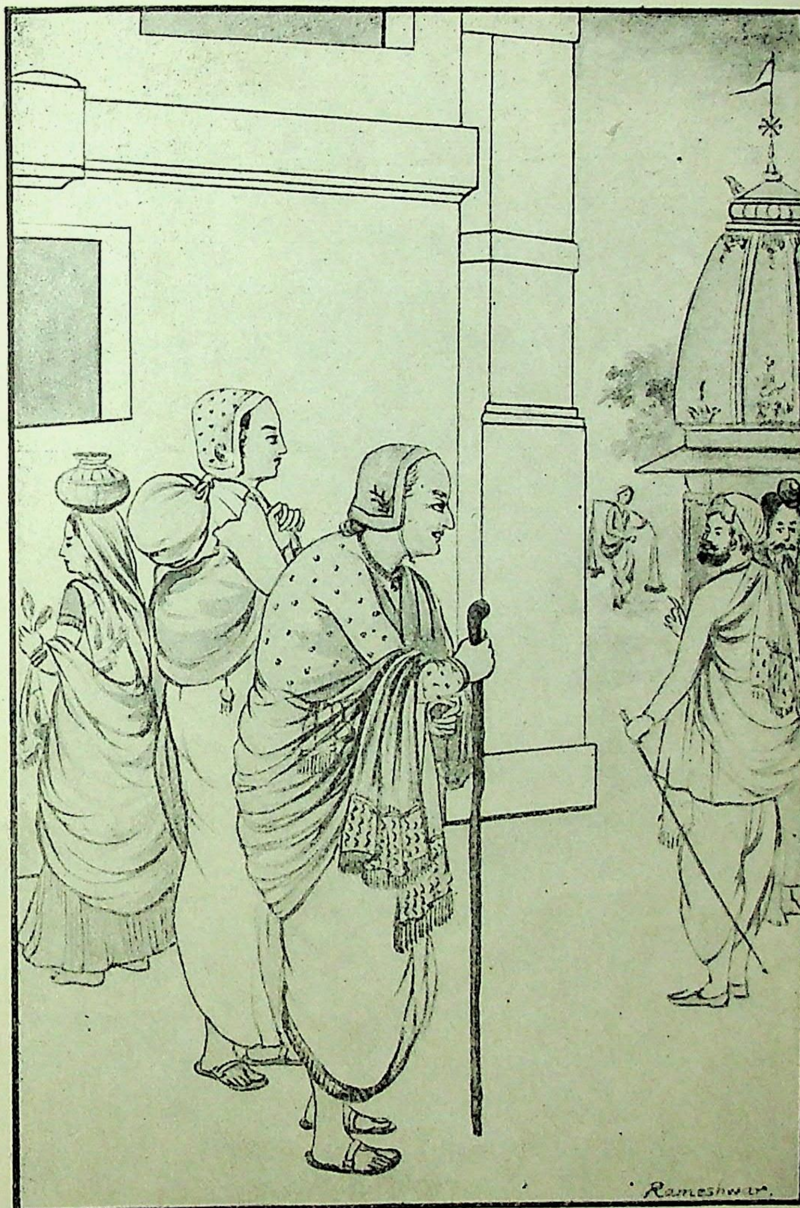
इधर उधर की बातें।

(अमेरिका और भारत की)

[१]

"हिन्दी में सबसे मधुर शब्द कौन सा है?" मैंने तुरन्त उत्तर दिया—"भारतवर्ष"। मेरे मित्र और मैं कीरा (K. Y. Kira) के सिंहली भोजनालय में भोजन समाप्त कर चाय पी रहे थे।

अमेरिका के इस एकमात्र भारतीय भोजनालय में, दोपहर को और सायङ्काल, न्यूयार्क में रहनेवाले कई भारतवासी भोजन करने आते हैं। शनि-



तीर्थयात्री।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

वार, रविवार और छुट्टी के अन्य दिन, रात को, यहाँ ख़ासी मजलिस जमती है। भोजन के उपरान्त घन्टों वर्तमान युद्ध, दुनिया भर के—विशेष कर भारत के—भूत, भविष्यत्, वर्तमान की चर्चा, समाज-सुधार, धर्म, राजनीति, इत्यादि अनेक विषयों पर तर्क-वितर्क होता है। भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के नाना-मतानुयायी यहाँ हैं। किसी का एक दूसरे से अधिक विषयों में मत नहीं मिलता। पर भारत के प्राचीन और भविष्यत् गौरव और मेरे पूर्वोक्त उत्तर की सत्यता के विषय में सभी एकमत हैं।

मेरे साथ भारत से नये आये हुए एक विद्यार्थी भी बैठे थे। आप अमेरिका में अपने एक मास के अनुभव का वर्णन करने लगे। बोले—

"शनिवार को मैं मेट्रापालिटन आपरा हौस (Metropolitan Opera House) में करूसो नाम के गीत सुनने गया था। बड़ी भीड़ थी। कठिनता से, दूना दाम देकर, टिकट लिया; पर, कहना पड़ता है, मैं व्यर्थ ही गया। गीति-नाट्य का इटली की भाषा में अभिनय हुआ। मैं तो उसका एक शब्द भी न समझ सका। करूसो (Caruso) इटालियन भाषा में न गाकर यदि—

जनम अवधि हम रूप नेहारेनु,
नयन न तिरपित भेल।

गाया जाता तो मैं गाने की प्रशंसा कर सकता था। देशी कानों को भला विलायती सुरों से कब आनन्द मिल सकता है। करूसो (Caruso) का नाम योरप और अमेरिका में सर्वत्र विख्यात है। मैंने बहुत दिनों से उसका कीर्त्तिगान सुन रक्खा था। इसीलिए इतने चाव से उसका गान सुनने गया था। और भी हज़ारों आदमी सैकड़ों कोस से गाना सुनने आये थे। पर कुछ हो, मैं इन गीतों की क़द्र नहीं कर सकता।"

"कल रात को विश्वविद्यालय के Senior (Fourth Year) अर्थात् चौथे साल के विद्यार्थियों के वार्षिक नाच में गया था। नाच की बात क्या बताऊँ। मैं नाचना नहीं जानता, इसलिए दीवार के पास खड़ा तमाशा देखता रहा। क्लास की लड़कियों को लड़कों के साथ अर्द्ध-नग्न पोशाक में नाचते देख कर मैं तो दङ्ग रह गया। लड़के-लड़कियों की तो बात दूर रही, हमारे बूढ़े प्रोफ़ेसरों और उनकी स्त्रियों को भी उनके साथ नाचते देखा। प्रत्येक नाच के बाद उन्होंने शराब मिला हुआ शर्बत पिया। और कई बातें जो मैंने देखीं उनका मैं वर्णन नहीं कर सकता। सचमुच ऐसी निर्लज्जता मैंने जीवन में कभी नहीं देखी।"

यह सुन कर एक विद्यार्थी ने, जो कई साल से इस देश में है, हँस कर पूछा—"तो क्या आपकी राय में अमेरिका की स्त्रियों को घूँघट डाले, परदे की ओट रहना चाहिए? थोड़े दिन यहाँ और रहिए। निर्लज्जतायुक्त अर्द्धनग्न अमेरिकन पोशाक की क़द्र करना सीख जाइएगा।"

नवागत महाशय ने उत्तर दिया—"शायद ऐसा ही हो। और सुनिए। क्लास में एक दिन मैंने किरिस्तान-धर्म की आलोचना आरम्भ की। मेरे साथ कोई दस बारह लड़के बैठे थे। इनमें से केवल एक ने बाइबल अच्छी तरह पढ़ी थी। एक ने तो उसे आँखों तक न देखा था। बाक़ी सब ने उसे वैसे ही पढ़ी है जैसे हम उपन्यास पढ़ते हैं। तिस पर भी वे अपने को किरिस्तान कहते हैं। जिसको अपनी धर्म-पुस्तक के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था उसने विनोदपूर्वक मुझसे कहा—

"बाबा आदम और मसीह पर आप इतने अनुरक्त क्यों हैं? जानते नहीं, यह १९१७ का साल है? अमेरिकन विश्वविद्यालय के लड़कों के साथ धर्म-चर्चा करना व्यर्थ है।"

सच भी है। यदि आप काशी के किसी विद्या के समुद्र से बेतार के तार की कला के गूढ़ तत्त्वों पर प्रश्न करें तो क्या उत्तर पाइएगा? वैसे ही

अमेरिकन विश्वविद्यालय में, विशेष कर कला-कौशल के विभाग में, धर्म-चर्चा का क्या काम!

[२]

हमारे पास की एक टेबल पर चार बङ्गाली महाशय बड़े ज़ोरो शोर से बँगला में समाज-सुधार पर शास्त्रार्थ कर रहे थे। और जगह का मुझे पता नहीं, अमेरिका में तो जितने बङ्गाली विद्यार्थियों से मैं मिला हूँ, सब में मैंने यह आदत पाई है। ये आपस में सदा बँगला में ही बातचीत करते हैं। इनमें से एक महाशय कह रहे थे—

"मेरी गीता के अनुसार अस्पृश्य जातियों के साथ भोजन करने से एकादशी-व्रत से भी अधिक पुण्यलाभ होता है। सुन्दरी विधवा से विवाह करने से सशरीर स्वर्गलाभ होता है। विलायत-यात्रा करने से सहस्र तीर्थ-यात्राओं का फल प्राप्त होता है। देशी वस्त्र धारण करके शरीर को पवित्र रखना गङ्गा-स्नान के बराबर फलप्रद है। मैं प्रातःकाल वेद, दोपहर को क़ुरान और रात को बाइबल पढ़ना त्रिकाल-सन्ध्योपासन करना समझता हूँ। मैं स्त्रियों की स्वतन्त्रता में विश्वास करता हूँ। मनु के आठ वर्ष की लड़की के विवाह और शूद्रों को वेद न पढ़ने देने के विधान को घोर पाप समझता हूँ। इत्यादि।"

आपका व्याख्यान समाप्त होने पर आपके प्रतिद्वन्दी ने उत्तर दिया—

"आर्य्य, ब्राह्म, प्रार्थना आदि समाजों की स्थापना श्रीमती बेसन्त की की हुई गीता की व्याख्या और कांग्रेस के प्रस्तावों की सृष्टि—यह सब बीसवीं सदी की करामात है। इस समय अपना 'हिन्दूपन' और 'अपनापन' बना रखना बड़ी कठिन बात है। सभी नवीन-पथावलम्बी, समाज के रक्षक और देशभक्ति के प्रचारक बनने को उत्सुक हैं। मैं इन बातों को बुरा नहीं कहता। पर नये चिराग़ के बदले पुराने और नई रोशनी के लोभ से पुरानी सभ्यता का परित्याग आपको न करना चाहिए। एक महाशय ने तो यहाँ तक कह डाला कि—सत्य, धर्म, दया, प्रेम, इनकी बदौलत अब दुनिया में कोई जाति बड़ी नहीं हो सकती। इस सदी में तो केवल टकों और कल-काँटों का बोलबाला है। भारतवासी के मुँह से ऐसे वचन शोभा नहीं पाते। आप लोग बात बात में पाश्चात्य देशों का अनुकरण करते हैं। यह बुरा है। विलायती हवा से बचने के लिए, मेरी राय है, भारत के जितने विद्यार्थी अमेरिका में हैं उनको आप त्रिकाल-सन्ध्या, प्रातः-सायं-स्नान और प्रति रविवार को घण्टे दो घण्टे भारत की ओर मुख करके गीता-पाठ करना चाहिए।" इत्यादि।

इसी तरह के अन्य कई व्याख्यान हुए। इनके विचारों में यद्यपि कोई नूतनत्व न था; पर इनकी निराली, खट-मीठी और रसीली बोली सुन कर मुझे बड़ा आनन्द मिला। एक ने योग-साधन की प्रशंसा की तो आपके विरोधी ने व्यङ्ग्यपूर्ण उत्तर दिया—

"जी हाँ, योगबल से सब कुछ किया जा सकता है। आप चित्त-वृत्ति का निरोध करके बासी तरकारी को स्वादिष्ठ मान ले सकते हैं; एक देवताजी की पुस्तक पढ़ कर अमेरिका की हवा खा सकते हैं; खड़ी बोली की नीरस कविता से आनन्द-लाभ कर सकते हैं; आर्य्यसमाजी से सीतला-पूजा करा सकते हैं—"

"बस इतना ही बहुत है"—बात काट कर मैंने कहा। "उदाहरणों की हद होगई!" फिर मैंने पूछा—"आपकी राय में हवन करना चाहिए कि नहीं?"

उत्तर मिला—

"हवन में दोष तो नहीं, पर लाभ भी नहीं। उसमें समय और धन बहुत नष्ट होता है। मन्त्र संस्कृत में बोले जाते हैं। १०० में ९९ आदमी उन को नहीं समझते। कुछ लोग कहते हैं—उससे वायु शुद्ध होती है। पर वायु शुद्ध करने के लिए हज़ारों रुपये की आहुति की क्या आवश्यकता? वर्त्तमान

विज्ञान ने अनेक Deo-dorants (दुर्गन्धिनाशक) और Disinfectants (कीटविनाशक) आविष्कार किये हैं। उनसे वायु की शुद्धि सस्ते में की जा सकती है।"

अश्वहीन शकट (मोटर गाड़ी), धूम्रहीन बारूद (Smokeless Powder), बेतार के तार (Wireless Telegraphy) चर्महीन चर्म (Synthetic Leather) की बीसवीं सदी में यदि हवनहीन हिन्दू-धर्म का प्रचार हो तो आश्चर्य्य ही क्या है।

चारों बङ्गाली महाशय जब व्याख्यान दे चुके—तर्क-वितर्क करके शान्त हुए—तब मेरे एक मित्र बोले—

"आप लोगों के व्याख्यान और आप लोगों की तर्क-युक्तियाँ हमने बड़े ध्यान से सुनीं। अब रात बहुत हो गई है। इसलिए इनके Conclusion (अन्तिम निर्णय) के तौर पर मुझे यह प्रस्ताव करने दीजिए। क्योंकि भारत में हमको इन बातों की आवश्यकता है, यथा—

(१) देशी भाषाओं में स्त्री-पुरुष दोनों को प्राथमिक और उच्च और व्यवसाय-विषयक शिल्प-कला की शिक्षा मुफ़ देना और १०,००० से अधिक जन-संख्या के प्रत्येक नगर में एक पुस्तकालय स्थापन करना।

(२) बालविवाह, वृद्ध-विवाह और अस्वस्थ पुरुषों का विवाह क़ानूनन बन्द करना, शारीरिक उन्नति के लिए स्थान स्थान में अखाड़े खोलना और रोग से प्रजा की रक्षा के लिए नये क़ानून बनाना।

(३) चतुर्वर्णों में परस्पर विवाह-व्यवहार, सह-भोजन और विधवा-विवाह करना तथा—

(४) एकलिपि, एकभाषा, विदेश-भ्रमण, प्रान्तीय संस्थाओं तथा राष्ट्रीय मण्डलियों की स्थापना इत्यादि उपायों द्वारा भारतवासियों में एकता स्थापन करना और वर्ण, व्यक्ति, समाज और प्रान्तिक भेदों को दूर करना।

इसलिए हम जितने भारतवासी यहाँ अभी एकत्र हैं, प्रस्ताव करते हैं, कि हम इन विषयों के प्रचार की यथासाध्य चेष्टा करेंगे।

वोट लेने की और वादविवाद की आवश्यकता नहीं हुई। हम सब ने करतल-ध्वनिपूर्वक आपका प्रस्ताव स्वीकार किया और आज रात के लिए सभा विसर्जित हुई।

मेरे मित्र अपने प्रस्ताव में समाज-सुधार की कई बातों का उल्लेख करना भूल गये। यथा—तीर्थ-यात्रा में और विवाह तथा श्राद्ध की फ़िज़ूलख़र्ची बन्द करना, धर्मशालाओं और मन्दिरों में पाठशालायें स्थापन करना, देशी धन लगा कर देशी व्यवसाय और शिल्प-कला की वृद्धि करना, क़ानून द्वारा भिक्षावृत्ति बन्द कराना और भारत की दरिद्रता दूर करने के अन्य उपायों का अवलम्बन, धार्मिक शिक्षा, स्त्रियों को उच्च शिक्षा और स्वाधीनतादान, शुद्धि-विधान इत्यादि। जैसे एक वक्ता ने पहले कहा था, हम इन सुधारों के प्रचार के लिए वेद, शास्त्र, कुरान या बाइबल की उक्तियों पर भरोसा नहीं करते। हमारा यह प्रयत्न केवल इसी उद्देश से है कि प्यारे भारत में सत्ययुग का आविर्भाव हो और भारत का भविष्य गौरव-वर्धक हो।

पाठक, शायद आपका मत इन सब विचारों से न मिले। सहस्रों कोस दूर अमेरिका-प्रवासी आपके देश-भाइयों से आपका मतान्तर होना स्वाभाविक है। आप कहते होंगे—नई दुनिया की स्वतन्त्रता देख कर, नई दुनिया की हवा खाकर, यदि हमारे नव-युवक विद्यार्थियों के विचारों में विकार उत्पन्न हो जाय तो आश्चर्य्य ही क्या है! पर अभी तो कुछ चिन्ता नहीं। जब भारतीय सफरेजेट (समानाधि-कारेच्छु) स्त्रियों का युग आवे तब कलियुग पर बलि जाइएगा।

रामकुमार खेमका (न्यूयार्क, अमेरिका)

———

सेनवंश का इतिहास।

[लेखक—साहित्याचार्य्य पं० विश्वेश्वरनाथ शास्त्री]

[२]

५—लक्ष्मणसेन।



ह बल्लालसेन का पुत्र था और उसके बाद राज्य का स्वामी हुआ।

इसकी निम्नलिखित उपाधियां मिलती हैं। (१) अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, परमेश्वर, परम भट्टारक, महाराजाधिराज, अरिराज-मदनशङ्कर और गौड़ेश्वर।

यह सूर्य और विष्णु का उपासक था। स्वयं विद्वान्, विद्वानों को आश्रय देनेवाला, दानी, प्रजापालक और कवि था। इसके बनाये हुए श्लोक सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्गधरपद्धति आदि में मिलते हैं। श्रीधरदास, उमापतिधर, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी आदि विद्वानों में से कुछ तो इसके पिता के और कुछ इसके समय में विद्यमान थे।

इसने अपने नाम से लक्ष्मणवती नगरी बसाई। लोग उसे पीछे से लखनौती कहने लगे। इसकी राजधानी नदिया थी। ईसवी सन् ११९९ (विक्रम सं० १२५६) में जब इसकी अवस्था ८० वर्ष की थी मुहम्मद बख्तियार ख़िलजी ने नदिया इससे छीन लिया।

तबक़ाते नासिरी में लक्ष्मणसेन के जन्म का वृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—(२)

अपने पिता की मृत्यु के समय राय लखमनिया (लक्ष्मणसेन) माता के गर्भ में था। अतएव उस समय राजमुकुट उसकी माँ के पेट पर रक्खा गया। उसके जन्म-समय ज्योतिषियों ने कहा कि यदि इस समय बालक का जन्म हुआ तो वह राज्य न कर सकेगा। परन्तु यदि दो घण्टे बाद जन्म होगा तो वह ८० वर्ष राज्य करेगा। यह सुन कर उसकी माँ ने आज्ञा दी कि जब तक वह शुभ समय न आवे तब तक मुझे सिर नीचे और पैर ऊपर करके लटका दो। इस आज्ञा का पालन किया गया और जब वह समय आया तब उसे दासियों ने फिर ठीक तौर पर सुलादिया, जिससे उसी समय लखमनिया का जन्म हुआ। परन्तु इस कारण से उत्पन्न हुई प्रसवपीड़ा से उसकी माता की मृत्यु हो गई। जन्मते ही लखमनिया राज्यसिंहासन पर बिठला दिया गया। उसने ८० वर्ष राज्य किया।

हम बल्लालसेन के वृत्तान्त में लिख चुके हैं कि जिस समय बल्लालसेन मिथिला-विजय को गया था उसी समय पीछे से उसके मरने की झूठी ख़बर फैल गई थी। उसी के आधार पर तबक़ाते नासिरी के कर्ता ने लक्ष्मणसेन के जन्म के पहिले ही उसके पिता का मरना लिख दिया होगा। परन्तु वास्तव में लक्ष्मण-सेन जब २१ वर्ष का हुआ तब उसके पिता का देहान्त होना पाया जाता है।

आगे चल कर उक्त तवारीख़ में यह भी लिखा है—

राय लखमनिया की राजधानी नदिया थी। वह बड़ा राजा था। उसने ८० वर्ष तक राज्य किया। हिन्दुस्तान के सब राजा उसके वंश को श्रेष्ठ समझते थे और वह उनमें ख़लीफ़ा के समान माना जाता था।

जिस समय मुहम्मद ख़िलजी द्वारा बिहार के विजय होने की ख़बर लक्ष्मणसेन के राज्य में फैली उस समय राज्य के बहुत से ज्योतिषियों, विद्वानों और मन्त्रियों ने राजा से निवेदन किया कि महाराज! प्राचीन पुस्तकों में भविष्य-द्वाणी लिखी है कि यह देश तुर्कों के अधिकार में चला जायगा। तथा, अनुमान से भी प्रतीत होता है कि वह समय अब निकट है; क्योंकि बिहार पर उनका अधिकार हो चुका है। सम्भवतः अगले वर्ष इस राज्य पर भी धावा होगा। अतएव उचित है कि इनके दुःख से बचने के लिए अन्य लोगों सहित आप कहीं अन्यत्र चले जायँ।

इस पर राजा ने पूछा कि क्या उन पुस्तकों में उस पुरुष के कुछ लक्षण भी लिखे हैं जो इस देश को विजय करेगा? विद्वानों ने उत्तर दिया—हाँ, वह पुरुष आजानुबाहु (खड़ा होने पर जिसकी उँगलियाँ घुटनों तक पहुँचती हों) होगा। यह सुन कर राजा ने अपने गुप्तचरों द्वारा मालूम करवाया तो बख्तियार ख़िलजी को वैसा ही पाया। इस पर बहुत से ब्राह्मण आदि उस देश को छोड़ कर सङ्कनात (जगन्नाथ),

१ (J. Bm. A. S., 1896, p. 13).

२ (J. Bm. A. S., 1865, p. 135, 136 and Elliot's History of India, Vol. II, p. 307).

बङ्ग (पूर्वी बङ्गाल), और कामरूद (कामरूप-आसाम) की तरफ़ चले गये। तथापि राजा ने देश छोड़ना उचित न समझा।

इस घटना के दूसरे वर्ष मुहम्मद बख़्तियार ख़िलजी ने बिहार से ससैन्य कूच किया और ८० सवारों सहित आगे बढ़ कर अचानक नदिया की तरफ़ धावा किया। परन्तु नदिया शहर में पहुँच कर उसने किसी से कुछ भी छेड़-छाड़ न की। सीधा राज-महल की तरफ़ चला। इससे लोगों ने उसे घोड़ों का व्यापारी समझा। जब वह राज-महल के पास पहुँच गया तब उसने एकदम हमला किया और बहुत से लोगों को, जो उसके सामने आये, मार गिराया।

राजा उस समय भोजन कर रहा था। वह इस गोलमाल को सुन कर महल के पिछले रास्ते से नङ्गे पैर निकल भागा और सीधा सङ्कनात (जगन्नाथ) की तरफ़ चला गया। वहीं पर उसकी मृत्यु हुई। इधर राजा के भागते ही बख़्तियार की बाक़ी फ़ौज भी वहाँ आ पहुँची और राजा का ख़ज़ाना आदि लूटना प्रारम्भ किया। बख़्तियार ने देश पर कब्ज़ा कर लिया और नदिया को नष्ट कर के लखनौती को अपनी राजधानी बनाया। उसके आसपास के प्रदेशों पर भी अधिकार कर के उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्का चलाया। यहाँ की लूट का बहुत बड़ा भाग उसने सुलतान कुतबुद्दीन को भेज दिया। (१)

इस घटना से प्रतीत होता है कि लक्ष्मणसेन के अधिकारी या तो बख़्तियार से मिलगये थे या बड़े ही कायर थे; क्योंकि भविष्यद्वाणी का भय दिखला कर बिना लड़े ही वे लोग लक्ष्मणसेन के राज्य को बख़्तियार के हाथ में सौंपना चाहते थे। परन्तु जब राजा उनके उक्त कथन से न घबराया तब बहुत से तो उसी समय उसे छोड़ कर चले गये। तथा, जो रहे उन्होंने भी समय पर कुछ न किया। यदि यह अनुमान ठीक न हो तो इस बात का समझना कठिन है कि केवल ८० सवारों सहित आये हुए बख़्तियार से भी उन्होंने जमकर लोहा क्यों न लिया।

बख़्तियार लक्ष्मण के समग्र राज्य को न ले सका। वह केवल लखनौती के आसपास के कुछ प्रदेशों पर ही अधिकार कर पाया। क्योंकि इस घटना के ६० वर्ष बाद तक पूर्वी बङ्गाल पर लक्ष्मण के वंशजों का ही अधिकार था। यह बात तबक़ाते नासिरी से मालूम होती है।

उक्त तवारीख़ में मुसलमानों के इस विजयका संवत् नहीं लिखा। तथापि उस पुस्तक से यह घटना हिजरी सन् ५९३ (ईसवी सन् ११९७) और हिजरी सन् ६०२ (ईसवी सन् १२०५) के बीच की मालूम होती है।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि लक्ष्मणसेन के जन्म से उसके नाम का संवत् चलाया गया था तथा ८० वर्ष की अवस्था में वह बख़्तियार द्वारा हराया गया था। इसलिए यह घटना ईसवी सन् ११९९ में हुई होगी।

मिस्टर रावर्टी अपने तबक़ाते नासिरी के अँगरेज़ी-अनुवाद की टिप्पणी में लिखते हैं कि ईसवी सन् ११९४ (हिजरी सन् ५९०) में यह घटना हुई होगी। ई० थामस साहब हिजरी सन् ५९९ (ईसवी सन् १२०२—३) में इस का होना अनुमान करते हैं। परन्तु मिस्टर ब्लाकमैन ने विशेष खोज से निश्चित किया है कि यह घटना ईसवी सन् ११९८ और ११९९ के बीच की है। (१) यह समय पण्डित गौरी-शङ्करजी के अनुमान से भी मिलता है।

दन्तकथाओं से जाना जाता है कि जगन्नाथ की तरफ़ से वापस आकर लक्ष्मणसेन विक्रमपुर में रहा था (२)।

सदुक्तिकर्णामृत के कर्ता ने शक-संवत् ११२७ (विक्रम-संवत् १२६२ ईसवी सन् १२०५) में भी लक्ष्मणसेन को राजा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय तक भी वह विद्यमान था। सम्भव है, उस समय वह सोनार-गाँव में राज्य करता हो।

बख़्तियार ख़िलजी के आक्रमण के समय लक्ष्मणसेन को राज्य करते हुए २१ वर्ष होचुके थे। उस समय उसकी अवस्था ८० वर्ष की थी। उसके राज्य के भिन्न भिन्न प्रदेशों में उसके पुत्र अधिकारी नियत हो चुके थे।

उसका देहान्त विक्रम-संवत् १२६२ (ईसवी सन् १२०५) के बाद हुआ होगा। जनरल कनिङ्गहाम के मतानुसार उसकी मृत्यु १२०६ ईसवी में हुई। (३)

---

१ (J. Bm. A. S., 1896, p. 27 and Elliot's History of India, Vol. II, p. 307-9).

१ (J. Bm. A. S., 1875, p. 275-77).
२ (J. Bm. A. S., 1878, p. 399).
३ (A. S. R., Vol. XV, p. 167).

विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने लक्ष्मणसेन का समय ११७० से १२०० ईसवी तक लिखा है। उसके राज्य के तीसरे वर्ष का एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें, उसके तीन पुत्र होने का उल्लेख है—माधवसेन, केशवसेन, विश्वरूपसेन। जरनल आव् दि बाम्बे एशियाटिक सोसाइटी में इस ताम्रपत्र को सातवें वर्ष का लिखा है। यह ग़लती से छप गया है। क्योंकि लेख के फोटो में अङ्क तीन स्पष्ट प्रतीत होता है।

तबक़ाते नासिरी के कर्ता ने लखनौती-राज्य के विषय में लिखा है—

यह प्रदेश गङ्गा के दोनों तरफ़ फैला हुआ है। पश्चिमी प्रदेश राल (राढ) कहलाता है। इसी में लखनौती नगर है। पूर्वी तरफ़ के प्रदेश को वरिन्द (वरेन्द्र) कहते हैं (१)।

आगे चल कर, अलीमर्दान के द्वारा बख़्तियार के मारे जाने के बाद के वृत्तान्त में, वही ग्रन्थकर्ता लिखता है कि अलीमर्दान ने दिवकोट जाकर राजकार्य सँभाला और लखनौती के सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया (२)। इससे तीत होता है कि मुहम्मद बख़्तियार ख़िलजी समग्र सेनराज्य को अपने अधिकार-भुक्त न कर सका था।

अबुलफ़ज़ल ने लक्ष्मणसेन का केवल सात वर्ष राज्य करना लिखा है। पर यह ठीक नहीं।

(उमापतिधर)

इस कवि की प्रशंसा जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में की है—"वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः"—इससे प्रकट होता है कि या तो यह कवि जयदेव का समकालीन था या उसके कुछ पहले हो चुका था। गीतगोविन्द की टीका से ज्ञात होता है कि उक्त श्लोक में वर्णित उमापतिधर, जयदेव, शरण, गोवर्धन और धोयी लक्ष्मणसेन की सभा के रत्न थे।

वैष्णवतोषिणी में (यह भागवत की भावार्थदीपिका नामक टीका की टीका है) लिखा है—"श्रीजयदेवसहचरेण महाराजलक्ष्मणसेनमन्त्रिवरेण उमापतिधरेण" (३)—अर्थात् जयदेव के मित्र और लक्ष्मणसेन के मन्त्री उमापतिधर ने। इससे इन दोनों की समकालीनता प्रकट होती है।

काव्यमाला में छपी हुई आर्या-सप्तशती के पहले पृष्ठ के नोट नं० १ में एक श्लोक है—

> गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
> कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

इससे भी प्रतीत होता है कि उमापति लक्ष्मण की सभा में विद्यमान था। परन्तु लक्ष्मणसेन के दादा विजयसेन ने एक शिवमन्दिर बनवाया था। उसकी प्रशस्ति का कर्ता यही उमाधर था। इससे जाना जाता है कि यह कवि विजयसेन के राज्य से लेकर बल्लालसेन के कुमारपद तक जीवित रहा होगा। तथा, 'लक्ष्मणसेन जन्मते ही राज्यसिंहासन पर बिठलाया गया था', इस जनश्रुति के आधार पर ही इस कवि का उसके राज्य-समय में भी विद्यमान होना लिख दिया गया हो तो आश्चर्य नहीं।

इस कवि का कोई ग्रन्थ इस समय नहीं मिलता। केवल इसके रचे हुए कुछ श्लोक वैष्णवतोषिणी और पद्यावलि आदि में मिलते हैं।

(शरण)

इसका नाम भी गीतगोविन्द के पूर्वोद्धृत श्लोक में मिलता है। कहते हैं, यह भी लक्ष्मणसेन की सभा का कवि था। सम्भवतः बल्लालसेन-चरित्र (बल्लालचरित) का कर्त्ता शरणदत्त और यह शरण एक ही होगा। यह बल्लालसेन के समय में भी रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

(गोवर्धन)

आचार्य गोवर्धन, नीलाम्बर का पुत्र, लक्ष्मणसेन का समकालीन था। इसने ७०० आर्या-छन्दों का आर्यासप्तशति नामक ग्रन्थ बनाया। इसने उसमें सेनवंश के राजा की प्रशंसा की है। परन्तु उसका नाम नहीं दिया। उसी में इसने अपने पिता का नाम नीलाम्बर लिखा है।

इस ग्रन्थ की टीका में लिखा है कि सेनकुलतिलकभूपति से सेतु-काव्य के रचयिता प्रवरसेन का तात्पर्य है। परन्तु यह ठीक नहीं है। शक-संवत् १७०२ विक्रम-संवत् १८३७ में अनन्त पण्डित ने यह टीका बनाई थी। उस समय, शायद, वह सेनवंशी राजाओं के इतिहास से अनभिज्ञ रहा होगा। नहीं तो गोवर्धन के आश्रयदाता बल्लालसेन के स्थान पर वह प्रवरसेन का नाम कभी न लिखता।

१ (Raverty's Tabkatenasiri, P. 588)
२ (Raverty's Tabkatenasiri, P. 578)
३ (क्षत्रिय-पत्रिका, खण्ड १३, संख्या ५, ६, पृ० ८२)

(जयदेव)

यह गीतगोविन्द का कर्ता था। इसके पिता का नाम भोजदेव और माता का वामा (रामा) देवी था। इसकी स्त्री का नाम पद्मावती था। यह बङ्गाल के केन्दुबिल्व (केन्दुली) नामक गाँव का रहनेवाला था। यह गाँव उस समय वीरभूमि ज़िले में था।

इस कवि की कविता बहुत ही मधुर होती थी। स्वयं कवि ने अपने मुँह से अपनी कविता की प्रशंसा में लिखा है—

शृणुत साधु मधुर विबुधा विबुधालयतोऽपि दुरापम्।

अर्थात् हे पण्डितो! स्वर्ग में भी दुर्लभ, ऐसी अच्छी और मीठी मेरी कविता सुनो। इसका यह कथन वास्तव में ठीक है।

(हलायुध)

यह वत्सगोत्र के धनञ्जय नामक ब्राह्मण का पुत्र था। बल्लालसेन के समय क्रम से राजपण्डित, मन्त्री और धर्माधिकारी के पदों पर यह रहा था। इसके बनाये हुए ये ग्रन्थ मिलते हैं। —ब्राह्मणसर्वस्व, पण्डितसर्वस्व, मीमांसा-सर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व, द्विजानयन आदि। इन सब में ब्राह्मणसर्वस्व मुख्य है। इसके दो भाई और थे। उनमें से बड़े भाई पशुपति ने पशुपति-पद्धति नाम का श्राद्ध-विषयक ग्रन्थ बनाया और दूसरे भाई ईशान ने आह्निक-पद्धति नामक पुस्तक लिखी।

(श्रीधरदास)

यह लक्ष्मणसेन के प्रीतिपात्र सामन्त बटुदास का पुत्र था। यह स्वयं भी लक्ष्मणसेन का माण्डलिक था। इसने शक-संवत् ११२७ (लक्ष्मणसेन के संवत् २७) में सदुक्ति-कर्णामृत नाम का ग्रन्थ सङ्ग्रह किया। उसमें ४४६ कवियों की कविताओं का संग्रह है।

६—माधवसेन [?]

यह लक्ष्मणसेन का बड़ा पुत्र था। अबुलफ़ज़ल ने लिखा है कि लक्ष्मणसेन के पीछे उसके पुत्र माधवसेन ने १० वर्ष और उसके बाद केशवसेन ने १५ वर्ष राज्य किया। मिस्टर एटकिन्स ने लिखा है कि अलमोड़ा (ज़िला कमाऊँ) के पास एक योगेश्वर का मन्दिर है। उसमें माधवसेन का एक ताम्रपत्र रक्खा हुआ है, (१) परन्तु वह अब तक छपा नहीं। इससे उसका ठीक वृत्तान्त कुछ भी मालूम नहीं होता। यदि उक्त ताम्रपत्र वास्तव में ही माधवसेन का हो तो उससे अबुलफ़ज़ल के लेख की पुष्टि होती है। परन्तु अबुलफ़ज़ल का लिखा बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन का समय ठीक नहीं है। इसलिए उसीके लिखे माधवसेन और केशव-सेन के राज्य-समय पर भी विश्वास नहीं कर सकते।

७—केशवसेन [?]

यह लक्ष्मणसेन का छोटा भाई था। हरिमिश्र घटक (२) की बनाई कारिकाओं में माधवसेन का नाम नहीं है। उनमें लिखा है कि लक्ष्मणसेन के बाद उसका पुत्र केशवसेन, यवनों के भय से, गौड़-राज्य छोड़ कर, अन्यत्र चला गया। एडुमिश्र ने केशव का किसी अन्य राजा के पास जा कर रहना लिखा है। परन्तु उक्त कारिका में उस राजा का नाम नहीं दिया गया।

८—विश्वरूपसेन।

यह भी माधवसेन और केशवसेन का भाई था। इसका एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें लक्ष्मणसेन के पीछे उसके पुत्र विश्वरूपसेन का राजा होना लिखा है। पर माधवसेन और केशवसेन के नाम नहीं लिखे। सम्भव है, माधवसेन और केशवसेन, अपने पिता के समय में ही भिन्न भिन्न प्रदेशों के शासक नियत कर दिये गये हों। इसीसे अबुलफ़ज़ल ने उनका राज्य करना लिख दिया हो। और यदि वास्तव में इन्होंने राज्य किया भी होगा तो बहुत ही अल्प समय तक।

पूर्वोक्त ताम्रपत्र में विश्वरूपसेन को लक्ष्मणसेन का उत्तराधिकारी, प्रतापी राजा और यवनों का जीतनेवाला, लिखा है। उसमें उसकी निम्न लिखित उपाधियाँ दी हुई हैं—

अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, परमेश्वर, परम भट्टारक, महाराजाधिराज, अरिराज—वृषभाङ्कशङ्कर और गौड़ेश्वर।

१ (Kumaun. p. 516).

(२) घटक बङ्गाल में उन ब्राह्मणों को कहते हैं जो समान कुल की वर-कन्याओं का सम्बन्ध कराया करते हैं।

इससे प्रकट होता है कि यह स्वतन्त्र और प्रतापी राजा था। सम्भव है, लक्ष्मणसेन के पीछे उसके बचे हुए राज्य का स्वामी यही हुआ हो। तबक़ाते नासिरी में लिखा है—

जिस समय ससैन्य बख़्तियार ख़िलजी कामरूद (कामरूप) और तिरहुत की तरफ़ गया उस समय उसने मुहम्मद शेरां और उसके भाई को फ़ौज देकर लखनौर (राढ) और जाजनगर (उत्तरी उत्कल) की तरफ़ भेजा। परन्तु उसके जीतेजी लखनौती का सारा इलाक़ा उसके अधीन न हुआ। अतएव, सम्भव है, इस चढ़ाई में मुहम्मद शेरां हार गया हो, क्योंकि विश्वरूपसेन के ताम्रपत्र में उसे यवनों का विजेता लिखा है। शायद उस लेख का तात्पर्य इसी विजय से है। यदि यह बात ठीक हो तो लक्ष्मणसेन के बाद वङ्गदेश का राजा यही हुआ होगा और माधवसेन तथा केशवसेन विक्रमपुर के राजा न होंगे, किन्तु केवल भिन्न भिन्न प्रदेशों के ही शासक रहे होंगे।

यद्यपि अबुलफ़ज़ल ने विश्वसेन का नाम नहीं लिखा तथापि उसका १४ वर्ष से अधिक राज्य करना पाया जाता है।

उसके दो ताम्रपत्र मिले हैं—पहला (१) उसके राज्य के तीसरे वर्ष का और दूसरा (२) चौदहवें वर्ष का।

अबुलफ़ज़ल ने, इसकी जगह, सदासेन का १८ वर्ष राज्य करना लिखा है।

दनौजमाधव।

अबुलफ़ज़ल ने सदासेन के पीछे नौजा का राजा होना लिखा है। घटकों की कारिकाओं में केशवसेन के बाद दनुजमाधव (दनुजमर्दन या दनौजा माधव) का नाम दिया है। तारीख़ फ़ीरोज़शाही में इसीका नाम दनुजराय लिखा है। ये तीनों नाम सम्भवतः एक ही पुरुष के हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि अबुलफ़ज़ल ने इसको नौजा लिखा है। अतएव या तो अबुलफ़ज़ल ने ही इसमें ग़लती की होगी या उसकी रचित आईने अकबरी के अनुवादक ने।

घटकों की कारिकाओं से इसका प्रतापी होना सिद्ध होता है। उनमें यह भी लिखा है कि लक्ष्मणसेन से सम्मानित बहुत से ब्राह्मण इसके पास आये थे, जिनका द्रव्यादि से बहुत कुछ सन्मान इसने किया था।

इसने कायस्थों की कुलीनता बनी रखने के लिए, घटक आदिक नियुक्त करके, उत्तम प्रबन्ध किया था। विक्रमपुर को छोड़कर चन्द्रद्वीप (बाकला) में इसने अपनी राजधानी क़ायम की। इसके विक्रमपुर छोड़ने का कारण यवनों का भय ही मालूम होता है।

लखनौती का हाकिम मुग़ीसुद्दीन तुग़रल, दिल्लीश्वर से बग़ावत करके, वहाँ का स्वतन्त्र स्वामी बन बैठा। तब देहली के बादशाह बलबन ने उस पर चढ़ाई की। उसकी ख़बर पाते ही तुग़रल लखनौती छोड़ कर भाग गया। बादशाह ने उसका पीछा किया। उस समय रास्ते में (सुनारगांव में) दनुजराय बादशाह से जा मिला। वहां पर इन दोनों में यह सन्धि हुई कि दनुजराय तुग़रल को जलमार्ग से न भागने दे (१)।

यह घटना १२८० ईसवी (विक्रमी संवत् १३३७) के क़रीब हुई थी। इसलिए उस समय तक दनुजराय का जीवित होना और स्वतन्त्र राजा होना पाया जाता है।

डाक्टर वाइज़ का अनुमान है कि यह बल्लालसेन का पौत्र था (२)। परन्तु इसका लक्ष्मणसेन का पौत्र होना अधिक सम्भव है। यह विश्वरूपसेन का पुत्र भी हो सकता है। परन्तु अब तक इस विषय का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला।

जनरल कनिङ्गहाम का अनुमान है कि यह भूइहार ब्राह्मण था। परन्तु घटकों की कारिकाओं में और अबुलफ़ज़ल की आईने अकबरी में यह सेनवंशी लिखा है।

घटकों की कारिकाओं से पाया जाता है कि दनुजराय के पीछे रामवल्लभराय, कृष्णवल्लभराय, हरिवल्लभराय और जयदेवराय चन्द्रद्वीप के राजा हुए। जयदेव के कोई पुत्र न था। इसलिए उसका राज्य उसकी कन्या के पुत्र (दौहित्र) को मिला।

१ (J. B. A. S., Vol. VII, p. 43).
२ (J. B. A. S., Vol. LXV, Part I, p. 9).

१ (Elliot's History, Vol. III, p. 116)
२ (J. B. A. S., 1874, p. 83).

इस समय बङ्गाल में मुसलमानों का राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा था। इसलिए विक्रमपुर की सेनवंशी शाखा-वाला चन्द्रद्वीप का राज्य जयदेवराय के साथ ही अस्त होगया।

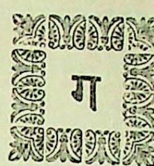
श्रीयुत रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर ओझा का हम धन्यवाद करते हैं, जिनकी एकत्र की हुई सामग्री से हमको इस लेख के लिखने में बहुत सहायता मिली है।

सेन-वंशी राजाओं की वंशावली।

नंबर	नाम	परस्पर का सम्बन्ध	ज्ञात समय	समकालीन राजा
	वीरसेन के वंश में			
१	सामन्तसेन			
२	हेमन्तसेन	नं० १ का पुत्र		
३	विजयसेन	नं० २ का पुत्र		नेपाल का राजा नान्यदेव
४	बल्लालसेन	नं० ३ का पुत्र	शक-संवत् १०४१, १०१०, १०९१, ११००	
५	लक्ष्मणसेन	नं० ४ का पुत्र	शक-संवत् ११००, ११२७	
६	माधवसेन	नं० ५ का पुत्र		
	केशवसेन	नं० ५ का पुत्र		
	विश्वरूपसेन	नं० ५ का पुत्र		
	दनुजमाधव		विक्रमी संवत् १३३७	देहली का बादशाह बलबन
	रामवल्लभराय कृष्णवल्लभराय			
	हरिवल्लभराय			
	जयदेवराय			

——

शिक्षा-कानफ़रन्स और शिक्षा का माध्यम।



गत २० और २८ अगस्त को शिमला में शिक्षा-विषयक एक कानफ़रन्स हुई। माननीय सर शङ्करन नायर उसके सभापति थे। उसमें माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education) के कुछ प्रश्नों पर विचार किया गया था। उनका तात्पर्य यह था कि हाई स्कूलों में अँगरेज़ी-शिक्षा में कहाँ तक उन्नति की जा सकती है, और बिना इस उन्नति में बाधा डाले कहाँ तक देशी भाषायें शिक्षा के माध्यम होने का काम दे सकती हैं। कानफ़रन्स की रिपोर्ट प्रकाशित हुए अभी कुछ ही समय हुआ।

कानफ़रन्स का काम प्रारम्भ होने के पहले वाइसराय ने एक वक्तव्य किया। उससे प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि अँगरेज़ी-शिक्षा की ओर ही नहीं, किन्तु हमारी मातृभाषाओं की उन्नति के विषय में भी उन का ध्यान कहाँ तक है। आपने कहा कि देशी भाषाओं की उन्नति की ओर सरकार का ध्यान जाना कोई नई बात--नई नीति—नहीं है। लार्ड मेकाले के समय से लेकर, जिन्होंने संस्कृत और फ़ारसी के विरोध में अँगरेज़ी का पक्ष लिया था, लार्ड कर्ज़न के १९०४ ईसवी के प्रस्ताव तक, भारतीय सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की उन्नति तथा उनको शिक्षा का माध्यम बनाने की ओर बराबर रहा। लार्ड मेकाले ने, सन् १८३५ ईसवी में, यह आशा की थी कि एक समय ऐसा आवेगा जब हमारी देशी भाषायें इस योग्य हो जायँगी कि उनके द्वारा सर्व-साधारण को पश्चिमी विचारों से लाभ पहुँच सके। १८५४ ईसवी में ईस्ट-इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने शिक्षा-विषय पर एक पत्र भारतीय सरकार को भेजा था। उसमें भी उन्होंने अँगरेज़ी और देशी दोनों भाषाओं को शिक्षा का माध्यम माना था और यह इच्छा प्रकट की थी

कि अँगरेज़ी-पुस्तकों का अनुवाद करने में सरकार सहायता देगी।

यह तो उस समय की बात है जब भारतीय भाषायें बड़ी हीनावस्था में थीं। १८८२ ईसवी के एजुकेशन-कमीशन का यह विचार था कि जो लड़के अपनी भाषा के द्वारा भिन्न भिन्न विषयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं, अँगरेज़ी के द्वारा पढ़ाये हुए लड़कों से अधिक योग्य निकलते हैं। १९०२ ईसवी के युनिवर्सिटी-कमीशन ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया था कि देशी भाषायें एम० ए० तक पढ़ाई जायँ। १९०४ ईसवी के सरकारी मन्तव्य के द्वारा यह नियम भी कर दिया गया था कि माध्यमिक स्कूलों में कोई लड़का अपनी मातृभाषा न छोड़ने पावे।

वाइसराय महोदय के वचन बहुत उत्साह-जनक हैं। आप को पूरा भरोसा है कि हमारे शिक्षालयों के भीतर और बाहर देशी भाषाओं की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। आप ने शिक्षा के माध्यम के विषय में सभासदों का ध्यान इस बात पर दिलाया कि यह प्रश्न केवल विद्यार्थी के हित को ध्यान में रख कर हल किया जाय। परन्तु, खेद है, न तो कानफ़रन्स के मन्तव्य ही इतने उत्साह-दायक हैं, और, न मालूम होता है कि अधिकतर सभासदों ने केवल विद्यार्थी ही के लाभ का ध्यान रख कर प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया है।

कानफ़रन्स के सामने पहले ये प्रश्न उपस्थित हुए—विद्यार्थी को किस कक्षा से अँगरेज़ी-शिक्षा आरम्भ कराई जाय—पहले देशी भाषा में अच्छी तरह कुशल हो जाय तब उसको अँगरेज़ी पढ़ाई जाय या बहुत छोटी अवस्था से ही? ऐसी दशा में अँगरेज़ी ही के द्वारा पढ़ाये जाने में कहाँ तक लाभ है? देशी भाषाओं में मिडिल-पास लड़के अँगरेज़ी-स्कूल में भरती होने पर अँगरेज़ी तथा और विषयों में उन लड़कों से कहाँ तक अधिक या कम योग्य निकलते हैं, जो नीचे के दर्जों से अँगरेज़ी पढ़ते चले आ रहे हैं? अँगरेज़ी पढ़ाने में वर्त्तमान भाषा के सङ्गठन पर ध्यान दिया जाय या उसके साहित्य पर?

माननीय डेलाफ़ोसी साहब ने तो बहस के तख़्ते ही को पलट दिया। आपने यह फ़रमाया कि इन प्रश्नों पर इस बात का ध्यान रखकर विचार किया जाय कि विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम बराबर अँगरेज़ी रहेगी। इस लिए स्कूल से निकलने पर विद्यार्थी की योग्यता इतनी हो जानी चाहिए कि वह कालेज में केवल अँगरेज़ी में दिये हुए लेक्चर ही न समझ सके, किन्तु अपने विचार भी अँगरेज़ी में प्रकट कर सके। यहाँ तक कि विचार भी उसके मस्तिष्क में अँगरेज़ी-भाषा ही में उत्पन्न हों। बस, आपके कथन का मतलब यही है। पर इतने ही में डाइरेक्टर साहब बहुत कुछ कह गये। सोलह सत्रह वर्ष के लड़के से यह आशा करना कि अँगरेज़ी में सोच सके, बहुत कठिन है। अध्यापक लाख निपुण हो, वह विचार और भाषा दोनों की उन्नति नहीं कर सकता। यदि विद्यार्थी को अँगरेज़ी ही में विचार करने के लिए तैयार करना है, तो बराबर अँगरेज़ी भाषा ही की शिक्षा दस वर्ष तक दीजिए। अँगरेज़ी बोलने और समझने में वह निपुण अवश्य हो जायगा, परन्तु विचार सङ्कीर्ण रहेंगे। यह अधिक अच्छा होता यदि यह निर्णय होकर इन प्रश्नों पर विचार किया जाता कि स्कूल से उत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थी में इतनी योग्यता आ जानी चाहिए कि अँगरेज़ी-साहित्य को छोड़ कर अँगरेज़ी-भाषा में लिखी गई और सब पुस्तकों को वह अच्छी तरह समझ और अपने साधारण विचार अँगरेज़ी में प्रकट कर सके; परन्तु परीक्षा के लिए विश्वविद्यालय में भी उसको यह अधिकार रहे कि वह अपनी मातृभाषा ही में प्रश्नों का उत्तर दे सके।

श्रीयुत नटरञ्जन महाशय ने कहा कि अँगरेज़ी-भाषा के संसर्ग से भारतीय विचार-समुदाय ने बहुत कुछ लाभ उठाया है। परन्तु इसके साथ ही साथ

हम यह भूल जाते हैं, कि कितनी हानि उठाने पर हमारे मस्तिष्क में ये अँगरेज़ी विचार आये हैं, कितनी रातें लम्प जला कर व्यतीत करने पर, कितने अधिक भारतीय युवकों का स्वास्थ्य स्वाहा करके, हमने यह गौरव प्राप्त किया है कि ३१ करोड़ की जन-संख्या में १० हज़ार ऐसे हैं जो अँगरेज़ी बोल और समझ सकते हैं। आप के इस विचार से हम बिलकुल सहमत हैं। यदि समाज-सुधार के नायक अपनी आँखों का भरोसा न करें तो हमारे प्रान्त के लाट साहब सर जेम्स मेस्टन का वह वक्तव्य पढ़ें जो उन्होंने शायद १९१५ ईसवी में प्रयाग-विश्वविद्यालय के उपाधि-दान-समारम्भ के समय सुनाया था। फिर यह बात भी सोचने लायक़ है कि उन अँगरेज़ी शिक्षा-दीक्षित महाशयों में भी कितने ऐसे हैं जो अपनी मातृभाषा के द्वारा अपने अशिक्षित भाइयों को लाभ पहुँचा सकते हैं। जो कुछ विद्या और विचार उन्होंने प्राप्त किये हैं, उन्हीं के पास डिपाज़िट (जमा) हैं। सौ बरस तक सरकार के प्रयत्न करने पर भी शिक्षा के इतने कम विस्तार के बहुत से कारण हैं। उन में से एक यह भी है कि सरकार देशी भाषाओं की उन्नति की इच्छुक होने पर भी, अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा-दान के प्रयत्न ने उसका इतना समय और धन ख़र्च करा दिया कि हमारी भाषाओं का उद्धार ही नहीं होने पाता। अस्तु।

बहुत कुछ वादविवाद के बाद कानफ़रन्स इन नतीजों पर पहुँची—

१—जो विद्यार्थी कुछ साल तक अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करके, अर्थात् वर्नाक्यूलर स्कूलों में पढ़कर, अँगरेज़ी स्कूलों में भरती होते हैं वे अपने सहपाठियों से, अँगरेज़ी को छोड़ कर, और सब विषयों में अच्छे रहते हैं।

२—जो विद्यार्थी अपनी भाषा में शिक्षा-प्राप्त करके अँगरेज़ी स्कूल में भरती होते हैं, साधारणतः अपने उन साथियों से अँगरेज़ी में कमज़ोर रहते हैं जो नीचे के दरजों से अँगरेज़ी पढ़ते चले आते हैं।

इसके बाद इस प्रश्न पर विचार किया गया कि किस कक्षा से अँगरेज़ी प्रारम्भ कराई जाय। इस पर सभासदों का बहुत कुछ मत-भेद हुआ। पञ्जाब, बम्बई, और मध्य-प्रान्त के प्रतिनिधि अधिकतर यह चाहते थे कि जहाँ तक हो, अँगरेज़ी देर में आरम्भ की जाय। पञ्जाब के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर माननीय मिस्टर रिचे ने कहा कि बहुत जल्दी अँगरेज़ी पढ़ाना आरम्भ कर देने से और विषयों के लिए काफ़ी समय नहीं मिलता। अँगरेज़ी में लड़के तेज़ भले ही हो जायँ, परन्तु ज्ञान-वृद्धि उतनी नहीं होती। आप यह भी कह सकते थे कि बहुत कम अवस्था में परदेशी भाषा की पढ़ाई आरम्भ कर देने से बालकों के मस्तिष्क पर बहुत बोझ पड़ जाता है और उनके विचार तो उस समय तक पुष्ट होते नहीं। इस कारण वे उस भाषा को उतनी जल्दी ग्रहण नहीं कर सकते जितना कि आगे बढ़ कर आरम्भ करने से कर सकते हैं। हाँ, बचपन से पढ़नेवाले बालकों का उच्चारण अलबत्ते अधिक शुद्ध होता है; परन्तु जैसा कि माननीय मौलवी फ़ज़लहुसेन साहब ने कहा कि भारतीय बच्चों के उच्चारण को ठीक करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। हमें उनको अँगरेज़ नहीं बनाना है। अँगरेज़ी उनको केवल विचार-ग्रहण के लिए पढ़ाई जाय, न कि भाषा के अध्ययन के लिए।

बङ्गाल और मदरास का रङ्ग कुछ और ही था। डाकृर चैटर्जी महाशय की राय हुई कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि बालकों को अँगरेज़ी पढ़ाने के पहले उनकी भाषा पढ़ाई ही जाय। आप की राय में मातृ-भाषा और अँगरेज़ी, साथ ही साथ, पढ़ाई जानी चाहिए। श्रीयुत नटरञ्जन महाशय की भी यही राय है। आप कहते हैं कि भारतीय बालकों को अँगरेज़ी सीखने में कोई स्वाभाविक कठिनाई नहीं। बेशक! उनकी भाषा अँगरेज़ी से बहुत मिलती

जुलती है! आख़िर दोनों आर्यभाषा हैं न! संयुक्त-प्रान्त के सदस्यों की राय ने इस प्रश्न को हल कर दिया। शिक्षा-विभाग की तरफ़ से डाइरेक्टर साहब और विश्वविद्यालय की तरफ़ से डाक्टर सुन्दरलाल महाशय दोनों की यही राय हुई कि तीसरे दरजे में, अर्थात् ४ वर्ष तक मातृ-भाषा में शिक्षा देने के बाद, अँगरेज़ी पढ़ानी आरम्भ की जाय।

अतएव ये मन्तव्य स्वीकृत हुए—

१— जहाँ तक हो, अँगरेज़ी जल्दी आरम्भ की जाय और

२—तीन वर्ष तक मातृ-भाषा में शिक्षा पाने के बाद अँगरेज़ी-शिक्षा का आरम्भ हो।

इसके बाद अध्यापकों को योग्य बनाने पर और अँगरेज़ी पढ़ाने में भाषा-शिक्षा के मुक़ाबिले में साहित्य-शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाय या नहीं?—इन प्रश्नों पर विचार हुआ। इस लेख में इन बातों पर विचार करने के लिए जगह नहीं। सन्तोष की बात है कि अधिकतर रायें अँगरेज़ी-भाषा ही की पढ़ाई पर अधिक ध्यान देने के अनुकूल थीं। पर विश्वविद्यालय का विचार साहित्य ही की तरफ़ है।

अब दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ, जिसका इस लेख से अधिक सम्बन्ध है। सभापति महाशय ने नीचे लिखे प्रश्न सभा में विचारार्थ उपस्थित किये—

१—विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा का दिया जाना बालकों के विचारों की मौलिकता को कहाँ तक रोकता है? कहाँ तक वह अध्यापकों को क्लेश-दायक होता है और कहाँ तक देशी भाषाओं को दरिद्र बनाये रखता है?

२—देशी भाषाओं में अच्छी पाठ्य पुस्तकों का न होना, उन के कोष में वैज्ञानिक शब्दों (Technical Terms) का कम होना और भाषाओं की बहुतायत, इनको माध्यम बनने से कहाँ तक रोकती है?

३—अँगरेज़ी धीरे धीरे माध्यम बनाई जाय अथवा नहीं? यदि हाँ तो किस कक्षा से?

४—स्कूल की अन्तिम परीक्षा में देशी भाषाओं के द्वारा परीक्षा देने में विद्यार्थियों को कहाँ तक सुभीता है?

रिचे साहब ने कहा कि विदेशी भाषा के द्वारा परीक्षा देने के नियम से बालकों को रटने की आदत पड़ जाती है। यह बिलकुल सच है। हम यह सुना करते थे कि अँगरेज़ी में और विषयों को पढ़ाने से बालकों की योग्यता अँगरेज़ी-भाषा में बढ़ जाती है। परन्तु मौलवी फ़ज़लहुसेन का यह मत है—और ख़ाँ-बहादुर सैयद मुहम्मद उससे सहमत हैं—कि इस से बालकों की योग्यता अँगरेज़ी में बढ़ने के बदले घटती है। बम्बई के मिस्टर नायक और देवधर और मध्य-प्रान्त के पण्डित कन्हैयालाल गुरु और दुबे महाशय भी इन विचारों से सहमत हैं।

परन्तु अब दूसरी ओर की रङ्गत देखिए। संयुक्त-प्रान्त के माननीय डेलाफ़ोसी साहब और सर सुन्दरलाल, बम्बई के मिस्टर कवर्नटन और महाशय नटरञ्जन की यह राय हुई कि दोष पाठन-प्रणाली का है, भाषा का नहीं। मौलवी अहसानउल्ला और डाक्टर चैटर्जी महाशय अँगरेज़ी को विदेशी भाषा मानने के लिए तैयार नहीं। नटरञ्जन महाशय का कथन है कि ९० वर्ष पहले राजा राममोहन राय ने अरबी और फ़ारसी के विरुद्ध जो विवाद-पत्र लार्ड अमहर्स्ट की सेवा में भेजा था वह देशी भाषाओं के विषय में अभी तक पूर्ववत् चरितार्थ हो सकता है। संक्षेप में, बङ्गाल, बिहार और संयुक्त-प्रान्त के सदस्य अँगरेज़ी ही को माध्यम बनाने की ओर हुए।

फिर, देशी भाषाओं को माध्यम बनाने में क्या कठिनाइयाँ हैं, इस पर विचार हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक ही स्थान में दो भाषाओं का बोला जाना बड़ी कठिनाई है। अध्यापक के लिए दो भाषाओं के द्वारा पढ़ाना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा है। हिन्दी-उर्दू के विषय में तो उतनी कठिनाई नहीं है जितनी कि मराठी और गुजराती

के विषय में, तामील और तेलगू के झगड़े में, अथवा हिन्दी और बँगला के विरोध में है।

पाठ्य-पुस्तकों तथा वैज्ञानिक शब्दों के विषय में जितनी कठिनाइयाँ मालूम होती हैं उतनी हैं नहीं। आरम्भ में वैज्ञानिक शब्द अँगरेज़ी ही में बताये जा सकते हैं। पाठ्य-पुस्तकें माँग के साथ तैयार हो जायँगी। संयुक्त-प्रान्त का हाल देखिए। जब तक मिडिल तक अँगरेज़ी में पढ़ाई होती रही तब तक हिन्दी-उर्दू में पाठ्य पुस्तकें, इन दरजों के लिए थीं ही नहीं। जिस रोज़ से यह आज्ञा हुई कि अब से शिक्षा का माध्यम देश-भाषा रहे, उस रोज़ से उद्योगी अनुवादकों ने पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक शब्द संस्कृत या फ़ारसी के कोषों की सहायता से बना लिये जा सकते हैं। परन्तु दो भाषाओं के वैज्ञानिक शब्दों को दरजे में काम में लाना कठिन है। क्या हर्ज है, यदि अँगरेज़ी ही के वैज्ञानिक शब्द हम अपनी भाषा में ले आवें। इससे तो हानि के बदले लाभ ही है। यदि हमारे कोष में अँगरेज़ी-भाषा के शब्द आवें तो मुफ़ का धन स्वीकार करने में कोई सङ्कोच न होना चाहिए। अस्तु।

इन कठिनाइयों पर विचार करने पर और कालेज में अँगरेज़ी के माध्यम बने रहने की बात को याद करके अधिकतर सदस्य देशी भाषाओं को स्कूल के आख़िरी दो दरजों में माध्यम होने का गौरव देने के लिए तैयार न हुए।

इस मन्तव्य से कि भाषा हाई स्कूल के सब दरजों में माध्यम रहे, केवल मौलवी फ़ज़लहुसेन, पण्डित सीताचरण दुबे और नायक महाशय सहमत हुए। संयुक्त-प्रान्त के तथा अन्य प्रान्तों के सदस्यों का वोट (मत) आख़िरी दो दरजों में अँगरेज़ी को माध्यम रखने के पक्ष में पड़ा। यह सब की राय हुई कि अँगरेज़ी धीरे ही धीरे माध्यम बने।

परन्तु कानफ़रन्स को देशी भाषाओं के प्रचार का एक ढँग और दिखाई दिया। अँगरेज़ी समझने और उसके द्वारा अपने भाव प्रकट करने में बड़ा अन्तर है। किसी भाषा का भाव अपनी भाषा में समझना, अपने भावों को उस भाषा में प्रकट करने से कहीं सरल है। इसलिए अधिक सम्मति से यह निर्णय हुआ कि परीक्षार्थियों को इस बात का अधिकार दिया जाय कि वे स्कूल की आख़िरी परीक्षा में अँगरेज़ी को छोड़ कर और सब विषयों के उत्तर अपनी भाषा में लिखें।

यद्यपि हिन्दी-प्रेमियों को कानफ़रन्स की इस कारखाई का वर्णन पढ़ कर यथेष्ट सन्तोष न होगा, तथापि इससे दो बातें अवश्य झलकती हैं। एक तो यह कि सरकार का ध्यान, अब, हमारी भाषाओं की उन्नति की ओर है। दूसरी, यह कि अभी तक हमारे समाज में ऐसे महाशय भी हैं जिनको अपने देश के साहित्य से वास्तव में कोई आशा नहीं है और इसलिए वे प्रायः यह माने बैठे हैं कि विश्वविद्यालय में अँगरेज़ी का सर्वदा अखण्ड राज्य रहेगा।

परन्तु उन महाशयों को अपनी राय दिये अब बहुत समय होगया। गुरुकुल की बात तो बहुत पुरानी है। हैदराबाद, काशी और माइसोर के नये विश्वविद्यालयों में मातृभाषा को आदर पाते देख कर, आशा है, उन महाशयों के विचारों में कुछ अन्तर आगया होगा।

सरकार का झुकाव इस ओर बहुत कुछ है। कलकत्ते का युनिवर्सिटी-कमीशन हमारे विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए क्या निर्णय करेगा, यह तो अभी नहीं मालूम; परन्तु यदि लार्ड रोनाल्डशे के पदवी-वितरण-समारम्भ के वक्तृत्व से कुछ पता लग सकता हो तो इस बात की आशा अवश्य है कि कमीशन और प्रश्नों के अलावा देशी भाषाओं को माध्यम बनाने, पाठ्य-विषयों को भारतीय सभ्यता के योग्य बनाने और अँगरेज़ी की पठन-विधि के विषय में अच्छी तरह विचार करेगा।

आशा है, उसकी सम्मति हिन्दी के लिए लाभदायक ही होगी। परन्तु यह देखना है कि हमारा विश्वविद्यालय उनको कहाँ तक स्वीकार करता है। इसके पहले के कमीशन ने यह सिफ़ारिश की थी कि देशी भाषायें एम० ए० तक पढ़ाई जायँ। पर हमारी युनिवर्सिटी ने उसको मेट्रीकुलेशन में भी अनिवार्य नहीं रक्खा, ऊपर के दरजों की कौन कहे। वहाँ तो उसके लिए कोई स्थान ही नहीं।

अध्यापक

त्याग

चातक सदृश हम नित्य ही इकटक रहें लखते जिन्हें।
हैं प्रेम से पावन पवन निज अङ्क में रखते जिन्हें॥
सोचो तनिक, ये नयन-सुख क्या जलद लख पड़ते कहीं।
यदि जलधि जीवन निज समर्पण सूर्य को करते नहीं॥१॥
भवदीय आत्म-त्याग यह वारीश! अति ही धन्य है।
हो क्यों न, कल्पद्रुम-पिता हो, कौन तुम सा अन्य है॥
हैं अमृत-धारा सम कहीं पर विमल निर्झर झर रहे।
शुभ शान्त मानस सम कहीं सुन्दर सरोवर भर रहे॥२॥
कल-नादिनी नदियाँ कहीं पर प्रेम-मदमाती हुई—
करती हुई अठखेलियाँ प्रियतम-निकट जाती हुई—
अपने सुधा-सम वारि से करके धरा को उर्वरा—
हैं कर रहीं सजला तथा सफला, सुरम्या, सुखकरा॥३॥
यदि उच्च पद पाये हुए न कहीं पयोद पसीजते—
रहते गरजते गर्व से द्रवते न घुल कर छीजते—।
तज मान, पर-उपकार-धारा में अगर बहते नहीं—
यदि कष्ट आने का गगन से भूमि तक सहते नहीं—॥४॥
क्या हाल होता फिर अहो, ये दृश्य खो जाते न क्या?
क्या धूल उड़ जाती न सबकी चार हो जाते न क्या?
पर्जन्य! हो तुम धन्य जीवन-दान सब को दे रहे,
अस्तित्व निज खो कर अहा अमरत्व-यश हो ले रहे॥५॥
योंही न यदि वर बीज धर कर धैर्य्य झंझट झेलते—
निज तनु न मिट्टी में मिला कर जान पर ही खेलते—
आते कहाँ फिर दृष्टि ये बहु दिव्य दृश्य सुहावने—
तरु-पुञ्ज, कुञ्जावलि-कलित कुसुमित कुसुम मन-भावने॥६॥
वह शस्य-पूरित खेत क्या फिर लहलहाते दीखते?—
खग-वृन्द क्या वट, पीपलों पर चहचहाते दीखते?—
यों ही प्रकृति के पन्थ सब प्रिय भारतीयो सोच लो,
अपने लिए समुचित सुगम जो चाल समझो सोच लो॥७॥
निज जाति का, निज देश का उद्धार यदि हो चाहते—
भ्रमती हुई निज नाव का निस्तार यदि हो चाहते—।
तो स्वार्थ-परता से अभी सम्बन्ध सारा तोड़ दो,
कुछ त्याग से लो काम ममता-मोह मिथ्या छोड़दो॥८॥

राधावल्लभ

भूचाल।



किसी कुम्हार के हमवार और बढ़िया बने हुए चाक को या ऐसे ही किसी लट्टू को यदि हम तेज़ी से घूमता हुआ देखें तो वह हमें चाल-रहित एक स्थान पर खड़ा हुआ सा मालूम होता है। पर यदि हम उसी चाक या लट्टू को बड़े ध्यान से देखें तो वह कुछ हिलता और काँपता हुआ दिखलाई पड़ने लगता है। कभी कभी तो वह बड़े ज़ोर से एकाएक हिलता हुआ नज़र आता है—जैसे किसी ने हाथ से उसे हिला दिया हो। उसके इस प्रकार हिलने और काँपने के कई कारण हैं। चाक का धुरा यदि बिलकुल बीच में न हो, या उसके भिन्न भिन्न भाग समतोल न हों—कहीं भारी और कहीं हलका हो—अथवा उसके घूमने की चाल में कभी कभी अन्तर आ जाता हो तो ऐसा होने लगता है। इस चाक की तरह ही हमारी पृथ्वी भी अपने धुरे पर सदैव तेज़ी से घूमती रहती है। हम पृथ्वी के क़द के सामने इतने अधिक छोटे हैं कि पृथ्वी की पीठ पर बैठे हुए भी इसे घूमती हुई प्रतीत नहीं कर सकते। पृथ्वी के चारों ओर का सारा भाग समतोल नहीं है; कहीं कहीं कम या ज़ियादह हलका या भारी है। इसके चारों ओर का वज़न, समय समय पर, बदलता रहता है। इसका कारण है। सूर्य और चन्द्रमा की

आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से समुद्र में लहरें उठा करती हैं। उनके साथ पानी का बहुत बड़ा हिस्सा—वज़नदार हिस्सा—बार बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाया करता है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव से समुद्र का पानी ऊपर को उठा और नीचे को गिरा करता है उसी प्रकार पृथ्वी के ऊपर की चटानें, सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति के कारण, ऊपर को खिँच जाती और नीचे को चली जाती हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानों पर और भिन्न भिन्न समय पर वर्षा होने और बर्फ़ गिरने से पृथ्वी की सम-भारता में फ़र्क़ आ जाता है। वर्षा-ऋतु में हमारे भारत-वर्ष में, और ख़ास कर आसाम की पहाड़ियों पर, पानी बहुत बड़े परिमाण में आ कर एकाएक गिर जाता है। सर्द देशों में बर्फ़ के तूफ़ान आया करते हैं, जिससे वहाँ एक प्रकार का बड़ा वज़न सा आ कर गिरता है। इस तरह, पानी के बोझ के कारण, पृथ्वी कुछ कुछ दब जाया करती है। फिर पृथ्वी बिलकुल गोल नहीं है। नारङ्गी की तरह, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर, कुछ चिपटी है। इन कारणों से पृथ्वी, सदैव, कुछ न कुछ, हिला करती है। यह चलन-वलन या हिलाव सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा मालूम किया जा सकता है। यह धीमी कम्पनता कभी कभी भयानक रूप धारण कर लेती है, जिससे सारी पृथ्वी हिल जाती है और उसका कोई कोई भाग एकदम ध्वंस हो जाता है। इन्हीं भारी और भयङ्कर कम्पनों को "भूचाल" या "भूकम्प" कहते हैं।

इन भूचालों के प्रभाव से पृथ्वी की सतह पर एक प्रकार की लहरों की सी चाल पैदा हो जाती है। यदि हम तालाब के स्थिर पानी की लहरों की ओर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि पानी स्वयं लहरों के साथ आगे नहीं बढ़ा करता। इसकी सत्यता की जाँच आप लहरों-दार पानी के ऊपर कोई तैरनेवाला छोटा पदार्थ डाल कर कर सकते हैं। आप देखिएगा कि यद्यपि लहरें आगे बढ़ती हुई मालूम होती हैं, किन्तु वह पदार्थ, वहीं का वहीं, एक ही स्थान पर ऊपर नीचे उछलता हुआ, रह जाता है, आगे नहीं बढ़ता। इससे ज्ञात होता है कि लहरों के साथ पानी बह कर आगे को नहीं जाता, बल्कि थोड़ी दूर का चक्कर लगा कर एक ही स्थान पर रह जाता है। पानी की इन्हीं लहरों की तरह पृथ्वी-तल पर पृथ्वी की लहरें उठा करती हैं।

पृथ्वी की सतह पर इन लहरों की चाल इतनी तेज़ होती है कि प्रायः पृथ्वी के भीतर से एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। लहरों के कारण पृथ्वी ऊपर-नीचे भी उठती है और आगे-पीछे भी हिलती डुलती है। जब ऊपर-नीचे जाती आती है तब पृथ्वी के ऊपर की वायु में बड़े ज़ोर का धक्का लगता है। इससे ढोलक की सी ध्वनि पैदा होती है। कभी कभी यह ध्वनि बहुत दूर तक सुनाई पड़ती है। जहाँ भूकम्प का अन्य कोई भी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता वहाँ भी यह ध्वनि सुनी गई है। भूकम्प के समय मकानों के हिलने, छतों के फटने और वृक्षों के काँपने या बरतनों इत्यादि की ध्वनि के आगे पृथ्वी की यह ध्वनि अधिकतर छिप जाती है।

इस प्रकार, पृथ्वी की सतह में एकाएक हलचल उत्पन्न हो जाने के कारण भूकम्प होते हैं। कोई कोई भूकम्प पृथ्वी में ज्वाला-मुखी के उभड़ आने से होते हैं। किन्तु जो भूकम्प अधिकतर ज्वालामुखी के पास होते हैं वे ज्वालामुखी के स्फोट के कारण नहीं होते। क्योंकि यह देखा गया है कि जापान में, जहाँ सब से अधिक भूकम्प हुआ करते हैं, ज्वालामुखी से दूर पर ही प्रायः बड़े बड़े भूकम्प उठते हैं। ज्वालामुखी पर्व्वतों के पास की ज़मीन प्रायः ज़ोर से हिल जाया करती है। ज्वालामुखी का एकाएक स्फोट इसका कारण है। वास्तव में ये भूकम्प नहीं होते।

देखा गया है कि पृथ्वी के उन भागों पर प्रायः भूकम्प हुआ करते हैं जहाँ पर्व्वतों की श्रेणी अभी तक लगातार बनती जा रही है। इनमें से सब से बड़ा भूकम्प उठने-वाला पर्व्वत-भाग योरप के आल्प नाम पर्व्वत से लेकर हमारे हिमालय तक की पर्व्वत-श्रेणी का है। इस भाग में इटली से लेकर चीन के मध्य-भाग तक की सारी पृथ्वी आ जाती है। अनुमान किया गया है कि संसार के समस्त भूचालों का पाँचवाँ हिस्सा इस भाग में होता है। इसके बाद भूकम्प आनेवाला पृथ्वी का दूसरा भाग बङ्गाल की खाड़ी से लेकर न्यूज़ीलैंड के उत्तर तक चला गया है। इसके उत्तर में एक तीसरा भाग भी है जो आसाम के कामाखटका स्थान से लेकर फिलीपाइन-द्वीपपुञ्ज तक चला गया है। इस भाग

में जापान भी आ जाता है। इनके सिवा भूकम्प आनेवाले पृथ्वी के तीन भाग अमेरिका में हैं।

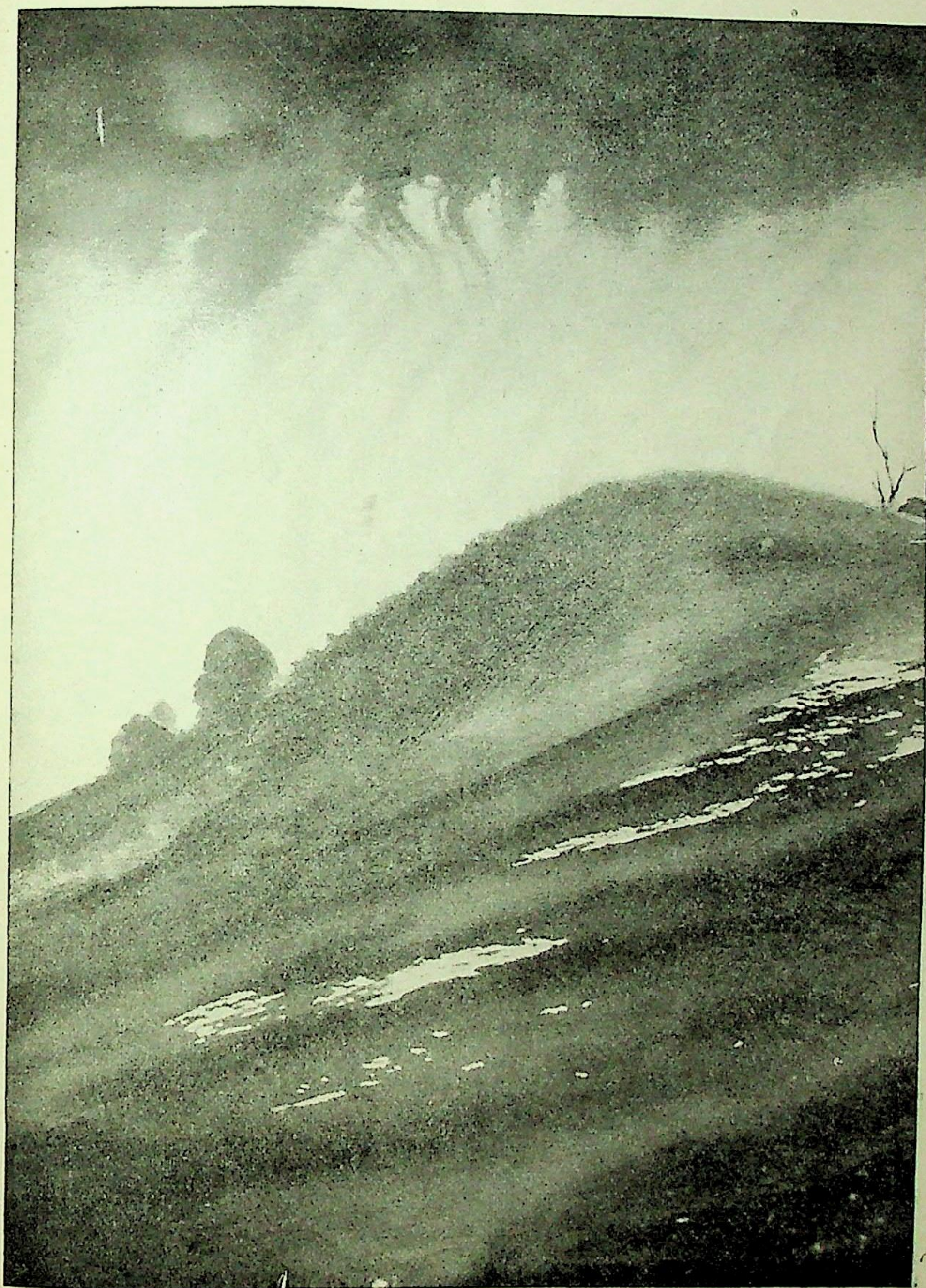
किसी समय भारतवर्ष और लङ्का-द्वीप जुड़ा हुआ था। एक भयङ्कर भूकम्प आने से बीच की पृथ्वी समुद्र से ढक गई और लङ्का भारतवर्ष से अलग हो कर द्वीप बन गया। इनके बीच की पृथ्वी के चिह्न अभी तक नज़र आते हैं, जिन्हें अब रामेश्वर का पुल कहते हैं। इसी प्रकार भारतीय महासागर में भारत और मारिशश-द्वीप और मडागास्कर के बीच कई द्वीप थे, जो भूकम्प के कारण नष्ट होकर समुद्र के उदर में चले गये।

अनुमान किया गया है कि इतिहास में सब से बड़ा भूकम्प, आसाम में, १२ जून १८९७ ईसवी को आया था। सौभाग्यवश यह भूकम्प ऐसे स्थान में आया जहाँ कोई बहुत बड़े नगर नहीं थे। इस भूकम्प का असर एक हज़ार वर्गमील तक की पृथ्वी पर पहुँचा था और उसके मध्यवर्ती अनेक छोटे छोटे नगर और ग्राम एकदम ध्वंस हो गये थे।

यह भूकम्प खासिया पहाड़ के चारों ओर आया था। यह स्थान पहाड़ी होने के कारण इतना आबाद नहीं है जितना भारत के दूसरे भाग हैं। केवल एक शिलाङ्ग ही बड़ा नगर यहाँ है, जो भूकम्प के ख़ास स्थान से बहुत दूर होने पर भी प्रायः बिल्कुल ध्वंस हो गया था। अनुसन्धान किया गया है कि इस भूकम्प की भयानक गर्जना के कारण पृथ्वी एक मिनिट में दो सौ बार अठारह इञ्च ऊँची-नीची उछली कूदी थी। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर-नीचे उठने-गिरने के कारण बड़े बड़े वृक्ष जड़ से उखड़ कर दूर जा गिरे, मकानों की दीवारें और छतें चकनाचूर हो कर एकदम नष्ट हो गईं। पर्वतों पर से बड़े बड़े विशाल पत्थरों के टुकड़े वायु में दस दस फ़ीट ऊँचे उड़ने लगे थे। रेल की पटरियाँ अपने स्थान से आगे बढ़ कर मरोड़ खा गईं और नदियों के कई पुल एकबारगी ध्वंस हो गये। उनके खम्भों पर जमे हुए लोहे के शक्ति-शाली धन्ने अपने अपने स्थानों को छोड़ कर नदी में जा गिरे। सड़कों के अधिकतर पुल भी पृथ्वी से उखड़ कर ऊपर उड़ गये। इस प्रकार आसाम के पहाड़ी स्थानों के कितने ही ग्राम और नगर पृथ्वी में मिल कर नष्ट हो गये, जिसके कारण लाखों की संख्या में लोग हताहत हुए और जो बच गये वे अपने घर-बार से वञ्चित हुए।

इस भूकम्प के बाद पता लगा कि अनेक स्थानों पर पृथ्वी ऊपर को उठ आई है। कहीं कहीं पर पचीस फ़ीट तक पृथ्वी ऊपर उठ गई थी। पृथ्वी के कहीं कहीं पर अधिक और कहीं कहीं पर कम उठ जाने से वह झँझोड़ सी डाली गई और अनेक स्थानों पर बड़े बड़े गड्ढे बन गये। उन में पानी जमा हो गया और झीलें बन गईं। गारो नामक पर्वत पर एक नदी बहती थी। उसका नाम था—रान्थम। उसकी घाटी के एक दो स्थान बहुत ऊपर को उठ गये। इससे बीच का स्थान नीचा हो गया। फलतः नदी के पानी का बहाव बन्द हो गया और वहाँ पर एक बड़ी, आध मील लम्बी, झील बन गई। इसी प्रकार चेद्राङ्ग नामक नदी की सतह के भी कई भाग ऊपर को उठ गये, जिससे कई बड़ी बड़ी झीलें बन गईं।

इस भूकम्प के अतिरिक्त और भी अनेक बड़े भयानक भूकम्प, समय समय पर, पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थानों पर हुए हैं। पोर्चुगाल देश के लिस्बन नामक नगर में इसी प्रकार का एक भूकम्प, १ नवम्बर १७५५ ईसवी को, हुआ था। बादल की गर्जना के सदृश भयानक शब्द एकाएक सुनाई पड़ा। इसके बाद पृथ्वी हिली, जिससे नगर का अधिक भाग ध्वंस हो गया। यह बड़ा आबाद नगर था। यहाँ की सड़कें तङ्ग और मकान बुलन्द थे। मकानों से गिरनेवाले पत्थरों से बचने के लिए नगरनिवासी नदी के किनारे, खुले स्थान की ओर, भागे। जब लोगों का बड़ा समूह वहाँ पर जमा हो गया तब भूकम्प की एक तेज़ लहर आई, जिससे पहले तो नदी का पानी पाताल को चला गया और नदी सूख गई। फिर थोड़े ही समय बाद पचास फ़ीट ऊँची एक लहर आई और किनारे पर एकत्र हुए कोई साठ हज़ार नगर-निवासियों को बहा ले गई। यह नदी बड़ी चौड़ी और गहरी थी। इसके किनारे पर बड़ा मज़बूत और सुन्दर बन्दरगाह था। वह भी पानी में डूब कर लापता हो गया। बन्दर पर खड़े हुए सारे जहाज़ भी उसके साथ डूब गये। कहा जाता है कि इन डूबे हुए पदार्थों का चिह्न तक न मिला। बन्दरगाह का स्थान अथाह गहराई में डूब गया। इस भूकम्प का असर बड़ी दूर दूर तक पहुँचा था। कहते हैं कि स्विट्ज़रलैंड तक इसका असर पहुँचा था। बोहेमिया के कई प्रसिद्ध झरने सूख गये



तूफ़ान ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।



और मराको का एक नगर, दस हज़ार निवासियों के साथ, ध्वंस हो गया तथा स्काटलैंड की झीलों में भयङ्कर तूफ़ान आ गया।

अमेरिका के सान्फ्रान्सिस्को नामक नगर में, १९०६ ईसवी में, सबसे अधिक ध्वंसकारी भूकम्प आया था। उससे समस्त नगर नष्ट हो गया। सड़कों के नीचे वहाँ गैस के नल लगे हुए थे। वे फट गये। इससे आग लग गई और जो कुछ नगर का भाग बचा हुआ था वह भी जल कर राख हो गया। इस भूकम्प का असर सात सौ मील तक पहुँचा था। इसके पूर्व भी इस स्थान पर सात भूकम्प आ चुके थे। किन्तु यह उन सब से भयङ्कर था। अमेरिका देश धनवान् और उन्नतिशाली है। आज सान्फ्रान्सिस्को में भूकम्प का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। यही नहीं, बल्कि नगर अधिक सुन्दर और बड़ा बन गया है।

जापान तो भूकम्प का देश ही है। वहाँ हमेशा भूकम्प आया करते हैं। इसी कारण वहाँ के अधिक मकान लकड़ी के हैं। सबसे बड़ा भूकम्प, जापान में, २८ अक्टूबर १८९१ ईसवी को, आया था। उसके प्रभाव से मध्य-जापान के वारी और मीनो नामक दो सूबे बिलकुल ही ध्वंस हो गये। ये सूबे बड़े उपजाऊ, आबाद और धनवान् हैं। भूकम्प के कारण बड़े बड़े मकान नींव से उखड़ कर दूर जा गिरे, पृथ्वी में स्थान स्थान पर बड़ी बड़ी खाइयां बन गईं, रेल की सड़कें टूट-टाट गईं और आसपास के पर्वत चटान बन गये। एक विचित्र घटना इस भूकम्प में यह हुई कि नदी के किनारे सिकुड़ कर पास पास हो गये। इसी प्रकार और भी कितने ही प्रकार के विचित्र परिवर्तन वहाँ हो गये।

जगन्नाथ खन्ना (बी० एस-सी०, इ०इ०)

तोते की शिक्षा।

(१)

किसी नगर में एक पक्षी था। वह अपढ़ था। उसका गला सुरीला था, किन्तु वह सङ्गीत-शास्त्रज्ञ न था। वह फुदकता था, किन्तु उसे तमीज़ न थी।

राजा ने अपने मन में विचार किया, "अज्ञानता अन्त में दुःखदायिनी ही होती है। क्योंकि मूर्ख खाते तो हैं विद्वानों के बराबर, पर बदले में देते कुछ नहीं।"

उसने अपने भतीजों को बुलवाया और उनसे कहा कि पक्षी की शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए।

इस काम के लिए पण्डित नियत किये गये। वे उस पक्षी की अज्ञानता का कारण ढूँढ़ने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि पक्षी का क्षुद्र घोसले में निवास करना ही इसका कारण है। इसलिए, हमारे मतानुसार, इसकी शिक्षा के लिए प्रथम आवश्यक वस्तु एक उत्तम पिँजड़ा है।

पण्डित अपना अपना इनाम लेकर खुशी खुशी घर गये।

(२)

सोने का एक पिँजड़ा बनवाया गया। उसकी सजावट अनुपम थी। संसार भर के मनुष्य उसे देखने आये। कुछ मनुष्यों ने हर्ष से विह्वल होकर कहा—"विद्या पकड़ कर पिँजड़े में बन्द कर दी गई है!" उनके आनन्दाश्रु बह उठे। औरों ने कहा—"यदि विद्या न भी रही तो कोई हानि नहीं, पिँजड़ा तो कहीं न जायगा। पक्षी बड़ा भाग्यशाली है!"

सुनार ने अपनी मज़दूरी के बदले में चाँदी बटोर कर अपना रास्ता लिया।

(३)

एक पण्डित पक्षी को पढ़ाने बैठा। कुछ देर तक अच्छी तरह सोच साच कर, नास लेते लेते, उसने कहा—"हमारे कार्य के लिए पाठ्य-पुस्तक कदापि पर्य्याप्त नहीं हो सकते।"

राजा के भतीजे सहस्रों लेखकों को पकड़ लाये। वे धड़ाधड़ पुस्तकों और लेखों की नक़ल करने लगे। फिर क्या था, हस्त-लिखित काग़ज़ों का एक पहाड़ बनगया। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने

कहा—"ओहो! विद्या का दुर्ग इतना ऊँचा! उसका शिखर तो बादलों को छू रहा है।"

लेखक, पुलकित-हृदय होकर, अपने अपने घर गये। रुपयों के बोझ से उनकी कमर झुकगई।

भतीजे पिँजड़े की चमक-दमक बढ़ाने में खूब व्यस्त थे। उसकी मनोहरता को देख कर लोगों ने सन्तोष प्रकट किया और कहा—"सचमुच उन्नति हो रही है।"

शिक्षक अधिक संख्या में नियुक्त किये गये, और निरीक्षकों की संख्या भी बढ़ा दी गई। ये और इनके साथी-सङ्गी भव्य भवन बनवा कर उसमें सुख-पूर्वक कालयापन करने लगे।

(४)

संसार में चाहे और किसी वस्तु की कमी हो चाहे न हो, किन्तु छिद्रान्वेषकों की कमी नहीं। वे सब जगह कहते फिरे कि पक्षी के अतिरिक्त और सब लोग, जिनका उसकी शिक्षा से कुछ भी सम्बन्ध है, ख़ूब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।

जब यह चर्चा राजा के कानों तक पहुँची तब उसने अपने भतीजों को बुला भेजा और कहा—"हम जो कुछ सुन रहे हैं वह क्या सच है?"

भतीजों ने निवेदन किया—"स्वामिन्! यदि सत्य बात जानना चाहते हैं तो सुनार, पण्डित, लेखक, तथा निरीक्षकों से पूछ लीजिए। छिद्रान्वेषक भूखों मर रहे हैं। बेकार होने से उनकी ज़बान और भी तेज़ हो गई है"।

उनका उत्तर आवश्यकता से अधिक सन्तोष-जनक था। इससे राजा अत्यन्त हर्षित हुआ और प्रत्येक को अपने अमूल्य आभूषणों से पुरस्कृत किया।

(५)

राजा को यह जानने की इच्छा हुई कि शिक्षा-विभाग अपना कार्य्य किस तरह कर रहा है। इससे एक दिन वह विद्या-भवन में जा पहुँचा। द्वार पर शङ्ख, तुरही, भेरी, नफेरी, घण्टा, झाँझ, ढोल, सहनाई, मृदङ्ग, तबला, डफ, खँजड़ी, बाँसुरी, करताल, करनाल, नरसिंघे बज उठे।

पण्डितों ने उच्चस्वर से मन्त्रोच्चार किया। सुनार, लेखक, निरीक्षक और सहस्रों भिन्न भिन्न पदाधिकारियों ने बड़े उत्साह से राजा का स्वागत किया।

राजा के भतीजे मुसकराये और पूछा—"महाराज, कहिए, इसके विषय में आपका क्या विचार है"?

राजा ने कहा—"निस्सन्देह शिक्षण का यह बहुत अच्छा ढङ्ग है"।

राजा बहुत खुश हुआ और प्रस्थान करना ही चाहता था कि किसी कोने से छिद्रान्वेषक चिल्ला उठा—"महाराज, आपने पक्षी को भी देखा?"

राजा ने कहा—"अरे! तोते को तो मैंने देखा ही नहीं। मुझे तो उसकी याद भी नहीं रही।"

लौट कर उसने पण्डितों से शिक्षण-प्रणाली के विषय में प्रश्न किया। उन्होंने सब कुछ दिखा दिया। देख कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। शिक्षण-प्रणाली इतनी भड़कीली थी कि पक्षी उसके सामने तुच्छ बोध होता था। शिक्षा-विधान में कोई त्रुटि न पाकर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। पक्षी तो किसी तरह की शिकायत कर ही नहीं सकता था। उसके गले में पुस्तकों के पन्ने ख़ूब ठूँस दिये गये थे, जिससे वह चीँ तक न कर सकता था। शिक्षा के इस ढङ्ग को देखकर लोग दङ्ग रह गये।

इस दफ़े प्रस्थान करते समय राजा सरकारी दण्ड-विधायक को छिद्रान्वेषक के दोनों कान गरम करने की आज्ञा देता गया।

(६)

इस प्रकार पक्षी अकर्मण्यता की ओर, धीरे धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, बढ़ने लगा। निस्सन्देह उन्नति सन्तोष-जनक थी। तथापि कभी कभी प्रकृति शिक्षा पर विजय प्राप्त करती थी, और जब प्रभात-कालीन सूर्य की किरणें पक्षी के पिँजड़े में प्रवेश

करती थीं तब वह अपने परों को बुरे ढँग से फटकारता था। और कभी कभी, यद्यपि यह बात विश्वास-योग्य नहीं, वह दीन पक्षी अपनी क्षीण चोंच से पिँजड़े की छड़ पर चोट करता था। यह देख कर कोतवाल गरज उठता था—"इतनी शरारत"!

दूसरे दिन लुहार अपनी निहाई और हथोड़ा लेकर राजा के शिक्षा-विभाग में आ डटा। हृदय दहलानेवाली मार! लोहे की बेड़ी शीघ्र तैयार होगई और पक्षी के पर जकड़ दिये गये।

राजा के बहनोई ने कुपित होकर सिर हिलाया और कहा—"ये पक्षी केवल मूर्ख ही नहीं होते, किन्तु अकृतज्ञ भी होते हैं।"

एक हाथ में पाठ्य-पुस्तक और दूसरे में डण्डा लेकर पण्डितों ने दीन पक्षी को वास्तविक शिक्षा दी।

अच्छा प्रहरी होने के उपलक्ष्य में कोतवाल और अच्छी बेड़ी बनाने के उपलक्ष्य में लुहार एक एक उपाधि से सम्मानित किये गये।

(७)

पक्षी मर गया।

इस बात की ख़बर किसी को कुछ भी न थी। छिद्रान्वेषक ही प्रथम व्यक्ति था जिसने इसकी ख़बर फैलाई।

राजा ने अपने भतीजों को बुला कर पूछा—"हम जो कुछ सुन रहे हैं क्या वह सच है?"

भतीजों ने कहा—"स्वामिन्! पक्षी की शिक्षा पूरी हो चुकी।"

राजा ने पूछा—"क्या वह फुदकता है?"

भतीजों ने कहा—"कभी नहीं!"

"उड़ता है?"

"नहीं।"

"गाता है?"

"नहीं।"

राजा ने कहा—"पक्षी को मेरे पास लाओ।" कोतवाल, सिपाही और सवारों से रक्षित होकर पक्षी राजा के पास लाया गया। राजा ने उसे अपनी अँगुलियों से हिलाया, पर वह हिला न डुला। केवल उसके भीतर से पुस्तकों के पन्ने खड़खड़ाये।

खिड़की के बाहर नव-किशलय-विहारी वासन्तिक वायु की सुरसुराहट से मधुमास का प्रभात उदासीनता के रङ्ग में रँग गया। *

कुलदीपसहाय

गत साहित्य-सम्मेलन के दो प्रश्नों पर विचार।

इन्दौर की स्वागत-समिति की ओर से ये दो प्रश्न किये गये थे—

(१) "हिन्दी राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए या नहीं?" और—

(२) "हमारी मातृभाषाओं में सब शिक्षण देना उचित या शक्य है या नहीं"?

इन पर हमारा निवेदन, क्रम से, यह है।

(१) हिन्दी राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए या नहीं?

हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही होनी चाहिए। इसके सिवा अन्य कोई भाषा हमारी वर्तमान अवस्था के अनुकूल नहीं। क्योंकि भारतवर्ष के इस छोर से उस छोर तक कोई ऐसा खण्ड नहीं, जहाँ हिन्दी के समझने तथा बोलनेवाले न्यूनाधिक रूप में न पाये जाते हों। फलतः आधुनिक देशी भाषाओं में हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो सर्व्व-व्यापक भाषा समझी जा सकती है।

अन्य कितनी ही भाषाओं की तरह हिन्दी की भी उत्पत्ति संस्कृत-भाषा से है। अतएव संस्कृत-भाषा से हिन्दी का ऐसा रूपान्तर नहीं हो सकता कि एक दूसरी का सम्बन्ध पूर्णतया नष्ट हो जाय। मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दी के बोलचाल और लेख-प्रणाली में संस्कृत-शब्दों या प्रयोगों का न होना बहुत कठिन

हिन्दी का क्या रूप होना चाहिए?

* रवीन्द्र बाबू के एक अँगरेज़ी-लेख का अनुवाद।

है। इसी प्रकार उर्दू से भी फ़ारसी-शब्दों का बहिष्कार असम्भव है। जब एक भाषा का प्रचार किसी देश में सहस्रों वर्षों तक होता रहता है तब उसका संस्कार उस देश के प्रत्येक अंश में इतना व्याप्त होजाता है कि वहाँ के निवासियों के जीवन का मूलाधार होजाता है। उस जाति की नीति, रीति, व्यवहार, विचार यहाँ तक कि खाना, पीना, सोना, नहाना, सन्ध्या-वन्दन सभी का पता उस भाषा-विशेष से लग सकता है। सारांश यह कि भाषा ही सभ्य जाति का प्राण-वायु है। भारत की पुष्टि-वृद्धि, चिरकाल तक, संस्कृत-भाषा से होती रही। यहाँ तक कि अन्यान्य जातियों का सैकड़ों वर्ष का घनिष्ट सम्पर्क भी संस्कृत को भारत-वासियों से अलग न कर सका। ऐसी अवस्था में हम लोग हिन्दी को संस्कृत से पृथक् नहीं कर सकते। एक नई भाषा का नूतन संस्कार करने और उसको स्वतन्त्र बनाने में बहुत समय की आवश्यकता है। परन्तु, साथ ही, हमारा उद्देश यह भी न होना चाहिए कि उसे संस्कृत-पूर्ण करके ऐसा रूप दें कि संस्कृत और हिन्दी में कोई अन्तर ही न रहे। हमारी हिन्दी ऐसी होनी चाहिए जो सरल और जन-समूह को सहज-बोध-गम्य हो। कठिन और अप्रचलित शब्दों का उपयोग भाषा के अभीष्ट को नष्ट करता है। इस उपाय से फ़ारसी-रहित उर्दू और हिन्दी में बहुत कम अन्तर रह जाता है। हाँ, बोलचाल और लेख तथा शिक्षित और अशिक्षित की भाषा में, हर एक देश, जाति, समय और विषय के अनुकूल, अन्तर अवश्य रहता है।

हिन्दी ही क्यों, अन्य भाषा क्यों नहीं?

हिन्दी की वर्ण-माला विज्ञानमूलक है। इसका रूप सुगम है और यह है भी सरल। जैसा बोला जाता है प्रायः वैसा ही इसमें लिखा जाता है। ये हिन्दी के विशिष्ट गुण हैं। इन तथा अन्य गुणों का वर्णन बहुत से योग्य पुरुषों तथा सभा-समितियों द्वारा कितनी ही बार हो चुका है। अतः यहाँ वही बातें फिर से लिखना व्यर्थ है। उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू इत्यादि भाषाओं में इतने गुणों का सन्निपात नहीं है। अतएव उनमें से एक भी हिन्दी की प्रतिद्वन्दिता में नहीं ठहर सकती।

जातीय तथा प्रान्तिक विरोध ही सब से बड़ी कठिनता है। भिन्न भिन्न जातियों तथा प्रान्तों में यहाँ परस्पर इतना

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में कठिनता।

विरोध—सहानुभूति का अभाव—है कि लोग किसी भाषा-विशेष को राष्ट्र-भाषा बनाने के प्रस्तावमात्र से निज-भाषा-भाषी जाति या प्रान्त का अत्यन्त अपमान समझते हैं। फल यह होता है कि चारों ओर से ऐसा दृढ़ और अविवेक-जनित तप्त आन्दोलन होने लगता है कि शान्त चित्त से किसी विषय का विचार असम्भव सा होजाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी-उर्दू का विवाद ही बस होगा। यह कठिनता ऐसी वैसी नहीं। इसका मूल कारण है परिस्थिति के सत्य ज्ञान और यथार्थ मानुषिक गुणों (Character) का अभाव। यही वस्तु के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कराने में बाधक होते हैं। जब तक समस्त या अधिकांश भारत-खण्ड हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए उन्मुख या तैयार न होगा तब तक हिन्दी उस पद पर नहीं प्रतिष्ठित हो सकती।* इसे ध्रुव सिद्धान्त समझिए। अतएव केवल विवेक, जो सच्ची विद्या और यथार्थ मानुषिक गुणों की सम्पदा पर अवलम्बित है, और कार्य-कारिणी बुद्धि के द्वारा ही यह समस्या हल हो सकती है।

यों तो प्रायः सभी अन्य-भाषा-भाषी जन थोड़े बहुत हिन्दी के विरोधी हैं; परन्तु उर्दू वाले विशेष कर हैं। इसलिए, यहाँ, इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक है।

जो लोग जातीयता (Nationality) का दम भरते हैं उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी न तो हिन्दुओं की पैतृक सम्पत्ति है न उर्दू मुसलमानों की। यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना अधिक जन-समूह पसन्द करता है तो दोनों जातियों के लिए समान अभिमान का विषय है। उर्दू की उन्नति से न हिन्दुओं का ह्रास या मानहानि है और न हिन्दी की वृद्धि से हिन्दुओं ही का कोई बड़प्पन है। प्रश्न केवल विचार, विवेक और देशोन्नति का है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, क्या पारसी और क्या गुजराती सभी भारत-जननी की तुल्य सन्तान हैं। अतएव भारत की प्रत्येक अच्छी

* भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तवासियों को इस ओर झुकाने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन प्रतिवर्ष कांग्रेस के साथ होना चाहिए।

वस्तु प्रत्येक देशवासी के लिए गौरव-प्रद होनी चाहिए। यथा—गङ्गा, यमुना, अजमेर, अमृतसर, अकबर, भोज, विक्रम, महाराना प्रताप, गोखले, विवेकानन्द, तुलसीदास, मुहम्मद साहिब, सैयद अहमद, फ़ीरोज़शाह, कालिदास, सादी, अबुलफ़ज़ल इत्यादि क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या बङ्गाली, क्या सिक्ख और क्या मदरासी सभी भारत-निवासियों के लिए एक-समान श्रद्धा और आदर के पात्र हैं। यदि सैयद अहमद साहब ने अकेले मुसलमानों ही के लिए ज्ञान-प्रासाद का मार्ग अनावृत किया तो उससे क्या हमारे देश को लाभ नहीं पहुँचा? क्या हमारे एक अङ्ग की पुष्टि नहीं हुई? जब हम एक ही देश में चिरकाल से एक ही साथ रहते चले आ रहे हैं, जब हम दोनों एक ही माता के दूध से पले हैं, जब हम दोनों भारत के सुख और दुःख से एक से सुखी या दुखी होते हैं, जब हम दोनों के मध्य केवल धर्म्म-मात्र का अन्तर है, तब क्या यह उचित है कि हम अपने एक बड़े सुन्दर और उपयोगी अभीष्ट को इन निरर्थक बकवादों में पड़ कर नष्ट कर दें?

मतलब यह कि जब तक लोगों के हृदय में यह भाव उत्पन्न नहीं तब तक एक-राष्ट्र कैसा, और जब एक-राष्ट्र ही नहीं तब एक-राष्ट्र-भाषा कैसी? इसलिए हमारा आदि कर्त्तव्य यह है कि हम राग, द्वेष, ईर्षा, मद, मात्सर्य्य को त्याग कर विवेक का अनुसरण करते हुए देश के कल्याण की बात सोचें और करें।

एक भाषा की उपयोगिता।

यहाँ मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि देश में एक भाषा का होना उस देश के पृथक् पृथक् परमाणुओं के पिण्डीकरण में किस प्रकार सहायक होता है। दो व्यक्तियों, जातियों या देशों में एक भाषा का अस्तित्व दोनों में परस्पर प्रीति और सहानुभूति उत्पन्न करता है। प्रमाण के लिए इँगलेंड, स्काडलेंड तथा अमेरिका का इतिहास पढ़िए। मानसशास्त्र के आधार पर भी यह सिद्ध हो सकता है कि भाषा ऐक्य-भाव उत्पन्न करने का प्रधान कारण है*।

एक बनमानुस के साथ, जो अव्यक्त अर्थहीन नादमात्र करता है, हमारी इतनी सहानुभूति नहीं हो सकती जितनी एक ऐसे व्यक्ति के साथ हो सकती है जो कोई सार्थक भाषा बोल सकता हो। इसमें भी आप, उस जन की अपेक्षा जो आपकी बोली नहीं जानता, निज भाषा-भाषी को अधिक पसन्द करेंगे—जैसे उर्दू बोलने वाला तामिल जानने वाले को पसन्द नहीं करता।

अब हम दूसरे प्रश्न पर विचार करते हैं। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि भारत के सिवा कदाचित् ही और कोई देश ऐसा होगा जहाँ उस देश के निवासियों को उनकी मातृ-भाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा में शिक्षा दी जाती हो। इँगलेंड, जापान, जर्मनी, फ़्रांस, स्पेन, इटली, स्वेडन, नार्वे इत्यादि प्रायः सभी सभ्य देशों में अपनी अपनी देशी भाषाओं के द्वारा ही शिक्षा दी जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि मातृभाषा के सिवा दूसरी भाषा पढ़नी ही न चाहिए। प्रधानता अलबत्ते अपनी ही भाषा की होनी चाहिए। विदेशी भाषा में प्रकट किये गये विचारों तथा सिद्धान्तों का अर्थ या ज्ञान हमारे मस्तिष्क में धुँधले रूप में पहुँचता है। इसका फल यह होता है कि वह कुछ ही काल में विनष्ट हो जाता है। विदेशी भाषा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ज्ञान-सम्पादन का सीधा मार्ग नहीं। अतएव पहले तो हमें अपनी निज की भाषा में विदेशी-भाषाबद्ध ज्ञानांश का अनुवाद करना पड़ता है। फिर कहीं उसे ग्रहण करने की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। दूसरे, मातृभाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से समय की बड़ी बचत होती है। आज कल अँगरेज़ी द्वारा ऊँची शिक्षा प्राप्त करने में जितना समय हमारा ख़र्च होता है उससे आधे ही समय में हम अपनी मातृ-भाषा के द्वारा उसी कोटि के ज्ञानांश का लाभ कर सकते हैं। अतएव यह कहने में तनिक भी सङ्कोच न होना चाहिए कि हमको अपनी मातृ-भाषा में ही सब शिक्षण देना उचित, और उचित ही नहीं, किन्तु अत्यावश्यक है।

(२) हमारी मातृ-भाषाओं में सब शिक्षण देना उचित या शक्य है या नहीं?

* इसका पता विदेश में लगता है, जब दो भिन्न-जातीय मनुष्य परस्पर मिल जाते हैं और दोनों यदि एक ही भाषा के जाननेवाले हों तो यह बात और भी अधिक स्पष्टता से पुष्ट हो जाती है। उस अवस्था में बन्धुभाव एक दम जागृत हो उठता है।

अब रहा शक्य होने का प्रश्न। मेरे विचार में किसी सीमा तक यह शक्य अवश्य है। इसमें सन्देह नहीं कि

क्या यह शक्य है? हिन्दी-भाषा के साहित्य की दशा मराठी, गुजराती, बँगला इत्यादि से हीन है। तथापि हिन्दी में तुलसीदास, केशवदास, विहारी, हरिश्चन्द्र, सूरदास इत्यादि के ग्रन्थ ऐसे हैं जो हमारी हिन्दी-साहित्य-विषयक उच्च-शिक्षा के योग्य भी ठहराये जा सकते हैं और देशी भाषाओं की साहित्य-शिक्षा के लिए उपयुक्त ग्रन्थ भी उन उन भाषाओं के साहित्य से प्राप्त हो सकते हैं। रही अन्य विषयों की बात सो आजकल भिन्न भिन्न विषयों के बहुत से अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद भी हमारी देशी भाषाओं में हो रहे हैं और कितने ही हो भी चुके हैं। परन्तु इतने ही से काम न चलेगा। अभी और भी बहुत सा कठिन काम करना बाक़ी है—यथा, विज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों की रचना। इनके बिना हम अपने छात्रों को किस तरह अपनी मातृ-भाषा में उच्च कोटि की शिक्षा सुलभ कर सकते हैं? नागरी-प्रचारिणी सभा, इंडियन प्रेस, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस तथा अन्य प्रेसों और समितियों के द्वारा बहुत सी नवीन पुस्तकें हिन्दी में, बँगला, गुजराती, संस्कृत, अँगरेज़ी इत्यादि भाषाओं की सहायता से निकली हैं। इसके लिए हम इन कारख़ानों आदि के ऋणी हैं। इस प्रश्न का सम्बन्ध हिन्दी-भाषा से जहाँ तक है, केवल इतनी ही पुस्तकों के बल पर ऊँची शिक्षा नहीं दी जा सकती। इतिहास, गणित, विज्ञान, भूगोल आदि कितने ही विषयों पर समीचीन ग्रन्थ नहीं।* और जब तक यह त्रुटि दूर न हो जाय, यह कल्पना प्रायः निर्मूल है।

इस लेख के द्वारा मेरा मतलब किसी अन्य भाषा को नीचा दिखलाना तथा निन्दा करना नहीं। संसार की समस्त भाषायें अपना अपना इतिहास रखती हैं और अपने देश, काल और अवस्था के अनुकूल उनकी उन्नति या अवनति हुई है। अतएव सब भाषायें अपने अपने ढँग की अच्छी हैं। इस लेख में मैंने केवल यही दिखाया है कि भारतवर्ष में हिन्दी, देश की वर्तमान दशा में, किस सीमा तक राष्ट्र-भाषा होने की पात्र है। यदि विचार और विवेक द्वारा हमारे भारत-बन्धु किसी दूसरी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाना लाभदायक सिद्ध करें तो मुझे उसे स्वीकार करने में तनिक भी विलम्ब न होगा। क्योंकि मेरा विशेष लक्ष्य उसी वस्तु पर है जो सारे देश के लिए हितकर हो। इससे, यदि, किसी व्यक्ति, जाति, या प्रान्त-विशेष को किसी प्रकार थोड़ी बहुत क्षति भी पहुँच कर सम्पूर्ण देश का कल्याण होता है तो उस क्षति को न गिन कर हमें अधिकांश लाभ सम्पादन करना चाहिए। अतएव उचित है कि हम सब मिल कर अपनी पवित्र मातृभूमि की सेवा, अनन्य भक्ति तथा निष्कपट रूप से, इस प्रकार करें कि हमारा देश उत्तरोत्तर उन्नति का आदर्श बन कर सम्मानोन्नत हो।

ठाकुर व्रजमोहनसिंह (बी० ए०,
बैरिस्टर-एट-ला)

* इस सम्बन्ध में मैं गीता-रहस्य का नाम पाठकों को स्मरण कराता हूँ। भारत की किसी भी देशी भाषा में दर्शन और नीति-शास्त्र जैसे गम्भीर विषय पर इतना उत्कृष्ट ग्रन्थ शायद ही कोई दूसरा हो। लेखक।

विविध विषय।

१—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी भाषायें।

इस देश में जो भाषायें बोली जाती हैं उनकी जाँच-पड़ताल का काम गवर्नमेंट ने डाक्टर ग्रियर्सन को दिया था। इस जाँच को समाप्त हुए बहुत समय हुआ। डाक्टर साहब अब विलायत में हैं। वहीं वे इस जाँच के परिणाम—इसकी रिपोर्टें—प्रकट कर रहे हैं। आज तक कई जिल्दें निकल चुकी हैं। अभी, हाल में, तेरहवीं जिल्द निकली है। यह जिल्द, औरों की अपेक्षा, अधिक महत्त्व रखती है। क्योंकि इस में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी नाम की भाषाओं का वर्णन और डाक्टर साहब की तद्विषयक सम्मतियाँ हैं। आप के फलादेश की कुछ बातें सुनिए—

पश्चिमी हिन्दी बोलनेवालों की संख्या कुछ कम ४ करोड़ है और पञ्जाबी बोलनेवालों की कोई १½ करोड़। इस प्रकार इस देश की जन-संख्या का लगभग पञ्चमांश ये दोनों भाषायें बोलता है। पश्चिमी हिन्दी ही इस देश की

विशेष व्यापक भाषा है। ख़ैबर की घाटी से कुमारी-अन्तरीप तक इसके बोलने और समझनेवाले पाये जाते हैं। प्रचार के लिहाज़ से अँगरेज़ी इसके सामने कोई चीज़ नहीं। जितने योरप-निवासी इस देश में हैं उनका और उनकी मेम साहबों का एक मात्र सहारा यही भाषा है। इसका आश्रय लिये बिना ये लोग सर्व-साधारण भारतवासियों के विचार नहीं समझ सकते और अपने विचार उन पर नहीं प्रकट कर सकते। गवर्नमेंट भी इसकी व्यापकता की क़ायल है। इसी से जो सरकारी अफ़सर मदरास-हाते में काम करते हैं उन तक को भी हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा में परीक्षा पास करने का प्रबन्ध उसने कर दिया है। रानी एलिज़बेथ के समय से ही इस भाषा के शब्द अँगरेज़ी-भाषा में मिलने लगे थे। इस समय तो इस भाषा के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग अँगरेज़ करते हैं और जो अँगरेज़ी-भाषा के कोशों तक में स्थान पा गये हैं।

हिन्दुस्तानी, उर्दू और हिन्दी को डाक्टर साहब एक दूसरी से भिन्न समझते हैं। पहली को आप गङ्गा-यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश की भाषा बताते हैं और कहते हैं कि यही भाषा इस देश की व्यापक भाषा या राष्ट्रभाषा (Lingua Franca) है। जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों वह हिन्दी और फ़ारसी के अधिक हों वह उर्दू है, सो ठीक ही है। फ़ारसी की अत्यधिक शब्द-मालिका से मण्डित उर्दू के आप ख़िलाफ़ हैं। "हिन्दुस्तानी" का नाम-करण जान गिलक्राइस्ट ने, १७८७ ईसवी में, किया था। इस देश का नाम हिन्दुस्तान है। अतएव समग्र देश में जो भाषा बोली जाय वह, जान गिलक्राइस्ट की राय में, "हिन्दुस्तानी" हुई।

उर्दू की उत्पत्ति देहली के लश्कर या वहाँ के बाज़ारों में हुई थी, यह बात डाक्टर साहब नहीं मानते। सर चार्ल्स लायल की तरह आप का भी मत है कि उर्दू उस भाषा या बोली से निकली है जो गङ्गा-यमुना के बीच के प्रान्त के उत्तरी अंश और पश्चिमी रुहेलखण्ड में बोली जाती थी। हाँ, देहली के बाज़ारों से उसका प्रचार अन्य प्रान्तों में अवश्य हुआ है, क्योंकि वहाँ सभी प्रान्तों के लोगों का आवागमन था।

आप की राय में फ़ारसी के जो शब्द रायज हो गये हैं उनको हिन्दुस्तानी, हिन्दी या उर्दू से निकालने की कोशिश करना अज्ञता का सूचक है। हाँ, व्यर्थ ही संस्कृत और फ़ारसी-अरबी के क्लिष्ट शब्द लिखना अवश्य ही आक्षेप-योग्य है। क्योंकि इससे भाषा-भेद बढ़ता है और ऐसी भाषा बहुत ही थोड़े आदमियों की समझ में आती है। जब संयुक्त प्रान्त की कचहरियों में देवनागरी-लिपि के प्रयोग की आज्ञा हुई तब कितने ही मुसलमान बिगड़ उठे थे। उन्होंने समझा था कि हिन्दी-भाषा का प्रचार किया जा रहा है। पर यह उनकी भूल थी। गवर्नमेंट अच्छी तरह जानती है कि अधिकांश आदमी जैसे क्लिष्ट उर्दू नहीं समझ सकते वैसे ही क्लिष्ट हिन्दी भी। वह इन दोनों में से किसी की भी पक्षपातिनी नहीं। वह तो चाहती है कि भाषा सरल, सब की समझ में आने योग्य, हो—लिखी चाहे देवनागरी-लिपि में जाय चाहे फ़ारसी-लिपि में। जिसे जिस लिपि में सुभीता हो, लिखे।

डाक्टर ग्रियर्सन की इस रिपोर्ट में और भी अनेक बातें जानने योग्य हैं। हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के विषय में ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों को यह रिपोर्ट ज़रूर देखनी चाहिए। डाक्टर साहब के किये हुए हिन्दी के पूर्वी, पश्चिमी, बिहारी, राजस्थानी आदि विभाग मानने को बहुत लोग तैयार नहीं। उनको चाहिए कि डाक्टर साहब की तर्क-प्रणाली पर विचार करें और यदि वह सदोष जान पड़े तो युक्ति-पूर्वक उसके दोष दिखावें।

२—देवनागरी-लिपि के भारतव्यापी-प्रचार का विरोध।

देवनागरी-लिपि के विषय में बाबू श्यामाचरण गङ्गूली, बी० ए०, की क्या राय है, यह हम किसी पिछली संख्या में बता चुके हैं। एप्रिल १९१८ के माडर्न-रिव्यू में अब आपका एक और लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने निर्दिष्ट विषय पर अपने विचार विस्तार के साथ प्रकट किये हैं। आप देवनागरी-लिपि के गुणों का स्वीकार करते हैं। हिन्दी के विषय में आपकी राय है—

"The living Indian language—Hindi, is also very nearly phonetically written * * * * Hindi is almost phonetically written."

अर्थात् हिन्दी जैसी बोली जाती है प्रायः वैसी ही—अथवा बहुत कुछ वैसी ही—लिखी भी जाती है।

हिन्दुस्तानी भाषा इस देश की व्यापक भाषा है, इस बात के भी आप मानते हैं। पर आप का कहना है—

"Bengali is not a phonetically written language; a change from the Bengali to Devanagari script would keep up the non-phonetic character of Bengali writing. * * * * Those who seek to make Devanagari the one Indian Script cannot certainly have the aspiration to get it accepted as the Common Script for all the world. Devanagari has indeed many points of clear superiority over all the alphabets of the world that are foreign to India. * * * * But it has many serious defects, among which is its syllabic method of writing."

मतलब यह कि बँगला-भाषा जैसी बोली जाती है वैसी ही लिखी नहीं जाती। देवनागरी-लिपि का स्वीकार करने से उसका यह दोष बना रहेगा। बङ्गाली दक्षिण को दोक्खिन ही पढ़ेंगे। जो लोग देवनागरी का प्रचार सारे भारत में करना चाहते हैं वे उसे समग्र संसार में नहीं प्रचलित करा सकते। और लिपियों की अपेक्षा देवनागरी में अनेक गुण अवश्य हैं, पर दोष भी हैं। उन दोषों में से प्रधान दोष ये हैं कि इस लिपि में बँगला और अँगरेज़ी के कुछ स्वरों के ठीक उच्चारण के लिए चिह्न नहीं हैं। 'एक' और 'मेजे' के 'ए' के उच्चारण में भेद है। इसी तरह अँगरेज़ी के बाल (Ball) और हैट (Hat) के 'अ' के उच्चारण में भी भेद है। वह भेद देवनागरी-लिपि के किसी भी वर्ण द्वारा नहीं बताया जा सकता। इसीलिए आप देवनागरी को नापसन्द करते हैं और नई रोमन-वर्णमाला का प्रचार करना चाहते हैं। उसमें किसी वर्ण के नीचे बिन्दु, किसी के ऊपर; किसी के नीचे लकीर, किसी के ऊपर; किसी के नीचे दो लकीरें, किसी के नीचे १ अङ्क लगाने की योजना आप करते हैं। लकीरें भी एक ही प्रकार की नहीं। कहीं कहीं नागरी के एक वर्ण के बदले रोमन के दो दो वर्ण लिखने की सिफ़ारिश आप करते हैं।

इस पर हमारा निवेदन है कि जहाँ तक हम जानते हैं, देवनागरी-लिपि को सारी दुनिया में चलाने की चेष्टा आज तक किसी ने नहीं की और न इसकी अणुमात्र आशा ही है कि योरप, अमेरिका, चीन और जापानवाले उसे कभी अपने अपने मुल्कों में जारी होने ही देंगे। इस कारण इस तरह के ख़याली पुलाव पकाना व्यर्थ समय नष्ट करना है। बङ्गाली यदि दक्षिण को दोक्खिन कहते हैं तो आप चाहे जितनी सुधरी हुई लिपि का प्रचार करें उनकी वह आदत जाने की नहीं। इसका सम्बन्ध आदत या स्वभाव से है, लिपि से नहीं। लिपि का दोष होता तो और प्रान्तवाले भी दक्षिण को दोक्खिन या और कुछ पढ़ते। रही यह बात कि हिन्दी में लिखा तो जाता है 'कोयला' और पढ़ा 'क्वेला', सो राजा रामपालसिंह के सदृश, जिसका जी चाहे कोयला न लिखकर क्वेला ही लिख सकता है।

देवनागरी-लिपि अरबी, फ़ारसी, तुर्की और अँगरेज़ी आदि विदेशी भाषाओं के उच्चारण के लिहाज़ से नहीं निर्मित हुई। कोई भी लिपि इस दृष्टि से नहीं निर्मित होती। हर लिपि में अपनी ही भाषा के लिए यथेष्ट चिह्न रहते हैं।

आप नई रोमन लिपि बना कर या वर्तमान लिपि में संशोधन करके और देशों ही में नहीं, और लोकों में भी, जारी कीजिए; कोई आपको मना नहीं करता। देवनागरी-लिपि के प्रचार के इच्छुक केवल इतना ही चाहते हैं कि इस देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों के निवासी, आपस में पत्र-व्यवहार आदि करते समय, इस लिपि का प्रयोग करें। और यह काम बड़ी आसानी से हो सकता है। आपके दिखाये हुए—देवनागरी-लिपि के दोष, यदि वे मान भी लिये जायँ, इसमें बाधक नहीं हो सकते।

संस्कृत के अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ उन प्रान्तों में भी इसी लिपि में अब तक लिखे या छापे जाते हैं जहाँ सर्व-साधारण जन, अपने दैनिक व्यवहार में, और ही लिपि काम में लाते हैं। इस कारण उनमें से कितने ही लोग इस लिपि से परिचित भी हैं। इस लिपि में फ़ारसी-अरबी के भी सैकड़ों रायज शब्द शुद्ध शुद्ध लिखे और उच्चारण किये जा

सकते हैं। अतएव देशान्तर में न सही, इस देश में प्रचलित होने की यह पूरी योग्यता रखती है। आगे जब कभी सतयुग आवेगा और लोग अन्य सब बातों की परवा न करके, एक-मात्र गुणों की ही प्रेरणा से किसी वस्तु का स्वीकार या त्याग करने को तैयार होंगे तब आपके सदृश उदाराशय सज्जन किसी एक ही निर्दोष लिपि का भी प्रचार कर देंगे। तब तक कृपा कीजिए। अघटनशील घटनाओं का स्वप्न न देखिए।

३—प्रकाशित पुस्तकों का लेखा।

गवर्नमेंट, हर साल, एक रिपोर्ट प्रकाशित करती है। उसमें इस बात का लेखा रहता है कि रिपोर्ट के साल किस विषय की, किस भाषा में, कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उसमें और भी बहुत सी बातें रहती हैं। १९१५—१६ में, अर्थात् अपरेल १९१५ से मार्च १९१६ तक, जितनी पुस्तकें इस देश में प्रकाशित हुईं उनकी संख्या से यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि देशी-भाषाओं के साहित्य की दिन पर दिन वृद्धि होती जाती है। रिपोर्ट के साल देशी-भाषाओं में १०, ६५८ पुस्तकें निकलीं। इनके मुक़ाबले में अँगरेज़ी-भाषा में केवल १ ५४१ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अर्थात् अँगरेज़ी की अपेक्षा देशी-भाषाओं की पुस्तकों की संख्या सात गुनी अधिक हुई। यह देख कर कौन विचारशील मनुष्य यह कहने का साहस करेगा कि अँगरेज़ी-भाषा और रोमन-लिपि, अभी क्या कभी भी, भारत की प्रधान भाषा और प्रधान लिपि हो सकेगी? कोई प्रान्त ऐसा नहीं जिसमें अँगरेज़ी की अपेक्षा प्रान्तीय भाषाओं की पुस्तकों की संख्या कई गुनी अधिक न हो। १९१५—१६ में अँगरेज़ी भाषा की पुस्तकों की अपेक्षा देशी भाषाओं की पुस्तकें—

बम्बई में	चौदह गुनी
पञ्जाब में	बारह गुनी
संयुक्त-प्रान्त में	सात गुनी
बङ्गाल में	छः गुनी और
मदरास में	चार गुनी

निकलीं। यह दशा रिपोर्ट के साल ही की न समझिए। गत पांच छः वर्षों से अँगरेज़ी-पुस्तकों की संख्या कम हो रही है और देशी भाषाओं की पुस्तकों की संख्या बढ़ रही है। किस भाषा में कितनी पुस्तकें, १९१५—१६ में, निकलीं, इसका हिसाब नीचे दिया जाता है—

अँगरेज़ी—२,४४१
बँगला—१,९८१
हिन्दी—१,६६३
उर्दू—१,१६४
तामिल—१,११४
गुजराती—१,०३५
मराठी—८७७
तैलङ्गी—७३०
पञ्जाबी—५७२
संस्कृत—४६२
अरबी—५३
फ़ारसी—४८

पुस्तक-लेखन और प्रकाशन में बेचारे मध्यप्रदेश की दशा सब से हीन मालूम होती है। क्योंकि उस साल उस प्रान्त में केवल ३ पुस्तकें अँगरेज़ी और १०० देशी-भाषाओं में प्रकाशित हुईं। उसके मुक़ाबले में संयुक्त-प्रान्त में अँगरेज़ी की २४९ और अन्य भाषाओं की १,७८८ पुस्तकें निकलीं। सब से अधिक पुस्तकें बङ्गाल में प्रकाशित हुईं। उनकी संख्या २,५६२ थी। उसके बाद और प्रान्तों का हिसाब इस प्रकार है—

मदरास में—२,४२१
संयुक्त-प्रान्त में—२,०३७
बम्बई में—१,९०२
पञ्जाब में—१,६८९

मदरास में सब से अधिक अख़बार निकले। उसके बाद बङ्गाल का, फिर बम्बई का और फिर संयुक्त-प्रदेश का नम्बर रहा। धर्म्म-विषयक पुस्तकों की संख्या सब से अधिक रही, उसके बाद कविता की, फिर और विषयों की।

१९१५—१६ में सारे भारतवर्ष में ३,२३७ छापेख़ाने थे। अख़बारों की संख्या ८५७ और सामयिक पुस्तकों की २,९२७ थी।

४—हिन्दू-शब्द की व्युत्पत्ति।

हिन्दू-शब्द की प्राचीनता और व्युत्पत्ति के विषय में एक लेख सरस्वती में, बहुत पहले, प्रकाशित हो चुका है।

इसमें दिखाया गया है कि हिन्दू-शब्द संस्कृत-भाषा के सिन्धु-शब्द का ईरानी रूप है। इसकी पोषकता पश्चिमी विद्वान् भी अब करने लगे हैं। कुछ ने तो पहले भी स्वीकार किया था कि यह शब्द हज़ारों वर्ष का पुराना है। गत फ़रवरी में टाइम्स आव् इंडिया में एक महाशय ने इस शब्द के विषय में कही गई पुरानी बातों को दुहराया है। लिखा है, ऋग्वेद में सप्त-सिन्धु शब्द आया है। ईरानी भाषा में यह शब्द हप्त-हिन्दु होगया है और इसी रूप में पारसियों की प्राचीन धर्म्म-पुस्तक अवस्ता में व्यवहृत है। यह अवस्ता कोई ३००० वर्ष की पुरानी पुस्तक है। उस समय के ईरानी लोग भारत को हप्त-हिन्दु कहते थे। उनकी भाषा में हमारे 'स' का उच्चारण 'ह' होता है। इसी से उन्होंने सप्त को हप्त और सिन्धु को हिन्दु कर डाला है। उस समय, आज कल की तरह, पञ्जाब में पाँच नहीं, सात नदियाँ थीं। उनके नाम वेदों में विद्यमान हैं। इसी से वह देश या प्रान्त सप्त-सिन्धु कहाता था। इन सात नदियों में से चार की दो होगई हैं। अर्थात् दो नदियाँ अन्य दो नदियों में मिल गई हैं। इसीसे अब सात की पाँच होगई हैं। सो असल में हिन्दू-शब्द सिन्धु का रूपान्तर मात्र है। विपक्षी इस शब्द का चाहें जो अर्थ करें, पर इसका मूलार्थ बुरा नहीं।

५—हुएनसंग की कुछ बातें।

हुएनसंग चीन का रहने वाला बौद्धधर्म्मावलम्बी श्रमण था। वह ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत आया। यहाँ वह दस पन्द्रह वर्षों तक रहा। सारे भारत की यात्रा उसने की। अनेक नगर और तीर्थ उसने देखे; अनेक विद्वानों से उसने शास्त्राध्ययन किया। नालन्दा के विश्वविद्यालय में वह बहुत समय तक रहा। विशेष करके वहीं उसने आचार्य्य शीलभद्र से बौद्धधर्म्म के ग्रन्थों तथा अन्य शास्त्रों का परिशीलन किया। बाबू ब्रजमोहनलाल वर्म्मा ने इस यात्री के यात्रा-वृत्तान्त का जो अनुवाद हिन्दी में किया है उसके दो एक स्थलों की नक़ल नीचे दी जाती है -

यहाँ (नालन्दा में) उसने हज़ारों लोगों के सामने शीलभद्र आचार्य से योग्य-शास्त्र पढ़ा। + + + × उसने यहाँ रह कर सब धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। जो उसके सन्देह थे उन्हें भी वह दूर करता रहा। उसकी शङ्काओं का भली भाँति 'समाधान यहीं हुआ। बौद्धधर्म्म के ग्रन्थों को पढ़ने के बाद उसने ब्राह्मणधर्म्म के ग्रन्थों को पढ़ना आरम्भ किया और व्याकरण-शास्त्र को भी पढ़ा। यह अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। इसके मूल प्रवर्तक का कोई भी पता नहीं लगता। ब्राह्मणों के कथनानुसार सृष्टि के आदि में ब्रह्माही व्याकरण-शास्त्र के रचयिता हैं। वे उसे देवताओं को देते हैं। देवताओं से वह मृत्यु-लोक में आता है। वैवर्तकल्प में इसकी श्लोक-संख्या १ लाख थी। बाद में वैवर्तसिद्धकल्प में १० हज़ार रह गई। पानिणी ऋषी (?) के हाथ से उसकी संख्या ८ हज़ार हुई (?) यह गान्धार देश के शालातुर नगर के निवासी थे। यही पुस्तक भारतवर्ष में प्रचलित है। दक्षिण भारतवर्ष के एक राजा ने एक ब्राह्मण द्वारा इसकी संख्या ढाई हज़ार श्लोकों में घटाई। यह पुस्तक बहुत प्रचलित है। सीमान्त-देश में इसका बहुत प्रचार है, परन्तु विद्वान् लोग इसको प्रमाणणीय (?) नहीं मानते। और कई पुस्तकें व्याकरण पर, जिनके नाम हैं मण्डक, उनादि, अष्टधातु इत्यादि, यहां प्रचलित हैं। हुएनसंग ने व्याकरण-शास्त्र को खूब अच्छी तरह पढ़ा। वह लिखता है कि इसका नाम व्याकरणम् है।

तुर्किस्तान और काश्मीर की राह हुएनसंग भारत में आया था। उसी राह से वह चीन को लौट गया। लौटते समय जब वह पामीर की तराई से काशग़र की ओर जा रहा था उसे वहाँवालों ने एक विचित्र वृत्तान्त सुनाया। वह इस प्रकार है—

यहाँ से बढ़कर वह (हुएनसंग) एक बर्फ़ीली पहाड़ पर पहुँचा × × × कई सौ वर्ष पूर्व, बिजली की गर्ज से, (इस) पहाड़ का एक भाग फूट गया। उसकी दरार में एक विशाल और तेजस्वी भिक्षु दिखाई दिया। वह ध्यानमग्न था। उसके बाल मुख और कन्धों तक लटकते थे। लकड़हारों ने राजा से सब समाचार कहा। राजा उसको देखने गया और बहुत से आदमी वहाँ गये। सबोंने इसे प्रणाम किया। राजा ने पूछा यह कौन मनुष्य है? लोगों ने कहा यह एक अर्हंत है। वह सब वासनाओं को त्याग चुका है। राजा ने कहा कि उसे किसी तरह जगाना चाहिए। एक आदमी ने उत्तर दिया कि जिस मनुष्य ने वर्षों अन्न-जल कुछ नहीं खाया हो, एकदम जगाने से उसका शरीर राख हो जायगा। प्रथम उसके शरीर में मक्खन मला जावे। जब उसके अङ्ग नरम हो जावें तब घण्टा बजाया जावे, जिसकी आवाज़ सुन कर वह जग जावेगा। ऐसा ही किया गया। तत्पश्चात् अर्हंत ने नेत्र खोल दिये। पूछा कि तुम कौन हो जो धार्म्मिक वस्त्र पहिने हुए हो। लोगों ने कहा कि हम भिक्षु हैं। उसने फिर पूछा कि मेरे गुरु काश्यप तथागत कहां हैं? लोगों ने कहा वे निर्वाण को प्राप्त हो गये। यह सुन कर उसे बड़ा हर्ष हुआ। फिर उसने अपने नेत्र बन्द किये और अपनी जटा सम्हाल कर वह अपनी जगह से उठा और आकाश की ओर चढ़ने लगा। शरीर को उसने ज़मीन पर छोड़ दिया और योगबल से अग्नि प्रदीप्त कर उसे वहीं भस्म कर दिया। राजा और उसके साथियों ने उस अर्हंत की राख को पृथ्वी में गाड़ दिया और उस पर एक स्तम्भ बनवा दिया।

यह बात तो पहले ही से मालूम थी कि तुर्किस्तान में किसी समय बौद्ध धर्म्म का बड़ा दौरदौरा था। हुएनसंग

के इस कथन से यह भी मालूम हुआ कि उस समय वहाँ योगी भी थे।

६—पाटलिपुत्र का बसाया जाना।

डाक्टर स्पूनर की राय है कि चन्द्रगुप्त आदि कई मौर्य्य-वंशी राजा ईरानियों के वंशज थे और पाटलिपुत्र के प्राचीन राज-प्रासाद आदि ईरानी कारीगरों ने बनाये थे अथवा ईरानियों के तत्कालीन महल देख कर उनके नमूने के बनाये गये थे। डाक्टर साहब की इस उक्ति का खण्डन अनेक विद्वान् कर चुके हैं। इसी से डाक्टर साहब इस विषय में एक बड़ी पुस्तक लिख रहे हैं। उसमें वे बहुत करके अपनी पूर्वोक्त उक्तियों का समर्थन करेंगे और अपने विरोधियों की बातों का उत्तर भी शायद देंगे। ऐसे समय में अध्यापक हारानचन्द्र चकलेदार, एम० ए०, ने माडर्न-रिव्यू में एक गवेषणा-पूर्ण लेख प्रकाशित करके डाक्टर स्पूनर के विरोधियों का पक्ष और भी प्रबल कर दिया है। आपने कथासरित्सागर और बौद्धों तथा जैनों के बहुत पुराने ग्रन्थों, चीनी परिव्राजकों के यात्रा-वृत्तान्तों और कई पुराणों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि गौतमबुद्ध के जीवनकाल में भी पाटलिग्राम नाम की बस्ती विद्यमान थी। उस समय वैशाली में व्रिज्जी नामक एक जाति बड़ी प्रबल थी। वह राज-गृह के राजाओं से शत्रुता रखती थी और उनके देश पर बार बार आक्रमण करती थी। उस समय राजगृह में अजातशत्रु नाम का राजा था। व्रिजियों के आक्रमणों से बचने के लिए उसने अपने दो मन्त्रियों—सुनीति और वर्षकर—को आज्ञा दी कि गङ्गा और सोन के सङ्गम पर एक दृढ़ क़िला बनाओ। जिस समय बुद्ध पाटलिग्राम गये, नया क़िला बन रहा था। इसके कोई ५० वर्ष बाद राज-गृह के उदयी या उदयिन् नामक नरेश ने पाटलिग्राम के क़िले में ही राज-प्रासाद आदि बनवाये और उसी को अपनी राजधानी नियत किया। उस समय इस नये नगर को लोग पुष्पपुर या कुसुमपुर भी कहते थे। पीछे से वही पाटलिपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नाम-परिवर्तन के विषय में कई कथायें प्रचलित हैं। पर उनके उल्लेख की यहाँ ज़रूरत नहीं। बुद्ध का निर्वाण ५४४ वर्ष ईसा के पूर्व माना जाता है। अतएव आज से कोई २४०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र बस गया था और बड़े बड़े महल भी वहाँ बन गये थे। उस समय ईरानियों का सम्पर्क भारतवर्ष से बहुत ही कम था। इस दशा में उन लोगों के द्वारा इस नगर के महलों का निर्माण होना बहुत ही कम सम्भव है। जिन ग्रन्थों में इस नगर के बसाये जाने की बातें हैं उनमें ईरानियों की सहायता या सम्पर्क का कुछ भी उल्लेख नहीं।

७—बच्चों की मृत्यु की अधिकता।

भारत में मृत्यु-संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है। सरकारी रिपोर्टों से यही ज्ञात होता है। युवकों या बूढ़ों की मृत्यु की अपेक्षा बच्चों की मृत्यु, एक दृष्टि से, अधिक सन्ताप और हानि-कारिणी है। क्योंकि बालक ही, आगे चल कर, युवा और वृद्ध होते हैं। इसके कितने ही कारण हैं। उनमें से रोगनाशक और आरोग्य-वर्द्धक साधनों का अभाव तथा माता-पिता की असावधानी और अज्ञता ही प्रधान है। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा अन्य विषयों के सुधार के लिए तो बहुत लोग दत्तचित्त हैं; पर बच्चों की मृत्यु कम करने की ओर उनका ध्यान नहीं। तथापि इसमें उनका विशेष दोष नहीं।

अन्य देशों के लोग इस विषय में उदासीन नहीं। वे बच्चों की रक्षा का बहुत ख़याल रखते हैं। नवंबर १९१७ के "इंडियन रिव्यू" से मालूम हुआ कि अमेरिका में एक संस्था—"कमिटी आव् अमेरिकन एसोसियेशन"—नाम की है। उसने इस विषय पर एक निबन्ध प्रकाशित किया है। उसमें उसने बच्चों की रक्षा के अनेक उपाय बताये हैं। पर वे सब इस देश के लिए उपयोगी नहीं। क्योंकि झोंपड़ों में रहने वालों के लिए गरम और ठण्डे कमरों का ज़िक्र करना बेचारे भारतवासियों का उपहास करना है। अतएव "इंडियन रिव्यू" के सम्पादक ने अमेरिका के साधनों का उल्लेख व्यर्थ ही अपने पत्र में किया है। भारत में जब तक शिक्षा का यथेष्ट प्रचार न होगा और शिक्षित होकर जब तक लोग स्वच्छता, आरोग्य, शुद्ध वायु और प्रकाश के लाभ न समझेंगे तब तक और साधनों का प्रयोग अच्छी तरह नहीं हो सकता। शिक्षा-प्राप्ति से ही सामाजिक दशा सुधर सकती है, दारिद्र दूर हो सकता है और नैरोग्य के कारण ध्यान में आ सकते हैं। अन्यथा नहीं। अतएव पहले हमें शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। बच्चों के लिए अभी गाँव गाँव अस्पताल और दवाख़ाने नहीं खुल सकते। और, जब तक दवाख़ानों की अधिकता न हो तब तक

अशिक्षित प्रजा, अपने रोगी बच्चों की चिकित्सा का और क्या प्रबन्ध कर सकती है ? हाँ, शिक्षित होने पर वह स्वयं ही उनको रोगी होने से बहुत कुछ बचा सकेगी। अतएव सब सुधारों की जड़ शिक्षा का ख़ूब विस्तार होना चाहिए।

८—पार्लियामेंट में भाषण और प्रश्नोत्तर।

बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं। विलायत की पार्लियामेंट और उसके सदस्यों का हाल वैसा नहीं है जैसा कि भारत की व्यवस्थापक-सभाओं और उसके सभासदों का है। पार्लियामेंट के सदस्य बड़ी वाचालता कर सकते हैं और सैकड़ों प्रश्न पूछ सकते हैं। कुछ समय हुआ, मिस्टर वाल्टर लांग नाम के एक सदस्य इतना बोले कि उनके भाषणों से एक अख़बार के १२१ कालम भर गये। पर एक ही बैठक में नहीं; पिछली दफ़े जितने दिनों तक पार्लियामेंट खुली रही उतने दिनों की सभी बैठकों में मिला कर। इसी तरह मिस्टर होगे और मिस्टर एसक्विथ की वक्तृताओं ने क्रम से २१९ और २०२ कालम भर डाले। यह तो भाषणों का हाल हुआ। अब प्रश्नों की बात सुनिए। मिस्टर गिनेल ने ८९६ और मिस्टर होगे ने ६०६ प्रश्न पूछे। पूछनेवाले तो पूछ बैठे; आफ़त आई होगी उत्तर देनेवालों की। अकेले मिस्टर टेनेन्ट को ही २,१११ प्रश्नों के उत्तर देने पड़े। मिस्टर फार्स्टर ने १,६८२ और मिस्टर सेम्युअल ने १,२०० प्रश्नों के उत्तर दिये।

भारत में तो—विशेष करके मदरास में, प्रजा के प्रतिनिधियों के दो चार प्रस्ताव और दस बीस प्रश्न ही देख कर गवर्नमेंट के पक्ष-समर्थक मेम्बर घबरा उठते हैं। वे कहते हैं, हमें अपने ही काम से फ़ुरसत नहीं; तुम्हारी व्यर्थ की बातें सुनने, बहस करने और उत्तर देने के लिए समय कहाँ से लावें!

९—बौने हाथी।

आफ़रीक़ा के अरण्य और वालुकामय प्रदेश अनेक आश्चर्यों की जन्मभूमि हैं। एक न एक नई चीज़ का पता वहाँ लगा ही करता है। वहाँ के जङ्गलों में बड़े बड़े हाथी रहते हैं। वे इतने बड़े होते हैं कि किसी किसी के दोनों दाँतों का वज़न लगभग ३ मन के होता है। उँचाई भी उनकी बहुत होती है। वहाँ हाथियों की एक जाति और भी पाई जाती है। उनकी उँचाई, पैरों से कन्धे तक, कोई ६ फुट होती है और दाँतों का वज़न ८ सेर से अधिक नहीं होता। अब वहाँ इनसे भी छोटे हाथियों का पता चला है। काङ्गो के जङ्गलों में, कुछ समय हुआ, रोलैंड इवान्स नाम के एक साहब ने हाथियों का एक जोड़ा गोली से मारा। इनमें से एक नर था, दूसरी मादा। इन हाथियों के मृत शरीर, मसाला भर कर अपने असली रूप में रक्षित रखने के लिए, लन्दन पहुँचाये गये हैं। रोलैंड वार्ड नाम की एक कम्पनी के कारख़ाने में उनकी उचित चिकित्सा हो रही है। ये हाथी अत्यन्त ही ठिँगने हैं। इनकी उँचाई ६ फुट से अधिक नहीं। मादा के दाँत केवल एक सेर और नर के ३½ सेर हैं। दाँत काले हैं। काङ्गो के निवासी इन हाथियों को जलहस्ती कहते हैं। ये नदियों की तराई में ही अधिक रहते हैं। तर जगहें इन्हें अधिक पसन्द हैं। जल-क्रीड़ा के ये बड़े प्रेमी होते हैं। इनको देख कर पशुशास्त्र के ज्ञाताओं ने राय दी है कि हाथियों की यह एक अलग ही जाति है। इनको देख कर प्रकृति की विचित्रता का अच्छा प्रमाण मिलता है और बड़ा कौतूहल होता है।

१०—घायल का स्वाँग।

हिन्दुस्तान में कितनी ही जगह होली और मुहर्रम आदि के अवसर पर तरह तरह के स्वाँग निकाले जाते हैं। कुछ बड़े ही विलक्षण और कौतूहल-वर्द्धक होते हैं। संयुक्त-प्रान्त में एक जगह बुलन्दशहर है। वहाँ के एक सज्जन – श्रीयुत वंशीधर जी—लिखते हैं—

ज़िला बुलन्दशहर में एक जगह सिकन्दराबाद है। वहाँ, सौ बरस से भी अधिक समय हुआ, होली के बाद घायल का स्वाँग निकाला जाता है। इस बार भी चैत बदी ३, शनिवार, को वह, बदस्तूर निकला। कोई छः बजे शाम को दो तख़्त आते हुए दिखलाई पड़े। उन पर चार आदमी बैठे थे। सिर पर टोपी और कमर में धोती के सिवा उनका सारा बदन नङ्गा था। शरीर पर राख या खड़िया पुती हुई थी। कमर तक नक़ली बाल बिखरे हुए थे। उनके माथे में, सिर के पीछे, और पेट के बीच, तलवारें घुसी हुई थीं। हज़ारों आदमी तमाशा देख रहे थे। होली के अवसर पर यहाँ जो चाहे बिना टके कौड़ी ख़र्च किये—बिना टिकट—यह दृश्य देख सकता है। ¾ इञ्च चौड़ी, १० इञ्च लम्बी और

१½ सूत मोटी लोहे की छुरियां, एक ही दो सेकंड में, ये लोग अपने शरीर के किसी भी हिस्से में घुसा लेते हैं। बस चुटकी से बदन की चमड़ी खींची और छुरा भोंक लिया। तारीफ़ की बात तो यह कि 'सी' तक नहीं करते। इससे भी बढ़ कर अचरज की बात यह है कि जब छुरियां बदन में से निकाल ली जाती हैं तब घाव का पता नहीं चलता। उस स्थान पर कुछ खुरचने का निशान अलबत्ते देखा जाता है। वे खाट पर बीमार या घायल की तरह पड़े भी नहीं रहते। मज़े में घूमा करते हैं। स्वांगियों और मालियों का एक एक अखाड़ा वहां है। उन्हीं की तरफ़ से यह स्वांग निकाला गया था। एक तरवा स्वांगियों के अखाड़े का और दूसरा मालियों के अखाड़े का था। ब्राह्मण और वैश्य आदि जातियों के लोग भी, कभी कभी, ऐसा स्वांग बनाते हैं।

बाबू वंशीधर जी को शायद मालूम नहीं, इस तरह के स्वांग इस देश में और भी सैकड़ों जगह होते हैं।

११—पण्डित भीमसेन शर्मा का देहावसान।

इटावे के पण्डित भीमसेन जी शर्म्मा का नश्वर शरीर छूट गया। यह शोकदायक घटना गत ८ एप्रिल, सोमवार, को प्रातःकाल हुई। पण्डितजी का विचार एक यज्ञ करने का था। इसी इरादे से आप ज़िला बुलन्दशहर के नरवर नामक गांव गये थे। यह गांव गङ्गा-तट पर है। वहीं आपने यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहा था। परन्तु दुःख की बात है कि उनकी यह अन्तिम कामना पूरी न हुई।

संस्कृत-भाषा और संस्कृत-शास्त्रों का अध्ययन करके पण्डित जी आर्य्य-समाज के अनुयायी हो गये थे। उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती विद्यमान थे। उनके सहवास से पण्डित जी ने स्वामी जी के संस्थापित समाज के सिद्धान्तों का खूब अनुसरण किया और स्वामी जी की अधीनता में रह कर समाज का बहुत कुछ काम भी किया। पुस्तकें लिखीं, अनुवाद किये, शास्त्रार्थ किये; लेख लिखे। जब तक आप आर्य्यसमाज के अनुयायी रहे तब तक आपने उसकी बहुत कुछ सेवा की। परन्तु पीछे से कारणवश आप को समाज से अलग हो जाना पड़ा। तब से आप सनातन-हिन्दू-धर्म्म के परिपोषक बन गये और प्रायः अन्त समय तक आर्य्य-समाज के अनेक सिद्धान्तों की प्रतिकूलता करते रहे। समाज छोड़ने पर आपने ब्राह्मण-सर्वस्व नाम का मासिक पत्र निकाला। उसका अधिकांश अपने पक्ष के समर्थन और आर्य्यसमाज के आक्षेपों के खण्डन ही में ख़र्च करते रहे। श्रुतियों, स्मृतियों, शास्त्रों और पुराणों के मार्मिक ज्ञाता होने के कारण आप के लेख युक्ति-पूर्ण होते थे। कहीं कहीं कटुता और कठोरता आ भी जाती थी तो अधिक न खटकती थी।

पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी के मरने पर कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने आपको वेद-व्याख्याता नियत किया। इस कारण आप की ख्याति और भी बढ़ गई। इस से यह भी सिद्ध हुआ कि सामश्रमी जी के बाद इनके सदृश वेदों का ज्ञाता भारत में शायद और कोई न था। इस पद पर कई साल काम करके अभी, हाल ही में, आपने अवकाश ग्रहण किया था।

पण्डित भीमसेनजी के हृदय में अपनी विद्वत्ता का कुछ भी गर्व न था। वे अपने से उम्र में छोटे और योग्यता में कम हम जैसे तुच्छ जनों से भी बड़े प्रेम से मिलते और बात-चीत करते थे। कोई दो वर्ष हुए, एक बार हमने आप से वैदिक साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले, योरप के विद्वानों के लिखे हुए कितने ही ग्रन्थों का नाम बताया और उनमें किन बातों का विचार किया गया है यह भी सूचित किया। इस पर आप बड़े प्रसन्न हुए। बताये हुए ग्रन्थों में से कुछ के नाम भी आपने लिख लिये और यह कहा कि मैं इन ग्रन्थों को प्राप्त करके इनमें वर्णित विषयों का ज्ञान सम्पादन करूँगा। हमारी प्रार्थना पर आपने यह भी स्वीकार किया कि विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने पर मैं एक ऐसा ग्रन्थ लिखने की चेष्टा करूँगा जिसमें पश्चिमी देशों के वैदिक विद्वानों की भ्रमपूर्ण बातों का निदर्शन हो और वेद क्या हैं, उनकी कितनी शाखायें हैं, उनमें किन किन विषयों का वर्णन है—इत्यादि बातों का भी उल्लेख रहे। खेद है कि आप यह काम करने के पहले ही लोकान्तरित हो गये।

हिन्दी-कोविद-रत्नमाला में आप का संक्षिप्त चरित प्रकाशित हो चुका है। वह सरस्वती की इसी संख्या में अन्यत्र ज्यों का त्यों उद्धृत है।

१२—प्राचीन भारतवासियों का भौगोलिक ज्ञान।

हमारे पूर्वज केवल दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, गणित

और वैद्यक इत्यादि शास्त्रों के ही ज्ञाता न थे। उन्हें भूगोल-ज्ञान भी अच्छा था। वे अपने देश, भारतवर्ष, की भौगोलिक स्थिति से यथेष्ट परिचित थे। प्राचीन हिन्दू जानते थे कि उनका देश कितना लम्बा-चौड़ा है और उसका आकार कैसा है। उनको यह भी ज्ञात था कि हमारे देश के कितने विभाग हैं और किस विभाग में किसका राज्य है। कितने द्वीप हैं, कितने पर्वत हैं, कौन कौन नदियाँ हैं, कितनी राजधानियाँ हैं, यह भी उन्हें मालूम था। किस प्रदेश को किसने बसाया, क्यों उसका वैसा नाम हुआ, इसका हाल भी उनसे छिपा न था। हमारे पुराणों और यूनान के साहित्य के अवलोकन से हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। केवल यूनान में प्राप्त सामग्री के आधार पर भी इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। पुराणों का तो पूछना ही क्या है—कोई भारत का आकार गोल बताता है, कोई चतुष्कोण और कोई समकोण-त्रिभुज। किसी का कथन है कि वह धनुषाकार है। ब्रह्माण्ड और विष्णु-पुराण के अनुसार हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर की भूमि भारतवर्ष है। वहाँ के निवासी "भारती" कहलाते थे। भारत के नौ विभाग थे—इन्द्रद्वीप, कसेरुक, ताम्रपर्ण, गभस्तिमत्, नाग, सौम्य, वरुण, गान्धर्व और कुमारद्वीप। मत्स्य, वायु और गरुड़पुराण भी इसी का समर्थन करते हैं। हाँ, विभागों के नाम और स्थान-वर्णन में विभिन्नता अवश्य है। विष्णुपुराण कहता है कि भारत में ७ प्रधान पर्वत हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र। मनुसंहिता में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और विनाशन इन विभागों की सीमा का वर्णन है। ऐसी कितनी ही बातें अध्यापक जोगीन्द्रनाथ समाद्दार ने "हिन्दुस्तान-रिव्यू" के एक लेख में लिखी हैं, जिनसे प्राचीनों के भूगोल-ज्ञान का अच्छा पता चलता है। राजा प्रियव्रत ने समस्त भूमण्डल के सात विभाग किये थे—जम्बू, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शक, शाल्मलि और कुश। इनको द्वीप कहते थे। कुछ विद्वान् इनमें से जम्बूद्वीप को ही भारतवर्ष मानते हैं। पर यह बात युक्तिसङ्गत नहीं। भरत-खण्ड जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अलबत्ते है।

इससे सूचित होता है कि आदिम भारतवासी अपने देश की भौगोलिक जानकारी बहुत कुछ रखते थे।

पुस्तकपरिचय।

१—उत्पत्ति, स्थिति और भविष्य—इस छोटे आकार की गुजराती-पुस्तक में ३७५ सफ़े हैं। अच्छी जिल्द चढ़ी है। मूल्य आठ आने है। श्रीयुत भिक्षु अखण्डानन्दजी ने इसकी रचना और प्रकाशन किया है। इसमें बम्बई और अहमदाबाद के सस्तु साहित्य-वर्धक कार्यालय के दस वर्षों के कार्य्य का विवरण है। साथ ही भावी कार्य्य-कलाप का भी निर्देश है। इस कार्य्यालय ने बड़ा काम किया है और कर रहा है। इसने अनेक विषयों की अनेक पुस्तकें छपा कर कौड़ी-मोल सुलभ कर दी हैं। ज्ञानवृद्धि और मनोरञ्जन करने में इसने गुजराती भाषा पढ़नेवालों को बहुत अधिक सहायता पहुँचाई है। इस पुस्तक के पाठ से यह मालूम हो सकता है कि सद्गुणी, श्रमसहिष्णु, परोपकार-रत और निस्पृह अग्रणी मिलने से सभायें और सोसायटियाँ कितना अधिक और कितना उपयोगी काम कर सकती हैं। प्रस्तुत कार्य्यालय की उत्पत्ति कैसे हुई, उसने आज तक कितना काम किया, ख़र्च कितना हुआ, किस किस ने किस प्रकार सहायता दी, कहाँ कहाँ से स्पर्द्धा और द्वेष की आवाज़ आई, आगे यह क्या क्या काम करना चाहता है और उसके लिए किस प्रकार की सहायता और सहानुभूति दरकार है—इन सब बातों का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में है। सब के पढ़ने लायक़ है। पुस्तक-प्रकाशकों के विशेष मनन-योग्य है। यह कार्य्यालय सर्व-साधारण की सहायता का पूरा पात्र है।



२—सन्तानशिक्षक—इस छोटे आकार की, साधारण छपी हुई, पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ६४ और मूल्य ८ आने है। डाक्टर गोकुलचन्द नारँग, एम०-ए०, की उर्दू-पुस्तक, बच्चों की तरबियत, का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक, पण्डित शङ्करदत्त शर्म्मा, "शर्म्मा—मैशीन-प्रिंटिंग प्रेस, मुरादाबाद" से मिलती है। इसमें छोटे छोटे १३ परिच्छेद हैं। उनमें सन्तान की उत्पत्ति, पालन, पोषण, शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। स्वदेशी और विदेशी विद्वानों और विचारशील पुरुषों के विचारों के सार के सिवा अपने निज के विचारों के अनुसार भी मूल लेखक ने सदुपदेश-

दान किया है। अपने विषय की यह छोटी सी पुस्तक बड़े महत्त्व की है।



३—जीवनचरित्र—आकार बड़ा, जिल्द बँधी हुई, पृष्ठसंख्या २६० + १७२ + १२१; टाइप छोटा, मूल्य अनिर्दिष्ट, प्रकाशक—श्रीयुत सेठ रणछोड़दास भवान, सभासद, श्रीमती परोपकारिणी सभा, बम्बई-प्रदेश। इसे किसने लिखा है, यह पुस्तक पर लिखा नहीं। भूमिका इसकी आत्मारामजी अमृतसरी की लिखी हुई है। शायद वही इस पुस्तक के रचयिता हैं। इसमें स्वामी नित्यानन्द सरस्वती का चरित, उनके व्याख्यान और उनके पत्र-व्यवहार आदि हैं। स्वामीजी के बाल्यकाल का हाल नाममात्र ही के लिए है। पर जब से स्वामीजी ने आर्य्यसमाज को सनाथ किया तबसे उन्होंने जो कुछ किया और कहा उसका विस्तृत वर्णन किया गया है। पुस्तक मनोरञ्जक है। स्वामीजी के धर्म्म-सिद्धान्तों के विपक्षियों के भी देखने योग्य है। पुस्तक में कई चित्र भी हैं।



४—सुबह वतन—यह पुस्तक उर्दू बोली और फ़ारसी लिपि में है। पृष्ठ-संख्या १४६ है। मूल्य एक रुपया है। दफ़्र, हिन्दुस्तानी-अख़बार, लखनऊ, से मिलती है। इसमें उर्दू के प्रसिद्ध कवि—"पण्डित व्रजनरायन साहब चकबस्त लखनवी"—की फुटकर कविताओं का संग्रह है। चकबस्त महाशय सामयिक कवि हैं और बड़े अच्छे कवि हैं। आप की कवितायें प्रायः देश और समय के अनुकूल ही होती हैं। इस संग्रह में ऐसी अनेक भावमयी और हृदयहारिणी कवितायें हैं। कुछ टुकड़े बच्चों के लिए भी हैं; वे भी अच्छे हैं। क्या ही अच्छा होता यदि ये कविजी अपनी हिन्दी-भाषा में भी कुछ लिखने का अभ्यास करते।



५—ताजिकसारसंग्रह—छपाई सुन्दर, मनोहर जिल्द बँधी हुई, आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या १७५, मूल्य १ रुपया, संग्रहकार—जोशी वृन्दावन माणेकलाल, कालूपुर, नवा दरवाज़ा, अहमदाबाद—से प्राप्य। संस्कृत में ताजिकशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थ हैं। उन्हीं से आवश्यक विषयों का संग्रह कर के इसमें एकत्र किया गया है। ऊपर मूल श्लोक देवनागरी-लिपि में हैं; नीचे उनका अनुवाद गुजराती-लिपि और गुजराती-भाषा में है। अनेक चक्र और सारिणियाँ देकर विषयों का विवेचन किया गया है। गणिताध्याय, भावाध्याय और फलाध्याय—इन तीन अध्यायों में पुस्तक विभक्त है। ज्योतिषियों के बड़े काम की है। हिन्दी में भी एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है।



६—श्रीजानकीदेवी-महिला-पाठशाला—इस नाम की एक पाठशाला मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में है। यह १९११ ईसवी में खुली थी। इसके वार्षिक विवरण की एक कापी हमें मिली है। उससे सूचित होता है कि यह पाठशाला बराबर उन्नति करती चली आ रही है। लड़कियों की संख्या कुछ कम एक सौ है। ख़र्च लगभग १½ हज़ार रुपया साल है। अध्यापिकायें छः हैं, जो बहुत काफ़ी हैं। उनमें से कई नार्मल-पास हैं। पाँचवें दरजे तक अभी पढ़ाई होती है। शिक्षा मराठी और हिन्दी के द्वारा दी जाती है। ख़र्च इसका चन्दे से चलता है। श्रीयुत वामन बलीराम लाखे, वकील, ने धन से और पण्डित माधवराव सप्रे ने अन्य प्रकार से इसकी बड़ी सहायता की है। इसकी इमारत बनाने और इसे सुचारु रूप से चलाने के लिए एक स्थायी कोश की बड़ी आवश्यकता है। एतदर्थ २० हज़ार रुपया दरकार है। विद्यादान से बढ़ कर अन्य दान नहीं। स्त्रियों को विद्यादान करना तो और भी पुण्यदायक है। अतएव समर्थों को इसकी अवश्य सहायता करनी चाहिए।



७—प्रस्ताव-प्रभाकरः, प्रथमो भागः—इस साधारण छपी हुई कोई ६४ पृष्ठों की पुस्तक के रचयिता हैं—लाहोर के प्राच्य-महाविद्यालय के अध्यापक, पण्डित रामचन्द्र शास्त्री। मोतीलाल बनारसीदास, पञ्जाब-संस्कृत-पुस्तकालय, लाहोर, से मिलती है। मूल्य लिखा नहीं। इसमें प्रस्ताव-रचना अर्थात् लेख लिखने के नियम आदि हैं। पुस्तक संस्कृत में है और संस्कृत-शिक्षार्थियों ही के लाभ के लिए बनाई गई है। प्रस्तावों के प्रकार, चारुता-साधन, अभ्यास-साफल्य, विषयचिन्तन, भाषा, रचना-समता, पद-वाक्य-शुद्धि आदि विषयों का विवेचन करके लेखक ने, बहुत से लेख नमूने के तौर पर दिये हैं। अपने विषय की यह बहुत अच्छी पुस्तक

। पर बुरी छपाई और छापे की अनेक भूलों ने इसका महत्त्व थोड़ा सा कम कर दिया है। चार पाँच सफ़े का अशुद्धि-संशोधनपत्र लगाना पड़ा है।

❋

नीचे जिन पुस्तकों के नाम दिये गये हैं वे भी मिल गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—Vijaya Dharma Suri—By Dr. L. P. Tessitori, Bikaner.

२—भारत-तम्बोली-सभा के प्रथम अधिवेशन का वार्षिक विवरण } प्रकाशक, बाबू नाथूराम हीरालाल मोदी, वकील, जबलपुर

३—सुख तथा सफलता
४—भगिनी-भूषण
५—ख़ांजहाँ
} प्रकाशक, गङ्गा-पुस्तकमाला-कार्य्यालय, लखनऊ

६—छात्र-शिक्षा—लेखक, पं० शिवदुलारे त्रिपाठी, मौरावाँ

चित्र-परिचय।

(१)

अनङ्गवती।

इस संख्या का रङ्गीन चित्र टिहरी-गढ़वाल के परलोकवासी महाराजा प्रतापशाह बहादुर के दरबारी चित्रकार "सौदागर" का बनाया हुआ है और वहीं के श्रीयुत कुँवर विचित्रशाह की कृपा से हमें यह प्राप्त हुआ है। कविवर विहारीलाल का एक दोहा है—

मुँह धोवति एँड़ी घसति हँसति अनँगवति तीर।
धँसति न इन्दीवर-नयनि कालिन्दी के नीर॥

इसी दोहे में व्यक्त किये गये भाव को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए ही इस चित्र का चित्रण हुआ है। चित्रगत इन्दीवर-नयनी स्नानार्थ आई है। पर यमुना के तट पर बैठी हुई एँड़ी घिस रही है, जलप्रवेश नहीं करती। इससे जिस ध्वनि की सूचना होती है उसे चित्रकार ने कुछ दूर पर श्रीकृष्ण का चित्र अङ्कित करके स्फुट कर दिया है। गायों, मोरों, मृगों, कदम्बकुञ्जों आदि के चित्रण से चित्रकार ने कालिन्दी-कूल का भी मनोहर दृश्य दिखा दिया है। अनङ्गवती और कृष्ण की मुख-चर्य्या और भावभङ्गी का तो कहना ही क्या है।

(२)

तीर्थयात्री।

एक वृद्ध ब्राह्मण अपने पुत्र को साथ लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकला। एक दिन वह एक ऐसे तीर्थ-स्थान में पहुँचा जहाँ उसे किसी ऐसी जगह का पता न मालूम था जहाँ वह ठहर सके। ऐसे ही समय एक आदमी उसे आता दिखाई दिया, जो रँग-ढँग से वहीं का रहनेवाला मालूम होता था। टिकने का स्थान पूछने पर उसने ब्राह्मण-देवता से कहा—जी हाँ, वह धर्म्मशाला देखिए; वहाँ आप आराम से ठहर सकेंगे।

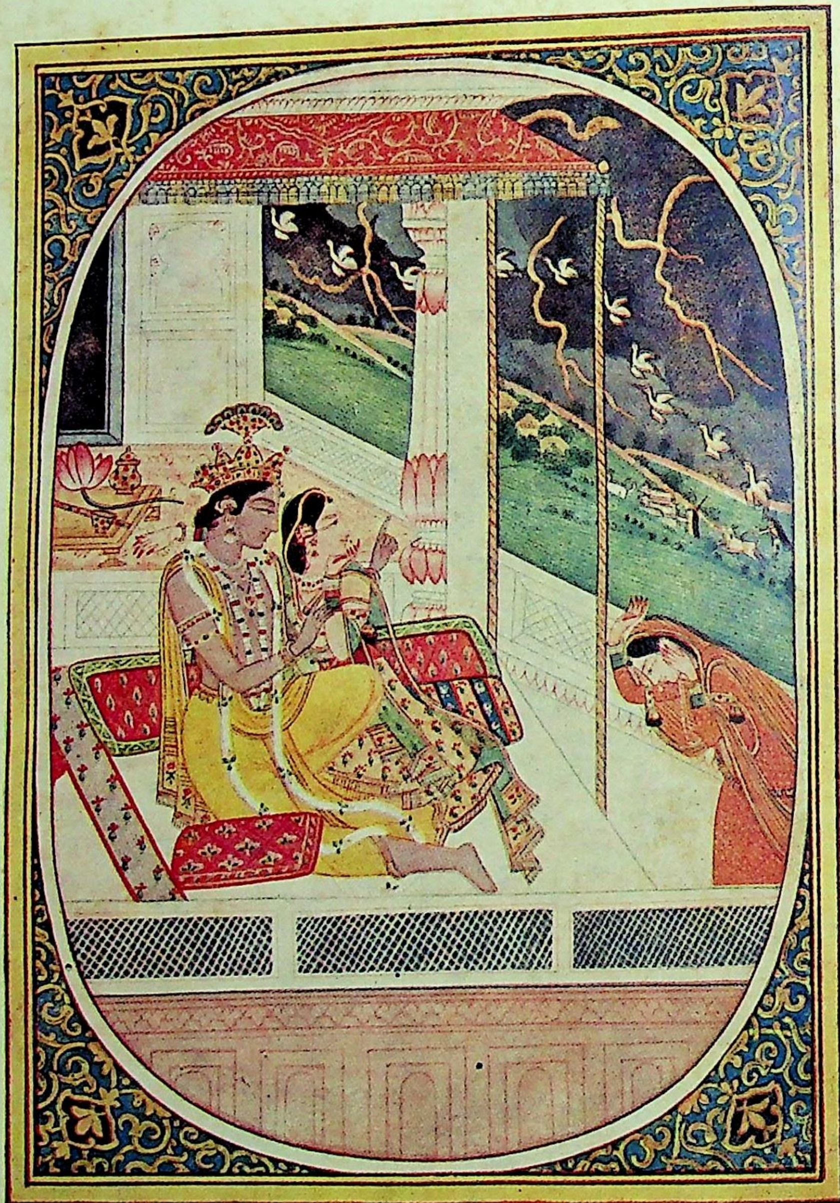
बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा ने इस चित्र में यही दृश्य दिखाया है। चित्र में अङ्कित स्थान का तीर्थ होना स्पष्टतापूर्वक मालूम होता है। दूर पर एक मन्दिर है। उसी तरफ़ से एक बाबाजी आरहे हैं। एक तरफ़ एक ग्वालिन सिर पर दूध का बर्तन रक्खे जा रही है। उधर एक बहँगीवाला भी मन्दिर के पास जा रहा है। आकाश में दो एक पक्षी उड़ रहे हैं। वृद्ध ब्राह्मणजी दाहने हाथ में लकड़ी और बायें में सुँघनी की डिबिया लिये, धर्म्मशाले की ओर, पूछते पाछते चले जारहे हैं। पुत्र भी पीठ पर गठरी डाले पिता का अनुगमन कर रहा है। इस चित्र में ब्राह्मण के द्वारा आगन्तुक से हँस कर प्रश्न करने का भाव बड़ी योग्यता से दिखाया गया है। पिता और पुत्र के चेहरों में समता भी ख़ूब दिखाई गई है। वार्धक्य और यौवन का भाव भी अच्छी तरह झलकाया गया है। यही इस चित्र की ख़ूबियाँ हैं।

(३)

तूफ़ान।

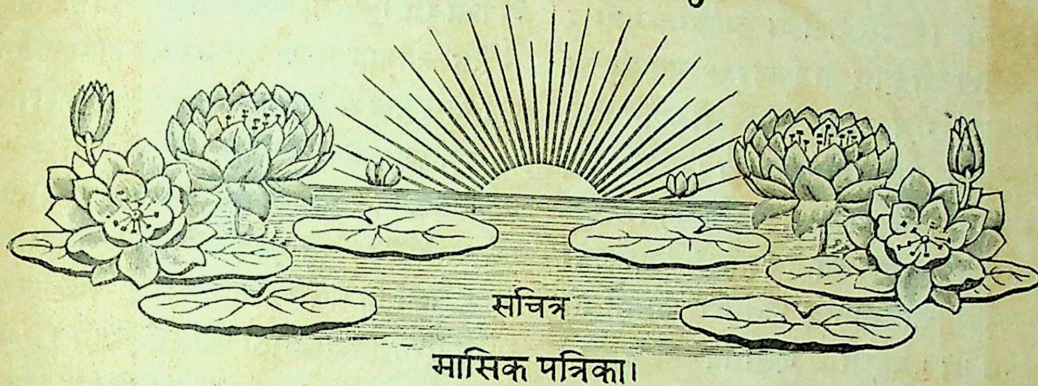
इस संख्या का तूफ़ान नामक चित्र भी कलकत्ते के चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा का अङ्कित है। इसमें तूफ़ान केवल आँधी ही के रूप में नहीं, किन्तु आँधी-पानी दोनों के रूप में दिखाया गया है। आँधी और पानी दोनों ही अपना प्रबल पराक्रम दिखा रहे हैं। आकाश अन्धकाराच्छन्न है। दिशायें भयावनी मालूम हो रही हैं। वर्षा ज़ोरों की हो रही है। पृथ्वी पर जगह जगह एकत्र हुआ जल चमक रहा है।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.



संयोगी ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।



भाग १९, खण्ड १] जून १९१८—ज्येष्ठाषाढ १९७५ [संख्या ६, पूर्ण संख्या २२२

आह्वान ।

दयामय ! क्यों हो गये कठोर ?
हाय तनिक भी पड़ी न मुझ पर दया-दृष्टि की कोर ॥
दैन्य और दुख का झञ्झानिल मुझे रहा झकझोर ।
तो भी आप बने हैं निश्चल, चले न मेरी ओर ॥
साधु-वेश में मुझे कपट से लूट रहे हैं चोर ।
पर मेरे क्रन्दन का प्रभु ने सुना न अब तक शोर ॥
उत्तापित हो कष्ट पा रहा नित मेरा मन-मोर ।
किन्तु आप का वत्सल वारिद घिरा न नन्द-किशोर ॥
डुबा रहा है मुझे दयालो ! दुःख-महोदधि घोर ।
दौड़ो, शीघ्र उबारो अब भी, फेंक प्रेम की डोर ॥

शिवकुमार त्रिपाठी

—

डाक्टर जानसन ।



डाक्टर जानसन इँगलेंड के एक बहुत बड़े साहित्य-सेवी होगये हैं। आप का पूरा नाम सैम्युअल जानसन था। उनका जन्म १७०९ ईसवी में लिचफ़ील्ड नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता मिचल जानसन पुस्तक बेचने का व्यवसाय करते थे। पादरी-मण्डल में उनका अच्छा सम्मान था। उनका मन और शरीर तो अच्छा बलिष्ठ था, पर वे वहम (Hypochondria) से सदैव पीड़ित रहते थे। पुत्र ने भी ये सब बातें पिता से विरासत में पाईं। रोग और वहम माता की गोद में ही उसे मिले और आजन्म उसके साथ रहे। इँगलेंड में एक अन्ध-विश्वास प्रचलित था। वहाँ लोग समझते थे कि किंग्ज़ ईविल (King's Evil)

नामक रोग के रोगी को यदि राजा स्पर्श करे तो उसका रोग शान्त हो जाता है। सैम्युअल की माता भी उसे रानी एन के पास ले गई। पर रानी के स्पर्श से रोगी को कुछ भी फ़ायदा न हुआ।

जन्म से तो जानसन की मुख-मुद्रा प्रभावशालिनी और सुन्दर थी, पर इस व्याधि ने उसे कुरूप और बेडौल बना दिया। इससे उसकी आँखों को हानि पहुँची। एक आँख की दृष्टि तो बिलकुल नष्ट ही हो गई। जानसन आध गज़ की दूरी से भी अपने मित्र के भी चेहरे को न पहचान सकते थे। चित्र उन्हें व्यर्थ धब्बे से जान पड़ते थे। वे यह न जान सकते थे कि यह चित्र किस चीज़ का है। दृष्टि की दुर्बलता के अलावा सङ्गीत का आनन्द लेने की क्षमता भी उनमें बहुत कम थी। बहुधा वे ऐसी विचित्र चेष्टायें किया करते कि देखकर हँसी आती थी। इसका कारण उनकी व्याधि ही थी। कमरे में प्रवेश करने के पहले वे एकदम ठहर जाते और मुड़कर हास्य-जनक सङ्केत करते। कभी कभी वे गली या कमरे के मध्य खड़े हो जाते, ताकि उसे वे ठीक तौर पर पार कर सकें। कभी कभी वे बाज़ार में मकानों को हाथ लगाते चलते। कभी कभी फ़र्श के प्रत्येक पत्थर के बीच पाँव रख कर चलते। यदि ऐसा करने में कभी भूल हो जाती तो पूर्व-क्रिया को फिर दुहराते।

ऐसी विचित्र बातों के होते हुए भी उनमें, उनके ऊँचे क़द और भारी शरीर के अनुरूप, शारीरिक बल था। वे खेलों में भी निपुण थे। एक दफ़े उन्होंने थियटर में एक कुरसी किराये पर ली। उनकी अनुपस्थिति में कोई अन्य व्यक्ति उसपर आ बैठा। इस पर जानसन साहब ने उसे कुरसी सहित उठाकर [illegible] फेंक दिया। पचपन वर्ष की आयु में एक दफ़े वे अपने मित्र के साथ एक पर्वत पर गये। वहाँ जाकर आप कहने लगे कि चिरकाल से मैं कभी लुढ़का नहीं। इतना कहते ही आपने अपनी जेबें ख़ाली कर डालीं और पहाड़ी के एक कगार पर लेट गये। फिर वहाँ से लुढ़क कर वे नीचे धड़ाम से गिरे! ऐसे विचित्र शरीर-रूपी पिँजड़े के भीतर एक अतीव प्रखर बुद्धि बन्द थी। जानसन की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज़ थी। दृष्टि-दौर्बल्य उन्हें साधारण बालकों के खेलों में सम्मिलित होने से रोकता था। उन्हें पुराने क़िस्से-कहानियाँ पढ़ने में विशेष आनन्द प्राप्त होता था। पहले उन्होंने एक स्त्री के स्कूल में पढ़ना लिखना सीखा। फिर वहाँ से लिचफ़ील्ड के एक छोटे से स्कूल में, और वहाँ से स्टौरब्रिज के स्कूल में वे भरती हुए। वे बेत की मार की ख़ूबियों के बड़े क़ायल थे। उनका सिद्धान्त था कि लड़कों के बेत लगने पर उन्हें उनके अपराधों का यथेष्ट दण्ड मिल जाता है और मामला वहीं ख़तम हो जाता है। पर एक दूसरे से बढ़ जाने के लिए लड़कों को प्रोत्साहित करने से भारी उपद्रव की नींव पड़ जाती है। इससे भाई भाई और बहन बहन एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं।

जानसन ने सोलह वर्ष की आयु में स्कूल छोड़ दिया। दो वर्ष अपने पिता का व्यवसाय सीखने के लिए उन्होंने घर में लगाये। यही उनके अध्ययन का मुख्य समय प्रतीत होता है। बहुत वर्ष बाद, त्रेपन वर्ष की आयु में, उन्होंने एक दफ़े कहा था कि जो कुछ इस समय मुझे आता है वह मैं अठारह वर्ष की आयु में ही जानता था। वे पुस्तकों को नियम-पूर्वक न पढ़ते थे; उन्हें चीर कर उनका हृदय वे निकाल लेते थे।

थोड़ी ही उम्र में वे निर्धनता के भार का अनुभव करने लगे, क्योंकि उनके पिता का कारोबार बिगड़ गया। वे १७२८ में पेम्ब्रोक कालेज, आक्सफ़र्ड, में भरती हुए। लिचफ़ील्ड के एक पादरी, जो उनके पिता के मित्र थे और जो उनकी योग्यता को भी जानते थे, उन्हें सहायता देते थे। रहने को तो वे तीन वर्ष तक आक्सफ़र्ड में रहे, पर बिना डिग्री लिये ही वहाँ

से चले आये। इस समय उनके पिता का दिवाला निकल जाने से उन पर भारी सङ्कट पड़ रहा था।

विश्वविद्यालय छोड़ देने पर, १७३१ ईसवी में, सारा संसार उन्हें अन्धकार-पूर्ण दिखाई दिया। उसी वर्ष के अन्त में उनके पिता का देहान्त होगया। इस समय उनकी सारी सम्पत्ति बीस पौण्ड थी। प्रति-दिन के भोजन के लिए वे कहाँ जाते? जानसन ने स्कूल में नौकरी करनी चाही। पर सफलता न हुई। एक हेड मास्टर ने उन्हें नौकरी न देने का कारण यह बताया कि उनकी शकल और चेष्टाओं को देख कर बालक हँसी न रोक सकेंगे।

१७३३ ईसवी में जानसन बिर्मिङ्घम नगर में रहने लगे। वहाँ उन्हें लिखने पढ़ने का कुछ काम मिल गया। उन्होंने एक स्थानीय पत्र को लेख लिखे और एबीसीनिया देश की यात्रा पर एक पुस्तक का अनुवाद किया। अपनी इस पहली पुस्तक के लिए उन्हें पाँच पौण्ड मिले।

जानसन के पास न पैसा था और न आगे के लिए कोई आशा। तिसपर भी उन्होंने विवाह कर लिया। वधू एक विधवा थी। उसकी आयु उस समय (१७३५ में) छियालीस वर्ष की थी। दूल्हा महाशय अभी पूरे छब्बीस के भी न थे। जब तक उनकी स्त्री जीती रही, पति-पत्नी का आपस में गाढ़ा प्रेम रहा। जानसन के भद्दे वस्त्रों को देख कर वह अप्रसन्न न होती थी। उसने एक दफ़े अपनी पहली पुत्री से कहा था कि ऐसा समझदार मनुष्य मैंने पहले कभी नहीं देखा।

श्रीमती जानसन के पास ८०० पौण्ड की जायदाद थी। जानसन ने उस पूँजी से लैटिन और ग्रीक भाषायें सिखलाने के लिए एक स्कूल खोला। पर सफलता न हुई। वे अध्यापक बनने के योग्य न थे। छात्रों का शासन करने की शक्ति उनमें थी ही नहीं। जानसन के समय में इँगलेंड में साहित्य की बड़ी दुर्दशा थी। जिन लोगों ने उस समय केवल क़लम की कमाई से अपना पेट पाला उनके बुरे हाल हुए। स्पेन्सर, बटलर, ओटवे आदि के नाम ले लेना इस विषय में पर्य्याप्त होगा। जानसन कहा करते थे कि सिवा मूर्ख के और कोई भी मनुष्य बिना पैसे लिये नहीं लिखता। लन्दन में ग्रब-स्ट्रीट नाम की एक तङ्ग और मैली गली थी। उसी में दरिद्र साहित्य-सेवी लोग रहा करते थे। दरिद्रता के कारण इन्हें बहुत कष्ट सहन करने पड़ते थे। ग्रन्थकार पुस्तक-विक्रेता के दास हो रहे थे। वे ऋण से सदा दबे रहते थे। पर धीरे धीरे साहित्य-कार्य्य का मूल्य बढ़ने लगा था। धर्म्म और नाटक-सम्बन्धी साहित्य की क़दर होने लगी थी। बक्सटर नामक एक लेखक उस समय से एक शताब्दी पहले ६० से ८० पौण्ड तक वार्षिक कमाता था। उसकी मृत्यु पर उसकी एक पुस्तक का कापी-राइट २५०० पौण्ड को बिका था। यङ्ग नाम के एक लेखक ने अपने एक ग्रन्थ (Universal Passion) से ३००० पौण्ड कमाये थे। राबर्टसन ने अपनी पुस्तक, "स्काटलेंड के इतिहास" (History of Scotland) से ६००० पौण्ड पैदा किये थे।

जानसन के एक मित्र ने डब्लिन-विश्व-विद्यालय से जानसन को डिग्री देने की सिफ़ारश की, ताकि उसे ६० पौण्ड वार्षिक का अध्यापन-कार्य्य मिल सके; पर डिग्री न मिली। इन दिनों जानसन पुस्तक-विक्रेताओं के लिए अनुवाद करके ही अपनी गुज़र किया करते थे। यह काम बड़ा नीरस था। सदा दूसरों के दान पर जीवन बिताना या ऋणदाताओं की चाँदी की ज़ंजीरों से जकड़ा रहना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। जानसन साहब अपनी एक कविता में कहते हैं कि दरिद्रता से दबी हुई योग्यता होले होले उठती है।

जानसन की **लन्दन** नामक कविता ने कुछ प्रसिद्धि लाभ की। उसके लिए उन्हें १० गिनी पुरस्कार मिला। इसके दस वर्ष बाद (१७४९) में उन्हों

ने (Vanity of Human Wishes नामक) एक कविता लिखी। इसके लिए उन्हें १५ गिनी मिलीं। उन दिनों नाटक लिख कर कई लेखकों ने अच्छा धन कमाया था। अतएव जानसन ने भी एक नाटक लिखा। पर उन्हें कामयाबी न हुई।

१७४९ ईसवी में जानसन ने एक क्लब खोला। उसमें उनके बहुत से मित्र एकत्र होकर साहित्य-चर्चा आदि किया करते थे। लेखकों की पुस्तकों का गुणदोष-विवेचन भी उसमें हुआ करता था। वहाँ की बातचीत जानसन के रेम्बलर (Rambler) नामक अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र के लेखों के लिए सामग्री देती थी।

१७ मार्च १७५२ को जानसन की धर्म्मपत्नी का देहान्त होगया। जानसन को इससे भारी दुःख हुआ। इन दिनों उनकी आर्थिक दशा बहुत ख़राब थी। उधर वे अँगरेज़ी भाषा का एक शब्द-कोष तैयार कर रहे थे। इस समय किसी भी धनी ने उन्हें सहायता न दी। पर जब कोश छप गया तब लार्ड चेस्टरफ़ील्ड ने उनका संरक्षक बनने की इच्छा प्रकट की, परन्तु जानसन ने फटकार बता कर उन से सहायता लेना अस्वीकार कर दिया।

१७५३ ईसवी में रिचर्डसन नामक उनके एक मित्र ने उनकी ज़मानत देकर, और ६ गिनी ऋण भी देकर, उन्हें गिरफ़ार होने से बचाया। १७५९ में नव्वे वर्ष की आयु में उनकी माता का देहान्त होगया। उस समय जानसन घर न जासके। पर उसके अन्त्येष्टि-संस्कार के ख़र्च का ऋण चुकाने के लिए उन्होंने रैसलस (Rasselas) नामक एक कहानी लिखी। उसके लिए उन्हें १०० पौण्ड पुरस्कार मिला, और उसके दूसरे संस्करण के लिए २५ पौण्ड। इस कहानी में जानसन की विचित्र प्रकृति की पूरी पूरी झलक देख पड़ती है।

तृतीय जार्ज के सिंहासनारूढ़ होने पर साहित्य-सेवियों को कुछ सहायता मिलने लगी। जानसन को भी ३०० पौण्ड वार्षिक पेनशन मिली। इसके पूर्व वे अपने शब्दकोष (Dictionary) में लिख चुके थे कि पेनशन का मतलब वह वेतन है जो राज्य के भाड़े के टट्टुओं को देश-द्रोह के लिए मिलता है। पर अब आपने कहा कि मैं इस श्रेणी में नहीं आता।

जानसन के मोटे वस्त्र और उनका विलक्षण स्वभाव उन्हें शौक़ीनों के समाज में सर्वप्रिय होने से रोकता था। विशेषतः स्त्रियाँ उनसे अप्रसन्न रहती थीं। जानसन के प्रति अपने पति की भक्ति और श्रद्धा को देख कर एक दफ़े उनके एक मित्र की पत्नी ने अपने पति से कहा—मनुष्य को तो रीछ नचाते कई बार देखा है, पर रीछ को मनुष्य नचाते आज तक कभी न देखा था।

अपनी पिछली उम्र में जानसन ने लिखना बिलकुल छोड़ दिया था। वे प्रायः गप्पाष्टक ही में रत रहते थे। बात करते समय वे सबसे बढ़े रहना चाहते थे। उनके कटाक्ष कभी कभी असह्य होजाते थे। पर उनकी नीयत सदा अच्छी रहती थी। इस कारण उनके मित्र उनसे बुरा न मानते थे।

अब जानसन ने मदिरा का परित्याग कर दिया था। इससे उनकी तन्दुरुस्ती सुधर गई थी। साथ ही उन पर उदासी के दौरे की तेज़ी भी कम हो गई थी। उन्होंने, १७७७ में, पुस्तक-विक्रेताओं के कहने पर, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कविचरितमाला (Lives of the Poets) लिखी। इसके लिए उन्हें २०० गिनी पुरस्कार मिला।

साहित्य-सेवियों में अब जानसन का बड़ा मान था। वे लोग उनसे सब प्रकार की सलाह लिया करते थे। क्लब में लोग दूर दूर से बूढ़े जानसन से मिलने आते थे।

एक दफ़े उनके जीवन-चरित के लेखक, बासवेल,

ने उनसे कहा कि मैंने क्वेकर नामक सम्प्रदाय की एक स्त्री को उपदेश देते सुना है। इस पर आप बोले—स्त्री का उपदेश देना ऐसा ही है जैसा कि कुत्ते का अपनी पिछली टाँगों के बल चलना। विवाह के विषय में उनकी राय थी कि स्त्री के पढ़ लिख जाने से वह बुरी पत्नी नहीं हो जाती। पर उनके मित्र बासवेल कहते थे कि पत्नी को कुछ ही ज्ञान होना चाहिए। वह स्वभाव से ही बुद्धिमती हो, पर विद्या से बहुत विदुषी न हो।

जानसन स्काटलेंड और वहाँ के अधिवासियों के बहुत विरुद्ध थे। वे उन्हें तुच्छ समझा करते थे। यह पक्षपात उनमें स्वाभाविक था। आप कहा करते थे कि स्काच लोगों का पाण्डित्य सेना से घिरे हुए नगर में रोटी के सदृश है, जहाँ ग्रास ग्रास अन्न तो सब को मिल जाता है, पर पेट किसी का भी नहीं भरता। जानसन का कोई कटु कटाक्ष सुन कर स्ट्राहन नामक एक मनुष्य ने कहा—स्काटलेंड को भी परमात्मा ही ने बनाया है। इस पर आप ने उत्तर दिया—पर हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि उसने उसे स्काच लोगों ही के लिए बनाया है। मुक़ाबला करना अच्छा नहीं, नरक भी तो परमात्मा ही ने बनाया है!

आक्सफ़ोर्ड-विश्वविद्यालय ने, १७७५ में, जानसन को एल० एल० डी० की डिग्री से सम्मानित किया। १७६५ में यही डिग्री डब्लिन-विश्वविद्यालय उन्हें प्रदान कर चुका था। पर जानसन ने अपने नाम के साथ कभी 'डाक्टर' नहीं लिखा। वे सदा अपने लिए केवल मिस्टर ही लिखते रहे।

जानसन बड़े दयालु-हृदय थे। वे अपनी ३०० पौण्ड की पेनशन में से २०० पौण्ड दान में दे दिया करते थे। उनके घर पर दीनदुखियों का सदा मेला लगा रहता था। पर बनावटी दुःख पर उनका हृदय कभी न पसीजता था। एक दफ़े एक स्त्री के अपने उद्देश में विफल-मनोरथ होने का समाचार सुना कर उनके एक मित्र ने उनके सामने उस स्त्री के साथ सहानुभूति प्रकट की। इस पर आप बोले—उस स्त्री को अपनी विफलता पर उतना ही कष्ट हुआ होगा जितना कि उस के अस्तबल के घोड़े को उसकी गाय के गर्भपात पर होगा।

१७८३ में डाक्टर जानसन पर फालिज गिरा और मृत्यु की घण्टी बजने लगी। जानसन मृत्यु से बहुत डरते थे। लूसी पीटर नामक एक स्त्री को उन्होंने लिखा—मृत्यु बड़ी भयानक है। मरते समय उन्होंने अपने मित्र रेनाल्ड से तीन प्रार्थनायें कीं—एक तो मेरे तीस पौण्ड के ऋण को भूल जाना; दूसरे बाइबल का पाठ किया करना; तीसरे आदित्यवार को चित्र न खींचना। १३ दिसम्बर १७८४ ई० को लन्दन नगर में वे शान्तिपूर्वक अपनी मानव-लीला समाप्त कर गये। उनका शव वेस्ट-मिनिस्टर एबी नामक गिरजे में गाड़ा गया। यह उनके लिए एक बहुत बड़ा सम्मान समझा जाता है।

डाक्टर जानसन कवि, निबन्ध-लेखक, यात्री, गुण-दोष-विवेचक और जीवन-चरित-लेखक थे। उनकी लेखन-शैली निराली थी। वे सदा बड़े बड़े और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते थे। इस पर भी उनकी भाषा स्वच्छ और चुभनेवाली होती थी।

सन्तराम, बी० ए०

काले बादल।

क्या कहा—काले?—हाँ हम श्वेत नहीं;
किन्तु क्या निर्मल-नीर-निकेत नहीं?
बरसते हैं क्या साम्य समेत नहीं?
हरे रखते हैं क्या सब खेत नहीं?
हमें तुम भूल न जाओ, पहचानो,
आँख रखते हो तो अञ्जन जानो॥ १॥
सफल करते हैं पद-विन्यास हमीं,
बुझाते हैं पृथ्वी की प्यास हमीं।

दूर रह कर भी रहते पास हमीं;
उगाते हैं हे पशुश्रो, घास हमीं ।
श्वेत बक-वृन्द हमीं में उड़ता है;
जगत का जलता जी भी जुड़ता है ॥ २ ॥

सरस हैं पर हम शक्ति-विहीन नहीं;
आर्द्र हो कर भी क्या घन पीन नहीं ?
देखलो, दाता हैं हम, दीन नहीं;
समय के साथी, किन्तु अधीन नहीं ।
भरी है हम में—नस नस में—बिजली;
किन्तु हम रखते हैं बस में बिजली ॥ ३ ॥

फुहारें फूलों सी बरसा दें हम;
और सूखों को भी सरसा दें हम;
खिँचें यदि तो दुकाल दरसा दें हम;
बूँद के लिए तुम्हें तरसा दें हम ।
बने जल भी थल जो हम तन जावें,
बना दें तो थल भी जल बन जावें ॥ ४ ॥

विपुल ब्रह्माण्ड हमीं तो सेते हैं;
विश्व का विस्तृत बेड़ा खेते हैं;
हृदय में रवि-शशि को रख लेते हैं,
जुगुनुत्रों तक को अवसर देते हैं ।
वायु-वाहन पर व्योम-विहारी हैं,
धनुष-मिष सब रङ्गों के धारी हैं ॥ ५ ॥

न होती घटा हमारी जो काली
कहाँ से आती तो यह हरियाली ?
न सजती सौ सौ अन्नों से थाली;
न रहता कोई रङ्ग-राग-शाली ।
करें यदि हम करुणा की दृष्टि नहीं ।
जान रक्खो तो तुम क्या, सृष्टि नहीं ॥ ६ ॥

तुम्हें जब मृगतृष्णा-तल छलते थे;
जलाशय मानों आप उबलते थे;
शिलायें फटती थीं, वन जलते थे;
हमीं तब रक्षा करने चलते थे ।
किसी का नीर नहीं जो पीते हैं
हमीं से वे चातक भी जीते हैं ॥ ७ ॥

हमीं तो घर की याद दिलाते हैं;
और बिछुड़ों को हमीं मिलाते हैं ।
महा मुरझे भी सुमन खिलाते हैं;
स्व-जीवन दे कर तुम्हें जिलाते हैं ।
बरसते हैं अपने को आप हमीं,
शान्त करते हैं भव-सन्ताप हमीं ॥ ८ ॥

चलें तो अन्ध आँधियाँ चलाकरें;
हमारी बूँदें सब का भला करें ।
जलें तो आक-जवासे जला करें
सुफल पुण्य क्षेत्रों में फला करें ।
व्यर्थ के झगड़ों की मत सृष्टि करो
इधर देखो, कुछ ऊँची दृष्टि करो ॥ ९ ॥

मैथिलीशरण गुप्त

अवध के ज़मींदार और काश्तकार ।



भारत में कृषक-वृत्ति प्रधान है । अधिकतर लोग भूमि से उपजे हुए पदार्थों ही द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं । जो बात देश के लिए सत्य है, वह इस प्रान्त के लिए भी सत्य है । अवध में भी जन-समूह बहुतायत से पृथ्वीमाता ही पर अवलम्बन करते हैं । विचार करने से जान पड़ता है कि राजराजेश्वर से लेकर नीच से नीच मनुष्य भी समझता है कि हमारा कम या ज़ियादह अधिकार दुनिया के किसी न किसी हिस्से पर अवश्य है । कितने ही ताल्लुकेदार और ज़मींदार अवध के बारह ज़िलों के बड़े या छोटे टुकड़ों को अपनी जायदाद माने बैठे हैं । फिर ठेकेदार, मातहतदार, मौरूसी काश्तकार, महज़ काश्तकार, शिकमी आदि की पलटन में से प्रत्येक व्यक्ति ज़मीन पर अपने अपने हक़ूक़ का सिक्का जमाता है । इनके अतिरिक्त लँगोटीबन्द हलधर या वृक्ष के तले पड़ा हुआ अपाहिज आदमी भी समझता है कि मेरे पैर के नीचे पृथ्वी का एक

अंश दबा हुआ है ; मुझे भी अख़तियार है कि उसे अपने क़ब्ज़े में रक्खूँ और उससे अपनी गुज़र करूँ। मतलब यह है कि अपने अपने ख़याल के मुताबिक़ ज़मीन पर अपना अपना हक़ हर आदमी रखता है। भूमि पर हमारा-आप का जो हक़ है वह यदि उचित रूप से रक्षित रक्खा जाय तो अनमोल है; नहीं तो मिट्टी की मिट्टी है। अतएव ज़मीन पर क़ब्ज़ा रखनेवाले मनुष्यों के स्वत्वों पर हम यहाँ संक्षेप में विचार करना चाहते हैं। पर यह विचार केवल सूबे अवध के विषय में करना है। अवध के काश्तकारों और ज़मींदारों की परस्पर क्या ज़िम्मेदारी तथा क्या हक़ हैं ? उनकी स्थिति में क्या परिवर्त्तन हुआ है ? आजकल उनकी दशा कैसी है ? किस प्रकार के सुधार की आवश्यकता है ? भारत-सरकार द्वारा कहाँ तक दोनों की रक्षा होती है और उनकी नकेलें किस सीमा तक दबी हुई हैं ? ऐसे ही ऐसे प्रश्नों पर यहाँ कुछ विचार करना है।

तो अब हमें पहले यह जानना चाहिए कि नवाबी ज़माने के प्रबन्ध से अँगरेज़ी सरकार के वर्तमान भूमि-सम्बन्धी प्रबन्ध में कितना अन्तर हुआ है और वह कैसे हुआ है। यह जान लेने पर वर्तमान प्रबन्ध की भलाई-बुराई समझने में आसानी होगी। अतएव, पहले, इससे सम्बन्ध रखनेवाला कुछ ऐतिहासिक वर्णन, संक्षेप में, सुनिए।

ऐतिहासिक बातें।*

शाहंशाह अकबर ने जिस समय अपने राज्य को पन्द्रह सूबों में बाँटा, उस समय अवध भी एक सूबा बनाया गया था। उस समय पैदावार का तिहाई हिस्सा राजा का हुआ करता था। पुराना क़ायदा यह था कि खेती के ख़र्च अदा करने के बाद किसान के पास जो कुछ बच रहता था उसकी बँटाई हो जाती थी—आधा राजा का, आधा किसान का हुआ करता था। इस युक्ति से कुल पैदावार का तिहाई हिस्सा राजा को मिल जाता था।

बक्सर की लड़ाई के बाद, १६ अगस्त १७६५ ईसवी को, ईस्ट इंडिया कम्पनी और अवध के सूबेदार, शुजाउद्दौला, में सुलह हुई। उस समय ज़मीन दो प्रकार की थी—(१) ख़ालसा, अर्थात् राजा के क़ब्ज़े में रहनेवाली ज़मीन और (२) हुज़ूर तहसील, अर्थात् वह ज़मीन जिसकी मालगुज़ारी सीधे नवाबी ख़ज़ाने में दाख़िल होती थी। हुज़ूर तहसील पर क़ब्ज़ा रखनेवाले (अ) कुछ तो ऐसे ज़मींदार थे जिन्हें दिल्ली के शाह ने ख़ुद ही ज़मीन दे रक्खी थी ; (आ) कुछ ऐसे थे जिन्होंने अवध के सूबेदारों या नवाबों को मदद दी थी और ख़ैरख़्वाही में ज़मीन पाई थी ; (इ) कुछ ऐसे थे जो गाँव में पुश्त दरपुश्त रह कर अपने भाई-बेटों के साथ बसे चले आते थे; और (ई) बाक़ी ऐसे व्यक्ति या वंश थे जो इन तीनों प्रकारों से अलग थे।

हुज़ूर तहसील का रुपया आसानी के ख़याल से 'इज़ारा' या 'मुस्ताजिरी' या 'ठेके' के द्वारा वसूल होने लगा। अवध के नवाबों ने अपने सिर का भार किसी ज़बरदस्त ज़मींदार के ऊपर डाल कर या टाल कर यह तय कर दिया कि मालगुज़ारी की एक निश्चित रक़म दाख़िल करो, और उसके बदले में किसानों से जितना बन सके वसूल करो। इस पद्धति से तहसील-वसूल के अमलों के ख़र्च की बचत ज़रूर होती थी। पर किसानों की तबाही थी। यही कारण था कि अँगरेज़ी सरकार ने 'मुस्ताज़िरी' के स्थान पर 'अमानी' बन्दोबस्त करने की सिफ़ारिश की थी। अमानी बन्दोबस्त में सरकार की ओर से चकलेदार या नाज़िम नियत किया जाता था और वह 'आमिल' या 'अमीन' अर्थात्

* बाबू कैलबिहारी की लिखी (Taluqdari Law of Oudh) पुस्तक के आधार पर यह अंश लिखा गया है।

विश्वासपात्र अफ़सर की हैसियत, से मालगुज़ारी इकट्ठी करता था। अवध के छठे नवाब, सादत-अलीख़ां (१७९८ से १८१४ ईसवी तक), के ज़माने में, अमानी-पद्धति बहुत सफलता से चली। चकलों की संख्या बढ़ा दी गई। साथ ही निगरानी भी ज़ियादह होने लगी। यह कहावत हो गई कि उनके समय में लगान वसूल करने में कहीं चकलेदार ने गोली दाग़ी कि लखनऊ से तहक़ीक़ात आई। इस समय के थोड़े ही दिनों बाद अन्धेर होने लगा। चकलेदार मनमानी करने लगे; जान मार दें, क़िले उड़ा दें, गोलियाँ बरसा दें; कोई पूछनेवाला न रहा। नवाब सादतअलीख़ां के कड़े बन्दोबस्त का फल एक तरफ़ तो यह हुआ कि नवाबी ख़ज़ाना, जो उनके राजगद्दी पर बैठने के दिन ख़ाली था उसमें, उनके मृत्यु के दिन, तेरह चौदह करोड़ रुपया नक़द मौजूद था और कुल तनख़्वाह और क़र्ज़ इत्यादि बेबाक़ थे। पर दूसरी ओर, चकलों की संख्या बढ़ जाने के कारण, ज़मींदारों को सतानेवाले लोगों की गिनती भी, उनके बाद, अधिक हो गई।

अमानी बन्दोबस्त में सरकार को टोटा पड़ता था और किसान के सिर पर आफ़त का पहाड़ टूटता था। पैसा खसोटने की थाह न थी। नाज़िम भूमिवाले से जो कुछ वसूल कर सकता था, खींचता था। ज़ियादह अख़्तियार होने के कारण हक़ का चोग़ा पहन कर ज़ियादह तङ्ग करने में सहूलियत थी—अवध-सरकार की सरपरस्ती, उसकी पलटन की मदद और मज़ा यह कि ठेकेदार की तरह कोई नियत रक़म सरकार को देने की पाबन्दी नहीं; जो तबीयत चाही सरकारी ख़ज़ाने में भिजवा दिया। इस ज़बरदस्ती का प्रत्यक्ष फल, जो वर्तमान ताल्लुक़दारी की व्युत्पत्ति समझने में कुछ सहायता पहुँचाता है, यह हुआ, कि छोटे मोटे भूमिपतियों ने, जो स्वयं नाज़िम की क्रूरता का सामना करने में असमर्थ थे, या तो अपने मोटे पड़ोसी पृथिव्यधीशों की मातहती में रह कर अपनी ज़मीन की रक्षा करली या सताये हुए लोग ज़मीन ही छोड़ भागे। उनके बाद जिसकी मौज आई ज़मीन पर पहुँचा, बस गया और उसे पहले अपना लिया और, यदि बन पड़ा, तो उससे फ़ायदा उठा लिया।

नवाबी के ताल्लुक़दारों का हक़ क़ानून से उतना रक्षित न था जितना कि बाहुबल से। जिसे ताक़त हो ज़मीन ले और रक्खे। छीन कर, लूट मार कर, घुड़की धमकी देकर, ज़बरदस्ती और जाल-फ़रेब करके जिस तरह बन पड़ता था ज़मींदार अपनी भूमि का विस्तार बढ़ा लेता था—कोई पूछपाछ करनेवाला न था। पर इसका मतलब यह नहीं, कि हर जगह धींगाधींगी ही होती थी। अशक्त और निर्बल पड़ोसी से जायदाद हासिल करने के लिए जायज़ काररवाई भी की जाती थी। उदाहरण के लिए मौरावाँ-रियासत में मातहतदारी क्यों नहीं है, इसके कारण पर विचार करने से पता चला कि वहाँ चार में से तीन हिस्से ज़मीन ख़रीद कर मिलाई गई थी। और, यही वजह है कि वहाँ मातहतदारी नहीं है।

एक साहब ने हिसाब लगाया तो ज्ञात हुआ कि १८५० ईसवी में ख़ालसा या शाही ज़मीन का ⅙ हिस्सा ज़मीदारों ने, अपने कमज़ोर पड़ोसियों से ज़बरदस्ती लेकर, दबा लिया और अपने ताल्लुक़े में मिला लिया। ऐसे छोटे छोटे ज़मींदार बादशाह से ज़मीन पाये हुए थे और लगान का आधा हिस्सा हमेशा अदा किया करते थे। यह जायज़ देनदारी ताल्लुक़दारों ने देना बन्द कर दिया था। इसके सिवा जो और ज़मीन उन्होंने अपने ताल्लुक़ों में शामिल की वह और भी ज़ियादह रही होगी; क्योंकि उस पर नवाब साहब का अख़्तियार और हुकूमत और भी कम थी।

१८५६ ईसवी के पहले अवध की ज़मीन की

पूर्वोक्त दशा थी। उसी साल, १३ फ़रवरी को, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अवध का शासन अपने हाथ में लिया। उसने नीचे लिखे सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर बन्दोबस्त किया—

"मौज़ेवार बन्दोबस्त उन लोगों के साथ किया जाय जो ज़मीन पर क़ाबिज़ हैं। इस बात का ख़याल न किया जाय कि वास्तव में मालिक कौन है। १ मई १८५६ ईसवी से, तीन साल के लिए, बन्दोबस्त की शर्तें जारी रहने का इक़रार हो जाना चाहिए। उन शर्तों की पाबन्दी तीन साल बीत जाने पर भी इक़रार करनेवालों को करनी होगी, जब तक कि दूसरा बन्दोबस्त न हो जाय।"

"यह ख़याल रहे कि सरकार की इच्छा ज़मीन पर असली क़ब्ज़ा रखनेवालों के साथ इन्तज़ाम करने की है। अर्थात् उन ज़मींदारों या मुश्तर्का मालिकों के साथ बन्दोबस्त होना चाहिए जिनकी मौजूदगी अवध में बतलाई जाती है, इरादा यह नहीं कि कोई शख़्स दरमियानी अर्थात् मध्यस्थ, जैसे—ताल्लुक़दार या वसूल-कुनिन्दा मालगुज़ारी आदि, रक्खा जाय। यदि ऐसे लोगों के कोई हक़ हैं तो उनके विषय में तहक़ीक़ात या अदालत के फ़ैसले के बाद उचित ध्यान दिया जायगा।"

इस प्रकार के बन्दोबस्त में ताल्लुक़दारों के हाथ से निकल कर बहुत से गाँव फिर छोटे छोटे ज़मींदारों को मिले। पर जिस भूमि पर ताल्लुक़दारों के पुराने हक़ थे वह उन्हीं के पास रही। १८५६ ईसवी में, सरकारी अमलदारी में आते समय, २३,५४३ गाँव ताल्लुक़ों में शामिल थे। उनमें से १३,६४० गाँवों का, जिनकी मालगुज़ारी ३५,०६,५१९ रुपया थी, ताल्लुक़दारों के साथ बन्दोबस्त हुआ। बाक़ी ९,९०३ गाँवों का, जिनकी मालगुज़ारी ३२,०८,३१९ रुपया थी, उन लोगों के साथ बन्दोबस्त हुआ जो ताल्लुक़दार न थे। जिन ताल्लुक़दारों के गाँव रह गये उसका कारण यह नहीं था कि उनकी स्थिति श्रेष्ठ मानी गई हो; बल्कि यह था कि वे प्राचीन काल से उन पर न्याय-सङ्गत स्वत्व स्थापित कर चुके थे। अधीन धराधिकारी (मातहतदार) प्रयत्नपूर्वक खोज कर निकाले जाते थे और उनके साथ भूमि का प्रबन्ध किया जाता था।

इस बन्दोबस्त का काम जारी ही था कि ३० मई सन् १८५७ ईसवी को लखनऊ में ग़दर होगया। १० जून तक कुल प्रान्त अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने को कमर कस बैठा। फल यह हुआ कि ताल्लुक़दारों को फिर से एक बार वही अधिकार और वही स्थिति प्राप्त होगई जो पहले थी, और अगले बन्दोबस्त की कारवाई के चिह्न लुप्त से हो गये। बन्दोबस्त में ताल्लुक़दारों से लेकर जिन ज़मींदारों को गाँव वापस मिले थे उन्होंने या तो उन्हीं ताल्लुक़दारों को ख़ुशामद की चिट्ठियाँ लिखीं या भागने की तैयारी करने लगे। "यह न भूलना चाहिए कि सम्बन्धी या स्वधर्मानुयायी होने के कारण वे (नये बन्दोबस्त में ज़मीन पाये हुए लोग) भी ग़दर करनेवालों के आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। उन्होंने देखा कि ताल्लुक़दारों के पास मज़बूत क़िले हैं; बहुत से आदमी हैं। ऐसे सरदारों को अपना नेता बनाकर उस संग्राम में कूद पड़ना उन्होंने आवश्यक समझा।"

५ जनवरी सन् १८५८ ईसवी को जो रपोट अवध के चीफ़ कमिश्नर ने बड़े लाट के पास भेजी उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"अवध में देहाती ज़मींदारों के साथ बन्दोबस्त करना और समय चाहे ठीक हो, पर वर्तमान-समय में कदापि ठीक न होगा। शान्ति पुनः स्थापित करने में न इन लोगों का असर होगा न दबाव। जो लोग अपने आप हमारे विरुद्ध लड़े हैं उनकी सारी ज़मीन ज़ब्त कर लेना अच्छा न होगा बल्कि अधिकतर ज़मीन और लोगों को दे देनी चाहिए। वे लोग ऐसे हों जो, हिन्दुस्तानी विचार या परम्परा के अनुसार, उसके पात्र हों। पुरानी ताल्लुक़दारी-प्रणाली का कुछ वर्षों तक अनुवर्तन किये बिना पूर्णरूप से शान्ति स्थापित करने का उपाय करना असम्भव सा है।"

"ताल्लुक़दारों के पास बल है और अधिकार भी है,

जो हमारे अनुकूल और प्रतिकूल प्रयोग किया जा सकता है। ग्राम-वासियों के पास दोनों में से कुछ भी नहीं है।"

"ताक़ुके केवल ऐसे मनुष्यों को दिये जाने चाहिए जिन्होंने दिल खोल कर हमारी सहायता की हो, या जिन्हें पहले चाहे सङ्कोच रहा हो, पर अब जो सच्चे हृदय से हमारी सेवा में तत्पर होने की अभिलाषा प्रकाशित करें। उनमें काफ़ी रोब भी होना चाहिए ताकि उनकी मदद से हमें वास्तविक लाभ पहुँच सके।"

"ऐसा प्रबन्ध किया जाना उचित है जिससे ताल्लुक़दार ग्रामनिवासियों पर लगान न बढ़ा सकें। उन्हें यह समझा देना चाहिए कि तुम्हारे अधीन जो लोग हैं उनके साथ आपका कैसा बर्ताव रहा है, इस बात पर ध्यान दिया जाया करेगा। फिर, उसी के अनुसार, जैसी स्थिति होगी, भविष्यत् में आपके साथ बन्दोबस्त किया या न किया जायगा। ताल्लुक़दार की ज़िम्मेदारी होगी कि अपनी मिलकियत की सीमा के भीतर जनता को शस्त्रहीन कर दें, क़िलों को बरबाद कर दें और अपराधियों के भय को घटा दें। उन के दिल में यह बात अङ्कित कर देनी चाहिए कि भूमि 'सेवा-वृत्ति' के उपलक्ष्य में दी गई है। भविष्यत् में उस का उन के पास रहना न रहना अपने कर्तव्यों के ठीक समय पर पालन करने न करने पर अवलम्बित है। बहुत ही रोबदार आदमियों को या ऐसे लोगों को जिन्होंने वर्तमान भयङ्कर काल में सरकार की वास्तविक सुसेवा की हो, जागीर दी जाय। पर शर्त यह है कि हर समय वे अटूट और हार्दिक सेवा करते रहें। इस रीति से बलवान् जन-समूह हमारी ओर आ मिलेगा और काश्तकारों पर कुछ अन्याय भी न होगा; क्योंकि उन्हें तो जन्म से उस ताल्लुक़दारी-प्रणाली की आदत पड़ी हुई है जिस में ताल्लुक़दार मनमाना लगान बढ़ा सकता था।"

बहुत सोच विचार के बाद लार्ड केनिङ्ग ने निम्न-लिखित उपाय निश्चित किये—

(१) यह कि फाँसी, कालापानी या क़ैद का दण्ड देते समय इस बात पर ध्यान रक्खा जाय कि जो बलवाई जान-बूझ कर ख़ून करने के दोषी न हों वे छोड़ दिये जायँ, चाहे उनकी बग़ावत कितनी ही बुरी और व्यापक रही हो।

(२) यह कि ग़दर की एक सज़ा यह भी होनी चाहिए कि ज़मीन का मालिकाना अधिकार ज़ब्त कर लिया जाय।

(३) यह कि........यदि कोई इश्तहार जारी किया जाय तो उसमें ज़ब्ती की केवल धमकी न दी जाय, बल्कि ज़ब्ती का हुक्म दे दिया जाय। पर उसके साथ ही साथ क्षमा और अनुग्रह के मार्ग भी दरसा दिये जायँ।

१५ मार्च १८५८ ईसवी को, अँगरेज़ी हुकूमत लखनऊ पर फिर होजाने के विषय में, जो इश्तहार जारी किया गया था उस में अवध के ताल्लुक़दारों, सरदारों, ज़मींदारों और उनके हमराहियों के साथ कैसा सलूक करने का इरादा सरकार का था, यह इन शब्दों में प्रकाशित किया गया—

"सरकार के शासन पर थोड़ा सा भी आघात लगने पर जो लोग राजभक्ति में दृढ़ रहे हैं और जिन्होंने रखवाली कर के तथा अँगरेज़ी अफ़सरों को सहायता दे कर अपनी मित्रता स्थापित कर दी है उन को इनाम देना बड़े लाट साहब की पहली मंशा है।"

इसी से बलरामपुर, पड़नहा, कटियारी, सिसेंडी, गोपालखेड़ा और मौरांवा के उस वक़्त के राजाओं या ठाकुरों को पुश्तैनी मिलकियत दी गई। उनको वही ज़मीन दी गई जो नवाबी के ज़माने में उनके पास थी। यह निश्चय हुआ कि उन पर रियायत के साथ रक़म बाँधी जाय। इसके अतिरिक्त भविष्यत् के लिए उनकी इज्ज़त और ओहदे की उचित वृद्धि का वादा भी किया गया।

"और लोग भी, यदि सरकार की दृष्टि में इनाम या इज्ज़त के पात्र समझे गये तो, अपनी हैसियत के अनुसार उनको भी पारितोषिक प्रदान किया जायगा।"

"बड़े लाट साहब अवध-निवासियों पर यह भी प्रकाशित करते हैं कि ऊपर वर्णित इलाक़ों के सिवा प्रान्त भर की सारी भूमि का स्वामित्व अँगरेज़ी सरकार के हक़ में ज़ब्त हो गया। सरकार को अधिकार होगा कि जिस तरह चाहे उन हक़ूक़ को बाँट डाले। जो ताल्लुक़दार, सरदार, ज़मींदार अपने अपने साथियों सहित अवध के चीफ़ कमिश्नर की शरण तुरन्त आ जायँगे और अपने हथियार उनके सिपुर्द

कर देंगे और उनके आज्ञा-पालन में तत्पर हो जायँगे, बड़े लाट साहब वादा करते हैं कि उनकी जान और इज़्ज़त बची रहेगी; पर शर्त यह है कि उनके हाथों पर, ज्ञानतः अथवा अज्ञानतः, अँगरेज़ी ख़ून करने का धब्बा न लगा हो।"

"इसके अतिरिक्त जो लोग विशेष अनुग्रह के इच्छुक हों उन्हें चाहिए कि वे अपने को अँगरेज़ी सरकार की न्याय-शीलता और दयालुता पर छोड़ दें। जो लोग तुरन्त ही चीफ़ कमिश्नर के सामने उपस्थित हो कर शान्ति और राज-शासन स्थापित करने में सहायता देंगे उनपर कृपा की मात्रा अधिक रहेगी और उनके पुराने स्वत्व वापस देने का प्रस्ताव मन्ज़ूर करने में बड़े लाट साहब को सुबिधा होगी"।

उसी के इश्तहार के बाद, २५ मार्च सन् १८५८ ईसवी को, चीफ़ कमिश्नर के यहाँ से अवध के ज़मींदारों के नाम परवाने भेजे गये कि "यदि आप लोग मेरे सामने आ जायँ, मेरी आज्ञा का पालन करें, और यदि आपने बेचारे निरपराध गौराङ्गों के साथ अत्याचार नहीं किया है तो आपकी ज़मीन ज़ब्त न रहेगी और आपके पुराने हक़ूक़ पर विचार किया जायगा।" फिर २३ जून को उन्हीं के इजलास से ताल्लुक़दारों को रूबकार गये। वे लखनऊ बुलाये गये कि अपने अपने ताल्लुक़ों के लिए दानपत्र ले जायँ, और उनके मालिकाना हक़ वैसे ही हो जायँ जैसे १८५६ ईसवी में थे।

सरकार का यह कृत्य विशेष उदारता का था। इस उदारता के आधिक्य के कारण सरकार की नीयत पर ताल्लुक़दारों को सन्देह हुआ। उनमें से कुछ लोग असमञ्जस में पड़ गये। तथापि बहुत से ताल्लुक़दार हाज़िर हुए और दूसरा सरसरी बन्दोबस्त, १८५९ ईसवी में, समाप्त हो गया। उसका फल यह हुआ कि प्रायः सब ताल्लुक़दारों को अपनी अपनी रियासतें, जैसी १८५६ ईसवी में थीं, फिर से मिल गईं। कुछ इलाक़े ज़ब्त भी हो गये; पर उनकी सङ्ख्या बहुत कम है। दूसरे सरसरी बन्दोबस्त की मीयाद १ मई १८५८ ईसवी से कम से कम तीन वर्ष रक्खी गई और यह निश्चय हुआ कि जब तक पक्के बन्दोबस्त की कारवाई तय न हो जाय तब तक वही बन्दोबस्त जारी रहे।

ज्यों ज्यों मामले पेश होते गये और नये नये प्रश्न खड़े होते गये, एक्ट और क़ानून की धाराओं के परिवर्तन द्वारा उनके फ़ैसलों की सूरतें निकलती गईं।

वर्तमान स्थिति* ।

यह अनावश्यक था कि हम बग़ावत से आज तक के क़ानूनों पर विस्तारपूर्वक विचार करते या उनके परिवर्तनों पर सिलसिलेवार टिप्पणी करते। इस लेख में तो सिर्फ़ ज़मींदार और काश्तकार के सम्बन्धों की दशा आज कल क्या है, इसका ही विचार होगा।

अवध में ताल्लुक़दारी इलाक़े ज़ियादह हैं; सादे ज़मींदारी इलाक़े कम। अधिकतर ताल्लुक़दारों को जो सनदें मिली हैं और जिनके द्वारा वे रियासत के मालिक बने हैं उनका आशय नीचे दिया जाता है। भाषा ज्यों की त्यों सरकारी ही रक्खी जाती है—

"चूं कि मार्च १८५८ ईसवी के इश्तहार आम के बमूजिब, सिवा कुछ इलाक़ों के, कुल रियासतें अँगरेज़ी सरकार ने ज़ब्त करली हैं और उन्हें जिस तरह वह चाहे बाँट सकती है, लिहाज़ा रियासत—(फलाँ)—का जिसमें कि मवाज़ियात मुन्दर्जे फ़िहरिस्त मुनसलका क़बूलियत, जो आपने तहरीर की है, शामिल है, और जिसकी मौजूदा मालगुज़ारी—(रक़म)—है, आपको हक़ मालिक आला व क़ब्ज़ा अता किया जाता है। बज़रिये इस सनद के रियासत मज़कूर पर आपका और आपके वारिसान का हक़ हमेशा के लिए जारी रहेगा, बशर्ते कि सालाना मालगुज़ारी, जो वक़्तन फ़वक़्तन मुक़र्रर हो, अदा की जाय, और जुमला हथियार सरकार के सिपुर्द कर दिये जायँ, जुमला क़िलेजात बरबाद कर दिये जायँ, जरायम रोके

* एक्ट लगान, अवध (एक्ट २२, सन् १८८६ ईसवी) और उसपर बाबू माताप्रसाद महाराजनारायण की टीका की सहायता इस अंश में ली गई है।

जायँ और उनकी इत्तला दी जाय और जिस ख़िदमत का हुक्म दिया जाय अंजाम दी जाय; और सरकार इँग्लिशिया के लिए ईमानदारी, ख़ैरख़्वाही, जोश और मुहब्बत की निगाह से हमेशा वर्ताव क़ायम रक्खा जाय, जिसके मुताबिक़ ख़ुद अपनी तहरीर से अपने तईं आपने पावन्द किया है। इनमें से किसी शर्त की ख़िलाफ़वरज़ी होने पर आप और आपके वारिसान के हक़ूक़ फ़िस्क़ किये जाने के क़ाबिल होंगे।"

"रियासत बड़े लड़के को विरासतन मिला करेगी और बै, रहन, हिवा, वसीयत, और लड़के को गोद बिठा कर मुन्तक़िल की जा सकेगी।"

"सनद की यह भी शर्त है कि जहां तक आपसे बन पड़े अपनी रियासत की ज़राअती तरक़्क़ी की कोशिश करें। आपके जिन मातहत लोगों के जो हक़ूक़ पहले से चले आते हैं वे आपकी तावेदारी में उन पर काबिज़ रह कर महफ़ूज़ रहेंगे। जब तक आप और आपके वारिसान ख़ुशनियती से इन मुआहदों की पावन्दी करते जायँगे तब तक आपको और आपके वारिसान को अँगरेज़ी सरकार रियासत मज़कूर पर बहैसियत मालिक क़ायम रक्खेगी।"

इसी प्रकार की सनद के द्वारा ताल्लुक़दारी पाये हुए राजा-रईस अधिकतर हैं। इनके अतिरिक्त पाँच रियासतें राज-सम्मानित—बलरामपूर, कटियारी, सिसैंडी, गोपालखेड़ा, बैसवाड़ा—हैं। और भी छोटी मोटी ज़िमींदारियाँ हैं, जिनके मालिक विशेष दानपत्रों द्वारा सरकार की कृपा से भूमि के अधिकारी बने हैं। हर बन्दोबस्त में सब लोग निश्चित मालगुज़ारी देने के लिए बाध्य हैं। जिस सिद्धान्त और जिन क़ायदों के अनुसार सरकार चाहे मालगुज़ारी बढ़ा सकती है और ताल्लुक़दारों और ज़मींदारों को वही रक़म देनी पड़ेगी। सरकार और ज़मींदार में जो सम्बन्ध है उसमें, यद्यपि, कुछ अंशों में, साधारण बराबरीवालों के साथ व्यवहार की समानता है, तथापि वास्तव में है बड़ा अन्तर। एक ओर शासक, दूसरी ओर शासित; एक ओर न्यायकर्ता, दूसरी ओर न्याय-रक्षित या न्यायप्रार्थी।

सरकार और ताल्लुक़दार के बीच जिस क़ानून का व्यवहार होता है वह एक्ट मालगुज़ारी (एक्ट २ सन् १९०२ ईसवी) में वर्णित है। उसमें मालगुज़ारी वसूल करने का तरीक़ा, तहसील का मुहकमा, हुक्काम, अहलकारान, काग़ज़-पत्र, बन्दोबस्त आदि के क़ायदे हैं। ज़मींदार और काश्तकार के हक़ एक दूसरे के मुक़ाबले में सरकार के द्वारा कहाँ तक रक्षित होते हैं इसका क़ानून, एक्ट लगान, अवध (एक्ट २२ सन् १८८६ ईसवी) में दिया हुआ है।

यदि नवाबी के बाद के समय का मिलान आज कल के समय से किया जाय तो देख पड़ता है कि कहाँ तो एक बार सरकार, अपने और किसान के बीच में, और किसी को रखना ही न चाहती थी और कहाँ अब, दरजे ब-दरजे, कई सीढ़ियां तक, लोगों के हक़ रक्षित कर दिये हैं और उन्हें मानने को वह तैयार है। सरकार के नीचे होते हैं—ताल्लुक़दार या ज़मींदार, जो मालिक आला कहे जाते हैं। उनके नीचे मातहतदार, मौरूसी काश्तकार या मामूली काश्तकार होते हैं। ये लोग अपनी ज़मीन शिकमियों को दे सकते हैं। मामूली काश्तकार कम से कम थोड़ा हिस्सा ज़मीन का अपने लिए जोतने बोने को अपने नाम में रख लेता है। काश्तकार और ज़मींदार के बीच में ठेकेदार बहुधा मौजूद पाये जाते हैं। अवध के साधारण किसान को यह हक़ दिया गया है कि यदि वह किसी आराज़ी ज़मीन को किसी रक़म लगान पर ज़मींदार से ले, तो क़ानूनन, कम से कम सात साल तक, उसी ज़मीन को उसी लगान पर अपने पास रख सकता है। यदि बीच ही में ज़मींदार की रज़ामन्दी से लगान की तादाद या ज़मीन का रक़बा बढ़ घट जाय तो उस बढ़ती या घटती की तारीख़ से फिर वही काश्तकार सात साल तक क़ाबिज़ रह सकता है। लगान की बेशी सात वर्ष के बाद भी, एक आना फ़ी रुपया अर्थात् सवा छै रुपये सैकड़े के हिसाब

से ज़ियादह, क़ानूनन, नहीं की जा सकती। इस प्रान्त के क़ानून की मंशा यह है कि काश्तकार पर बेदख़ली कम लगाई जाय। ज़ाब्ते की कारवाई में थोड़ा भी नुक़्स रहा कि काश्तकार पर की गई बेदख़ली की कारवाई में कठिनता आ पड़ती है।

मामूली काश्तकार बहुतायत से हैं। उन्हीं के विषय में एक्ट लगान, अवध, की कुछ धाराओं के विशेष अंशों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

(दफ़ा ४) कोई ज़मींदार अपने काश्तकार पर, आपस में किसी क़िस्म की शर्त ख़िलाफ़ क़वायद एक्ट (अर्थात् विधि-विरुद्ध) करने पर भी, बेदख़ली या बेशी लगान नहीं कर सकता।

इस दफ़ा के बनाने का अभिप्राय काश्तकार का बचाव है। मान लीजिए कि काश्तकार और ज़मींदार ने आपस में पट्टा-क़बूलियत लिख कर यह तै कर लिया कि काश्त की मीयाद पाँच साल रहेगी। तो इसका कुछ असर न होगा; क्योंकि किसान फिर भी सात साल तक ज़मीन अपने पास रख सकेगा। इसी तरह, यदि कोई काश्तकार पहले सात वर्षों में १००) लगान देता था और दूसरे सात वर्षों में उसी ज़मीन के लिए उसने १५०) सालाना देना क़बूल कर लिया तो भी वह १०६।) से अधिक का देनदार न समझा जायगा।

(दफ़ा २०). (१) अगर कोई काश्तकार अपनी आराज़ी से इस्तीफ़ा देना चाहे तो हर साल १५ मार्च या उसके पहले अपने ज़मींदार या उसके कारिन्दे को लिखा हुआ इत्तलानामा देकर उसीके मुताबिक़ ज़मीन छोड़ सकता है। बिना ऐसा किये वह लगान देने का पाबन्द रहेगा।

(२) अगर ऐसे इत्तलानामे को लेने से या उसकी रसीद देने से इनकार किया जाय तो तहसीलदार या निर्दिष्ट अफ़सर की मारफ़त यह कारवाई हो सकती है।

(३) आराज़ी के जुज़ का इस्तीफ़ा ज़मींदार की रज़ामन्दी से दिया जा सकता है।

ज़मींदार सात वर्ष के अन्दर काश्तकार को उसकी मर्ज़ी ख़िलाफ़ नहीं निकाल सकता। पर काश्तकार जिस साल चाहे बीच ही में ज़मीन छोड़ सकता है। ऐसा करने के लिए उसे ऊपर लिखी सूचना देनी चाहिए।

(दफ़ा २१) (१) अगर कोई काश्तकार बिना अपने ज़मींदार को इत्तला दिये आराज़ी छोड़ दे, और उसकी काश्त का इन्तज़ाम न करे, तो ज़मींदार को हक़ होगा कि हर साल की १५ मई के बाद उस पर दख़ल करले।

(२) इस तरीक़े पर क़ब्ज़ा करने के पेश्तर ज़मींदार को लाज़िम होगा कि बाज़ाब्ता इत्तलानामा तहसीलदार के दफ़्र में काश्तकार पर तामील होने के लिए दाख़िल करे, और उसमें यह लिखे कि मैंने आराज़ी को छोड़ी हुई समझ लिया है और उस पर क़ब्ज़ा करनेवाला हूँ।

(३) काश्तकार को अख़्तियार होगा कि दावा दायर करके क़ब्ज़ा वापस ले ले; और अगर अपनी ख़ुशी से उसने आराज़ी न छोड़ी हो तो आराज़ी की वापसी की बाबत हुकुम देने के अलावा, बक़ाया लगान या हर्जा, जिस किसी का क़ुसूर हो उससे, अदालत दिला सकती है।

ज़मीन की काश्त न करने या उसे परती छोड़ देने से यह न समझ लेना चाहिए कि काश्तकार मफ़रूर हो गया—भाग गया—या आराज़ी छोड़ दी गई। इसके साथ ही साथ लगान देना बन्द कर देने और अन्य बातों से भी काश्तकार की नीयत का अन्दाज़ा करना पड़ता है। गाँव छोड़ कर दूसरी जगह जा बसने या ऐसी ही और बातों से इसके निर्णय में सुभीता होता है।

दफ़ा २२ से २८ तक इस बात का बयान है कि काश्तकारी की आराज़ी की तरक़्क़ी करने से किसान को क्या फ़ायदे और रियायतें होती हैं और उसका मुआविज़ा उसे कैसे मिल सकता है।

दफ़ा ३६ और ३७ का सार यह है—सन् १८८६ ईसवी (एक्ट लगान के प्रकाशित होने की तारीख़) से, या उसके बाद से, हर एक काश्तकार

(मामूली) अगर लगान और रक़बे का तग़ैयुर तबद्दुल दर्मियान में न हुआ हो, तो आराज़ी पर क़ब्ज़ा पाने की तारीख़ से, या अगर तग़य्युर व तबद्दुल हुआ हो तो रक़बा या लगान घटने बढ़ने की तारीख़ से, सात साल तक, क़ब्ज़ा रखने का मुस्तहक़ होगा।

काश्तकारी के लिए ज़मींदार से ज़मीन मिलने पर चाहे मीयाद की बातचीत हुई हो या नहीं, साधारण किसान कम से कम सात साल तक उसे जोत-बो सकता है। दोनों की रज़ामन्दी से बीच ही में, या सात वर्ष के बाद, यदि रक़म लगान घटा या बढ़ा दिया जाय, या रक़बा आराज़ी कम या ज़ियादह हो जाय तो भूमिकर या भूमिसीमा में सात वर्ष की गिनती अन्तर होने के दिन से की जायगी। क़ानून की इन दो धाराओं का आशय यह है कि कृषक प्रति वर्ष या जल्दी जल्दी ज़मींदारों द्वारा न निकाला जाय; अधिक नहीं तो सात वर्ष तक निश्चिन्त रहे। लगान या रक़बा की वृद्धि या कमी होने के दिन से नये सात वर्ष की अवधि कृषक को मिल जाती है। यह भी खेतिहरों के हित, उपकार और रक्षा के उद्देश से है।

(दफ़ा ३८) (१) ज़मींदार काश्तकार के लगान की बेशी, या तो आपस में मुआहदों के ज़रिये से कर सकता है, या बाज़ाब्ता इत्तलानामा भेज कर।

(२) लेकिन शर्त यह है कि बेशी की तादाद फ़ी रुपया एक आना या ६।) सैकड़े के हिसाब से ज़ियादह न होनी चाहिए। मुआहिदा या नोटिस की तारीख़ के पहले जो सालाना लगान रहा हो उसी रक़म पर बेशी की जा सकती है।

(३) जहाँ लगान ग़ल्लई है अर्थात् अनाज के रूप में लगान लिया जाता है वहाँ बेशी परगने के रिवाज़ के मुआफ़िक़ होती है।

ज़मींदार के अधिकार सीमा-बद्ध कर दिये गये हैं। लगान की मनमानी वृद्धि वह नहीं कर सकता। उसकी लगान बढ़ाने की अभिलाषा पर बागडोर लगा दी गई है। जिस पृथ्वी के टुकड़े से आज १०) कर मिलता है उससे ७ वर्ष के उपरान्त १०॥=) ही वह ले सकता है; अधिक नहीं ले सकता। सरकार की इच्छा यह है कि कृषक के पास रुपया बचे और उसकी स्थिति अच्छी होती जाय। ज़मींदार अन्धाधुन्धी से पैसा खींच कर उसका धन न चूस ले। इसी कारण न्याययुक्त वृद्धि की सीमा एक आना प्रति रुपया बाँध दी गई है।

नियत अवधि के उपरान्त एक कृषक को निकाल कर दूसरे कृषक को यदि ज़मीन दी जाय, तो भी बेशी, पुराने लगान पर ६।) सैकड़े के हिसाब से ही, हो सकती है; अधिक नहीं *। असन्तुष्ट हो कर चाहे किसान ही भूमि छोड़ दे; परन्तु ज़मींदारों को अकारण एक को उठा कर दूसरे आसामी को लाने में लाभ नहीं, हानि ही है। इसी कारण, कृषक यदि उद्दण्ड या दुष्ट नहीं है तो ज़मींदार को प्रसन्न रख कर अपने खेतों पर बना रह सकता है और परिश्रम का सुस्वादु फल बहुत काल तक चख सकता है।

यदि कोई काश्तकार मर जाय, या कोई ठेकेदार या मुर्तहिन, जिसकी ज़मीन खुदकाश्त रही हो, बेदख़ल कर दिया जाय, और ऐसी ज़मीन ख़ाली हो जाय, तो ज़मींदार को अख़्तियार होगा कि जो लगान ऐसी ज़मीन के काश्तकार के साथ तय हो जाय बाँध दे। †

ज़मींदार के ख़र्च से यदि ज़मीन की तरक़्क़ी की गई हो तो भी लगान में उचित वृद्धि हो सकती है ‡ इन ख़ास ख़ास सूरतों के अलावा बेशी की शरह एक आना फ़ी रुपया के हिसाब से ज़ियादह नहीं हो सकती।

* दफ़ा ४७ एक्ट् लगान, अवध, देखिए।

† दफ़ा ४९ देखिए। ‡ दफ़ा ५० देखिए।

बेदख़ली ।

मामूली काश्तकार की बेदख़ली के तीन तरीक़े हैं—(१), (अ) इत्तलानामा से (२) (आ) दरख़ास्त देकर और (३) (इ) दावा दायर करके (४)।

दफ़ा ५४ से ६० तक इत्तलानामे के ज़रिये से बेदख़ली करने का ज़ाब्ता बयान किया गया है। दफ़ा ६१ के बमूजिब दरख़ास्त देकर बेदख़ली लगाई जाती है, और दफ़ा ६२ की कारवाई में दावा दायर करना पड़ता है।

५३ से ५८ तक की धारायें विशेषतः जोतू असामियों की रक्षा के अभिप्राय से बनी हैं । धारा ५४ के अनुसार बेदख़ल करने की सूचना देने के लिए कोर्ट-फ़ीसरूपी दण्ड ज़मींदार को देना पड़ता है (५)। यदि ज़मींदार को १ अप्रैल और ३० जून की अवधि के भीतर—जो दफ़ा ६३ के अनुसार क़ब्ज़ा लेने के लिए नियत है—यह अधिकार होता कि बिना दफ़ा ५५ की सूचना दिये स्वयं खेतों पर न्यायानुसार दख़ल करले, तो वह कह दिया करता कि पुराने काश्तकार की सातसाला मीयाद पूरी होगई; अब मैं उसे फिर ज़मीन नहीं देना चाहता। ऐसी दशा में पूर्ववर्णित कोर्टफ़ीसरूपी राजदण्ड से वह बच जाया करता। कृषक को बहिष्कृत करने में उसे व्यर्थ धन लगाना पड़ता है। इस कारण उसे थोड़ी बहुत रुकावट भी होती है। उस दशा में वह भी मिट जाती है।

(१) सूचना द्वारा कृषक को बहिष्कृत करने का उपाय ।

(दफ़ा ५५) (१)—इत्तलानामा हिन्दी और उर्दू में लिखा जाना चाहिए। उस पर ज़मींदार या उसके कारिन्दे के दस्तख़त होने चाहिए। जिस ज़मीन से काश्तकार बेदख़ल किया जाने वाला है उसकी तफ़सील होनी चाहिए। अगर इस दफ़ा की रू से कोर्टफ़ीस की अदायगी की ज़रूरत है तो पटवारी का तस्दीक़नामा होना चाहिए कि जिसके बारे में इत्तलानामा भेजा गया है उस आराज़ी का सालाना लगान इतना है; और काश्तकार को यह इत्तला दी जानी चाहिए कि—

(अ) अगर उसे बेदख़ली में उज़्र है तो इत्तलानामा पाने की तारीख़ से ३० रोज़ के अन्दर इस अम्र का दावा दायर करदे,

या (ब) आनेवाली १५ तारीख़ मई को या उसके पहले आराज़ी को ख़ाली कर दे।

(२) तहसीलदार या हाकिम तजवीज़शुदा के पास ज़मींदार के दरख़्वास्त देने पर, अगर मुनासिब कोर्टफ़ीस (जिन सूरतों में इस दफ़ा के बमूजिब कोर्टफ़ीस अदा होनी चाहिए) अदा की गई है तो ज़मींदार के ख़र्चे पर १५ नवम्बर या उसके पहले हाकिम मज़कूर के मार्फ़त काश्तकार पर इत्तलानामा तामील किया जायगा।

(३) अगर वह काश्तकार जिस पर इत्तलानामा भेजा गया है दफ़ा ३६ या ३७ का पाबन्द है तो सिवा उन सूरतों के, जो इस दफ़ा के इसी ज़िमन में या ज़िमन ४ में या दफ़ा ६९ में मुन्दर्ज हैं, इत्तलानामा की बाबत कोर्टफ़ीस अदा करनी होगी, जिसकी रक़म निस्फ़ सालाना लगान के बराबर होगी, जिसके बारे में आराज़ी काश्तकार की ज़िम्मेदार थी; उस हालत में जब कि लगान ग़ल्लई है, तादाद कोर्टफ़ीस मुतवातिर तीन साल क़ब्ल की औसत पैदावार के, जो बतौर लगान अदा किया गया है, निस्फ़ के बराबर होगी।

बशर्ते कि कोर्टफ़ीस की तादाद किसी हालत में २५) से ज़ियादह न हो।

(४) अगर वह शख़्श जिसके ख़िलाफ़ इत्तलानामा जारी हुआ है, दफ़ा ४८ का पाबन्द है, तो ज़िमन (३) के बमूजिब कोई कोर्टफ़ीस की अदायगी न होनी चाहिए।

(५) इसके क़ब्ल कि इत्तलानामा या उसकी तामील की दरख़्वास्त तहसीलदार या अफ़सर मजाज़ के सामने पेश की जाय कोर्टफीस के वास्ते इत्तलानामे पर टिकट चस्पाँ कर दिये जाने चाहिए।

(६) वह रक़म कोर्टफ़ीस जो इस दफ़ा के बमूजिब

(१) दफ़ा ५३। (२) दफ़ा ५४। (३) दफ़ा ६१, १०८ (४)। (४) दफ़ा ६२। (५) दफ़ा ५५ (३) व (५) देखिए।

ज़मींदार को अदा करनी पड़ती है, उसके बतौर ख़र्चा मुक़दमा या और किसी तरीक़े पर काश्तकार से दिलाये जाने का फ़ैसला हरगिज़ न होना चाहिए।

दफ़ा ५५ के अनुसार जमींदार सूचनापत्र द्वारा अपने असामी को बेदख़ल कर सकता है। इस काम के लिए कोर्टफ़ीस लगाने का अभिप्राय यह है कि किसान अपने खेतों से, जहाँ तक सम्भव हो, कम निकाला जाय। जो ख़र्च उसे निकालने में ज़मींदार अपनी गाँठ से करेगा, उसे अदालत द्वारा नहीं पा सकता। बेकार ख़र्च से बचने का उपाय कृषक को भूमि पर बदस्तूर काबिज़ रहने देना है।* इस दफ़ा के क़ायदों की पूरी तरह पाबन्दी होनी चाहिए। नियमों का अक्षरशः पालन होना अनपढ़ असामी के हित के लिए है।

(२) प्रार्थनापत्र द्वारा कृषक का बहिष्कृत होना।

(दफ़ा ६१) (१) अगर ज़मींदार उस काश्तकार को बेदख़ल करना चाहता है जो दफ़ा ५३ का पाबन्द है, और जिसके ख़िलाफ़ बक़ाया लगान की डिगरी सादिर हो चुकी है और बेबाक़ नहीं हुई तो उसे अख्तियार है कि उस साल की एकुम अप्रेल के बाद जिसकी बाबत बक़ाया यापतनी के क़ाबिल होगया, साहब डिपटी कमिश्नर को दरख्वास्त दे कि काश्तकार बेदख़ल कर दिया जाय।

(२) साहब डिपटी कमिश्नर का फ़र्ज़ है कि यह दरख्वास्त पाकर काश्तकार पर इत्तलानामा जारी करें, जिसमें रक़म यापतनी बाबत डिगरी मुन्दर्ज हो, और वह इस अम्र से वाक़िफ़ कर दिया जाय कि इत्तलानामे के पाने से १५ रोज़ के अन्दर अगर रक़म हाज़ा अदालत में दाख़िल न कर देगा तो आराज़ी से बेदख़ल कर दिया जायगा।

(३) अगर रक़म इस तरह पर न दाख़िल की जायगी तो साहब डिपटी कमिश्नर का फ़र्ज़ है, कि तावक्ते इसके ख़िलाफ़ माक़ूल वजह न दिखलाई जाय, काश्तकार को बेदख़ल कर दें।

(३) दावा के द्वारा कृषक का बहिष्कृत होना।

(दफ़ा ६२) (१) जो काश्तकार दफ़ा ५३ का पाबन्द है वह बज़रिये दावा, दर्मियान मियाद काश्त के, वजूहात मुन्दरजे ज़ैल में से किसी वजह से बेदख़ल किया जा सकता है, याने—

(अ) यह कि ज़मीन मशमूले आराज़ी उसने इस तरीक़े पर इस्तेमाल की है कि जिससे वह नाक़ाबिल काश्त हो गई है;

(ब) यह कि दावा दायर करते वक्त कुमला आराज़ी शिकमियों को दे दी गई है;

(स) यह कि जहाँ लगान ग़ल्लई है, आराज़ी की काश्त इस हद तक कम हो गई है कि बमूजिब रस्म मौक़ा वह क़ाबिल ज़प्ती है;

(द) यह कि जहाँ काश्तकार बज़रिये गैर ख़तमशुदा पट्टे के उस ज़मीन पर क़ाबिज़ है जिसमें दफ़ा ४ के ज़िमन (३) व (४) असरपिज़ीर हैं, तब कोई ऐसी वजह मौजूद है कि पट्टे के ज़रिये उसकी बेदख़ली अमल में आनी चाहिए।

(२) काश्तकार आराज़ी का लगान देने का उस वक्त तक ज़िम्मेदार रहेगा जब तक कि डिगरी की इजरा ख़तम न हो जाय।

बहिष्कृत करने का अधिकार ज़मींदार को दिया गया है। यदि कृषक समय पर भूमिकर न दे, जोतना-बोना छोड़ दे, भूमि को नष्ट करने पर उद्यत हो जाय, या अपने वचन के विरुद्ध कार्य करने लगे, तो विशेष विशेष दशाओं में, इन्हीं कारणों से, वह निकाला जा सकता है।

जो किसान लगान देना बन्द कर देता है, मनमानी दुष्टता और आलस्य में लिप्त हो कर ज़मीन और ज़मींदार की ओर अपने धर्म-पालन में कोताही करता है, वह कृषक की हैसियत से अपने ऊपर कुठाराघात करता है। किसानों का सबसे बड़ा मन्त्र अपने ज़मींदार को प्रसन्न रखना है। उद्योग करने पर भी यदि सफलता प्राप्त न हो, वर्षा न होने से यदि उपज मारी जाय, पाला पड़ने से यदि फसल सूख जाय या अनदेखी अनहोनी कोई बात पैदा हो जाय,

* ५ अवध केस पत्र १६३ देखिए।

तो भी ज़मींदार की सहानुभूति से किसान पर हर तरह की रियायतें हो सकती हैं। पर थोड़ी सी अकड़ के कारण, ज़मींदार के इशारे से, किसान की जड़ खोद कर फेंकी जा सकती है।

किसान का हित इसी में है कि परिश्रम से खेती करे, लगान वक्त पर दे दिया करे, और, शर्तों के अनुसार अपना काम करता जाय। इन सब बातों से वह ज़मींदार का विश्वासपात्र बन जायगा और उसे उसको निकाल बाहर करने की चिन्ता न करनी होगी, बल्कि जहाँ तक सम्भव होगा अपराधी होने पर भी वह क्षमा किया जा सकेगा।

जो लगान देने में ढीले ढाले और आलसी हैं, उद्दण्ड या दुष्ट हैं, या जिनका चाल-चलन ज़मींदार के प्रतिकूल है या जिनका बर्ताव रीति या वादे के विरुद्ध है, ऐसे किसानों को हटाने के लिए एक तो ज़मींदार स्वयं ही समर्थ होते हैं; दूसरे न्यायालय द्वारा भी वे उन्हें बेदख़ल करा सकते हैं। मीयाद सात-साला के बाद का तो कहना ही क्या है, उसके पहले भी अयोग्य कृषक निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में न्याययुक्त तीन युक्तियों का वर्णन अभी किया ही जा चुका है; अर्थात् दफ़ा ५५ के सूचना-पत्र द्वारा; दफ़ा ६१ के प्रार्थनापत्र द्वारा और दफ़ा ६२ के दावे के द्वारा।

[असमाप्त]

गङ्गाधर पन्त।

मनुष्येतर प्राणियों की लीला।

संसार की रचना बड़ी विचित्र है। जिधर दृष्टि डालिए उधर ही प्रकृति की सुन्दरता और विचित्रता देखने में आती है। प्रकृति-देवी की गोद से उत्पन्न होकर मनुष्य को अपनी रक्षा और जीवन-निर्वाह के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। यही नहीं, यदि हम मनुष्य को छोड़ कर अन्य छोटे से छोटे पशु और पक्षी तथा कीड़े-मकोड़ों की ओर देखें, तो वहाँ भी प्रकृति के वही नियम काम करते हुए पाये जाते हैं, जिन पर मनुष्य का जीवन आश्रित है। मनुष्य की तरह ये पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी अपने बहुत या थोड़े समय के जीवन की रक्षा के उपाय करते हुए पाये जाते हैं। इससे पता लगता है कि मनुष्य की तरह इन्हें भी प्रकृति-देवी ने बुद्धि और ज्ञान का कुछ अंश दे रक्खा है। पशु-जीवन की ओर ध्यान देने से हमें स्पष्ट पता लगता है कि संसार में मनुष्य, पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े सभी के बीच जीवन का महासङ्ग्राम (Struggle for Existence) छिड़ रहा है। जीवन के इस महासङ्ग्राम से कोई भी बचा नहीं। इस सङ्ग्राम में उसी की विजय होती है जो अपने आस-पास के दूसरे प्राणियों से अधिक योग्य, बलवान् तथा तेज़ होता है। पशु-पक्षियों तथा कीड़ेमकोड़ों के जीवन और मनुष्य के जीवन में यह समानता देख कर डार्विन के सदृश विद्वानों ने अनुमान किया है कि असङ्ख्य वर्षों के जीवन के महासङ्ग्राम के बाद, पशुयोनि से ही सबसे अधिक मज़बूत, तीव्र और योग्य प्राणी, मनुष्य, बन गया है। कुछ हो, अनेक बातों में हम नीची श्रेणी के पशुओं और मनुष्यों में अनेक समान गुणों और अवगुणों के चिह्न पाते हैं।

इस साम्य को देखने के लिए हमें नीचे से ऊपर आना होगा। सब से छोटे प्राणी या शरीरधारी जीवों में वे छोटे छोटे कीड़े होते हैं जो हमारे नित्य पिये जानेवाले पानी में पाये जाते हैं। ये जीव इतने छोटे होते हैं कि हम बिना किसी माइक्रस्कोप नामक दूर्बीन के उन्हें नहीं देख सकते। इन इतने छोटे कीड़ों में भी ज्ञान के चिह्न पाये गये हैं। बड़ी तेज़ दूर्बीन द्वारा देखने से ये कीड़े एक दूसरे के

साथ जीवन-सङ्ग्राम करते हुए पाये जाते हैं। देखा गया है कि इस जाति का एक छोटा कीड़ा अपने से बड़े कीड़े के ऊपर जाकर चिपट गया। इस पर बड़ा कीड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने को उससे बचाने के लिए उछलने लगा। पर छोटा कीड़ा उसे नहीं छोड़ता था। इस प्रकार यह सङ्ग्राम कुछ देर तक होता रहा। अन्त में छोटा कीड़ा पटक दिया गया। किन्तु पछाड़ खाकर उसने बड़े कीड़े के ऊपर फिर हमला किया। पर बार बार उसे हार माननी पड़ी। इस प्रकार के दृश्य बहुधा देखे जाते हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन छोटे से छोटे कीड़ों को भी अपने जीवन की रक्षा के उपाय करने का ज्ञान प्रकृति ने दे रक्खा है।

इसके बाद जब हम पृथ्वी पर रेंगने और चलने-वाले कीड़ों की ओर दृष्टि डालते हैं तब वहाँ भी प्रकृति की वही लीला देखने में आती है। हम में से बहुतों ने देखा होगा कि किस प्रकार होशियारी से पत्तों को मुँह में पकड़ कर ये कीड़े अपने रहने के सूराख़ में ले जाते हैं कि सहज में वे उनको छोटी माँद के भीतर जा सकें। एक बार दो घोंघे (Snails) एक स्थान पर रक्खे गये। थोड़ी देर के बाद उनमें से मज़बूत कीड़ा लापता हो गया। खोज करने पर मालूम हुआ कि वह एक बाग़ की दीवार पर चढ़ रहा था, जहाँ खूब अन्न जमा था। कुछ देर बाद वह अपने पहले स्थान पर लौट आया और अपने कमज़ोर साथी को अपनी यात्रा की कथा सुनाने लगा। फल यह हुआ कि फिर दोनों उसी स्थान की ओर चले गये।

समुद्र में एक प्रकार का छेछड़ा कीड़ा होता है। उसे अँगरेज़ी में Hyas of Otaheite Crab कहते हैं। अब इसकी बुद्धि और चालाकी की बात सुनिए। अपनी पीठ के ऊपर घास, बालू और सीप के टुकड़ों को रख कर और उनसे अपने बदन को ढक कर यह एक स्थान पर शिकार के इन्तिज़ार में चुपचाप बैठा रहता है। अपने तेज़ पञ्जों को घास से ढक कर हमला करने के लिए तैयार रखता है और अपनी आँखों को घास के बाहर निकाल कर घूरता रहता है। इस प्रकार बिना हिले-डुले बैठ कर यह चारों ओर देखता है कि कौन जीव मेरे पास आते हैं। बड़ी बड़ी मछलियाँ इत्यादि जानवर इसके पास से होकर निकल जाते हैं। पर यह चुप-चाप बैठा रहता है। उन पर झपटता नहीं। क्योंकि उन्हें पछाड़ कर यह निगल नहीं सकता। संयोग से कोई छोटी (Prawn के क़िस्म की) मछली इसके पास आती है। वह नहीं जानती—उसे ज़रा सन्देह तक नहीं होता—कि उस का शत्रु यहाँ छिपा बैठा है। उसके पास आकर वह जल-क्रीड़ा करने लगती है। जब वह उसके खूब समीप आ जाती है तब छेछड़ा अपने छिपे हुए स्थान से निकल कर उस पर झपटता है और अपने तेज़ पञ्जों से उसे पकड़ कर फिर अपने उसी स्थान को शिकार के साथ लौट जाता है और हटी हुई घास को फिर इकट्ठा करके उसी में छिप कर अपने शिकार का भोजन करता है। इस प्रकार चालाकी से वह छोटा सा जीव अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रयत्न किया करता है।

कीड़ों-मकोड़ों में सबसे अधिक विचित्र और तीव्र-बुद्धिवाले जीव मधु-मक्खी और चींटी हैं। मधु-मक्खी के छत्ते को देख कर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो उसकी सुन्दरता और कारीगरी पर मुग्ध न हो जाय। डार्विन साहब एक स्थान पर लिखते हैं—

"वह मनुष्य अवश्य मन्द बुद्धिवाला है जो मधु-मक्खी के छत्ते की सुन्दर कारीगरी का निरीक्षण करके उसकी हृदय से प्रशंसा न करे।" ये चतुर मधु-मक्खियाँ अपने गृह-रूपी छत्ते को ऐसी कारीगरी से यथेष्ट आकार-प्रकार का बनाती हैं कि उसके बनाने में मोम तो कम लगे, पर उसमें शहद अधिक से अधिक जमा किया जा सके। यह भी देखा गया है कि मधु-मक्खियाँ सदैव स्थान और अवस्था का

विचार करके छत्ते लगाती हैं। इससे भी उनकी बुद्धिमत्ता का पता अच्छी तरह लगता है। छत्ते का कोई भाग यदि टूट कर गिर पड़े तो ये कीटक केवल उसी भाग को मोम से नहीं जोड़ते हैं; बल्कि आस पास के भागों की भी मरम्मत कर देते हैं कि ये भी न गिर पड़ें। यह अचरज की बात नहीं तो क्या है? इन मधु-मक्खियों का शत्रु एक बड़ा कीड़ा होता है जो रात के समय चोरी से छत्ते में घुस कर सारा शहद चाट जाता है। इनसे बचने के उपाय मक्खियाँ किस प्रकार करती हैं? सुनिए। जब इन्हें पता लगता है कि शत्रु हमारे एकत्र किये हुए शहद को चुरा ले जाते हैं तब ये छत्ते के बाहर चारों ओर मोम का क़िला खड़ा करती हैं। उनमें ये ऐसे सूराख़ बनाती हैं कि ये स्वयं तो उनसे होकर छत्ते में आ जा सकें, किन्तु उनसे मोटे शरीरवाला उनका शत्रु कीड़ा न जा सके। वर्षा के दिनों में ही ये शत्रु कीड़े इन पर बहुतायत से आक्रमण करने लगते हैं। तभी ये क़िले खड़े करती हैं। ज़रूरत निकल जाने पर फिर क़िलों को तोड़ कर हटा देती हैं। बुद्धि और चतुरता का इससे अधिक प्रमाण और क्या मिल सकता है?

पर मधुमक्खियों से भी अधिक बुद्धि और चतुरता चींटी में पाई जाती है। इनमें, किसी दरजे तक, मनुष्य की तरह सभ्यता और गृह-प्रबन्ध-विधान का प्रचार भी है। मनुष्य की तरह ये दूध पीने के लिए गायें पालती हैं और सेवा के लिए दास-दासियाँ रखती हैं। अफाइड (Aphides) नाम के एक प्रकार के छोटे कीड़े होते हैं। ये कीड़े अपने पेट से एक प्रकार का रस चींटियों के ऊपर टपकाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार की चींटियों को दूध देनेवाले कीड़े भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। चींटियाँ उन्हें, कभी कभी, अपनी ही माँद में रखती हैं। वहाँ ये स्वयं अपने अण्डों की तरह उनके अण्डों की सेवा और देख-भाल करती हैं। पर बड़े होने पर उनके रस से अपना उदर भरती हैं।

इसी प्रकार इनके दास-दासियाँ भी होती हैं। ये दास-दासियाँ भी एक प्रकार की चींटियाँ ही होती हैं। ये दूसरे प्रकार की स्वामी-जाति-वाली चींटियों की सेवा किया करती हैं। ये स्वामी-जाति-वाली चींटियाँ दास-जातिवाली चींटियों पर आक्रमण करती हैं और उनके रहने के छेदों में घुस कर बलपूर्वक उनके अण्डों को, बिना हानि पहुँचाये, अपने सूराख़ों में ले जाती हैं। फिर उनकी शुश्रूषा करके उनसे बच्चे उत्पन्न कराती हैं। वे बच्चे बड़े होने पर इनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार ये शूद्र जातिवाली चींटियाँ इनके दासत्व में उत्पन्न होकर आजन्म अपनी जन्मदायिनी स्वामी-जाति की चींटियों की सेवा करती हैं। अपने दासों के साथ इनका व्यवहार बड़ा अच्छा होता है। मनुष्यों की तरह ये अपने दासों को सताती नहीं; केवल उनसे काम लेती हैं।

स्वामी-जातिवाली विजेता चींटियाँ अपने समस्त काम अपने दासों-द्वारा कराती हैं। यहाँ तक कि कभी तो इन्हें भोजन भी इनकी दास-चींटियाँ ही कराती हैं। दास-चींटियाँ स्वामी के लिए गृह की रचना करती हैं, उनके बच्चों की देख-भाल तथा उन्हें चारा देना इत्यादि गृहस्थी के काम करती हैं। ह्यूबर (Huber) नामक एक फ़्रेञ्च विद्वान् ने स्वामी-जाति की तीस चींटियों को पकड़ कर अण्डों के समेत उनको एक सन्दूक़ में बन्द किया और उनके भोजन के लिए कुछ शहद रख दिया। दो दिन के भीतर ही, दास-दासियाँ न होने के कारण, उनमें से आधी चींटियाँ मर गईं। बाक़ी अधमरी-सी हो गईं। उनकी इस दुर्बल अवस्था पर तरस खाकर ह्यूबर साहब ने उनके बीच दास-जाति की एक चींटी डाल दी। बस, फिर क्या था! दास-चींटी ने आते ही सन्दूक़ में पड़ी हुई मिट्टी में एक सूराख़ बनाया। उसमें अण्डे रख कर बच्चे निकाले और पास रक्खे हुए शहद का

कुछ भाग लेकर अधमरी स्वामी-जाति की चींटियों को भोजन कराया। उसने बालबच्चों की देख-भाल भी की, जिससे चारों ओर अमन-चैन फैल गया।

चींटियों और शहद की मक्खियों की तीन ख़ास जातियाँ होती हैं—(१) नर, (२) मादी, जो बच्चे पैदा कर के कुटुम्ब बढ़ाती है और (३) दासी मादी, जो इनकी सेवा करती है और छत्ते और घर बनाने का सारा काम करती है।

मेक्सिको देश में एक विचित्र प्रकार की चींटियाँ होती हैं। वे अपने पेट में बहुत सा शहद जमा कर रखती हैं। दूसरी काम-काजी चींटियों को, भूख लगने पर, पेट से उसे निकालती और समय पर दिया करती हैं। काम-काजी चींटियाँ पहले स्वयं इधर-उधर से शहद जमा करके अपने मुँह में ले आती हैं। जिस प्रकार कबूतर चारा अपने मुँह में जमा करके अपने बच्चों को खिलाने के लिए ले आते हैं उसी तरह ये भी मधु लाती हैं। ये उसे दूसरी अपाहिज चींटियों के मुँह में डालती हैं, यहाँ तक कि उनका पेट शहद से लबालब भर जाता है। यदि हम उनके पास जायँ तो उनके पेट की झिल्ली के भीतर वह झलकता हुआ दिखलाई पड़ता है। पेट में शहद जमा करके ये अपाहिज शहद-वाली चींटियाँ अपनी माँद की छत से चिपट कर लटकी रहती हैं। जब काम करते करते दूसरी चींटियों को भूख लगती है तब वे इन शहद की चींटियों के पास आकर उनसे भोजन की प्रार्थना करती हैं। तब ये अपना मुँह खोल कर एक बूँद शहद टपका देती हैं। भूखी चींटी उसे चाट कर क्षुधा निवारण करती है और फिर अपने काम पर चली जाती है। इन अपाहिज चींटियों का काम केवल यही होता है कि एक स्थान पर बैठी रह कर अपने पेट में शहद जमा करती जायँ और कामकाजी चींटियों को भूख लगने पर उसे बाँट दें। इसके अतिरिक्त अन्य कोई काम ये नहीं करतीं।

हमारे देश में वर्षा-ऋतु के बाद चींटियों की क़तार अपनी माँदों से निकल कर धूप में आती हुई प्रायः देखने में आती है। इस क़तार की चींटियाँ अपने मुँह में अन्न के एक एक दाने दबाये रहती हैं। कभी कभी दाने का बोझ अधिक हो जाने से कोई कोई कमज़ोर चींटी गिर जाती है। किन्तु दीवार इत्यादि ऊँचे स्थानों से गिर कर भी अपने दाने को वह नहीं छोड़ती। ये चींटियाँ बरसात आने के पहले अपनी माँदों में अन्न के बहुत से दाने लाकर इकट्ठा कर लेती हैं। वर्षा के दिनों में जब वे बाहर नहीं निकल सकतीं तब उन्हें घर में बैठी बैठी खाती हैं। जब वर्षा समाप्त हो जाती है तब बचे हुए दाने अपने अपने मुँह में दबा कर सील के स्थान से निकलती हैं और धूप में आ कर गीले दानों को सुखाती हैं। उनके सूख जाने पर फिर अपनी माँदों में उन्हें ले जाती हैं।

एक और भी विचित्र बात देखी गई है। जब इन चींटियों की क़तार निकलती है तब इनके अगुवा आगे आगे चलते हुए मार्ग की देख-भाल करते हैं और फिर लौट कर पीछेवाली चींटियों को आगे की ख़बर देते जाते हैं। अमेरिका में ये चींटियाँ अपने बचे हुए दानों को पृथ्वी में डाल कर खेती करती हुई देखी गई हैं।

ब्रेज़िल और मध्य अफ़रीक़ा के गर्म देशों में एक बड़ी भयानक जाति की चींटियाँ होती हैं। ये चींटियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर हमला करती हुई चलती हैं और जो जो पदार्थ इनके आगे आ जाते हैं उन सब को स्वाहा करती हुई आगे बढ़ती हैं। इनके भय से शेर से लेकर छोटे कीड़े तक सभी जीव-जन्तु इनके आगे से

दूर भाग जाते हैं। अपने मार्ग में जब इन्हें मरु-भूमि या ऐसा स्थान मिलता है जहाँ छाया के लिए कोई वृक्ष नहीं, तब ये सूर्य की तेज़ किरणों से बचने के लिए पृथ्वी में सुरङ्गें खोद कर दिन को उनके भीतर चलती हैं और रात को उनके ऊपर। जब इन्हें भूख लगती है तब इनकी क़तार-रूपिणी सेना के अफ़सर क़तार तोड़ कर इधर-उधर फैलने की आज्ञा देते हैं। तब ये चारों ओर फैल कर आस पास की सारी वस्तुओं और जीव-जन्तुओं पर आक्रमण करती हैं। इस आक्रमण के सामने बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, गाय, बैल, सभी जीव अपनी अपनी जान बचा कर भागते हैं। वहाँ के निवासी हबशी—स्त्री, पुरुष, बच्चे और बूढ़े भी—सब अपने अपने घरों से निकल कर जङ्गल का रास्ता लेते हैं। इनके चङ्गुल में आ जाने से चूहा, कुत्ता, चीता और हरिण थोड़े ही समय में अपने प्राण गमा देते हैं। झुण्ड की झुण्ड चींटियाँ उनके बदन से चिपिट जाती हैं और बात की बात में उन्हें खा जाती हैं।

डू चैलू नाम के एक फ़्रेञ्च महाशय लिखते हैं कि इनके आने की ख़बर पाकर रात को चारपाई छोड़ कर घर के बाहर उन्हें अनेक बार भागना और निकट की एक झील के पानी में छिपना पड़ता था। तिस पर भी जो चींटियाँ आगे बढ़ जाती थीं वे इनके कपड़ों में घुस कर इन्हें काटती और पीड़ा पहुँचाती थीं। जब ये चींटियाँ किसी मकान में घुसती हैं, घर के सारे जानवरों को खाकर साफ़ कर देती हैं। चूहे अपने अपने बिलों से निकल और इधर उधर भाग कर जान बचाने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु बच नहीं सकते। इनके शरीर से चींटियों के लिपट जाने पर एक ही मिनिट में हड्डी के सिवा कुछ नहीं बच रहता। एक बार किसी जीव के शरीर पर चिपिट कर फिर उसे छोड़ना ये नहीं जानतीं। कहते हैं, किसी समय में अफ़रीक़ा के इस प्रदेश में कुछ अपराधियों को किसी वृक्ष से बाँध कर छोड़ देने की सज़ा दी जाती थी। बस ये चींटियाँ उन पर आक्रमण कर के उन्हें एकबारगी गटक जाती थीं।

बन्दरों की कथा तो बहुतों ने सुनी होगी कि वे नदी पार करने के लिए किस प्रकार एक दूसरे की कमर से लिपिट कर पुल बना लेते हैं। इसी प्रकार अफरीक़ा की ये चींटियाँ भी अपनी सेना को किसी नाले या नदी के पार उतार देने के लिए पुल बनाती हैं। नदी के एक किनारे के किसी वृक्ष पर चढ़ कर एक दूसरी से लिपिट कर बड़ी लम्बी रस्सी सी बना लेती हैं। तब अपने नीचे के सिरे को नदी की धारा में डाल कर धारा के साथ दूसरे किनारे पर पहुँच जाती हैं। वहाँ पहुँच कर दूसरे वृक्ष पर चढ़ जाती हैं, जिससे एक अच्छा पुल बन जाता है। उस पर चढ़ कर सारी सेना पार उतर जाती है। जब मार्ग में किसी नदी की बाढ़ आ जाती है तब उससे बचने का उपाय और भी विचित्र है। तब एक दूसरी से लिपिट कर ये नारङ्गी की तरह एक गोला सा बन जाती हैं। गोला, पानी के वज़न से हलका होने के कारण, पानी पर तब तक तैरता रहता है जब तक कि बाढ़ घट नहीं जाती। गोले के ऊपरी भाग में मज़बूत चींटियाँ रहती हैं और भीतरी भाग में स्त्री और बच्चे हिफ़ाज़त से बैठे रहते हैं।

चींटी की जाति की दीमक भी होती है। चींटी की तरह ये भी बड़े सुन्दर मकान बनाती हैं। इनमें एक राजा और एक रानी होती है। रानी अण्डे देकर वंशवृद्धि करती है। इनकी सेवा के लिए दूसरी दीमक-चींटियाँ होती हैं। ये बड़ी होशियारी से लकड़ी इत्यादि की बनी हुई वस्तुओं को इस प्रकार चाँट जाती हैं कि जब तक उस वस्तु का पूरा अन्त नहीं हो जाता तब तक उसके मालिक को पता नहीं लगता कि उसमें दीमक लगी है।

इन चींटियों और मधुमक्खियों से हमें कितनी ही शिक्षायें मिलती हैं। ये छोटे छोटे जीव, जिन्हें मनुष्य हथेली पर रख-कर फूँक से उड़ा सकता है, एकता और सुमति से अपना समूह बना कर बुद्धिमान् मनुष्य और बलवान् शेर या हाथी को दम की दम में पछाड़ कर हज़म कर जाती हैं। मनुष्य भी एकता के बल से क्या नहीं कर सकता?

इसके बाद यदि हम चिड़ियों की ओर दृष्टि डालें तो वहाँ भी अपनी और अपनी सन्तान की रक्षा, सन्तान से प्रेम और जीवन-सङ्ग्राम का दृश्य देखने को मिलेगा। चिड़ियों के घोंसले कैसे सुन्दर, स्वच्छ और कारीगरी से युक्त होते हैं। किस प्रकार नर और मादा दोनों अपने छोटे छोटे बच्चों के पालन-पोषण और उनके भोजन की सामग्री जमा करने में लगे हुए देखने में आते हैं। देखा गया है कि भिन्न भिन्न स्थानों में ये पक्षी भिन्न भिन्न प्रकार के घोंसले अपने रहने के लिए बनाते हैं। वे स्थान और परिस्थिति के अनुकूल होते हैं। इससे इनकी बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है। फिर, कौये तो अपनी चालाकी के लिए प्रसिद्ध ही हैं। किस प्रकार ये बच्चों के खाने की वस्तुयें चुरा कर ले जाते हैं। इनमें जातीय एकता का भी कितना आदर और भाव है। किसी कौवे पर कष्ट आ पड़ने पर चारों ओर से दूर दूर के सारे कौवे सहायता पहुँचाने और सहानुभूति दिखलाने को किस प्रकार आ पहुँचते हैं। चील्हों की चतुराई भी पाठकों को मालूम होगी। किस प्रकार ऊपर, छिपे हुए स्थान पर, बैठ कर शिकार की टोह में ये लगी रहती हैं। हाथ में खाद्य वस्तुओं का दोना ले जाते हुए भूखे मनुष्य पर झपट कर किस प्रकार ये उसके हाथ से भोजन छीन कर ले जाती हैं। ये सब बातें बड़ी विचित्र और विज्ञान-गर्भित हैं।

इन्हें छोड़ कर यदि हम घरेलू पालतू जानवरों की ओर आवें तो यहाँ और भी अधिक बुद्धिमत्ता के चिह्न मिलेंगे। बिल्ली का चूहों का शिकार करना और चूहों का अपनी जान उनके दुष्ट पञ्जों से बचाना देखने लायक़ तमाशा है। दोनों की चपलता चतुराई भरी होती है। कुत्तों का अपने स्वामी और उसके परिवार के साथ अगाध प्रेम होना विचित्रतायुक्त नहीं तो क्या है। देखा गया है कि कुत्ता अपने स्वामी की जान और माल की रक्षा में अपनी जान तक खो देता है। रात भर जग कर कितनी होशियारी से वह अपने स्वामी के घर की रक्षा चोरों से किया करता है। अपने स्वामी की बातों को वह कितनी अच्छी तरह समझ लेता है, यह भी अद्भुत बात है।

बन्दरों की बुद्धिमानी, जातीय एकता और चालाकी इतनी बढ़ी हुई है कि डार्विन साहब ने मनुष्य को बन्दरों की सन्तान बता दिया है। हमारे यहाँ भी रामायण में हनूमान्, सुग्रीव इत्यादि योद्धाओं को बन्दर का रूपक दिया गया है। वृन्दावन, अयोध्या तथा चित्रकूट में जाकर बन्दरों से हम भारतवासियों को समाज-रचना, जातीय एकता और सन्तान-प्रेम का उपदेश लेना चाहिए। देखा गया है कि किसी सामाजिक नियम के तोड़ने पर बन्दरों की पञ्चायत से नियम तोड़नेवाले को दण्ड दिया जाता है! वे उसे, कुछ काल के लिए, समाज से बहिष्कृत कर देते हैं। बहिष्कार की अवधि पूर्ण हो जाने पर वह फिर से समाज में ले लिया जाता है। बन्दरों के बच्चों को हम, क्या मजाल, किसी प्रकार किसी तरह की हानि पहुँचाने का प्रयत्न तो करें या किसी बन्दर को कष्ट तो दें! यात्रियों के सिर से किस प्रकार टोपी उतार कर ये ले जाते और वृन्दावन के मकानों पर जाकर बैठ जाते हैं। पर कुछ दक्षिणा मिलते ही उसे डाल देते हैं।

इनके अतिरिक्त, लोमड़ी से लेकर बड़े बड़े

सिंह तक शिकारी पशु, चालाकी और बुद्धिमत्ता से भरे होते हैं। भेड़िया एक बड़ा भयानक शिकारी पशु है। पर, इतना होते हुए भी, इसका बच्चों के साथ कितना प्रेम होता है। इनकी मादों में मनुष्य के बच्चे पाये गये हैं। उन्हें ये रात को गाँवों में घुस कर उठा ले गये हैं और अपनी मादों में अपने बच्चों के साथ रख कर पालापोसा है। बड़े हो जाने पर ये भेड़िये के यहाँ पले हुए मनुष्य-बालक, अपने पालनेवालों की तरह, हाथों के बल चलते हुए पकड़े गये हैं और बहुत दिनों तक मनुष्य-मण्डली में रखने पर फिर मनुष्य का जैसा आचरण करने लगे हैं। इसी प्रकार, दूसरे बड़े पशुओं को देखें तो उनमें भी विचित्रता पाई जायगी। हाथी कितना चतुर पशु है। अपने स्वामी के मर जाने पर यह दूसरे फीलवान को हाथ नहीं लगाने देता। पर अपने पहले फीलवान के छोटे पुत्र को अपनी गरदन पर बिठा कर उसके इशारे से चलने लगता है। क्या पक्षी और क्या पशु, संसार में जिधर दृष्टि डालिए उधर, यही विचित्रता और प्रकृति की महिमा देखने में आती है।

जगन्नाथ खन्ना,
(बी० एस-सी०, इ० इ०)

ग्रीष्म।

आँधी की हहर है कि तोपों की घहर घोर, धूलि का कहर धूम्र-धारा या अभङ्ग है।
दिनकर-कर हैं कि कुन्त या कृपाण ही हैं, सैनिक विटप झूमे प्रकट उमङ्ग है॥
सूखे सर निकट विकट विषमयी गैस, बिखरे पलाश या भटों का अङ्ग-भङ्ग है।
भीष्म यह ग्रीष्म की चढ़ाई अवनी पै हुई, या की तीव्र-ताप-कारी योरुप की जङ्ग है॥१॥
चण्डकर प्रात ही से परम प्रचण्ड हुए, खण्ड खण्ड में अखण्ड छाई बेहवासी है।
ताप-खङ्ग खाये प्यास प्यास पानी पानी रटें; जान है बचाये बनी बर्फ़ तो दवा सी है॥
प्राण-गथ लूट रही लिपट लपट लू की; पन्थी-प्राण-घातिनी है क्या यह हवा सी है?
दहके तनूर से तमाम तहख़ाने हाय! पक गये लोग भूमि तपती तवा सी है॥२॥
समिध-वसन, हव्य-तनु, घृत स्वेद-पुञ्ज, कुण्ड ही सा भासित भवन आज होता है।
हा! हा! करते नहीं हैं स्वाहा बोलते हैं लोग, "हरे हरे" हरि का स्तवन आज होता है॥
तप कर जाता विष्णु-पद-दिश दौड़ दौड़, गन्ध लेके पावन पवन आज होता है।
ग्रीष्म के बहाने से प्रकृति ने रचा है यज्ञ, लोक-हित के लिए हवन आज होता है॥३॥
पेड़ जाते उजड़ झुलस जातीं झाड़ियाँ भी, बेलें बेल जातीं घास-त्रास कौन हरता।
पक्षी पर-हीन होते, मृग-गण दीन होते, मीन होते विकल कलोल कौन करता॥
झड़ती झपाटे से न वारि-धार झरनों से, सुरसरितादि में सलिल कौन भरता।
तपनि की ताप से तवा सा तप जाता यदि, धराधराधिप हिम सिर पै न धरता॥४॥
ग्रीष्म स्वर्णकार बना, भट्टी सा नगर-वर, घरिया सा घर वस्त्र-भूषण अँगारा से।
मारुत की धौंकनी प्रचण्ड तन फूँके देती, उठते बगूले हैं विचित्र धूम-धारा से॥
छार छा रही है, दम नाक ही में ला रही है, बचना कठिन है सनेही और द्वारा से।
आके घनश्याम जो न देंगे कहीं दर्श-रस, ताप-वश पल में उड़ेंगे प्राण पारा से॥५॥

सनेही

भारतीय पुरातन राजनीति।

[३]

स्वामि-विभाग।

सेनापति-विहीन सेना किसी काम की नहीं। उसे केवल भेड़ों का झुण्ड कहना चाहिए। उसी तरह नायक के बिना यह पृथ्वी भी सुख-शान्ति-पूर्वक अपनी उन्नति नहीं कर सकती; उन्नति होना तो दूर रहा, शान्ति से भर पेट अन्न भी नहीं पा सकती। बिना नायक के दिन रात कलह मची रहे; जिस तरह छोटी मछली को बड़ी मछली हड़प जाती है उसी तरह निर्बल को सबल खा जाय; सतियों का सतीत्व संसार से विदा हो जाय। ऐसी ही बातों से बचने के लिए संसार में राजा की सृष्टि हुई है।

जन-समुदाय ने, अपने ही में से ऐसे एक परोपकारी व्यक्ति को अपना अगुआ, अथवा दूसरे शब्दों में राजा, चुना जो अन्य दुष्टात्माओं से उसके जान-माल की रक्षा कर सके और उस पर किसी प्रकार अत्याचार न होने दे, एवं ऐसा कोई सन्मार्ग बतावे जिस पर चल कर प्रजा उन्नत हो। प्राचीन राजनीतिकारों का मत है कि राजा ही युग का प्रवर्तक है। राजा यदि अपना कर्तव्य ठीक ठीक पालन करे तो वह कलियुग को सत्ययुग बना सकता है। राजा की अवतारणा प्रजा पर हुकूमत करने के लिए नहीं हुई, किन्तु उत्तम शासन की स्थिति के लिए हुई है। प्रजा ने अपना अंश प्रदान करके राजा को जो इतना शक्तिशाली बनाया, वह इसलिए नहीं कि राजा अपनी वासनायें पूरी करे; किन्तु सर्व-साधारण की रक्षा और उन्नति करनेवाली शासन-संस्था पुष्ट रहे और अपना कार्य्य सुचारु रूप से कर सके, केवल इसी लिए प्रजा ने उसका अधिकार-क्षेत्र इतना विशाल बनाया है। राजा शासन-संस्था का प्रधान सञ्चालक है। जिस तरह सर्वसाधारण के द्रव्य से स्थापित संस्था का भार किसी परोपकारी विश्वस्त और सदाचारी सज्जन को सौंपा जाता है, और, जिस तरह संस्था का सञ्चालक संस्था-सम्बन्धी अपने कार्यों के लिए सर्वसाधारण के समक्ष उत्तरदाता है, उसी तरह प्रजा के द्रव्य से स्थापित राज्य भी प्रजा की सम्पत्ति है; उसका सञ्चालक, राजा, यदि राज्य-द्रव्य का दुरुपयोग करे तो वह भी प्रजा के समक्ष उत्तरदाता है। कोई राजा यदि यह समझे कि मुझे तो यह राजमुकुट ईश्वर से प्राप्त हुआ है; ईश्वर ने मुझे दूसरों के ऊपर शासन करने के लिए ही उत्पन्न किया है, तो यह उसका अविचार है। क्योंकि धन, सेना आदि राजोपयुक्त सामग्रियाँ उसे ईश्वर नहीं दे जाता; प्रजा ही देती है। जब प्रजा एकता करके राजा को राजसिंहासन से उतार देती है तब उसको सिंहासन पर बिठानेवाला ईश्वर कुछ नहीं कर सकता। यदि प्रजा राजा का शासन न माने तो उसके राजमुकुट का महत्त्व कोने में पड़ा रह जाय। इसलिए प्रजा ही राजा को राज्य-प्रदान करनेवाली तथा उसका महत्त्व बढ़ानेवाली है। परिणामतः राज्य-सम्पत्ति प्रजा की ही सम्पत्ति है—प्रजा का ही अधिकार उस पर है; राजा उसका केवल प्रबन्ध-कर्ता मात्र है। जिस तरह यति इन्द्रियों का संयमन करके स्वयं सदाचारी बनता और दूसरों को भी बनाता है उसी तरह राजा भी जितेन्द्रिय होकर स्वयं सदाचारी बनता तथा प्रजा को सदाचारिणी बनाता है। यति जिस तरह अनेक कष्ट सहता हुआ दिन रात अपनी ध्येयसिद्धि में लगा रहता है, उसी तरह राजा, अनेक कष्ट सहन करके, शिष्ट-परिपालन और दुष्ट-निग्रहरूप अपनी उद्देश्य-पूर्ति में अहर्निश लगा रहता है। प्रकृति का अनुरञ्जन किये बिना राजा, राजा ही नहीं कहला सकता। कहा ही है—राजा प्रकृतिरञ्जनात्। राजा का प्रजा के साथ इतना सौहार्द होता है कि प्रजा के हृदय-स्रोत के साथ उसके हृदय के स्रोत मिल जाते

है—दो धारायें मिल कर एक धारा बन जाती है। वादीभसिंह सूरि जी ने बहुत ठीक कहा है—"सुख-दुःखे प्रजाधीने तदा भूतां प्रजापतेः। प्रजानां जन्मवर्जं हि सर्वत्र पितरौ नृपाः"—जिस तरह कवि अपनी रसमयी कविता द्वारा जन-समुदाय को यह बताता है कि इस मार्ग से जाने से जीवन आनन्द के साथ बीत सकता है और मनुष्य संसार में महत्त्व भी पा सकता है, अथवा जिस तरह वैद्य रोगी के हित पर ध्यान रख कर प्रसङ्ग पड़ने पर उसको कटु ओषधि भी देता है, ठीक उसी तरह राजा प्रजा को उसी मार्ग पर चलाता है जिस पर चलने से प्रजा अपना जीवन सुख-शान्ति-पूर्वक व्यतीत करती और संसार में उचित सत्कार भी पाती है। एवं कभी कभी दण्ड-रूप कटु औषध भी देता है। यदि संसार से धर्म्म की कल्पना नष्ट हो जाय तो यह लोक पापों का सागर बन जाय, कोई भी परलोक का भय न करे, कोई भी किसी तरह के पाप करने से न हिचके, स्वार्थ का ही सर्वत्र साम्राज्य हो जाय। उसी प्रकार यदि कोई राजा न हो तो सर्वत्र अन्धेर मच जाय, जिसके मन में जो आवे वही करने लगे और निर्बलों को तो इस सृष्टि से कूच ही करना पड़े। इन सब बातों को सोचने से, धर्म्म-कल्पना की तरह, राज-कल्पना भी सर्वसाधारण के लिए बड़ी उपकारिणी है। ऐसे उपकारों के ही कारण प्रजा राजा का इतना सम्मान करती है और प्राणों के समान उसका प्यार भी करती है। कहा भी है—

"प्राणा नृपालाः सकलप्रजानां, यत्तेषु सत्स्वेव च जीवनानि।"
"इष्टाय लोकस्य धराधिनाथः क्लिश्नाति नित्यं परिपालनेन।
छायाश्रितानां परिपालनाय तरुर्यथाप्नोति रविप्रतापम्॥"

जीवन्धरचम्पू।

जिस राजा की स्तुति में यह कहा गया है उसी राजा के विषय में प्राचीन राजनीतिकारों ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जिन पर राजा को, और जो उसको राजा बनाते हैं उनको सदैव ध्यान रखना चाहिए। वे बातें ये हैं—

प्रत्येक राज-पुत्र राज-सिंहासन को अलङ्कृत नहीं कर सकता। जिसका अधिकार आम्नाय-सिद्ध अर्थात् वेद-विहित हो उसी को स्वामी बनाना चाहिए। अन्यथा, राजपुत्र राज्य-प्राप्ति के लिए आपस में ही लड़ पड़ते और व्यर्थ के लिए शान्ति भङ्ग कर बैठते हैं। इस प्रकार के युद्धों में हानि के सिवा लाभ कुछ भी नहीं। प्रथम हानि तो यही है कि दोनों ओर की शक्ति क्षीण हो जाती है। शक्ति क्षीण हो जाने से शत्रु, मौक़ा पाकर, आक्रमण करके राष्ट्र को अपने अधीन कर सकता है। राज्य-प्राप्ति के लिए आपस में लड़ते तो हैं राजपुत्र, पर इसका फल भोगना पड़ता है देश भर को। आपस के झगड़े से मनुष्य नीच-हृदय और विवेक-हीन हो जाता है। इससे दो कलहकारियों में जो निर्बल होता है वह किसी तीसरे का सहारा लेलेता है और अपने शत्रु के प्रति उसको उकसा कर चढ़ा लाता है। इससे देश की कितनी क्षति होती है, यह छिपा नहीं। यद्यपि इस कार्य्य से आक्रमणकारी की भी भलाई नहीं होती, तथापि उस मूर्ख को इतना ज्ञान कहाँ! वह तो अपने शत्रु का अहित करने के लिए सभी कुछ करता है। ठीक ही है—दूसरे का अशकुन करने के लिए महामूर्खजन अपनी नाक भी कटा डालते हैं! सारांश यह कि प्रजा के नेता, मन्त्री और सेनापति आदि राज्य-सञ्चालक अपने अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि देकर देश में शान्ति बनी रखने के लिए, देशभक्ति के नाते, ज्येष्ठ राजपुत्र को ही राज-सिंहासन पर बिठावें, अन्य को नहीं। उसका तो कभी अनुमोदन तक न करें। इससे अनधिकारी राजपुत्र राज्य-प्राप्ति के लिए कभी प्रयास न करेगा। पूर्व पूर्व राज्याधिकारी के अभाव में निम्नलिखित पुरुष राज्य के उत्तराधिकारी हैं—सुत, सोदर्य (सहोदर भ्राता), सापत्न, पितृव्य, कुल्य (राजकुल में प्रसूत) दौहित्र (नाती) और

आगन्तुक। यदि समय पर अन्य योग्य राजपुत्र न मिले तो विकलाङ्ग राजपुत्र को ही गद्दी पर बिठा देना चाहिए; परन्तु तभी तक के लिए जब तक कि उसके कोई पुत्र न हो। राजपुत्र के अभिभावकों का कर्तव्य है कि उसे, कार्यक्षेत्र में उतरने के पहले ही, राजोपयुक्त शिक्षा देकर राज-काज में प्रवीण कर दें; क्योंकि आँखों के रहने पर भी मनुष्य बिना शास्त्र-ज्ञान के अन्धा ही है—और अज्ञानी से बढ़ कर पशु और कौन हो सकता है? इसलिए पृथिवी बिना राजा के ही भली; पर मूर्ख राजा अच्छा नहीं। प्रजा को तहस नहस करने के लिए दुर्विनीत राजा से बढ़ कर और कोई दुस्साधन नहीं। अतः उसे शिष्ट पुरुषों से शिक्षा दिलाकर विनीत बनाना चाहिए। क्योंकि "विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्"।

स्वामी में ये ये गुण होने चाहिए। इन गुणों के विना उसमें प्रभु बनने की पात्रता ही नहीं आसकती।

१--धार्मिकता--जो राजा धर्म्मात्मा है वही विषय-वासनाओं में आसक्त न होकर अपने कर्तव्य में निरत रहता है। वह प्रजा पर अत्याचार नहीं करता और अपने राज्य में सभ्यता तथा धर्म्म का प्रसार करता है। क्योंकि—राज्ञि धर्म्मिणि धर्म्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः—प्रजा को धार्मिक राजा ही अभीष्ट है, यह उसके दैनिक शान्तिपाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है। उस शान्ति-पाठ का एक चरण, नमूने के तौर पर, नीचे लिखा जाता है—

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः"

२--कुलाचाराभिजन-विशुद्धि अर्थात् सत्कुलीनता। सत्कुल-प्रसूत पुरुष ही राज्य की बाग-डोर लेकर प्रजा को सुखी कर सकता है। कुलीन पुरुष उदाराशय होता है। वह नीच काम नहीं करता। इसके विरुद्ध, अकुलीन पुरुष अपनी परम्परागत नीचता कभी नहीं छोड़ता, न अकीर्त्ति से भयभीत ही होता है। सच तो यह है कि संसार में ऐसा कोई निषिद्ध काम नहीं, जिसे अकुलीन पुरुष करने में हिचके। राजा सदाचार का प्रधान स्रोत है। इसलिए उसे सदाचारी बनने की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस राजा का अभिजन अर्थात् पूर्वजों का वासस्थान श्रेष्ठ है वही श्रेष्ठ स्वामी है; यदि म्लेच्छ अभिजनवाला पुरुष राजा हो तो वह म्लेच्छों के ही सदृश व्यवहार अधिकतर करता है। बहुत कुछ सुधार करने पर भी उसमें अपने अभिजन का लटका कुछ न कुछ बना ही रहता है। इसलिए श्रेष्ठ अभिजनधारी पुरुष ही प्रभुता का पात्र है।

३--प्रताप—जो राजा प्रतापी है वही सर्वसाधारण पर यथार्थ निग्रह और अनुग्रह कर सकता है; शत्रुओं के ऊपर उसका आतङ्क छाया रहता है। इसलिए शत्रुगण उसके राज्य पर दाँत नहीं गड़ा सकते। प्रजा भी उसके भय से अन्याय नहीं कर पाती। जिस पुरुष को अधिकृत पुरुषों की रक्षा का भार सौंपा गया है उसे अपने कर्तव्य-पालन के लिए प्रतापी होना अत्यन्त आवश्यक है। कहावत है—"वीरभोग्या वसुन्धरा"। इससे ज्ञात होता है कि सज्जनों के परित्राण और दुष्कर्माओं के विनाश का भार प्रतापी पुरुष ही ले सकता है, अन्य पुरुष नहीं।

४—नयानुगतवृत्ति—न्याय का प्रधानस्तम्भ राजा है। क्योंकि न्याय की हिंसा के निरोध के लिए ही यह सारा खेल है। अतएव उसे तो सब काम न्यायानुसार ही करने चाहिए, न्यायवृत्ति से जो वर्तन करे वही उसका बन्धु और न्यायसीमा का जो उल्लङ्घन करे वही उसका शत्रु है। इसके सिवा राज्य की जड़ नय और विक्रम ही है। जो अपने राज्य

की जड़ नष्ट नहीं करना चाहते उन्हें चाहिए कि वे उसी व्यक्ति को अपना स्वामी बनावें जो नीति-निष्ठ हो। स्वामी का ही दूसरा नाम प्रभु है, जिसका अर्थ है—जो अपने अधिकृत पुरुषों पर निग्रह और अनुग्रह करने में स्वतन्त्र हो।

यदि प्रकृति (प्रजा और मन्त्री आदि) यह कहे कि स्वामी की क्या ज़रूरत, बिना स्वामी के ही हम काम चला लेंगे, तो उसकी यह समझ नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि बिना स्वामी के यह पृथ्वी न कभी रही और न कभी रहेगी। फिर वह चाहे तो किसी व्यक्ति को आजीवनस्थायी नायक चुने या निश्चित काल के लिए अस्थायी; पर अपना नायक तो चुनना ही होगा। क्योंकि स्वामी के बिना सभी लोग "अहमिन्द्र" हो जाते हैं; कोई किसी की आज्ञा नहीं मानते; मनमाना काम करने लगते हैं; जिसकी लाठी उसी की भैंसवाली बात हो जाती है; सारा शासन-सूत्र उलट-पलट जाता है; लोग-बाग आपस में ही लड़ मरते हैं और दिन-रात अशान्ति मची रहती है। इसलिए नाम-मात्र के ही लिए क्यों न सही, पर राजा होना अवश्य चाहिए। वह बैठा बैठा सरकारी काग़ज़ों पर हस्ताक्षर तो करता रहेगा। राजा के रहने से प्रजा को सहसा कोई दबा नहीं सकता। अतएव सब प्रकृतियाँ—मन्त्रि-मण्डल तथा प्रजा—स्वामी होने से ही अपने मनोरथ पूर्ण कर सकती हैं, बिना स्वामी के नहीं। क्योंकि बे-जड़ के पेड़ की सेवा से मिहनत कहीं सफल हो सकती है? ऐसे वृक्षों के लिए क्यारी बनाना, जल सींचना आदि सब काम निरर्थक हैं। राज्य-रूपी वृक्ष का मूल राजा, स्कन्ध मन्त्री, शाखा सेनापति, पत्ते सेना, फूल प्रजा, फल भूभाग तथा बीज भूमि है। अब राजा के लिए

निषिद्ध बातें

सुनिए। राजा को असत्यवादी न होना चाहिए। क्योंकि झूठे आदमी के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव सत्य वचनों की रक्षा के लिए राजा को अनुवीचिभाषी होना चाहिए। महाकवि कालिदास की उक्ति है—"सत्याय मितभाषिणाम्"। राजा प्रामाणिक और महत्त्वशाली व्यक्ति है। इसलिए उसके वचन भी युक्तिगर्भ और सार्थक होने चाहिए। राजा को वञ्चक न होना चाहिए। ठग के पास न तो धन ही रहता है और न परिजन। इसके सिवा उसको इस जगत् से अपनी ऐहिक लीला भी शीघ्र ही संवरण करनी पड़ती है। नृपति अपनी मण्डली में क्षुद्र पुरुषों को शामिल न करे। क्योंकि, जिस तरह लोग ससर्प-गृह में नहीं बसना चाहते उसी तरह चतुर मनस्वी पुरुष क्षुद्र-परिवेष्टित राजा से भी व्यवहार नहीं रखना चाहते। जिस तरह अग्नि अपने आधार को भी भस्म कर देती है उसी तरह खल पुरुष अपने आश्रय-दाता ही को मिट्टी में मिला देते हैं। इसलिए राजा को दुर्जन-रूपी साँपों से सदैव बचे रहना चाहिए। क्षत्र-चूड़ामणि का वचन है—"दुर्जनाहीञ्ज-हीहि त्वं तेहि सर्वंकषाः खलाः।"

राजा को कृतघ्न न बनना चाहिए। क्योंकि विपत्ति में अकृतज्ञ का कोई भी सहायक नहीं होता। जिस तरह पानी में नमक की कङ्कड़ी छोड़ देने से फिर उसका नामोनिशान भी नहीं रहता, उसी तरह असभ्य नीच पुरुषों के हृदय में कृतोपकार अर्थात् परोपकारी पुरुष की स्मृति का लेश भी नहीं रह जाता। काम हो जाने के बाद वे उसको भूल जाते हैं। कृतघ्न के गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह लवण की डली आग पर पड़ने से चिटक जाती है। अतः राजा को कृतज्ञ होना चाहिए। जो जैसा काम करे उसको उसी काम के अनुसार पारितोषिक देना चाहिए। क्योंकि संसार को वही प्यारा है जो उसे धन दे। संसार पैसे का दास है, न कि मनुष्य का। वही महान् दानी है जो दूसरे को निस्स्वार्थ अर्थात् बे-ग़रज़ दान देता है। बड़े पुरुषों की यही विशेषता है कि वे दूसरे का उपकार करके भी उससे सदैव निस्पृह रहते

तथा प्रत्युपकार-भीरु होते हैं। प्रत्युपकारी का उपकार क्या है, सवृद्धिक अर्थन्यास है।

राजा को अविशेषज्ञ न होना चाहिए। क्योंकि शिष्ट मनुष्य अविशेषज्ञ जन का आश्रय नहीं करते। और उनके आश्रय न लेने से राजा अच्छा लोक-सङ्ग्रह कभी नहीं कर सकता, जो राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। महफ़िल में बैठने तथा मुजरे सुनने की चाट राजा को न होनी चाहिए। क्योंकि इनका चसका मनुष्य को धन, मान और प्राण से पृथक करा देता है। अधिक विषयासक्ति की अवहेलना करना भी राजा को उचित है। अत्यन्त विषयासक्ति से मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है। शृङ्गाररस अधोगतिवाला है। इसलिए इस रस से रसिक की आत्मा पतित होने लगती है। शान्त और वीर रस ऊर्ध्वगतिवाला है। इसलिए इन रसों के रसिकों की आत्मा विशाल तथा उन्नत होती है। अतः राजा को इन पिछले दो रसों का ही रसिक होना चाहिए। राज्य-नाश के मुख्य कारण दो हैं—(१) विषयासक्ति और (२) आपस की फूट। अतः राज्य के मङ्गल के लिए राजा को इन दोनों से बचना चाहिए। क्षत्र-चूड़ामणि में कहा है—

"अधिक्षिप्त रागः क्रूरोऽयं, राज्यप्राज्यमसूनपि।
तद्वञ्चिता हि मुञ्चन्ति, किं न मुञ्चन्ति रागिणः"।

राजा को मनमानी न करना चाहिए। सब काम नियन्त्रित करना चाहिए। जो सूक्ष्म गई दही करनेवाले आदमी स्वजन और परजन दोनों से लज्जित होते हैं। अतः राजा को व्यवस्थित ही रहना चाहिए।

राजा को आत्मम्भरि अर्थात् स्वार्थ-साधु न होना चाहिए। स्वार्थी पुरुष को उसकी स्त्री तक तज देती है, फिर दूसरे की तो बात ही क्या है। इसलिए राजा को अपने आश्रित पुरुषों के ऊपर सदैव ध्यान रखना चाहिए। वे अपना काम किस तरह करते हैं, किसको किस समय किन चीज़ों की आवश्यकता है, ये सब बातें उसे अवश्य सोचनी और उनकी पूर्ति भी करनी चाहिए। तभी आश्रित पुरुष उस पर अनुरक्त रहेंगे।

आगन्तुक और उग्र स्वभाववालों से राजा कभी हँसी न करे। राजा को कभी अन्याय न करना चाहिए; क्योंकि संसार में उसका विरुद "न्याय मूर्त्ति" प्रसिद्ध है। उसे अपने विरुद के अनुसार ही बर्ताव करना चाहिए। यदि राजा भी अन्याय करने लगे तो समझना चाहिए कि अब समुद्र भी अपनी सीमा का त्याग कर देगा, सूर्य भी अन्धकार का पालन-पोषण करने लगेगा, अथवा गाय भी अपने वत्स का भक्षण करने लगेगी।

राजा घूसख़ोरों को कभी प्रजा की रक्षा के लिए नियुक्त न करे। क्योंकि कार्यार्थी व्यक्ति को लाञ्चाग्राही राजपुरुष चूस डालते हैं। वे अनर्थ करने से नहीं हिचकते। घूस को सब पापों के प्रवेश का मुक्तद्वार समझना चाहिए। कहते हैं कि घूस लेनेवाले अपनी माता के स्तनों को भी नोच खाते हैं। इसलिए जब किसी राज-पुरुष का उत्कोच लेना सिद्ध हो जाय तब उसे अपने पद से निकाल देना तथा कठोर दण्ड देना चाहिए। राजपुरुषों के घूस लेने से राज्य के कामों में बड़ी रुकावट पड़ती है। और तो क्या, घूस के कारण कभी राजा तक को शत्रु के हाथ पड़ जाना पड़ता है। संसार बड़ा स्वार्थी है। राजा को स्वयं भी कभी भूलकर घूस न लेना चाहिए। क्योंकि जब राजा ही रिशवत लेने लगे तब किसकी ख़ैर! देवता ही चोरों में मिलने लगें तो बेचारी प्रजा क्या करे! राजा का रिशवत लेकर उससे लाभ समझना वैसा ही है जैसा कि एक राज-महल को तोड़कर एक कील प्राप्त करना है। जो दुष्ट पुरुष राजा को घूस लेकर धन कमाने की युक्ति बताता है, समझ लीजिए, वह देश, कोश, राज्य और मित्रों को बरबाद करने का डौल कर रहा है।

राजा पूज्य पुरुषों के बराबर आसन पर बैठ कर बातचीत न करे। उनके अप्रसन्न या क्रुद्ध होने पर उत्तर-प्रत्युत्तर न करे। उस समय उसको अपना नरपतित्व भूल जाना चाहिए। क्योंकि ऐसे समय नम्रता दिखाने में ही उसकी शोभा है। प्रत्येक प्रसङ्ग पर उद्धतता का अवलम्बन करने से कभी न कभी उसे अवश्य कटु फल भोगना पड़ता है। जिस व्यक्ति का वेश और वृत्तान्त ज्ञात नहीं है, उसके साथ राजा को उठना बैठना न चाहिए। क्योंकि छिपे वेश में शत्रु भी घूमा करते हैं।

जिस नौकर की प्रयोजन-पूर्ति अपने से न हो सके उसको व्यर्थ ही आशा में न रखना चाहिए। राजा अपने हृदय तक का विश्वास न करे; फिर दूसरे मनुष्य की कौन बात। **राजा को नट की तरह अपना बर्ताव रखना चाहिए।** जिस तरह नट जिस व्यक्ति के पास टके मिलने की सम्भावना समझता है उसके हृदय में, नाच कर तथा हाव-भाव बता कर यह विचार उत्पन्न कर देता है कि यह नट मुझ पर अनुरक्त है, परन्तु यथार्थ में नट उससे रत्ती भर भी प्रेम नहीं करता, उसी तरह, राजा यथार्थ में किसी पर विश्वास तो न करे पर सब के साथ व्यवहार ऐसा करे जिससे वे यह समझें कि महाराज हम पर विश्वास करते हैं। राजनीतिकारों ने लिखा है कि अत्यन्त लोभ, अत्यन्त प्रसाद और अति-विश्वास से अपार-बुद्धि प्रज्ञापारमित बृहस्पति भी ठगा अथवा मारा जा सकता है, फिर मतिमन्द मनुष्य किस खेत की मूली है!

राजा मन्त्रियों के विरुद्ध काम न करे; बल्कि जिस तरह वे कहें उसी तरह करे। यह नियम अहार्य-बुद्धि राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी व्यक्ति पर किसी साधारण कारण से मन-मुटाव हो गया तो उसके नाश के लिए एकदम उतारू न हो जाना चाहिए। क्योंकि ज़रा ज़रा सी बातों में यदि पारा गरम होने लगे और लोगों को उसका फल भी मिलने लगे तो फिर काम हो चुका! ऐसे राजा को राजा क्या, नर-पिशाच कहना चाहिए। उससे कोई भी मनुष्य जी खोल कर बातचीत और विनय-विनोद आदि नहीं करता। इसलिए, सर्वसाधारण की तरह उसे भी सहनशील होना चाहिए। मित्र-गोष्ठी में शासक-शासित या सेव्य-सेवक-भाव की गुज़र कहाँ! वहाँ तो सब के साथ समान भाव रखना चाहिए।

राजा को उत्साह-हीन न होना चाहिए। उत्साह-विहीनता सब दुःखों की जननी है। आलसी आदमी कभी अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर सकता। इस पाप के बदले उसे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। शौर्य्य, अमर्ष, शीघ्रकारिता (फुरती), कर्म-प्रवीणता, अर्थात् कार्य-कौशल आदि उत्साह के गुण हैं।

राजा दूसरे के लिए मर्मच्छेदी, अश्रद्धेय तथा असत्य बात न कहे। बहुत बकबक भी न करे; क्योंकि ऐसा करने से उसका महत्त्व कम हो जाता है।

राजा किसी साधारण आदमी की जागीर या ज़मींदारी को, जो उसके पूर्वजों के समय से चली आती है, न छीने; क्योंकि इससे उस बेचारे का नाश हो जायगा, तथा प्रजा में असन्तोष भी फैल जायगा। इसलिए जिस ज़मीन पर अपनी प्रजा का अधिकार है उस पर राजा अपनी लोभमयी दृष्टि न पड़ने दे। राज्य के विस्तार के लिए उसे आ-समुद्र पृथ्वी पड़ी है। अपनी वीरता के बल पर उस पर आधिपत्य करे; छल-बल से प्रजा की सम्पत्ति हरण करने में कौन सी बहादुरी है!

राजा किसी की बहू-बेटी पर कुदृष्टि न डाले। क्योंकि ऐसे नीच राजा से प्रजा उकता उठती है। वह उसके नाश के लिए उतावली हो जाती है। सच है, प्रतिष्ठा और गौरव सब को प्यारे हैं। अपने वंश-वर्द्धन के लिए राजा के रानियाँ मौजूद हैं। उन से

ही वह सन्तोष करे। जिसके एक ही भार्या है वह राजा उत्तम है। जिसके महिषी तो एक हो, परन्तु दासियाँ अनेक हों वह मध्यम है। वेश्यासक्त नृप जघन्य, तथा व्यभिचारी नृपाल अधम है।

राजा को आग्रही* न होना चाहिए। क्योंकि आग्रही का यह स्वभाव होता है कि जो बात उसकी अक़ल-शरीफ़ में समा गई, उसी को वह सिद्ध करने के लिए युक्तियों की मिट्टी पलीद करता है। इसका फल यह होता है कि वह विद्वानों की दृष्टि में गिर जाता तथा अपने काम भी बिगाड़ बैठता है। राजा नियोगियों के फन्दे में न फँसे। जिस तरह वैद्य श्रीमानों की व्याधि का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करके अपनी आजीविका का ढँग निकाल लेते हैं, उसी तरह नियोगि-गण स्वामी को व्यसन में फँसा कर उससे खूब धन ऐंठा करते हैं।

फुटकर बातें।

राजा नौकरों के साथ मित्र के सदृश, मित्र के साथ आत्मीय के सदृश और आत्मीय के साथ स्वामि-तुल्य व्यवहार करे। ऐसा करने से ये लोग उससे खुश रहते हैं और प्राण-पण से उसका काम करते हैं। अपने चचा या चचा के पुत्रों अथवा अपने छोटे भाइयों को भिन्न भिन्न प्रान्तों का शासन-भार दे दे, जिससे वे किसी न किसी काम में फँसे रहें। क्योंकि ख़ाली रहने से आदमी अनेक उत्पात खड़े करता है। परन्तु उनके शासन-क्रम पर वह स्वयं सदैव ध्यान रक्खे, जिससे वे राज्य का कोई अङ्ग छिन्न-भिन्न करके स्वतन्त्र न हो जायँ।

राजा लोक-प्रिय होने का यत्न सदैव करता रहे। इसी में उसकी भलाई है। युद्ध में क्षत-विक्षत पुरुषों को देखने के लिए स्वयं जाय और उनको सान्त्वना दे। आहत अथवा मृत सैनिकों के कुटुम्ब का पालन-पोषण अच्छी तरह करे। राजा प्रजा के कामों को समय समय पर स्वयं जाकर देखे, उससे समय समय पर मिले जुले, उसकी विनति को ध्यान से सुने और उसकी आवश्यकताओं को पूरा करे। जो राजा प्रजा से समय समय पर मिलता जुलता नहीं—उसको अपने दर्शन नहीं देता—वह, एक प्रकार से, अपने कर्मचारियों द्वारा सुराज्य-व्यवस्था को मिट-वाता और अपने कार्य बिगाड़ता है। जब राजा ही उससे किनाराकशी करे तब प्रजा बेचारी अपना दुःख किसको सुनावे! ऐसी अवस्था में अन्य राज्य-कर्मचारी प्रजा पर बड़े बड़े अत्याचार करके मनमाने काम करते और अन्याय से धन बटोरते। इस अप-राध का उत्तरदाता दुर्दर्श राजा ही होता है। दुर्दर्श राजा के रिपुगण ऐसे ही समय में उसे दबा लेते हैं।

जो प्रजा बिना किसी व्यसन के निर्धन हो गई है उसे पूँजी देकर राजा स्थिर कर दे। शासन करना ही जब ऐश्वर्य का फल है तब आज्ञा-भङ्गकारी पुत्र को भी दण्ड दिये बिना राजा न छोड़े। क्योंकि राजाज्ञा सब से अलङ्घ्य है। जिस राजा की आज्ञा नहीं चलती उस राजा में चित्रगत राजा से क्या विशेषता है? जो अपराधी राजा की आज्ञा से पहले कारागार में पटक दिया गया था वह फिर वही अपराध करे—राजा की आज्ञा का फिर भी अतिक्रमण करे—तो उसे भारी दण्ड देना चाहिए। १०००) अथवा ११०८) का अर्थ-दण्ड इसके लिए यथेष्ट * है। बिना अपराध के किसी न्यायाधीश ने अपनी व्यक्तिगत अप्रसन्नता के कारण किसी पर झूठ मूठ अपराध लगा कर जुर-माना किया है, यदि यह बात सिद्ध हो जाय तो न्याया-धीश को अपराधी समझना चाहिए और वही कठिन दण्ड उसको दिया जाना चाहिए। यदि राजा न्याय-परिपालक हो तो सब दिशायें, कामधेनु की तरह,

* आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

*प्राचीन समय में इतना द्रव्य-दण्ड बड़ा भारी दण्ड समझा जाता था। उस समय के दो रुपयों का महत्त्व आज के सौ रुपयों से अधिक ही था, कम नहीं—लेखक।

प्रजा का मनोरथ पूर्ण करती हैं, समय पर उचित वृष्टि होती है और सब ईतियाँ शान्त हो जाती हैं। वह राजा उत्तम है जो वैश्य-वृत्ति से अपने कुटुम्ब का पालन करता है, वह मध्यम है जो राज-सेवा द्वारा प्राप्त वेतन से अपने कुटुम्ब का निर्वाह करता है, तथा वह जघन्य है जो राज्य का कुछ भी काम न करके राज्य-सम्पत्ति का उपभोग करता है।

जन-साधारण की भेंट को छूकर लौटा देना चाहिए।

राजा किसी व्यक्ति का निष्कारण ही अपमान न करे; क्योंकि राजा से अवज्ञात जन सब के द्वारा अवज्ञात होता है। संसार तो गतानुगतिक है। इसलिए वह पूजित को पूजता है। वह गाय किस काम की जो न तो दूध ही देती है और न सन्तान ही। इसी तरह वह स्वामि-प्रसाद निरर्थक है जो न तो आशा ही को पूर्ण करता है और न सम्मान ही देता है। सभी लोकपाल राजा के अनुयायी हैं। इसलिए राजा, मध्यम लोकपाल होकर भी, उत्तम लोकपाल है। राजा प्रथम तो किसी पर एकाएक नाराज़ न हो, यदि हो तो कोपपात्र को कुछ न कुछ क्षति पहुँचाये बिना न रहे। वह अपने कोप और शस्त्र को व्यर्थ न जाने दे। संसार में जब धन बिना किसी साधारण व्यक्ति का भी काम नहीं चलता, तब राजा के सदृश कर्मठ पुरुष को तो उसकी अत्यन्त ही आवश्यकता है। महान् पुरुष भी धन बिना क्षुद्र बन जाता है और धन से साधारण जन भी असाधारण बन जाता है। कहा है—

"सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।"
"रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय"।
—महाकवि कालिदास।

"रिक्तस्य नहि जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलोगुणः
हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते"।
—क्षत्र-चूड़ामणि

धन दो तरह का है, पार्थिव और ज्ञान। राजा को दोनों तरह के धनों का संग्रह करना चाहिए। सब धनों में विद्या-धन ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यही एक धन सहानुयायी और अहार्य है। इसके सिवा ज्ञान-धन ही पार्थिव-धन का उत्पादक और प्रवन्धक है। अतः वह अभ्यर्हित भी है। विद्या-धन की महिमा अपूर्व है। नीच-कुल-प्रसून विद्वान् भी यदि भाग्यवान् हो तो दुर्दर्श राजा के भी पास पहुँच जाता और सफल-मनोरथ होता है। जिस विद्या से समस्त जगत् की स्थिति का परिज्ञान हो वह विद्वानों के लिए काम-धेनु का काम करती है। लोक-व्यवहार का जानकार यदि मूर्ख भी हो तो भी वह माननीय है। इसके प्रतिकूल लोक-व्यवहार से अपरिचित मनुष्य, शास्त्रीय विद्या में प्राञ्जल विद्वान हो तो भी, कभी कभी लोक में अनादृत हो जाता है। वे पुरुष प्रज्ञापारङ्गत हैं जो उपदेश देकर दूसरों की आत्मा में शान्ति उत्पन्न करते हैं। जो दूसरों को ज्ञानालोक का दान देकर उनका अज्ञान-तिमिर नहीं हर सकते वे चाहे सर्वज्ञ ही क्यों न हों, संसार के किस काम के! जलधि में अपार जल है, पर संसार को उसका क्या उपयोग? महापुरुष रामचन्द्र संसार के लिए आदर्श राजा हुए हैं। उनके तुल्य उत्तम स्वामी इस पृथ्वी पर कोई नहीं हुआ।

गोविन्दराय परवार (काव्यतीर्थ)

विज्ञान का अध्ययन।



ज्ञान की ज्योति से संसार जाज्वल्यमान हो उठा है। एक अल्पवयस्क शिशु भी इस बात का अनुमान कर सकता है कि मनुष्य-संसार, सूर्य्यरश्मि को भी तिरोहित करनेवाली इस ज्योति के प्रभाव से, कितने आश्चर्यजनक तत्त्वों का विकाश करके आज सभ्यता के उच्च शृङ्ग पर पहुँच गया है।

यद्यपि मनुष्य-जाति ने समस्त भौतिक पदार्थों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया है तो भी मानना पड़ेगा कि विज्ञान के विस्तृत राज्यों की सीमा अभी तक उसको नहीं मिली। अन्यान्य प्राकृतिक नियमों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर के हमारी बुद्धि-शक्ति अब उस मैदान में प्रवेश कर रही है जिसका ध्यान स्वप्न में भी किसी को न था। भू-चक्र की गति, परिमाण और वास्तविक स्थिति का ज्ञान उपार्जन करके भी हमारी विज्ञान-पिपासा तृप्त नहीं हुई। अज्ञात देशों और रसातलस्थ बहुमूल्य धातुओं की खानों को ढूँढ़ कर भी वह सन्तुष्ट न हुई। और अब तो वह नई नई कलाओं का निर्म्माण कर के उनकी पदार्थ-स्थिति, रासायनिक संयोग और दृढ़ बनावट का ज्ञान प्राप्त करने में हमें प्रोत्साहित कर रही है। कौन कह सकता है कि दस पाँच वर्षों अथवा दो-एक पीढ़ियों के बाद, हम लोग, उसी प्रकार, जीवन-विद्या के नियमों का आविष्कार करने में भी समर्थ न हो जायँगे, जिस प्रकार, आज, हम लोगों ने भौगोलिक और रासायनिक विज्ञानों के क्षेत्र में पदार्पण कर दिया है। आनन्द का विषय है कि इनमें हमें यथेष्ट सफलता भी हुई है। जिस तरह मनुष्य की विस्तृत बुद्धि और ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा की पराकाष्ठा नहीं देख पड़ती उसी प्रकार प्रकृति पर पूर्ण अधिकार जमाने के ज्ञान की सीमा, वाञ्छनीय सहायता मिलने पर भी, नहीं ज्ञात होती। हम ज़ोर देकर कहते हैं कि उसकी सीमा नहीं। विस्तीर्ण प्राकृतिक दृश्यों पर दृष्टि डालने से हमारा यह कथन अक्षरशः सत्य मालूम पड़ता है। तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी सीमा अवश्य है। वह सीमा कौन सी है? वह हम लोगों की 'इच्छा' है। हमें उसे प्राप्त करने की उत्कट इच्छा और प्राप्तज्ञान का सदुपयोग करना चाहिए; बस, निश्चय ही प्रकृति हमारी आज्ञा की अनुगामिनी बन जायगी।

विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता पर स्वार्थिक दृष्टि से तर्क-वितर्क करना जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से भी विज्ञान से विमुख होना भारी मूर्खता है। हम नहीं मान सकते कि आधुनिक वैज्ञानिक काल में हमारी आत्मिक अथवा धार्म्मिक उन्नति में किसी प्रकार की बाधा आई हो या किसी भी जाति के धर्म्म अथवा समाज को धक्का पहुँचा हो। किसी कवि का वचन है—

When Science from creation's face
Enchantment's veil withdraws;
What lovely visions yield their place
To cold material Laws.

अर्थात् विज्ञान के प्रभाव से जब सृष्टि के ऊपर से जादू का मनोरम परदा हट जाता है तब उसका स्थान निकृष्ट भौतिक नियम ग्रहण कर लेते हैं। हम नहीं समझ सकते कि उसने यह कह कर अपनी कितनी दूरदर्शिता, उदारता एवं कवित्वशक्ति का परिचय दिया है।

क्योंकि भौतिक नियम उन्हीं को निकृष्ट और अग्राह्य मालूम होते हैं जिन्हें उनके सौन्दर्य्य, विभव और पूर्ण-स्थिति का मूल्य अवगत करने की शक्ति नहीं है। ये नियम उन्हीं लोगों को फीके जँचते हैं जिन्होंने उनके कार्य्य, कारण और तथ्यों का विचार उचित रीति से नहीं किया। वह कदापि कवि नहीं जिसे अणुवीक्षणयन्त्र, दूरबीन, एवं अन्यान्य भौतिक यन्त्रों के आविष्कार में चित्ताकर्षक दृश्य नहीं देख पड़ता। वह कदापि सुकवि नहीं जो भौतिक पदार्थों को—कवियों की साधारण मानसिक शक्ति से परे—नित्य प्रति नवीन दृश्य धारण करता हुआ नहीं देखता। महाकवि कौलेरिज अपनी मानसिक शक्ति को प्रौढ़ करने के लिए अपने एक वैज्ञानिक मित्र के विज्ञान-विषयक व्याख्यानों को ध्यानपूर्वक श्रवण करते थे। इससे यदि कौलेरिज की गणना कोई सामान्य कवियों की श्रेणी में करे

तो यह उसकी मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? कौलेरिज के ललित काव्य आज भी योरप में ध्यानपूर्वक पढ़े जाते हैं। जर्म्मन-कवि-तिलक गेटी (Goethe) का नाम विश्व-विख्यात है। कौन नहीं जानता कि केवल जर्मनी ही नहीं, बल्कि और देश भी उसके जीवन-प्रद काव्य के लिए उसके कृतज्ञ हैं? क्या कोई कह सकता है कि वनस्पति-विद्या के मूल सिद्धान्तों तथा अस्थिपञ्जरों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के कारण गेटी क्षुद्र कवि था? नहीं, कदापि नहीं—बल्कि यों कहिए कि प्राकृतिक विज्ञान के रहस्यों—विशेषतः उद्भिद्विद्या और अस्थि-पञ्जर-विषयक विद्या प्राप्त करने के कारण ही उसने कविता द्वारा प्राकृतिक दृश्यों का विकाश करने की शक्ति पाई। कविता का सम्बन्ध विज्ञान से वैसा ही है जैसा कि मनुष्य का सम्बन्ध नेत्र से है। यथार्थ में विज्ञान जीवित काव्य है और चूंकि मनुष्य ही कविता रचना करता है, इसलिए कविता शुद्ध किया हुआ विज्ञान है।

हम नहीं मान सकते कि विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि से मनुष्य के सर्वोच्च स्वभाव में किसी प्रकार की त्रुटि हुई है; मनुष्य की उच्च अभिलाषाओं में किसी प्रकार की रुकावट पहुँची है; किसी भी जाति के धर्म्म में धब्बा लगा है। जिनके विचार ऐसे हैं वे भूलते हैं। अपने धर्म्म और जाति की रक्षा करने की शक्ति तो है नहीं—चट निरपराध विज्ञान पर दोषारोपण कर बैठते हैं। कार्य्य करने और मनन करने की शक्ति, दोनों, उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति की सहायक हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन दोनों शक्तियों से अपनी प्रकृति को आभूषित करें। और, यदि उनके पारस्परिक सम्बन्ध का कार्य्य-कारण-भाव एकाग्रचित्त से मालूम करलें तो हमारी बुद्धि अवश्य चमत्कृत हो उठेगी। वे एकही आसन पर स्थित हैं। आसन जितना ऊँचा होगा, उस पर रक्खी हुई वस्तुयें भी उतनी ही ऊँची दिखाई देंगी। अर्थात् हमारे विचार जितने ही गूढ़ होंगे, हमारे भाव भी उतने ही उत्कृष्ट होंगे।

विज्ञान के मूल तत्त्वों के संशोधन में यदि हम विज्ञान और उसकी सहयोगिनी पूरक वस्तुओं को एक साथ मिला दें तो इससे बढ़ कर हमारी दूसरी बड़ी भूल नहीं हो सकती। प्रथम हमें उनकी पारस्परिक विभिन्नता मालूम करनी चाहिए। ऐसा होने पर हम विज्ञान को "झूठे विज्ञान" के नाम से कदापि सम्बोधन न करेंगे और न विज्ञान की सत्यता के विषय में मूर्खों के विवेकहीन मन्तव्यों और कल्पनाओं को ही स्वीकार करेंगे।

विज्ञान कभी असत्य नहीं हो सकता। उसकी नीव सत्य-सनातन है। और सत्य, सत्य के साथ कभी विरोधभाव धारण नहीं कर सकता। उनमें यदि कोई भेद देख पड़े तो वह हम लोगों की भूल के सिवा और क्या कहा जा सकता है? विज्ञान से धार्म्मिक विचारों में रुकावट नहीं होती। इसके विपरीत वह प्राचीन काल से भक्ति और साधन का सच्चा सहायक माना गया है। एक (Gallen) विद्वान् का कथन है—सृष्टि-कर्त्ता के पवित्र गुणगान करने का सर्वोत्तम मार्ग, प्राणि-विद्या पर एक काव्य की रचना करना है। भिन्न भिन्न विचारों की उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण, यह कभी सम्भव नहीं कि मनुष्य-समाज की हानि हो। बल्कि सब बुराइयों से छुटकारा पाने का सरल और सर्वोत्कृष्ट उपाय केवल ज्ञान की वृद्धि ही है। ज्ञानोपार्ज्जन का अन्तिम फल क्या होगा? इसका विचार किये बिना ही ज्ञान का स्वागत किया जाता है। क्योंकि हमें पूर्ण विश्वास है कि ज्ञान, परमात्मा की शक्ति का सच्चा प्रकाशस्वरूप है। अतएव वह हम लोगों को उत्तम ही मार्ग पर ले जायगा। लाभ कौन उठावेगा, ऐसे प्रश्न के दिन गये। अब दूसरों के लिए स्वार्थ-त्याग का ज़माना है। परन्तु शोक का

विषय है कि अब भी भारतवासियों के ऊपर आलस्य डेरा जमाये है। हम लोगों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, और, हम लोग प्रायः ऐसा कहा भी करते हैं कि जैसा चलता है वैसा चलने दो। भला, इससे बढ़ कर आलस्य का दूसरा प्रमाण और क्या दिया जा सकता है? आविष्कारों की दिन पर दिन वृद्धि होने के कारण तथा आविष्कृत वस्तुओं से उपलब्ध आमोद-प्रमोद के आयोजन सुलभ हो जाने के कारण हम ज्ञानोपार्जन के लिए आवश्यक व्यय, परिश्रम और कठिनाई को एकदम भूल बैठे हैं और पुराने ज़माने के अमीर-उमरावों की तरह सोचते हैं—"अजी जाने दो, कान कष्ट उठावे; एक न एक दिन मरना तो हई है"। इस अखण्डनीय तर्क का उत्तर नहीं।

हम लोगों का यह अन्ध-विश्वास है कि विज्ञान, वैज्ञानिकों से भिन्न है तथा उसकी स्थिति शारीरिक स्थिति के सदृश नाशवान् है। हम लोग मनसा, वाचा, कर्म्मणा प्राकृतिक नियमों का विकाश किये बिना ही झट समझ लेते हैं कि स्वर्गीय दूत की तरह विज्ञान स्वयं संसार की सेवा करेगा।

हम आपके सामने मानसिक दृश्यों की तसवीर खींचने नहीं बैठे हैं। हमारा कहना सत्य है। कहिए तो छोटी से छोटी प्राकृतिक रचनाओं को चतुर्दिक देख कर हम लोगों में से कितने मनुष्यों ने उनके कार्य्य-कारण आदि के नियम जानने में शारीरिक अथवा मानसिक चेष्टा की है? कहिए तो हममें से कितनों ने किसी भी विज्ञान-विभाग में हुई सफलताओं के पूर्व की उत्साह भङ्ग करनेवाली कठोर असफलताओं पर विचार किया है—जो असफलतायें यथार्थ में हमारी अन्तिम सफलता का कारण होती हैं? बताइए तो हममें से कितने मनुष्यों ने उस कार्य्य में हाथ डाला है जो एक पुश्त अथवा एक शताब्दी के बाद भी किसी आविष्कार के रूप में परिणत हो जाय? क्या आप बता सकते हैं कि कितने महानुभावों ने किसी एक तत्त्व के संशोधन में इस बात पर विचार किया है कि संशोधनोपयोगी सामग्रियों को इकट्ठी करने में क्या ख़र्च पड़ेगा? विज्ञान ऐसी चीज़ नहीं है जिसके किसी साधारण तत्त्व का विकाश भी एक दिन अथवा एक मास में समाप्त हो जाय। निम्नलिखित उदाहरणों से आप भली भाँति जान सकेंगे कि विज्ञान-विषयक आविष्कारों में कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और कितना समय लग जाता है। प्राण-सम्बन्धी नियमों के आविष्कार में आरम्भ से लेकर अन्त तक पूरे दो सौ वर्ष लगे। उनका इतिहास अपने ध्यान में लाइए। उनकी नीव इटली के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डाकृर रेडी (Dr. Redi) ने डाली थी और समाप्ति हाल के मि० पास्टियर (Mr. Pasteur) के समय में हुई। यद्यपि आरम्भ-कर्ता आविष्कारक को, यद्यपि उनके पथानुयायी महानुभावों को, जो अहर्निश अनवरत परिश्रम, चेष्टा, अकथनीय अर्थ-व्यय और अलौकिक स्वार्थत्याग द्वारा इस तत्त्व को ढूँढ़ निकालने में लगे थे—कुछ लाभ न हुआ, तथापि आप देख सकते हैं कि हम लोगों को उनके इस आविष्कार से कैसे कैसे महान् लाभ हो रहे हैं। यह उसी तत्त्व का सुपरिणाम है कि आज हम लोग भयङ्कर साङ्घातिक रोगों से बचने का मार्ग ढूँढ़ निकालने में समर्थ हुए हैं।

दूसरा उदाहरण किरणपृथक्करण (Spectrum Analysis) का लीजिए। ध्यान देने से यह यथार्थ में आश्चर्य्यजनक मालूम पड़ता है कि किस प्रकार एक शीशे का तिकोना टुकड़ा (Prism)—जिसे छोटे छोटे बालक इन्द्रधनुष के भिन्न भिन्न चमकीले रङ्गों को देखने के काम में लाते हैं—वयस्क लड़कों के द्वारा एक बड़े यन्त्र के रूप में परिणत हुआ। इसके द्वारा, आज, भौतिक पदार्थों का ही आन्तरिक अनुसन्धान नहीं किया जाता, किन्तु गगनस्थायी तारों, ग्रहों और नक्षत्रादि प्राकृतिक पदार्थों का भी सच्चा

ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अच्छा वह वयस्क कौन था जिसने उस शीशे के क्षुद्र खिलौने में वैज्ञानिक रहस्य देखा? वह स्वनामधन्य न्यूटन था जिसने पहले पहल इस खिलौने के ही द्वारा सिद्ध किया कि सूर्य्य की ज्योति केवल शुभ्र ही नहीं, किन्तु उसमें सात भिन्न भिन्न रङ्ग प्रतिबिम्बित हैं। लम्बी दरारों के बदले गोल और छोटे छिद्रों से ही उसने सूर्य्य के किरणों का प्रतिबिम्ब अपने खिलौने में प्रविष्ट किया। अर्थाभाव के कारण न्यूटन आगे न बढ़ सका। तब वोलेस्टन (Wollaston) ने इस अधूरे काम को अपने हाथ में लिया। उसने बड़े बड़े छिद्रों द्वारा सूर्य्य-मण्डल की काली पट्टियों का निरीक्षण किया। पर वह भी यह काम थोड़ा ही कर सका। उसके बाद, कुछ दिनों तक, तो इसकी चर्चा ही लुप्त हो गई। अन्त में जर्मनी के फ्रानहोफर (Fraunhofer) नामक विद्वान् ने इसमें विशेष गति प्राप्त की और उन काली पट्टियों को नाप कर सिद्ध किया कि उनकी स्थिति और सम्बन्ध सूर्य्य-ज्योति में प्रायः एक सा है—फिर चाहे वे सीधे सूर्य्य ही में देखी जायँ अथवा भौतिक पदार्थ पर पड़े प्रतिबिम्ब में। इतने पर भी इस आविष्कार की पूर्ति न हुई। दो सज्जनों ने और अधिक योग दिया। और, यह उनके परिपक्व मस्तिष्क और प्रौढ़ विचार-शक्ति का फल है कि स्पेक्ट्रा को हम लोग अनेक रङ्गों से विभूषित पाते हैं और यह सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं कि प्रज्वलित वस्तुओं के साथ संसर्ग होने पर वह भिन्न भिन्न अवस्था धारण करता है। परन्तु इस आविष्कार के लिए हम लोग सब से अधिक कृतज्ञ इन तीन सज्जनों के हैं—Messrs Swan, Bunsen और Kirchoff. इन की विलक्षण बुद्धि ने संसार को आविष्कार का सब से सुगम मार्ग दिखा दिया। उसी की बदौलत हम ने ऐसे तत्त्वों का विकाश किया है जिनका ध्यान स्वप्न में भी न हो सकता था। यह उसी का फल है कि आज हम विज्ञान के भिन्न भिन्न मिश्रित तत्त्वों का अनुशीलन करने में समर्थ हुए हैं—वे मिश्रित तत्त्व जिन का ज्ञान रासायनिक क्रिया के उच्च संयोग से भी प्राप्त होना कठिन है। आधुनिक पाश्चात्य डाक्टरों ने इसी स्पेक्ट्रा के द्वारा धातुओं को गला कर उनसे अन्यान्य रोग-नाशक ओषधियाँ तैयार की हैं और कर रहे हैं। इसी के द्वारा हम यह जानने में समर्थ हुए हैं कि सूर्य्यमण्डल में कम से कम १६ धातुयें अदृश्य वाष्प-रूप में वर्त्तमान हैं। कहाँ तक कहें, रक्तसञ्चालन का सूक्ष्म अनुसन्धान भी इसी के द्वारा किया जाता है जो, हम ज़ोर देकर कहते हैं, किसी अन्य रासायनिक क्रिया अथवा अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा सुगमता से नहीं हो सकता।

अब आप विचार करें कि इस आविष्कार में कितना समय लगा और अन्त में क्रमशः कैसे साफल्य प्राप्त हुआ। न्यूटन से लेकर स्वान (Swan) आदि तक इस कार्य्य में १८५ वर्ष लगे। कितने मनुष्य, कितना द्रव्य और कितनी सामग्रियाँ लगीं, इसका तो कुछ हिसाब ही नहीं।

परन्तु हम लोग विज्ञान के चित्ताकर्षक और मनोरञ्जक उपादानों का केवल निरीक्षण ही करके रह जाते हैं। उनका अनुसरण करके उनकी वास्तविक स्थितियों से अभिज्ञता प्राप्त करना तथा विज्ञान को आत्मीय बनाना हमारे सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। हमारे ही जैसे हाथ-पाँव, बुद्धि इत्यादि रखनेवालों के तथा हमारे ही सदृश रूप-रङ्ग के मनुष्यों के किये इन संसारोपयोगी आविष्कारों को देख कर मौन रहना कैसी लज्जा की बात है! विज्ञान के अद्भुत प्रसादों को काहिलों की तरह देखते रहना कदापि बुद्धिमानी का काम नहीं। यह कदापि उचित नहीं कि विज्ञान से उपलब्ध ऐशो-आराम की चीज़ों को, जो दिन-रात सुगमता से हमारे हाथ आ जाती हैं मज़े में पड़े पड़े भोगा करें। मानों उनकी उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। हमें चाहिए

कि स्वयं कर्तव्यपरायण होकर मानव-जाति की उन्नति में सहायक हों।

अनेक कारणों से भारतवासियों ने चिरकाल से ज्ञानोपार्जन की दौड़ में यथोचित भाग लेना छोड़ सा दिया है। क्या ऐसी अवस्था बराबर ही जारी रहेगी? क्या भारतवासी, जाति और स्वभाव के कारण, जीवन के कठिन कठिन कार्य्यों के सम्पादन में सर्वथा अयोग्य हैं? क्या वे विज्ञान के सौन्दर्य्य-पूर्ण और उपयोगी आविष्कार करने में अथवा उनके कार्य्य और कारण को ढूँढ़ निकालने में एकदम असमर्थ हैं? क्या संसार में अग्रगण्य आर्य्यभट्ट, भास्कराचार्य्य आदि वैज्ञानिकों को प्रसव करनेवाली भारत-माता अब शिथिल हो गई है? क्या यथार्थ में भारतीय नवयुवक विज्ञान के कौशलों को जादूगर अथवा बाज़ीगर के तमाशों की तरह अचिन्त्य और अज्ञेय समझ बैठे हैं? क्या ब्रिटिश गवर्नमेंट की प्रदान की हुई यत्किञ्चित् शिक्षा का यही फल है? नहीं, हम दावे के साथ कहते हैं कि स्थिति ऐसी नहीं है। भारतीय नवयुवक विज्ञान के लिए उतना ही प्रेम, उतनी ही अधीरता प्रकट करते हैं जितनी संसार के अन्यान्य सभ्य देशों के नवयुवक। हम लोगों के अध्यापक विज्ञान के लिए कैसी हार्दिक उत्सुकता दिखाते हैं। यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं कि भारतीय विद्यार्थियों की जैसी आन्तरिक श्रद्धा विज्ञान में है वैसी और किसी देश के नवयुवकों में नहीं पाई जाती।

तब, फिर, क्या बात है कि विद्यालय छोड़ने के अनन्तर ही हमारे देश के विद्यार्थी उदासीन तथा आलसी दिखाई देते हैं? क्या कारण है कि विज्ञान-विषयक वह प्रेम और वह श्रद्धा, फलवती होने का समय आते ही, हवा हो जाती है? क्या कारण है कि भारत के मेडिकल कालेजों एवं विज्ञान की शिक्षा देनेवाले अन्यान्य कालेजों से, नाम के लिए दो एक को छोड़ कर कोई विद्यार्थी ऐसा नहीं निकला जो विज्ञान की किसी भी शाखा का मनन एकाग्रचित्त से करता हो? वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-विद्या, रसायन-विज्ञान आदि विभागों के सदृश कौन सा ज्ञान इतना चित्ताकर्षक, इतना विनोदकारी और इतना सत्वर-फलदायक है? फिर क्या कारण है कि इन विज्ञानों के किसी एक भाग ने भी भारतीय कालेजों में शिक्षा-प्राप्त युवकों को आकर्षित नहीं किया? विज्ञान के अन्यान्य भागों यथा, ज्योतिष, भू-विज्ञान आदि को जाने दीजिए, क्योंकि ये हमारे शिक्षालयों में साधारण विषय की तरह पढ़ाये जाते हैं। पर पूर्वोक्त विज्ञानों पर हमारे सहयोगियों ने क्यों ध्यान नहीं दिया? इसका उत्तर भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न तरह से देते हैं। कोई कहते हैं कि इसका कारण हमारा धर्म्माचार और सदाचार-सम्बन्धी बखेड़ा है, जो इन उच्च विद्याओं की प्राप्ति में निरत नहीं होने देता। कोई कहते हैं कि हमारी बुद्धि-शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि समय पर वह काम नहीं दे सकती। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा स्वास्थ्य ही ऐसा दोषपूर्ण है कि मनन का कार्य्य उचित रीति से पूरा नहीं किया जा सकता। किसी किसी का मत है कि इसका कारण हमलोगों के उपयुक्त भोज्य पदार्थों का निरन्तर अभाव है, जो हमारी मानसिक शक्ति को परिपक्व नहीं होने देता—इत्यादि। मतलब यह कि जिनका जैसा भाव है वे वैसा ही राग अलापते हैं। परन्तु हम ज़ोर देकर कहते हैं कि इन में से एक भी कारण ऐसा पुष्ट और प्रमाण-पूर्ण नहीं जो विज्ञान के अध्ययन में प्रतिबन्धक हो। पहला कारण व्यर्थ और निन्दास्पद है; दूसरा भारी भ्रमपूर्ण है; तीसरा और चौथा कारण अलबत्ते कुछ विचारणीय है; पर यथार्थ में वे भी दूसरे कारण की तरह निराधार हैं। इस सम्बन्ध में हम अपनी देशी पाठशालाओं का उल्लेख यहाँ पर करते हैं। यद्यपि इन बेचारे बूढ़े विद्यालयों में, आज कल की तरह, विज्ञान की प्रज्वलित ज्योति नहीं

देख पड़ती; पर तो भी, ध्यान देने योग्य बात यह है कि उनके अध्यापक और विद्यार्थी कैसे परिश्रमी और उत्साही होते हैं। उनका शरीर पर्वत सा मज़बूत, उनकी मननशक्ति अधिक तीव्र और उनके खाद्य पदार्थ विशेष पुष्टिकारक तो होते नहीं। बल्कि वे तो और भी साधारण स्वास्थ्य की दशा में, दूसरों की दी हुई रूखी-सूखी भोजन-सामग्री पर ही, अपना जीवन निर्वाह करते हैं। तो भी, देखिए किस भाँति धैर्य्य और उद्योग के साथ पुरातन ज्ञान का अर्ज्जन करते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि जिन कारणों का वर्णन ऊपर किया गया है वे बे-सिर पैर के हैं। तब फिर क्यों भारतीय युवक स्कूल और कालेज में प्राप्त शिक्षा का उचित उपयोग नहीं करते?

यथार्थ कारण केवल तीन हैं—(१) आर्थिक अभाव (२) साहस का अभाव और (३) सुअवसर का अभाव। हमारे शिक्षित भाइयों को अपने जीवन में पद पद पर दृढ़ पक्षपात की दीवार का सामना करना और वर्षों से जड़ पकड़े हुए वाहियात रस्म-रिवाजों के फन्दे में फँसना पड़ता है। इससे उनकी बुद्धि विकृत और उनका सारा पौरुष हवा हो जाता है। उनका सब उपार्ज्जित धन लुप्तप्राय हो जाता है। स्कूल-जीवन समाप्त होते ही उन्हें पारिवारिक जीवन-निर्वाह के लिए कठिन युद्ध करना पड़ता है। जो लोग हमारे समाज-सङ्गठन से परिचित हैं उन्हें हमारे इन असहाय विद्यार्थियों पर कभी दोषारोपण न करना चाहिए। इन बेचारों को तो विद्याध्ययन को तिलाञ्जलि देकर अपने असंख्य आश्रितों के लिए रोटियाँ खोजनी पड़ती हैं। तब भला कैसे सम्भव है कि वे विज्ञान की उन्नति में लगें? इसके सिवा हमें बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारी सरकार ने भी आज तक हमें विज्ञान के अध्ययन में खूब सुअवसर और विशेष उत्साह नहीं प्रदान किया। यदि वह हम लोगों की अधिक सहायता करती तो हानि के बदले वह लाभ ही उठाती। और, सम्भव था कि आज इस महासमर में भारतीय-लोग, अन्यान्य शारीरिक और आर्थिक सहायता के साथ ही, मानसिक सहायता भी देते। हमारे देश में सामग्रियों की कमी नहीं। दुःख केवल इतना ही है कि समयचक्र उनका उपयोग नहीं होने देता।

अन्त में हम इस देश के राजों, महाराजों और धनवालों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं, जो दानशीलता में राजा कर्ण से भी बढ़ कर नाम कमा रहे हैं। पर उनका दान देश, काल और पात्र का विचार करके नहीं किया जाता। सुनते हैं, किसी महाराज ने अपने एक प्यारे कुत्ते की अन्त्येष्टि-क्रिया में लाखों रुपये फूँक डाले। किसी ने ५० हज़ार दावत में ख़र्च कर दिये। किसी ने १० लाख का एक महल बनवा डाला। पर इतने धन से एक बहुत बड़ी विज्ञानशाला खुल सकती थी, जिससे देश को अकथनीय लाभ होता। परन्तु फिर भी हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। समय एक सा नहीं रहता। हम लोगों को सर्वदा यही मन्त्र याद रखना चाहिए कि जो स्वयं अपनी सहायता करता है, ईश्वर भी उसी की सहायता करता है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य्यक्षेत्र में उतर पड़ें तो सर्वथा सम्भव है कि कुछ ही वर्षों में स्वनामधन्य विज्ञानाचार्य्य जगदीशचन्द्र वसु की तरह सैकड़ों नहीं सहस्रों वैज्ञानिकों से देश का मुख समुज्ज्वल हो जाय *।

दिनेशप्रसाद वर्म्मा और नन्दकुमारसिंह

क्षमा-प्रार्थना।

१

पतित जन के पतित मुख से, कढ़े जो प्रार्थना-वाणी;
हृदय में दाह हो, तन में तपन हो, आँख में पानी ॥

---

* डाक्टर महेन्द्रलाल-सरकार, एम० डी०, के एक व्याख्यान के आधार पर लिखित।

२

बहा परिताप के आँसू, न धोता मैल जो उर का ;
नहा कर सुरसरी में भी, न होता पूत वह प्राणी ॥

३

हुआ है शान्त यह नभ में, बरस कर के जलद जी भर ।
रुको मत आँसुवो मेरे, बनो मत आज अभिमानी ॥

४

सुमन ने फाड़ कर अपना, हृदय दिखला दिया नभ को ।
छिपाता पाप को प्रभु से, वृथा रे जीव अज्ञानी !

५

बना उसके चरण-रज को, विनत निज भाल का चन्दन ।
क्षमा का दान देगा ही, कभी तो वह महादानी ॥

—मुकुटधर

रिस्ट वाच ।

(१)

बुआ जी से मालूम हुआ था कि जन्म-पत्र की विधि के कारण ही मेरा विवाह पण्डित विश्वम्भरप्रसाद तहसीलदार की कन्या भगवती के साथ हुआ था। तहसीलदार ज्योतिष के क़ायल थे; इसलिए उन्होंने अपनी कन्या के विवाह में जन्म-पत्र के मिलान पर ही अधिक ध्यान दिया।

मेरे पिता अमीन थे। कहना चाहिए, वे तहसीलदार के सामने साधारण व्यक्ति थे—दरजे में, आय में नहीं। तहसीलदार को १५०) मिलते थे। पर मेरे पिता को ऊपर की आमदनी मिला कर ५००) से कम नहीं बैठते थे। विधि के विधान के कारण मेरा विवाह भगवती से हो गया।

जन्म-पत्र मिल जाने पर भी मैंने देखा कि भगवती का स्वभाव मुझसे नहीं मिलता था। उसमें असाधारण रूप था, पढ़ी-लिखी भी वह ज़रूर थी ; पर तहसीलदार की कन्या होने का उसे बड़ा अभिमान था। इसी अभिमान के कारण प्रणय के प्रथम परिच्छेद में भी मेरा उससे प्रायः विच्छेद हो जाता था। उस समय उसका रूप, उसकी विद्या और उसके कमनीय कटाक्ष कोई भी मुझे अच्छे न लगते थे। वह अपने को तहसीलदार-कन्या ही समझती तो भी कोई हर्ज न था; किन्तु मुझे क्रोध इस बात पर आता था कि वह मुझे अमीन-पुत्र समझती थी।

उसके साथ अब प्रायः कलह होता था। सच तो यह है कि कलह में सदा उसी की जीत होती थी। कलह के बाद मैं सङ्कल्प करता था कि जब तक वह मुझसे क्षमा न माँगेगी मैं उससे बात न करूँगा। दिन पर दिन बीत जाते थे ; पर सौन्दर्य्य के परदे में छिपी कठोरता की मूर्त्ति मेरी स्त्री मेरी ओर रुख़ न करती थी।

उसमें गुण भी अनेक थे। क्रोध के समय भी वह मेरे सब काम अपने हाथ से करती थी, पर मौन-भाव से। वे काम माया के बल से होते मालूम पड़ते थे। मेरे कमरे की सफ़ाई, मेरे वस्त्रों को यथास्थान रखना, मेरे भोजन के लिए मेरी रुचि के अनुसार चीज़ें बनाना वह कभी न भूलती थी। क्रोध के दो ही प्रधान लक्षण थे; अभाषण और पृथक् शय्या।

उसकी मौनपूजा का मैं कब तक तिरस्कार कर सकता था ? अन्त में मेरा हृदय उसकी ओर, और सच यह है कि उसके रूप की ओर, झुक जाता था तथा मैं अपने सङ्कल्प को भूल कर उसका हाथ पकड़ लेता था। वह हाथ छुड़ाने की चेष्टा करती थी; पर मेरे कुछ कहते ही मेरे पास बैठ जाती थी। उस समय उसका रूप दुगना हो जाता था—कुछ अपने स्वभाव से और कुछ विजय-गर्व की कान्ति के कारण। अहा ! उस समय मालूम होता था कि उसके अन्दर कठोरता का लेश भी नहीं है। पर दूसरे ही दिन, और कभी कभी उसी दिन, वह भ्रम दूर हो जाता था एवं क्षणिक मिलन के बाद

अनेक-दिन-व्यापी विरह का परिच्छेद फिर खुल जाता था।

(२)

रिश्वत से कमाये हुए पिता के धन का कुछ सुफल न निकला। एन्ट्रेंस में तीन बार फ़ेल हो कर तीसरे वर्ष किसी तरह मैंने एन्ट्रेंस पास किया। उस समय तक पिता ने पेन्शन न ली थी। इसीलिए, मेरी इच्छा न होते हुए भी, मुझे उन्होंने कालेज भेजा। कालेज में भी चार वर्ष रहा; पर एफ़० ए० पास न कर सका। हाँ, कालेज में रह कर भले ही निम्न ग्रेजुएट (Under-Graduate) न बन सका, पर शौक़ीनी और फ़िज़ूलख़र्ची में अच्छी तरह दक्ष हो गया।

बहन राधा के विवाह में पिता ने कुछ कम दस हज़ार रुपये ख़र्च किये थे। बिरादरी में अपनी धाक जमाने के लिए उन्होंने कोई दो हज़ार रुपये क़र्ज़ भी लिये थे। किन्तु क़र्ज़ के निबटते न निबटते राधा विधवा हो गई। जो कुछ ख़र्च हुआ था वह बेकार से ज़ियादह हो गया।

अन्त में पिता ने मेरा विवाह कर दिया। मैं मुख़्तारकारी के लिए तैयारी करने लगा। जिस समय मैं 'एविडेंस एक्ट' को रटा करता था उसी समय मुझे अपनी स्त्री के साथ गुप्त कलह भी करने पड़ते थे। उनकी बदौलत मैं आगे तो भला क्या पढ़ सकता था, जो कुछ पढ़ चुका होता था वह भी भूल जाता था।

विवाह से पहले भी पढ़ने में मैं तेज़ तो क्या, मामूली मन्द भी न था और अब तो और भी बीसियों झंझट पीछे लगे हुए थे। दूसरे, पिता के धन पर अश्रद्धा हो चली थी। तीसरे स्त्री का कलह दिन पर दिन बढ़ता जाता था। इन सब कारणों से अपनी सफलता में एक नहीं अनेक विघ्न दिखाई पड़ते थे। फिर भी मैं यथासाध्य यत्न कर रहा था और सबकी साथिनी आशादेवी धीरज बँधाती थी कि अब की बार मेरे नियम का अपवाद हो जाना कुछ असम्भव नहीं है।

(३)

स्त्री के कठोर व्यवहार से पीड़ित होकर मैं प्रशस्त मार्ग को छोड़ कर तङ्ग गलियों से चलने लगा। अपने मित्रों में बैठ कर दिल बहलाने के नये नये तरीक़े निकालने लगा। तीन बार चाय पीने और एक बक्स सिगरेट फूँकने का "स्पीड" तो कालेज में रह कर ही प्राप्त कर ली थी। अब उसके आगे का सबक़ पढ़ना शुरू किया।

उस दिन यमुना के तट पर भोज था। मण्डली के सभी सभ्यों के चन्दे से भोज-प्रबन्ध हुआ था। भोजन भी था, मद्य भी थी, नाचने के लिए वेश्या भी थी। यमुना के पवित्र तट पर बैठ कर हम लोग भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों को उड़ाने लगे।

पहले मद्यपान हुआ; साथ में कुछ कुछ भोजन भी। जब चाँदनी ख़ूब छिटक गई और रात के दस बज गये तब भोजन आरम्भ हुआ। बारह बजे के बाद नाच-गाने की बारी आई। यमुना का एकान्त, अतएव निस्तब्ध, तट मुखरित हो उठा; पर उसका प्रवाह उसी शान्ति से चला जाता था। चाँदनी में धुल कर यमुना की नीली साड़ी और भी उज्ज्वल होगई थी और तारों के प्रतिबिम्ब ने उसमें बेल-बूटे काढ़ दिये थे। अनेक बार यमुना देखी थी; पर उस दिन की यमुना बिलकुल ही विभिन्न थी। मद्य के हलके नशे के कारण यमुना के प्रवाह से मन में भावों का जो प्रवाह बहा वह अद्भुत था, अभूत-पूर्व था। उस समय अपने ऊपर बड़ी घृणा हुई। अब तक क्यों मद्यपान न किया। बाज़ार में बिकती हुई सुधा का अब तक क्यों आस्वादन न किया, यह सब सोच कर पश्चात्ताप होने लगा।

क़रीब ३ बजे के घर लौटा। देखा कि स्त्री अब तक जाग रही है और "आश्चर्य्य घटना" को पढ़ कर अपनी नींद की नाव डुबो रही है। उसने

मुझे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा और लैम्प बुझा दिया। निश्चय ही मैं आज तक इतनी देर से घर कभी न लौटा था। मित्रों के संसर्ग से बारह तो बज जाते थे, पर तीन आजही बजे थे। उसकी चितवन को देख कर मुझे उससे बोलने का साहस न हुआ। वह भी यथानियम न बोली और मुँह ढकते ही मेरी तरह सोगई।

(४)

मद्य के हलके नशे ने मुझे आनन्द के जिस धोखे में डाला था वह फिर नहीं मिला। उस आनन्द के लिए मैंने बार बार शराब पी; पर वह आनन्द, उत्तेजना-पूर्ण वह हर्ष, फिर न मिला पर न मिला। हा, उस आनन्द के लिए मैं पक्का शराबी बन गया। दिन दिन मात्रा बढ़ाते हुए मैं आधी बोतल तक पीने लगा, पर वह आनन्द हाथ न लगा। नशा होता था, हँसी आती थी, जी बहलता था; पर थोड़ी ही देर बाद अवसाद उपस्थित होने पर मन गिर जाता था, शरीर शिथिल हो जाता था और सिर दर्द करने लगता था। पर कल्पित आनन्द के लिए जिस ज़हर को मुँह लगा चुका था वह छूटता भी न था।

एक दिन नशे की झोंक में मैं स्त्री से लड़ पड़ा। उसने कहा—तुम पशु हो; पशु से भी बदतर हो; क्योंकि पशु शराब नहीं पीता। ब्राह्मण-सन्तान होकर शराब पीते हो और मुझसे झक करते हो। हटो, दूर हो!

मैंने भी नशे की झोंक में उसे बुरा भला कहा। पर वह और कुछ न बोली। उसकी बात, और बात से बढ़कर उसके मौनभाव, ने मेरे दिल को तोड़ दिया। गुस्से में कई बार जी में आया कि उसे इस तिरस्कार का मज़ा चखाऊँ। रेशमी चादर को मुँह से हटा कर उसके सुर्ख़-सफ़ेद कपोलों पर दो एक थप्पड़ रसीद करूँ। किन्तु उसकी बात की तुर्शी ने मेरा बहुत कुछ नशा उतार दिया था। इसीलिए मेरे भग्न हृदय में नीति-ज्ञान की स्निग्ध, पर क्षीण, रेखा का उदय हुआ। स्त्री पर हाथ चलाना—छिः! छिः!

प्रातःकाल उठ कर मैंने अपनी स्त्री से क्षमा-प्रार्थना की। नशे के कारण मेरा स्नायु-मण्डल शिथिल पड़ गया था। अतएव मैं अधिक भावुक होगया था। पर उसने क्षमा नहीं की। उसने कहा "मैं पिता के घर जाऊँगी। ऐसी अवस्था में मैं तुम्हारे पास रहना नहीं चाहती। तुम्हारा आचरण इतना बिगड़ गया है, इसका हाल मुझे अब तक मालूम न था।"

मैंने कहा—"क्या मेरे आचरण को ठीक करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं? मैं अपने ऊपर स्वयं घृणा करता हूँ। पर दुर्व्यसनों के पञ्जे में बुरी तरह फँस गया हूँ। मुझे सहारा दो कि मैं अपना उद्धार कर सकूँ।"

उसने कहा—"तुम अपना उद्धार आप ही कर सकते हो। मुझसे ये बातें नहीं देखी जातीं। मैं कल जाऊँगी"।

तहसीलदार-कन्या दूसरे ही दिन अपने पिता के घर चली गई।

(५)

नियम का अपवाद ही हुआ। मैं पहले ही प्रयत्न में मुख़्तार हो गया। पिता की जान-पहचान के कारण कुछ कुछ काम भी आने लगा। मुझे अन्य नये मुख़्तारों की तरह अख़बार पढ़ कर, या पतलून में हाथ डाल कर, इधर उधर घूम कर, समय न काटना पड़ता था। पहले महीने में १३।) की आय हुई। इन सवा तेरह रुपयों के लिए हाकिमों की झिड़कियाँ भी सहनी पड़ीं; मुवक्किलों की ख़ुशामद भी करनी पड़ी। साधारण काश्तकार को चौधरी साहब और पटवारी को मुन्शी साहब के सिवा और किसी नाम से न पुकारता था।

अब मुझे रुपये की क़द्र मालूम हुई। मैंने अपनी

बुरी आदतों का संस्कार आरम्भ किया। स्त्री के न होने से मुझे घर काटने के दौड़ता था। उसके कठोर व्यवहार भी कल्पना की आँख से अब भले मालूम होते थे। उसका क्रोधभरा चेहरा देखने को मैं तरसता था। मैं अपना संस्कार कर रहा था उसे दिखाने के लिए। जब मैं शाम से ही नज़ीरें पढ़ने बैठ जाता था और किसी मित्र के साथ कहीं नहीं जाता था तब मुझे मालूम होता था कि मेरी स्त्री मेरी इस तत्परता को देख रही है। उसकी ओर मेरा मन बेतरह खिंचने लगा। मैंने निश्चय किया कि चिट्ठी लिख कर उसे अपने चित्त की दशा सुनाऊँ। पर आत्म-प्रतिष्ठा के ख़याल ने वैसा न करने दिया। जब तक वह मेरे घर में थी, मेरे लिए गुलाब का फूल थी। पर जब से चली गई है, मेरी इष्टदेवी हो गई है। अब मैं मानस-मन्दिर में उसकी प्रतिष्ठा करके पूजा कर रहा था; पर उस पूजा का भाव उस पर प्रकट करना नहीं चाहता था—उसके स्वभाव के कारण नहीं, अपनी पूजा को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए। सकाम आराधना में मेरी भावुकता ने निष्काम भाव उत्पन्न कर दिया था।

मैंने उसके चित्र को अपने सोने के कमरे में टाँग लिया था। उस पर रोज़ फूलों के हार चढ़ाता और उसके सौन्दर्य पर मन ही मन मुग्ध होता था। उसके पढ़ने की पुस्तकों को रोज़ झाड़ता था। उसके बैठने की आरामकुर्सी को रोज़ साफ़ करता था। रात को उसे लपेट कर रख देता था। प्रातःकाल होतेही फिर बिछा देता था। मानो वह आकर उस पर बैठेगी और मुझे खरी-खोटी सुनावेगी। ख़ाली वक्त में मैं इसी तरह के काम करके मन बहलाता था। जब मैं कचहरी से लौटता तब सीधा अपने कमरे में पहुँचता और उसके चित्र की ओर देखता। देखता, फूलों की माला मेरे मन की तरह मुरझा गई है और मेरी स्त्री मुझे थका हुआ देखकर मुझसे कुछ कहा चाहती है। मैं अपने मनोगत भावों का उसके चित्र में दर्शन कर लेता था।

उस दिन मैं कचहरी में पहुँचा ही था कि बूढ़ा कहार चुन्ना हाँफता हुआ आया और बोला—"बाबू, दुलहिन की चिट्ठी लेकर तहसीलदार साहब का चपरासी आया है। तुम जल्दी चलो। दुलहिन बीमार है।"

मेरे हाथ में पेशी की किताब थी। वह वहीं छूट कर गिर पड़ी। आमदनी कम होने के कारण मैं साइकिल पर कचहरी जाया करता था। मैंने देखा कि साइकिल पर मकान पहुँचना मुश्किल है। हृदय की गति तेज़ हो गई और पाँव काँपने लगे। मैंने अपने को सँभाला और किसी तरह साइकिल पर बैठ कर घर की ओर चला क्यों, उड़ा। मन में बार बार यही सोचता था कि दुलहिन ने चिट्ठी भेजी है; वह बीमार है। ईश्वर कुशल करे। वह! और चिट्ठी भेजे!

(६)

मकान पहुँचतेही रामअधीन चपरासी ने चिट्ठी मेरे हाथ में देदी। मैं झपटा हुआ अपने कमरे में पहुँचा और उसके चित्र की ओर देखा। चित्र में भी उसका चेहरा उतरा हुआ दिखाई दिया। धड़कते हुए दिल, अतएव काँपते हुए हाथों, से मैंने चिट्ठी खोली। उसमें लिखा था।—

प्राणनाथ,

मैं हारी, आप जीते। अब तक सोचती रही कि आप चिट्ठी लिखेंगे, मुझे लेने आवेंगे, नहीं तो देखने आवेंगे; पर आप न आये। मेरा जी भी न पसीजा। आज डाक्टर से मालूम हुआ कि मैं न बचूँगी। खाँसी का असर फेफड़े तक पहुँच गया है। बुख़ार भी रोज़ आजाता है। डाक्टर साहब ने पिता से निराशा प्रकट की। नौकरानी से छल कर मैंने पूछ लिया और पिता के उतरे हुए चेहरे को

देख कर उसके कथन की सचाई को परख लिया। पिताजी मेरे पास बैठे रहे। उनकी आँखों में आँसू भरे हुए थे। मुझसे कहते थे कि जल्द आराम हो जायगा। डाक्टर साहब कह गये हैं कि जिस चीज़ को तुम्हारी तबीयत चाहे, खाओ। कुछ हर्ज नहीं है। मैंने समझ लिया कि अब अन्त समय आगया है। सब चीज़ें खाने का अबाध अधिकार उसकी सूचना है। कल तक परहेज़ था, अब स्वतन्त्रता है। पिताजी ने कई बार चाहा कि आपको मेरी बीमारी की सूचना दें। पर मैंने उन्हें शपथ दे दी थी। वे मेरे स्वभाव को जानते हैं। इसी लिए उन्होंने आप को कोई सूचना नहीं दी। अब मेरा अन्तिम समय उपस्थित है। उम्र भर मैंने आपसे लड़ाई की, झगड़ा किया, और मन में द्वेष न रहने पर भी बाहर से सोलह आने द्वेष का व्यवहार किया। अब मैं एक बार आप से क्षमा-भिक्षा माँगूँगी। आपके चरणों पर अपने गर्वपूर्ण सिर को रखकर क्षमा चाहूँगी। मुझे भरोसा है, मेरी हीन अवस्था को देख कर आप मुझे क्षमा कर देंगे। बिना आप के क्षमा किये मेरी सद्गति नहीं। मेरी बहन कलावती मेरी शुश्रूषा के लिए आई हुई है। उसीने यह चिट्ठी लिखी है। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि बैठ कर दो सतरें भी लिख दूँ। प्राणनाथ, अधिक क्या लिखाऊँ। जहाँ तक सम्भव हो, शीघ्र आइए और अपनी कर्कशा भार्य्या को क्षमा करके अपनी ठोकर से उसे तार जाइए।

क्षमाभिलाषिणी—
भगवती

पत्र पढ़कर मुझे पसीना आगया। सिर घूमने लगा। स्त्री के सूखे हुए और म्लान मुख की कल्पना करके मैं रोने लगा। हा, हरी भरी डाली मनस्ताप से दुःख पाकर रोग के पञ्जे में बुरी तरह फँस गई और सूखकर काँटा हो गई! मेरे कारण! मेरे कारण! जी में आया कि पिस्तौल की शरण लूँ और एक फ़ैर में जीवन का फेर काट दूँ। किन्तु उसे जाकर देखना है। उसके हिसाब उसे क्षमा करना है और अपने हिसाब उससे क्षमा माँगना है। पिस्तौल तो साथ ही है। उसके साथ चलने के लिए यह वाहन बनेगा। खूब रोने से तबीयत हलकी हुई; दुःख का बोझ कम हुआ; पर, प्रभाव कम ही हुआ। रामअधीन ने बाहर से कहा—"बाबूजी, दो बजे के बाद फिर दूसरी गाड़ी रात को जाती है। अब एक बजा चाहता है।"

मैं फ़ौरन् तैयार हो गया और पत्थर की मूर्त्ति की तरह गाड़ी में सवार होकर स्टेशन को चल दिया।

(७)

कोई पाँच बजे मैं वहाँ पहुँच गया। रास्ते में मैंने रामअधीन से एक भी बात न पूछी। सच तो यह है कि मैं आँसुओं के वेग को रोके बैठा था। बोलते ही बाँध टूट जाने का भय था। मेरे ससुर तहसील में बने मकान में ही रहते थे। गाड़ी से उतर कर मैं अन्दर गया। गाड़ी की आवाज़ सुन कर मेरी चचेरी साली कलावती दहलीज़ में आ गई थी। मैंने रोते हुए पूछा—"क्या हाल है?"

उसने कहा—"वही हाल है। धीरज रखिए। ईश्वर दया करेगा। तहसीलदार साहब एक ज़रूरी काम से बाहर गये हैं। कल प्रातःकाल तक आ जायँगे। आप मेरे साथ आइए। देखिए, उसके सामने न रोइएगा। डाक्टर साहब कह गये हैं कि उसके दिल पर किसी तरह का बोझ न पड़ना चाहिए। आप उसे धीरज बँधाइएगा। बालक बन कर इस तरह न रोइएगा।"

मैंने कहा—"अच्छा, ऐसा ही करूँगा।"

कलावती ने कमरे की चिक उठा कर मुझे अन्दर बुलाया। मेरी स्त्री पलँग पर चादर ओढ़े लेटी हुई थी। पलँग के पास मेज़ पर ओषधियाँ

की कुछ शीशियाँ रक्खी थीं। उसका मुँह ढका हुआ था और मालूम होता था कि वह सो रही है। कलावती के समझाने पर भी मुझसे न रहा गया। मैं मृत्यु-शय्या पर पड़ी अपनी पत्नी के पाँवों को पकड़ कर चीख़ मार कर रोने लगा और कहने लगा—"मेरे हृदय की देवि, मेरे कठोर व्यवहार के कारण तू संसार छोड़ रही है। अपने दुष्ट और दुराचारी पति को क्षमा कर।"

ईश्वर को देख कर भी मुझे इतना आश्चर्य्य न होता जितना अपनी प्रफुल्ल-वदना और हृष्ट-पुष्ट पत्नी को देख कर हुआ। उसने चादर फेंक दी और मेरे चरणों को पकड़ कर बैठ गई। उसके अधरों पर हँसी थी। मैंने उसे इतना स्वस्थ कभी न देखा था। कलावती पहले ही कमरे से चली गई थी।

× + + +

मेरे ससुर दौरे पर गये हुए थे। कलावती और उसने मिल कर यह षड्यन्त्र रचा था। कई घण्टे सोच कर और उपन्यासों की सहायता लेकर वह पत्र लिखा गया था। मेरे मानसिक सुधार का हाल वह बराबर मालूम करती रहती थी। पिता के यहाँ आकर उसने कई दरजन उपन्यास पढ़ डाले थे। उसके कठोर हृदय में मेरे विरह ने उपन्यासों की भाषा से अधिक भावुकता पैदा कर दी थी। उसी का यह फल था। मैं अवाक् रह गया। सब कुछ सुन कर मैंने उससे कहा—"मुझे जो मनस्ताप हुआ उसका मुआवज़ा?"

उसने कहा—"अगले सोमवार को बिदा के लिए आना। उस समय तक पिताजी भी दौरे से लौट आवेंगे। मकान पर पहुँच कर "मुआवज़ा" गी। अब आराम करो, कभी के दो बज गये।

उसका स्वभाव भी मेरी तरह बिलकुल बदल गया था। मैंने भी निश्चय किया कि समय मिलने पर अच्छे उपन्यास पढ़ूँगा। चलते समय उसके पढ़े हुए बहुत से उपन्यास साथ लेता आया।

अब हम बड़े प्रेम से रहते हैं। प्रेम का समुद्र ऐसा शान्त हुआ है कि उस दिन से एक बार भी तूफ़ान नहीं आया।

कलावती को उस षड्यन्त्र रचने के पुरस्कार में मैंने एक सोने की रिस्ट वाच भेंट की। उसने बड़ी मुश्किल से उसे ग्रहण किया।

ज्वालादत्त शर्म्मा

विविध विषय।

१—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की भविष्य-कल्पना।

इस सम्मेलन के आठवें अधिवेशन पर एक नोट अप्रेल की सरस्वती में निकल चुका है।

इस अधिवेशन में हिन्दी और उर्दू का भेद-भाव मिटाने और हिन्दी का सार्वत्रिक प्रचार करने की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। देश-काल को देखते यह अच्छा ही हुआ। इसका यह परिणाम होगा कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो जायगी—भारत को एक सार्वजनीन व्यवहार-भाषा मिल जायगी। ऐसा होने पर भारत की भिन्न भिन्न देशी भाषाओं का बहुत कुछ प्रभाव हिन्दी-भाषा के वर्तमान स्वरूप पर पड़ेगा। फलतः आज के स्वरूप से उसका तत्कालीन स्वरूप थोड़ा बहुत भिन्न हो जायगा। अर्थात् कुछ लोगों के शब्दों में हिन्दी-भाषा "खिचड़ी-भाषा" हो जायगी। यह अभीष्ट है या नहीं? कुछ लोगों की राय में यह वाञ्छनीय नहीं; वे [illegible] हैं, इससे हिन्दी का स्वाभाविक सौन्दर्य्य नष्ट हो जायगा। इस पर हमारा निवेदन है कि भाषा साध्य नहीं, साधन है। साध्य है ज्ञान-प्राप्ति। भाषा का जो स्वरूप अधिक जनों को, अधिक परिमाण में, अधिक उत्तम ज्ञान-दान करेगा वही सब के लिए अच्छा और उपयुक्त होगा। प्राचीन हिन्दी, माध्यमिक हिन्दी, तथा वर्तमान हिन्दी के उत्तरोत्तर व्यापक और बदलते हुए रूपों पर जब हम ध्यान देते हैं तब यही कहना पड़ता है कि "खिचड़ी-भाषा" ही अब भारत के

लिए विशेष उपयुक्त होगी। फिर सुन्दरता का कोई ख़ास लक्षण तो है ही नहीं। मनुष्य की रुचि और प्रवृत्ति के ही अनुसार मनुष्य-विशेष की दृष्टि में वस्तुविशेष सुन्दर या असुन्दर होती है। अतएव सुन्दरता के ख़याल से भाषा की व्यापकता और उपादेयता का प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। हाँ, यह सम्भव है कि, आगे चल कर, हिन्दी के दो रूप हो जायँ—एक तो व्यापक और सार्वजनीन, दूसरा मर्यादित और अल्पजनीन। या यों कहिए कि व्यवहार-भाषा अलग हो जायगी और साहित्य-भाषा अलग। व्यवहार-भाषा का प्रभुत्व सारे भारतवर्ष पर होगा; साहित्य-भाषा का आदर विशेष करके हिन्दी-भाषा-भाषियों में। यह दूसरा रूप देश में उसी स्थान पर रहेगा जिस स्थान पर आज अन्य देशी-भाषायें हैं। अर्थात् अन्य देशी-भाषाओं की तरह हिन्दी भी एक देशी-भाषा हो जायगी। पर उसका एक अधिक विकसित और अधिक उन्नत स्वरूप देश भर में व्याप्त हो जायगा। यही नहीं, किन्तु यदि संसार केवल उपयोगिता-तत्त्व पर दृष्टि रख कर अधिक स्वाभाविक, अधिक सुसङ्गठित, अधिक पूर्ण, अधिक शास्त्रानुकूल या वैज्ञानिक भाषा की खोज करे तो वह निश्चय ही अपनी समस्त भाषाओं में हिन्दी को, और, लिपियों में देवनागरी को, अधिक श्रेष्ठ पावेगा। और, उस दशा में, संसार की एक-मात्र भाषा हिन्दी भाषा और लिपि देवनागरी हो जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि संसार-व्यापिनी होने के लिए हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि में कितने ही आवश्यक सुधार करने होंगे।

यह तो हुई हिन्दी की भविष्य-कल्पना। पर हमें विचार करना है सम्मेलन के भविष्य पर। सम्मेलन का सम्बन्ध हिन्दी-भाषा से है; अतएव हिन्दी-भाषा के भविष्य के आधार पर ही सम्मेलन के भविष्य की कल्पना करनी होगी। इस समय सम्मेलन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन नहीं, किन्तु हिन्दी-प्रचार-सम्मेलन हो रहा है; अर्थात् हिन्दी के साहित्य की उन्नति की ओर उसका जितना ध्यान है उसकी अपेक्षा हिन्दी के प्रचार की ओर अधिक है। साहित्य की उन्नति का कार्य्य एक प्रकार से अधिक स्थायी है, प्रचार का काम अस्थायी। दस बीस वर्षों में महाराष्ट्र और मदरास में हिन्दी का इतना प्रचार हो सकता है कि वहाँ के लोग हिन्दी अच्छी तरह समझ लें और साधारण तौर पर बोल भी लें। इतना हो जाने पर सम्मेलन को प्रचार का कार्य्य बहुत करके शिथिल करना पड़ेगा और उसकी शक्ति साहित्य की उन्नति में आप ही आप ख़र्च होने लगेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्मेलन का व्यापक स्वरूप फिर सङ्कीर्ण हो जायगा—वह देशीय का प्रान्तीय हो जायगा। हिन्दी-प्रचार के कार्य की बदौलत सम्मेलन आज अधिकाधिक जातीय स्वरूप ग्रहण कर रहा है। प्रचारोपरान्त यह स्थिति बदल जायगी। एक बात और भी हो सकती है। एक दो वर्षों के बाद, सम्भव है, हिन्दी-प्रचार का प्रश्न सम्मेलन-कार्यालय से उठ कर कांग्रेस के कार्यालय में चला जाय। क्योंकि कांग्रेस के प्रयत्न से यह कार्य्य जितना शीघ्र सफल होगा, सम्मेलन के प्रयत्न से उतना शीघ्र नहीं। यदि ऐसा हुआ तो फिर साहित्योन्नति के अतिरिक्त कोई काम सम्मेलन के लिए न रह जायगा। तब सम्मेलन फिर उसी रूप को ग्रहण कर लेगा, जिसे वह एक दो वर्ष पहले अपनाये था। देखना है, यह भविष्य-कल्पना कहाँ तक ठीक उतरती है।

"मयूर"

२—एक आवश्यक प्रस्ताव।

भारत में इस समय पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं में दारुण युद्ध हो रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वी सभ्यता ही भारत के लिए श्रेयस्कर है। पश्चिमी सभ्यता भारत की भूमि और जल-वायु के अनुकूल नहीं। अतएव उसको अपनाना ठीक नहीं। इसके विपरीत कुछ लोगों की राय है कि यह नवीनता का ज़माना है। पूर्वी सभ्यता अब पुरानी पड़ गई। वर्तमान समय के लिए वह उपयुक्त नहीं। सारा संसार इस समय पश्चिमी सभ्यता का ही न्यूनाधिक अनुकरण कर रहा है। अतएव वही हमारे लिए भी हितकर है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा दल भी है। वह कहता है कि आप दोनों ही ग़लती पर हैं। संसार में सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वथा हितकर एक भी वस्तु नहीं। यहाँ सभी कुछ गुण-दोष-मय है। इस दशा में यह कहना कि अमुक सभ्यता ही कल्याण-कर है, सत्य नहीं। पूर्वी और पश्चिमी, दोनों सभ्यताओं में, देश-काल के अनुसार, ग्राह्यांश और त्याज्यांश दोनों ही हैं। पहले दल के लोगों में अधिकांश पुराने चाल के पण्डित हैं और दूसरे दल के लोगों में अधिकांश नव्य-

शिक्षा-दीक्षित। ये एक दूसरे की मनो-नीत सभ्यता के तत्त्वों से प्रायः अनभिज्ञ होते हैं। तीसरे दल में अधिकतर वे लोग हैं जो एक ही आँख से नहीं देखते; जो नवीन और प्राचीन दोनों संस्कारों से संस्कृत हैं; जिन्होंने उपयोगितातत्त्व को ध्यान में रख कर पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं की गति-विधि पर थोड़ा बहुत विचार किया है। नहीं कह सकते, सभ्यता के अभिमानियों का यह झगड़ा कब समाप्त होगा। पर इस झगड़े से भारत की बड़ी हानि हो रही है। सब लोग तीन-तेरह हो रहे हैं। समाज में उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। बेचारे अशिक्षितों की तो बात ही जाने दीजिए, अल्प और अर्ध-शिक्षित जन भी चक्कर में पड़ रहे हैं। वे नहीं समझ सकते कि हम किस रास्ते से जायँ; कौन रास्ता हमारे लिए वास्तव में उपयुक्त है। इस दुःस्थिति के सुधार का कुछ उपाय अवश्य होना चाहिए। यह उपाय समाज के अग्रणी जन ही कर सकेंगे।

उन्हें पहले सभ्यता शब्द की व्याख्या करनी चाहिए—सभ्यता का लक्षण निश्चित करना चाहिए। उस लक्षण के अनुसार उन्हें यह देखना चाहिए कि किन संस्कारों, भावों या आचरणों का समावेश पूर्वी सभ्यता में होता है और किन का पश्चिमी सभ्यता में। इस तरह पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का रूप स्पष्ट हो जायगा। तब इस बात पर विचार करना चाहिए कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार भारतवर्ष के लिए कौन सी सभ्यता उपयुक्त होगी। यह निर्णय करते समय उनको भारत की प्रकृति और संस्कृति पर भी ध्यान देना चाहिए और सोचना चाहिए कि किस सभ्यता का कितना अंश, वर्तमान समय की आवश्यकताओं की दृष्टि से, ग्रहणीय है। अर्थात् दोनों सभ्यताओं की अच्छी और उपादेय बातें तो ले ली जायँ और हानिकर बातें छोड़ दी जायँ।

वर्तमान दुरवस्था को दूर करने का एक मात्र यही इलाज हो सकता है।

३—संयुक्त प्रान्त की वार्षिक शासन-रिपोर्ट।

मार्च १९१७ के अन्त तक की—एक वर्ष की—सरकारी शासन-रिपोर्ट, इस प्रान्त के गवर्नमेंट प्रेस से, गत एप्रिल में, प्रकाशित हो गई। इस बार इस रिपोर्ट के लेखक ने बड़ी योग्यता से अपना काम किया है। कोई बात, उपाय भर, ऐसी नहीं लिखी जिससे किसी दल या सम्प्रदाय का दिल दुखे। प्रेसों, पुस्तकों और समाचारपत्रों आदि के विषय में सरकारी विचारों का सारांश सुनिए—

१९१५-१६ ईसवी में प्रकाशित पुस्तकादि की संख्या २,०२३ थी। गत वर्ष, अर्थात् १९१६-१७ में, बढ़ कर वह २,२७२ हो गई। अर्थात् २४९ की वृद्धि हुई। प्रेस की सामग्री की महँगी और किसी अंश तक प्रेसों पर सरकारी कड़ी नज़र होने पर भी यह वृद्धि बहुत सन्तोषदायिनी है। सरकार का कहना है—

"हिन्दी भाषा में लिखी गई पुस्तकों की संख्या में सब से अधिक वृद्धि हुई। यह बात बड़े मार्के की हुई कि अनेक मुसलमानों तक ने देवनागरी लिपि का व्यवहार किया"।

हमारे मुसलमान भाइयों की इस बुद्धिमानी, समदर्शिता और परख की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

भिन्न भिन्न विषयों की पुस्तकों की संख्या-वृद्धि इस प्रकार हुई—

धर्म्म	६५	वैद्यक	२८
इतिहास	४१	विज्ञान	२२
जीवन-चरित	२७	कविता	२७

राजनैतिक पुस्तकों की संख्या में २० की कमी रही।

युद्ध पर १९ पुस्तकें निकलीं। क्रिश्चियन, मुसलमान, आर्य्य, हिन्दू—इन सभी ने क़लम चलाई। किसी ने इस युद्ध की उपमा देवासुर-संग्राम से दी, किसी ने महाभारत से, किसी ने और इसी तरह के पौराणिक युद्धों से। जर्मनी की सभ्यता और जर्मनी-नरेश, क़ैसर, के प्रतिकूल खूब लिखा गया।

धर्म्म, समाज-संशोधन और राजनीति पर बहुत अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सनातन-हिन्दू-धर्म्म से सम्बन्ध रखने-वाली ४३६ पुस्तकें निकलीं। इससे सूचित है कि इसी धर्म्म की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक है। १९१६-१७ में फिर भी ऐसी बहुत सी पुस्तकें निकलीं जिनमें विरुद्ध सम्प्रदायवालों पर आक्रमण थे। बनारस-राज्य और बीजापुर की बादशाही के इतिहास अच्छे निकले। बग़दाद के ख़लीफ़ों का इतिहास भी अच्छा निकला। यह इतिहास १३०१ ईसवी में लिखा गया था। इसी के चुने हुए अंशों का संग्रह इस पुस्तक में प्रकाशित हुआ। चार पाँच जीवन-चरित भी उल्लेख-योग्य निकले।

जाति-भेद पर ४३ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। चमारों के विषय में भी एक पुस्तक प्रकट हुई। उसमें लिखा है कि चमारों की उत्पत्ति सूर्यवंशी क्षत्रियों से है। प्रमाण में संस्कृत के एक ग्रन्थ का हवाला दिया गया है जो हिमालय में मिला है। इस सरकारी टिप्पणी को पढ़ कर दुःख हुआ। इसमें दोष सरकार का नहीं; दोष है चमारों के वकील लेखक का। प्रत्येक जाति क्या, व्यक्ति, को भी अधिकार है कि वह अपने को जैसा उचित समझे, अथवा वह जैसा हो, साबित करने की चेष्टा करे। पर यह कहना कि किसी संस्कृत-ग्रन्थ में यह लिखा है कि चमार सूर्यवंशी हैं और वह ग्रन्थ हिमालय की किसी कन्दरा में पड़ा मिला है, ऐतिहासिक दृष्टि से रत्ती भर भी मूल्य नहीं रखता। लेखक को अपने आविष्कार का पक्का प्रमाण देना चाहिए। अन्यथा उसका कथन पञ्चतन्त्र की कहानियों से अधिक मूल्यवान् नहीं माना जा सकेगा। खेद है, गवर्नमेंट ने ऐसी भी पुस्तक का उल्लेख आवश्यक समझा। शायद लेखक का आशय समझने में उससे भूल हुई।

उपन्यासों की बराबर वृद्धि हो रही है। अब्दुल हलीम शरर के नौ और कौंसिल के भूतपूर्व मेम्बर बाबू व्रजनन्दन-प्रसाद के दो उपन्यास प्रकाशित हुए। पिछले दो में से एक मेरी कारेली के एक उपन्यास के आधार पर है। कविता-पुस्तकें निकलीं तो बहुत, पर प्रायः रद्दी। इनको कविता न कह कर पद्यात्मक पुस्तकें ही कहना चाहिए। हां रवीन्द्र बाबू के पद्यों या गीतों की दो जिल्दें, तथा बाबू मैथिली शर्म्मा (शरण) गुप्त के दो नाटक और उनकी कविताओं का एक सङ्ग्रह अवश्य नाम लेने योग्य निकला। महावीरप्रसाद दुबे का सम्पत्तिशास्त्र और कृषि पर पूर्णसिंह की पुस्तक, ऊँचे दरजे के साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले एक भिन्न प्रकार के ग्रन्थ हैं।

समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों की संख्या में १० की कमी हो गई। वर्षान्त में पत्रों की संख्या इस प्रकार थी—

हिन्दी के	१२७
उर्दू के	१३१
अँगरेज़ी के	६४

इस मद में हिन्दी से उर्दू आगे है।

गवर्नमेंट को ८ दफ़े समाचार-पत्रों को चेतावनी देनी पड़ी और ज़िला-मैजिस्ट्रेटों को ३ दफ़े।

४—संयुक्त-प्रान्त में शिक्षा की दशा।

१९१६-१७ की प्रान्तीय शासन-समालोचना में गवर्नमेंट ने शिक्षा के विषय में जो कुछ लिखा है उसके कुछ अंशों का आशय नीचे दिया जाता है। गत वर्ष और उसके पहले शिक्षालयों और शिक्षा पानेवालों की सङ्ख्या इस प्रकार थी—

	शिक्षालय	शिक्षा पानेवाले
१९१५-१६ में—	१७६३१	८,४१,३३४
१९१६-१७ में—	१७७२८	८,९४,८८६

सो पिछले साल से १९१६-१७ में सिर्फ़ ९७ शिक्षालय और ५३,५५२ शिक्षार्थी बढ़े। १९१५-१६ में १ करोड़ ३९¼ लाख के लगभग ख़र्च हुआ था। रिपोर्ट के साल १ करोड़ ४६½ के लगभग ख़र्च किया गया। ख़र्च बढ़ा तो, पर सिर्फ़ ७¼ लाख।

कालेजों में शिक्षा पानेवालों की संख्या ४,७३१ से बढ़ कर ४,८१५ हो गई। एकदम ८४ छात्रों की वृद्धि हुई! कालेजों में जगह ख़ूब रहती है और भरती होने में विघ्न-बाधायें भी नहीं आतीं! अब ज़रा परीक्षा देने और पास होनेवालों की सङ्ख्या का हिसाब सुनिए—

परीक्षा का नाम	कितने छात्रों ने परीक्षा दी	कितने पास हुए
एफ़० ए०—	१,७२३	७५९
बी० ए०—	९३२	४०३
बी० एस०-सी०—	१५२	६३
एल—एल० बी०, प्रीवियस	५४६	३८९
,, फ़ाइनल	३५२	२६०

एम० ए० के नतीजे का उल्लेख नहीं।

एफ़० ए० का नतीजा बहुत बुरा रहा। संस्कृत की प्रथमा परीक्षा का तो उससे भी बुरा—केवल फ़ी सदी २७ लड़के पास हुए। मध्यमा-परीक्षा में १,३६३ में से केवल ५१२ पास हुए।

देशी भाषाओं और अँगरेज़ी के द्वारा शिक्षा देनेवाले माध्यमिक शिक्षा के स्कूलों की सङ्ख्या ६११ से ६३१ हो गई। २० बढ़ गये। पर छात्रों की सङ्ख्या ९७,०३८ से घट कर ८६,४४६ ही रह गई। हाईस्कूल ११९ से १३० हो गये,

अँगरेज़ी के मिडिल स्कूल ८१ से ७९ रह गये, देशी-भाषाओं के मिडिल स्कूल ४११ से ४२२ हो गये।

सरकारी स्कूलों में, वार्षिक ख़र्च, फ़ी छात्र, ५३¾ रुपये से कुछ अधिक पड़ा।

आरम्भिक शिक्षा के शिक्षालयों की सङ्ख्या १०, ४७१ से १०,५३५ हो गई। जिस शिक्षा के लिए प्रजापक्ष के अग्रणी आकाश-पाताल एक कर रहे हैं और जिसकी वृद्धि के लिए स्वयं सरकार भी प्रयत्नशील मालूम होती है उसके शिक्षालयों की सङ्ख्या में केवल ६४ की वृद्धि! हाँ, शिक्षार्थियों की सङ्ख्या में अलबत्ते कुछ अधिक वृद्धि हुई। उनकी संख्या ६,२८,३६७ से ६,४१,०६५ हो गई। आँसू पोंछने के लिए यही बहुत समझना चाहिए। पर यह वृद्धि नीचे ही के दरजों में हुई, ऊपर के दरजों में नहीं। ऊपर के दरजों में तो कोई ४०० लड़के कम हो गये। आरम्भिक शिक्षा के लिए १९१६—१७ में गवर्नमेंट ने कृपापूर्वक दो लाख रुपया अधिक ख़र्च किया।

हिन्दुस्तानी लड़कियों के स्कूल १,३८४ से १,४३१ हो गये और लड़कियों की संख्या ४७, ३६८ से ५०, १३१ हो गई। १९,५५५ लड़कियाँ लड़कों के मदरसों में शिक्षा पाती थीं। अतएव सब की संख्या ६९.६८६ हुई। लड़कियों के भिन्न भिन्न प्रकार के स्कूल और उनमें शिक्षा पानेवाली लड़कियाँ इस प्रकार थीं—

	पढ़नेवाली लड़कियों की सङ्ख्या
हाई-स्कूल ६	८०८
ऐंग्लो वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल ३०—	३,०१०
वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल ५०—	४,७८६
माडल स्कूल १९—	लिखा नहीं

६४ लड़कियों ने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा दी, जिनमें से २२ पास हुई अर्थात् कोई एक तिहाई। अँगरेज़ी मिडिल की परीक्षा में १८० में से १२९ पास हुईं। यह नतीजा बहुत अच्छा रहा। वर्नाक्युलर मिडिल की परीक्षा में १९७ बैठीं, पर पास सिर्फ़ ६१ हुईं।

आरम्भिक मदरसों की सङ्ख्या बढ़कर १०५८ से १०८३ हो गई और उनमें पढ़नेवाली लड़कियों की सङ्ख्या ३५,६६३ से ३६,४२९। ख़ैर। लड़कियाँ मदरसे तो जाने लगीं।

५—फ़ौजी आदमियों के बच्चों की शिक्षा।

गवर्नमेंट आव्-इण्डिया देशी फ़ौज के जवानों—सिपाहियों और उहदेदारों—के बच्चों की शिक्षा का सुप्रबन्ध करना चाहती है। इस निमित्त उसने सभी प्रान्तीय गवर्नमेंटों के नाम एक चिट्ठी, गत अप्रेल में, भेजी है। उसमें लिखा है कि ४ अगस्त १९१४ के बाद जो देशी सिपाही या उहदेदार लड़ाई में मारे गये हों अथवा काम पर रहते समय बीमार या घायल हो जाने के कारण काम-काज के योग्य न रहे हों उनके बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय। वर्तमान लड़ाई समाप्त होने के बाद भी इस तरह के आदमियों की सन्तति की शिक्षा के लिए सुभीते किये जायँ। ज़रूरत पड़ने पर उनके लिए नये स्कूल भी खोले जायँ। जहाँ राजपूतों और गोरखों के लड़कों के लिए अलग स्कूल हैं अथवा जहाँ उद्योग-धन्धे सिखाने के स्कूल हैं वहाँ इन लोगों के बच्चों को रखने के लिए, आवश्यकता होने पर, कुछ और भी अधिक रियायतें की जायँ। शिक्षा का प्रबन्ध केवल लड़कों ही के लिए नहीं, लड़कियों के लिए भी किया जाय।

ऐसे बच्चों के नामों की एक तालिका ऐडजूटंट जनरल तैयार करके ज़िले के कलेक्टर के पास भेजेंगे। कलेक्टर साहब निर्दिष्ट बच्चों का पता लगा कर उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध करेंगे। देशी रियासतों में रहनेवाले बच्चों की नामावली भी तैयार करके गवर्नमेंट को भेजी जायगी। इसी तरह हर साल एक तालिका बनाई जायगी। कलेक्टर साहब बच्चों के अभिभावकों को एक सर्टिफ़िकेट देंगे। तब वे उन रियायतों के मुस्तहक़ होंगे जो गवर्नमेंट उनके साथ करना चाहती है। बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा मुफ़् दी जायगी। साल में पुस्तकों आदि के लिए कुछ ख़र्च भी मिलेगा। मिडिल स्कूलों में उन्हें वही वज़ीफ़ा मिलेगा जो और सर्वसाधारण लड़कों या लड़कियों को मिलता है। हाई-स्कूलों और कालेजों के लिए जो वज़ीफ़े मिलते हैं वे उन्हें भी, परीक्षा पास करने पर, साधारण तौर पर मिलेंगे। ऐसे लड़के यदि बोर्डिंग हौस में रहेंगे और ख़र्च अधिक पड़ेगा तो वज़ीफ़े से उतना रुपया उन्हें अधिक मिलेगा। हाँ, चाल-चलन ठीक न होने और यथेष्ट उन्नति न करने से वज़ीफ़ा बन्द किया जा सकेगा। वज़ीफ़ा दिये जाने के पहले प्रवेश-परीक्षा पास करनी पड़ेगी। जो लड़के १० वर्ष की उम्र तक

किसी स्कूल में भरती न होंगे उनको वज़ीफ़ा न मिलेगा और उनके साथ कोई और रियायत भी न की जायगी। अभिभावक जिस स्कूल में चाहें अपने बच्चों को भरती करा सकेंगे।

आशा है, गवर्नमेंट की इस कृपा की बदौलत बहुत लड़के पढ़ जायँगे। और कारणों से न सही, गवर्नमेंट की इस उदारता के ही ख़याल से लोगों को अब रँगरूट बनाने में ज़रा भी देरी न करनी चाहिए।

६—औद्योगिक शिक्षा की प्राप्ति के लिए वज़ीफ़े।

योरप और अमेरिका जाकर वहाँ उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा प्राप्त करनेवाले दस तक भारतीय युवकों को अब तक गवर्नमेंट हर साल वज़ीफ़े देती थी। पर दो साल में २० से अधिक वज़ीफ़े न दिये जाते थे। ये लोग सिर्फ़ दो साल तक विदेश में रह कर शिक्षा पाते थे और स्वदेश को लौट कर भारतीय उद्योग-धन्धे के काम करते थे। अब गवर्नमेंट ने कृपा कर के इन वज़ीफ़ों की संख्या २० से ३० कर दी है। इसका मतलब यह नहीं कि इतने वज़ीफ़े ज़रूर ही दिये जायँगे। हाँ, यदि सुयोग्य और यथेष्ट शिक्षा पाये हुए युवक मिलेंगे तो ३० तक भेजे जा सकेंगे। किस प्रान्त से कितने वज़ीफ़े मिलेंगे, इसकी तफ़सील लीजिए—

(१) मदरास, बम्बई, बङ्गाल और संयुक्त-प्रान्त, हर एक से चार चार	१६
(२) पञ्जाब, ब्रह्मदेश, बिहार और मध्यप्रदेश, हर एक से तीन तीन	१२
(३) आसाम और सीमान्त-प्रदेश—हर एक से एक एक	२
	३०

प्रत्येक प्रान्तीय गवर्नमेंट को अधिकार दिया गया है कि वह इन वज़ीफ़ों के विषय में सीधे अंडरसेक्रेटरी आव् स्टेट से भी चाहे तो लिखा-पढ़ी कर सकती है और अपने प्रान्त की आवश्यकताओं के अनुसार वज़ीफ़े दे सकती है। १३ अप्रेल १९१८ के गैज़ट आव् इण्डिया में, इस विषय में जो सरकारी मन्तव्य प्रकाशित हुआ है उसमें लिखा है कि प्रत्येक वज़ीफ़ेदार को साल में १८०० रुपया मिलेगा। उसे एक इक़रारनामा लिखना पड़ेगा। काम सीख कर, हुक्म पाते ही, यदि वह भारत को न लौटेगा तो वज़ीफ़े का रुपया उसे वापिस देना पड़ेगा। कारण उपस्थित होने पर वज़ीफ़े की रक़म कम भी की जा सकेगी और साल ख़तम होने पर, चाहे वह पहला ही साल क्यों न हो, वज़ीफ़ा बन्द भी किया जा सकेगा।

दो साल से कम और पाँच साल से अधिक के लिए वज़ीफ़ा न मिलेगा। क़ानून, डाक्टरी, विज्ञान, साधारण इंजिनियरी, वन-विज्ञान इत्यादि कई निर्दिष्ट विषयों की शिक्षा के लिए ये वज़ीफ़े न मिलेंगे। इनको छोड़ कर और ऐसे विषय जिनकी सहायता से भारतीय उद्योग-वृद्धि हो सकती है, उन्हें सीखने के लिए ही युवक भेजे जायँगे। जिनको ये वज़ीफ़े दिये जायँगे उन्हें बहुत करके एक साल यहीं किसी जगह १००) महीने पर काम सीखना पड़ेगा। इसके बाद एक वर्ष तक किसी कारख़ाने में ख़ुद ही १५०) महीने पर काम भी करना पड़ेगा। तब कहीं विदेश जाना पड़ेगा। ख़ास ख़ास हालतों में वज़ीफ़ेदार एकदम ही विलायत भेजे जा सकेंगे। प्रायः बी० ए० (विज्ञान सीखे हुए) और बी० एस०-सी० ही ये वज़ीफ़े पाने के मुस्तहक़ होंगे। जिनसे यह आशा होगी कि स्वदेश को लौट कर भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायक होंगे उन्हीं को ये वज़ीफ़े मिलेंगे। गवर्नमेंट किसी को नौकरी देने के लिए बाध्य न होगी। पहले यह बात देख ली जायगी कि शिक्षा प्राप्त कर के लौटने पर कौन, कहाँ, किस तरह का काम वज़ीफ़ेदार को देगा, तब कहीं वह विदेश भेजा जायगा।

गवर्नमेंट के इस सदाशय-सूचक मन्तव्य के लिए धन्यवाद।

७—जापान की औद्योगिक उन्नति।

बम्बई से ईस्ट एंड वेस्ट (East and West) नाम का एक मासिक पत्र, अँगरेज़ी में, निकलता है। उसकी गत जनवरी की सङ्ख्या में किसी नकाबा-यमादा (Nakaba-Yamada) नाम के एक जापानी सज्जन ने जापान की उन्नति पर एक लेख छपाया है। उससे जाना जाता है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद जापान में उद्योग-धन्धों की जैसी वृद्धि हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। इस समय को यदि जापान की औद्योगिक उन्नति का सूर्योदय कहें तो अयथार्थ नहीं। यों तो बहुत पहले से ही वहाँ तरह तरह के उद्योग-धन्धे होने लगे थे। बड़े बड़े व्यवसायी

कितने ही पेशेदारों को नौकर रख लेते और उनसे ज़रूरी चीज़ें तैयार कराते थे। छठी सदी में वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। उसके साथ ही भारत, चीन और यूनान के कला-कौशल का प्रवेश भी वहाँ हुआ। चित्रकारी और भवन-निर्माण-विद्या इसी समय वहाँ लोगों को अवगत हुई। काँच की चीज़ें बनाने तथा बेल-बूटे काढ़ने का काम भी तभी से होने लगा। नवीं सदी में रेशम तैयार करने की कला में उन्नति हुई। कोरिया और चीन के मुक़ाबले में काग़ज़ भी अच्छा बनने लगा। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार जापानी ढँग की चीज़ें इसी समय से बनने लगीं। बारहवीं सदी में योरपियन ढँग के जहाज़ तैयार होने लगे। हथियारों की बनावट में भी इसी समय उन्नति हुई। अन्य सैनिक वस्तुयें भी अधिक बनने लगीं। सत्तरहवीं सदी तक जापान से माल बहुत कम बाहर जाता था। इसके बाद अनेक दक्षिणी टापुओं और दक्षिणी भारत के साथ बहुत व्यापार होने लगा। इससे जहाज़ों के निर्माण में वहाँ बड़ी उन्नति हुई। परन्तु १८६७ ईसवी के बाद उद्योग-धन्धों की जो उन्नति हुई वह जापान के इतिहास में अद्वितीय है। तब से आज तक दिनों दिन वहाँ उद्योग-धन्धों की उन्नति अधिकाधिक होती चली जा रही है। कितने ही नमूनेदार कारख़ाने खुल गये हैं। कल-कारख़ानों के काम की शिक्षा देनेवाले स्कूल खुले। भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कितने ही शिक्षार्थी और और देशों को भेजे गये। औद्योगिक समितियाँ खोली गईं। जापान में मज़दूरों के साथ बहुत अच्छा बर्त्ताव किया जाता है और पश्चिमी देशों की तरह बार बार हड़तालें नहीं होतीं। इससे, आगे, वहाँ और भी उन्नति होने की आशा है। इस सम्बन्ध में क्या कभी भारत के भी भाग खुलेंगे?

८—गन्ने के रस के मैल का उपयोग।

गन्ने के खुदरे से काग़ज़ बनाये जाने का हाल जनवरी १९१७ की "सरस्वती" के एक नोट में दिया जा चुका है। अब उसके रस के मैल का भी उपयोग होने लगा है। रस से शकर बनाते समय कुछ मैल निकलता है। वह मैल भारतवर्ष में प्रायः जानवरों को खिला दिया जाता है। हम नहीं जानते कि रस से भी अच्छा उपयोग उसका हो सकता है। पर नेटाल (दक्षिणी अफ़्रीका) के कृषकों ने उसका बड़ा सदुपयोग कर दिखाया है। वहाँ एक छोटा सा कारख़ाना खुला है जो गन्ने के रस के मैल के द्वारा मोम तैयार करता है। मैल का बना हुआ यह मोम बढ़िया होता है। ग्रामोफ़ोन की चूड़ियाँ, तरह तरह के पालिश और मोमबत्तियाँ आदि चीज़ें जिस प्रकार के मोम से बनती हैं, यह मोम उसी तरह का साबित हुआ है। इसकी माँग भी बहुत है। आशा है, भारत में भी इसके प्रयोग की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होगा।

९—भारत की दरिद्रता और इँगलेंड की सधनता।

१९१७—१८ ईसवी में भारत-सरकार को कोई ६,८८,७०,८०० पौंड धन राजस्व (Revenue) के रूप में प्राप्त हुआ। उसमें से कोई ६,८७,३५,४०० पौंड भिन्न भिन्न मदों में ख़र्च हुआ और कोई १,३५,४०० पौंड की बचत रही। अर्थात् कोई १½ अरब रुपये की आमदनी भारत-सरकार को हुई। वर्तमान महा-युद्ध में कोई १० करोड़ रुपया रोज़ ख़र्च होता है। अब यदि भारत की एक साल की यह सारी आमदनी युद्ध-निमित्त दे दी जाय तो दो हफ़्तों में स्वाहा हो जाय! अब इँगलेंड को देखिए। वह युद्ध के लिए ६ से लेकर १२ करोड़ तक रोज़ ख़र्च करता है। और दो चार महीने से नहीं, कोई चार बरसों से। लड़ाई अभी जारी ही है। न जाने और कितना धन अभी ख़र्च होगा। इससे ज्ञात होता है कि भारत के मुक़ाबले में इँगलेंड की सधनता कितनी बढ़ी चढ़ी है।

१०—मराठी-भाषा का पुराना इतिहास।

पूने के अँगरेज़ी मासिक पत्र—"फ़रगुसन कालेज मैगज़ीन"—की दिसंबर, १९१७ की संख्या में अध्यापक पटवर्धन का एक व्याख्यान छपा है। उसमें अध्यापक महाशय का कथन है कि महाराष्ट्री अर्थात् मराठी बड़ी प्राचीन भाषा है। वररुचि या वारुचि-कात्यायन के व्याकरण में उसका निर्देश मिलता है। वररुचि का एक सूत्र बड़ा प्रसिद्ध है—शेषं महाराष्ट्रीवत्। इस सूत्र के आधार पर किसी किसी विद्वान् का तो यह अनुमान है कि महाराष्ट्री ही प्रधान प्राकृत भाषा थी। तथापि महाराष्ट्री भाषा के शब्द बोल चाल की संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से अधिक मिलते

जुलते हैं। गल्ल, तुण्ड, डुल्ल, कीलक, भाटक आदि संस्कृत-शब्द गाल, तोंड, डोल, खिला, भाँडें इत्यादि महाराष्ट्री-शब्दों से बने हैं। अस्तु।

गौतमबुद्ध के समय तक लोग प्राकृत भाषा बोलते थे। परन्तु गौतमबुद्ध ने पाली-भाषा के द्वारा धर्म्मोपदेश किया। पाली मागधी का एक भेद है। मागधी, शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री एक दूसरी से बहुत मिलती जुलती हैं। परन्तु उनमें महाराष्ट्री ही प्रमाण-स्वरूप मानी जाती थी। वररुचि का पूर्वोक्त सूत्र इसका प्रमाण है।

जिन दिनों वररुचि ने अपना प्राकृत-प्रकाश ग्रन्थ लिखा, मगध में नन्द का राज्य था। अर्थात् ईसा के कोई ३८० वर्ष पहले प्राकृत-प्रकाश की रचना हुई। कुछ विद्वानों की राय है कि वररुचि और कात्यायन एक ही था। यदि यह ठीक हो तो "महाराष्ट्री" शब्द कम से कम तीन हज़ार वर्ष का पुराना अवश्य है।

अच्छा तो महाराष्ट्री-भाषा के साहित्य की दशा उस समय क्या थी? शालिवाहन की सप्तशती, प्रवरसेन का सेतुबन्ध, तथा राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी, आदि कुछ ग्रन्थ उस काल के मिलते हैं। उनसे अनुमान होता है कि प्राकृत में ग्रन्थ-रचना कम होती थी। क्योंकि साहित्य की भाषा संस्कृत थी। विद्वान् लोग उसी भाषा में अपने ग्रन्थ लिखते थे। संस्कृत-भाषा का ही मान उस समय था। तथापि प्राकृत के जो ग्रन्थ अब प्राप्त हैं उनकी अपेक्षा अधिक ग्रन्थ उस समय अवश्य विद्यमान रहे होंगे। उदाहरण के लिए "सप्तशती" को ही लीजिए। उसे बोडिस्स, चुल्लह, अमरराज, कुमरिल्ल, मकरन्दसेन, श्रीराज और शालिवाहन, इन पाँच लेखकों ने लिखा है। उसकी रचना से ज्ञात होता है कि, सम्भव है, उसमें सङ्कलित पद्य किसी अन्य प्राकृत ग्रन्थ से चुने गये हों। दूसरे, बौद्धों के अधिकांश ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये थे। पाली भाषा मागधी का भेद है। पर अब वे सब प्राप्य नहीं। तीसरे, सुनते हैं, श्वेताम्बर जैनों के संग्रह में तत्कालीन प्राकृतिक पुस्तकें हैं। चौथे, शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों से ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्म्म का प्रचार महाराष्ट्र में भी था। बौद्ध-धर्म के प्रचारक देशी भाषा के द्वारा अपने धर्म्म का प्रचार करते थे। इन बातों से अनुमान होता है कि प्राकृत-भाषा में बहुत ग्रन्थ लिखे गये होंगे। पाँचवें, जैन-धर्म्म का भी प्रभाव महाराष्ट्र पर पड़ा है। मराठी के साधु-सन्तों और भक्तों की पुस्तकों में करुणा, दया, अहिंसा पर अधिक ज़ोर दिया जाना सम्भवतः "अहिंसा परमो धर्म्मः" का ही प्रभाव होगा। छठे, एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। साहित्य का उत्थान और पतन जाति के उत्थान और पतन के साथ होता है। ईसा के पहले तीसरी सदी से लेकर ईसवी सन् की दसवीं सदी तक का मराठी भाषा का इतिहास अन्धकार में है। पर महाराष्ट्र-देश का इतिहास हमें बताता है कि उक्त अवधि में महाराष्ट्र में राष्ट्रकूट, नल, मौर्य्य और कदम्ब-राजवंशों का राज्य वहाँ रहा। प्रतिष्ठान या पैठण बहुत दिनों तक महाराष्ट्र की राजधानी था। चीनी यात्रियों ने भी हर्षवर्द्धन के पराजय के वर्णन के सिलसिले में महाराष्ट्रों की वीरता की प्रशंसा की है। इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि मराठा-जाति हीन दशा में थी और इसी से उसके साहित्य की दशा भी हीन ही रही होगी।

तो फिर ऐसी शूर-वीर जाति के समय में भी महाराष्ट्री के साहित्य की उन्नति क्यों न हुई? इसके कारण हैं। उस समय देश की राजनैतिक अवस्था निरन्तर बदलती रहती थी—राज्य-क्रान्तियाँ होती रहती थीं। ऐसे समय देश में शान्ति प्रायः असम्भव हो जाती है। और बिना शान्ति के साहित्य और कला-कौशल की उन्नति कैसे सम्भव है?

जैन और बौद्ध-धर्म्म के ह्रास तथा ब्राह्मणों के उदय के कारण फिर संस्कृत-भाषा का दौरदौरा हुआ। प्राकृत या देशी-भाषाओं की समृद्धि न होने का यह भी एक कारण है।

यदि यह कहें कि तत्कालीन महाराष्ट्र के निवासी साहित्य के प्रेमी न थे। इसी से उनकी भाषा का साहित्य पुष्ट नहीं। तो यह अनुमान भी प्रमाण और युक्ति के बाहर है। "सप्तशती" के कर्त्ता यद्यपि ७ आदमी थे तथापि "शालिवाहन" ही के नाम से वह प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि शालिवाहन उन सब में अधिक विख्यात था। वह स्वयं तो कवि था ही; कितने ही कवियों का आश्रयदाता भी था। इसी से वह "कविवत्सल" कहलाता था। केवल प्राकृत में ही नहीं, संस्कृत में भी महाराष्ट्र देश के निवासी बढ़े-चढ़े थे। संस्कृत के साहित्य-शास्त्री तीन लेखन-शैलियों का उल्लेख करते हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी इनमें सर्व्व-

श्रेष्ठ थी। वैदर्भी शब्द विदर्भ से बना है और विदर्भ महाराष्ट्र का एक विभाग था। कुछ लेखक वैदर्भी को महाराष्ट्री भी कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाराष्ट्रों ने संस्कृत पर ऐसा सिक्का जमा लिया था कि उनकी लेखन-पद्धति उस समय सर्वोत्तम मानी गई थी। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे बढ़े-चढ़े साहित्य-सेवक थे? संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति और राजशेखर महाराष्ट्र ही थे। महाराष्ट्र के राजा और युवराज भी बड़े विचाररसिक थे। शालिवाहन, पुलकेशी, कीर्त्तिवर्मा, विक्रम और रामदेव आदि इसके उदाहरण हैं। इस दशा में पूर्वोक्त शङ्का निस्सार नहीं तो क्या है?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राचीन महाराष्ट्री भाषा से आधुनिक मराठी भाषा और उसका साहित्य कब पृथक् हुआ? इसका उत्तर देना बड़ा कठिन है। सिर्फ़ चार पाँच शिला-लेख अब तक ऐसे मिले हैं, जिनकी भाषा मराठी ढँग की है। पर दसवीं सदी के पहले कोई शिला-लेख ऐसा नहीं मिलता जो साहित्य की दृष्टि से कुछ मूल्य रखता हो। तथापि यह कहा जा सकता है कि तीसरी और सातवीं सदी के बीच में महाराष्ट्री ने मराठी-भाषा का रूप ग्रहण किया।

अध्यापक पटवर्धन के इस वक्तव्य से यह जाना जा सकता है कि ईसा की दसवीं सदी तक मराठी भाषा और उसके साहित्य की दशा क्या थी।

११—युद्धऋण।

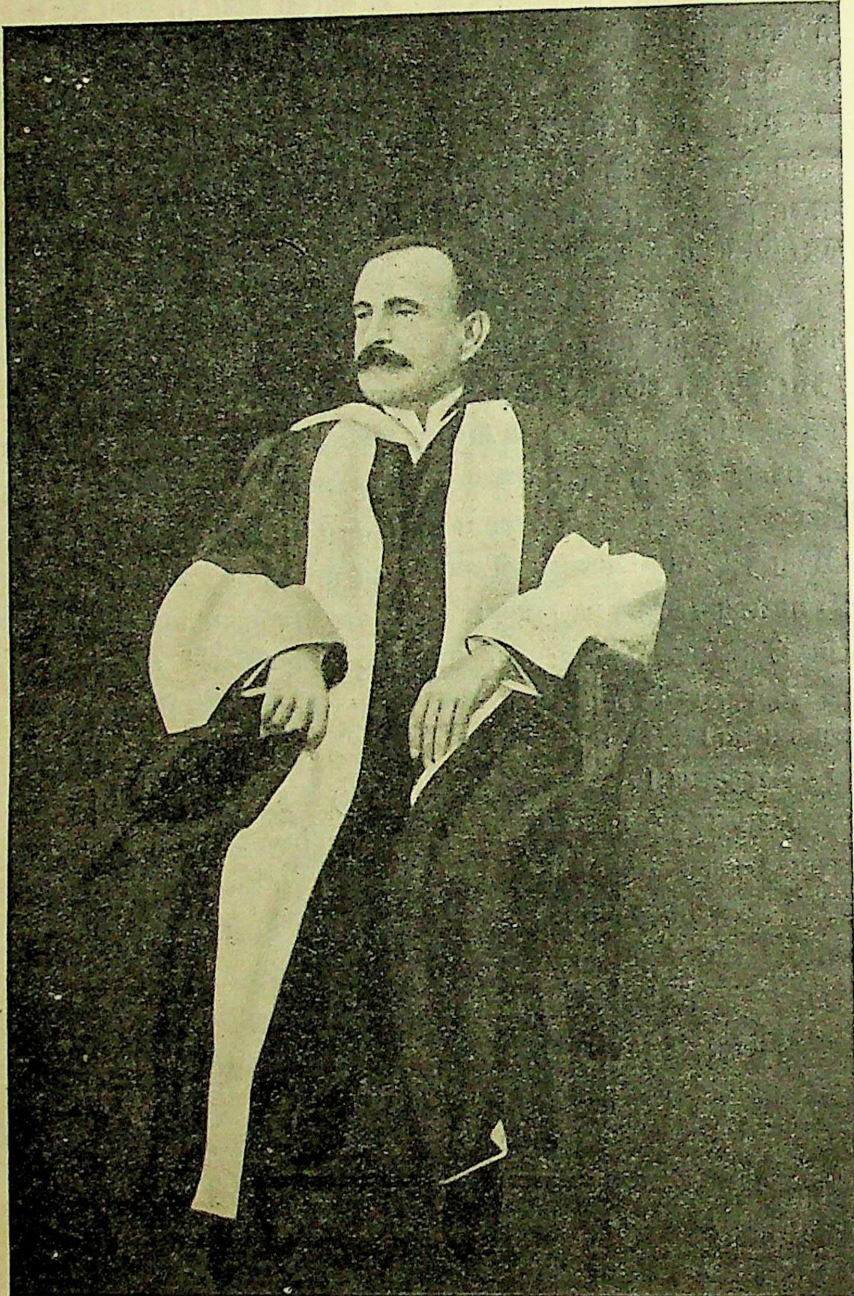
वर्तमान महायुद्ध का आरम्भ हुए कोई चार वर्ष हो चुके। अब तक यह ख़तम हो जाता और जर्मनी के हौसले हवा हो जाते, पर रूस के बिगड़ जाने से बात बिगड़ गई। रूस और जर्मनी में सन्धि हो जाने से भी, रूस की अराजकता दूर नहीं हुई। दक्षिणी रूस में जर्मनी बढ़ता चला जाता है। उधर उसका साथी टर्की भी इस तरफ़ क़दम बढ़ा रहा है और फ़ारिस के उत्तरी प्रान्तों पर भी दाँत लगाये हुए है। फ्रांस में बड़ा ही भीषण युद्ध हो रहा है। ब्रिटिश, फ़्रेंच, बेलजियन और अमेरिकन सेनायें उस रण-क्षेत्र में जर्मनी का मुक़ाबला बड़ी वीरता से कर रही हैं। ब्रिटिश गवर्नमेंट, अपनी बढ़ी हुई शक्ति से, उधर तो जर्मनी के दाँत खट्टे करही रही है। पर उसे इधर, अपने देश के सीमा-प्रान्त की ओर भी, नज़र रखनी है। इस बढ़े हुए कर्तव्य के पालन के लिए बहुत धन-जन की आवश्यकता है। ब्रिटिश-साम्राज्य की रक्षा करना भारत का भी कर्तव्य है। क्योंकि उस की रक्षा से ही भारत का कल्याण है। कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने देश, अपने धर्म्म, अपनी जाति, अपने घर-द्वार की रक्षा करना अपना कर्तव्य न समझे? और ब्रिटिश-गवर्नमेंट की सहायता करना ही, अपनी सब तरह की रक्षा करना है। हमारे इस कर्तव्य की याद हमें राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज ने भी दिलाई है, देहली की युद्ध-सभा में बड़े लाट ने भी दिलाई है और उस दिन लखनऊ में इस प्रान्त के छोटे लाट ने भी दिलाई है। इस कर्तव्य का पालन हम रँगरूट भर्ती करा कर और सरकार को युद्ध-सम्बन्धी दूसरा ऋण देकर कर सकते हैं। ऋण की शर्तें आदि के विज्ञापन अख़बारों में निकल रहे हैं। उसके विषय की सब बातें बैंक-बङ्गाल के दफ़्तरों से, सरकारी ख़ज़ानों के कर्म्मचारियों से और डाकख़ानों से भी मालूम हो सकती हैं। जो लोग यह क़र्ज़ देंगे उन्हें ५½ सैकड़ा सूद मिलेगा। यह सूद हर छठे महीने मिल जाया करेगा। डाकख़ानों से भी ऋण के काग़ज़ ख़रीद किये जा सकेंगे। ऋण चुकाने की चार मुद्दतें हैं। तीन, पाँच, सात और दस वर्ष। जो जैसा ऋण देगा उसे उतनी मुद्दत के बाद रुपया वापस मिल जायगा। सात और दस वर्ष के लिए ऋण देनेवालों को सूद के सिवा और भी फ़ायदा होगा। सात वर्ष बाद जो रुपया वापस लेंगे उन्हें १००) के बदले १०३) मिलेंगे; और दस वर्ष बाद लेनेवालों को १००) के १०५)। इस ऋण का रुपया भारत ही में रहेगा। उससे यहीं युद्ध-सामग्री मोल ली जायगी। यह बहुत बड़ी बात है। इस कारण देश का रुपया देश ही में रहेगा। फिर इससे अपने देश की भी रक्षा होगी। अतएव यथाशक्ति ऋण देना भारतवासियों का परम कर्तव्य है। थोड़ी आमदनी के लोग भी डाकख़ाने के "कैश सर्टिफ़िकट" लेकर सरकार की सहायता कर सकते हैं। ये काग़ज़ १०) तक के भी हैं। ७॥) देने से ५ वर्ष बाद १०) मिल सकते हैं।

१२—डाक्टर वीनिस का शरीर-पात।

डाक्टर आर्थर वीनिस का, ६० वर्ष की उम्र में, शरीरान्त हो गया। यह घटना गत अप्रेल महीने में हुई। उस समय डाक्टर साहब नैनीताल में थे। ये थे तो अँगरेज़, पर कहना इन्हें हिन्दुस्तानी ही चाहिए, क्योंकि ये यहीं, इसी देश में, उत्पन्न हुए और अपना अधिकांश जीवन-काल यहीं, विशेष करके काशी में, व्यतीत किया। डाक्टर साहब संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। योरप के संस्कृतज्ञों में से बहुत कम

लोग इनके सम्बन्ध हुए हैं। पुरातत्त्वज्ञता में ये अच्छा दख़ल रखते थे। संस्कृत-पण्डितों और अपने संस्कृत-प्रेमी छात्रों की क़दर करते थे। इनके कई छात्र इनकी बदौलत पुरातत्त्वज्ञ हो गये। संस्कृत-शिक्षा-प्राप्ति के प्रेमी युवकों पर आप बड़ी कृपा करते थे।

एडिनबर्ग और आक्सफर्ड में आपने शिक्षा पाई। वहीं



डाक्टर आर्थर वीनिस।

आपने संस्कृत-भाषा का भी अभ्यास किया। १८८१ ईसवी में आप बनारस के क्वीन्स-कालेज में अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए अध्यापक नियत हुए। एक वर्ष बाद आप आगरा-कालेज को बदल दिये गये। वहाँ से फिर बनारस लौट आये।

१८८८ ईसवी में, आप बनारस के संस्कृत-कालेज के प्रधानाध्यापक हुए। साथ ही आप अपना पहले का काम—अँगरेज़ी प्रोफ़ेसरी—भी, क्वीन्स-कालेज में, करते रहे। कुछ समय तक आपने दर्शनशास्त्र भी पढ़ाया। १८६७ ईसवी के लगभग आप क्वीन्स-कालेज के प्रधानाध्यापक नियत हुए। कई दफ़ आपने, थोड़े थोड़े समय के लिए, इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर का काम भी किया। कुछ काल तक आप कौंसिल के मेम्बर भी रहे। पेन्शन लेने पर आप प्रयाग-विश्वविद्यालय के व्याख्याता नियत किये गये। वैदिक काल के उत्तरवर्त्ती भारत की सभ्यता आदि पर आप सुन्दर व्याख्यान सुना कर भारतीयों को उनके देश की पुरानी बातों का ज्ञान-दान करते रहे। मृत्यु समय तक आप इसी कार्य्य में लग्न थे। आपको सी० आई० ई० की पदवी प्राप्त थी।

पुस्तक-परिचय।

१—हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? इसका आकार मँझोला, पृष्ठ संख्या २१२, छपाई साधारण, मूल्य १ रुपया है। देव ब्रदर्स, रल-फाटक, बनारस को लिखने से यह पुस्तक मिलती है। पूने के मराठा और केसरी-नामक समाचार-पत्रों के सम्पादक, श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर, बी० ए०, एल-एल० बी० की लिखी हुई एक पुस्तक अँगरेज़ी में है। उसी के प्रथमार्ध का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक हैं—बाबू रामचन्द्र वर्म्मा। अँगरेज़ी-राज्य होने के पहले भारत की क्या दशा थी, अँगरेज़ों का राज्य होने पर किन किन विषयों में भारत की उन्नति और किन किन में अवनति हुई, वर्तमान राज्यप्रणाली में क्या क्या दोष हैं, तथा स्वराज्य की स्थापना से भारत को कितना लाभ होगा—इन्हीं बातों का विवेचन इस पुस्तक में है। राजनैतिक दृष्टि से यह बड़े महत्त्व की पुस्तक है। हिन्दी में इसका अवतार अच्छे समय में हुआ।



२—Life of Ranoji Rao Sindhia. यह पुस्तक अँगरेज़ी में है। सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठ-संख्या ८+२१+१४ है। मूल्य १ रुपया है। इन्दौर में श्रीयुत मुकुन्द वामनराव बरवे, बी० ए०, वहाँ के स्मालकाज़-कोर्ट में जज हैं। आप मराठी की प्राचीन पुस्तकों तथा अँगरेज़ी में लिखे गये अनेक इतिहासों के आधार पर नामी नामी महाराष्ट्र-सरदारों और राज्य-संस्थापकों आदि के जीवनचरित लिखने में लगे हुए हैं। आप का लिखा हुआ राव-राजा सर दिनकरराव का चरित प्रकाशित हुए कुछ ही समय हुआ। अब आपकी यह पुस्तक निकली है। रानोजी-राव सेंधिया बड़े नामी मराठा-सरदार हो गये हैं। वही ग्वालियर की रियासत के जन्मदाता थे।

बरवेजी ने यह संक्षिप्त चरित लिख कर इस प्रसिद्ध पुरुष के कीर्तिगान का ख़ूब पुण्य-सम्पादन किया है। ऐसे चरितों की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि विदेशी इतिहास-लेखकों ने, भ्रम अथवा भूल के कारण, इन लोगों के पुरुषार्थ और प्रकृत गुणों का वास्तविक परिचय नहीं पाया। यह त्रुटि बरवेजी की पुस्तकों से दूर हो जायगी। अतएव हम आपके इस उद्योग का अभिनन्दन करते हैं और इस पुस्तक की एक कापी भेजने के लिए धन्यवाद देते हैं।



३—स्वाराज्य-तत्त्वमीमांसा—सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बँगला-निबन्ध—आत्मकर्तृत्व-प्रकाश—का यह हिन्दी-अनुवाद है। रवि बाबू की रचनायें कितनी सुन्दर और कितने महत्त्व की होती हैं, इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। यह निबन्ध भी वैसा ही है। नामानुसार इसमें स्वराज्य-तत्त्व की मीमांसा है। अँगरेज़ी, मराठी, गुजराती-भाषाओं में इसके अनुवाद, कुछ ही सप्ताहों में, निकल चुके हैं। भाषा सरल और सुबोध है। इसकी पृष्ठ-संख्या ८+३८ और मूल्य ।) है। आरम्भ में रवि बाबू का संक्षिप्त चरित भी है। पण्डित कृपानारायण, राष्ट्रीय पुस्तक-भाण्डार, कुली-बाज़ार, कानपुर, से मिलती है।



× ×

नीचे जिन पुस्तकों के नाम दिये जाते हैं वे भी पहुँच गई हैं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद—

१—भारतकुरीति-बारहमासा } लेखक, पं० छोटेलाल
२—माल उड़ाने की तरकीब } सिकन्दराबादी।
३—भाषाप्रसिद्धशब्दमूलसंस्कृतशब्दाः—लेखक, म० म० पण्डित शिवदत्त जी, लाहौर।
४—सिक्ख गुरुओं की जीवनी—लेखक, बाबू शिवनन्दन-सहाय, अख़्तियारपुर, आरा।
५—व्यायाम-मन्दिर—लेखक, प्रोफ़ेसर माणिकराव, बड़ोदा।
६ भारतीय गीत—लेखक, श्रीयुत भूरालाल कथाव्यास, शाहपुरा।
७—राष्ट्रीय शिक्षणनी आवश्यकता—प्रयोजक, श्रीयुत परमानन्द, भावनगर।

चित्र-परिच

(१)

संयोगी।

ऋटऋतुहज़ारा—नामक पुस्तक में रामप्रताप कवि का एक सवैया है—

प्रीतम प्यारी अँटा पर बैठि कैं देखत दोऊ घटा की छटा री।
बारहिबार गराजत बादर दामिनियाँ करतीं ज्यों पटा री॥
बोली प्रिया हँसि प्रीतम सों यह कारी घटा उनई है अटारी।
रामप्रताप सँयोगी सुखी पै वियोगिनी को भई बूँद कटारी॥

इसी सवैये के आधार पर, एक प्राचीन चित्रकार के द्वारा, बनाया गया संयोगी नाम का एक सुन्दर रङ्गीन चित्र इस सङ्ख्या में प्रकाशित किया जाता है। यह चित्र हमें टिहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्रशाह की कृपा से प्राप्त हुआ है।

(२)

निराश यात्री

रेल से यात्रा करनेवाले समय पर क्या, समय से पहले ही, स्टेशन पर पहुँचने और गाड़ी पर सवार हो जाने के लिए उतावले रहते हैं—विशेष करके अजान देहाती, जो उतावले ही नहीं, कुछ कुछ बावले से भी बन जाते हैं। एक



निराश-यात्री

ऐसा ही यात्री गठरी-मुटरी लेकर अपनी स्त्री, अपने पुत्र और अपने कुटुम्ब की एक और स्त्री के साथ अपने स्थान से निकटवर्ती स्टेशन को चला। स्टेशन के पास पहुँचने पर उसे गाड़ी आती हुई दिखाई दी। बेचारा हाँफता दौड़ता टिकट घर की खिड़की के पास पहुँचा। मुश्किल से टिकट मिले। जब तक वह अपने साथियों सहित गिरता पड़ता प्लैटफार्म पर पहुँचा तब तक गाड़ी छूट गई। बेचारा हक्का बक्का सा वहीं खड़ा रह गया। उसकी स्त्री झुँझला कर वहीं बैठ गई। दूसरी स्त्री ने भी उसीका अनुसरण किया। लड़का इधर उधर आँख उठाकर तमाशा-बीनी करने लगा। उसे छोड़ कर और सबके चेहरों पर निराशा का प्रतिबिम्ब उदित हो आया। इसी दशा को प्रकट करके दिखाने के लिए चित्रकार बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्म्मा ने इस चित्र का अङ्कन किया है।

(३)

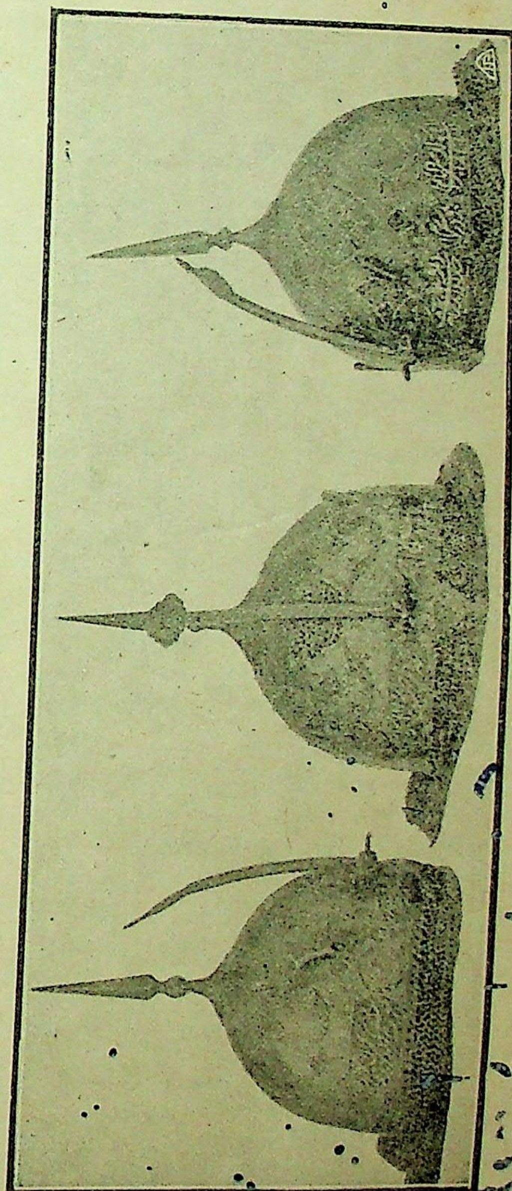
प्राचीन वस्तुओं के चित्र।

१९११ ईसवी में, तिलकोत्सव के समय, प्राचीन वस्तुओं की जो प्रदर्शिनी देहली में हुई थी उसमें प्रदर्शित वस्तुओं में से कुछ के चित्र, गवर्नमेंट की प्रकाशित पुस्तक से, इस संख्या में यहाँ दिये जाते हैं। उनमें से एक चित्र उस ज़िरह-बख़्तर का है जिसे १८५७ ईसवी के सिपाही-विद्रोह में झींद-नरेश राजा सरूपसिंह ने पहन कर अँगरेज़ों की तरफ़ से देहली में युद्ध किया था। ग़दर में जिस समय देहली घेरी गई थी उस समय देशी राजाओं में से अकेले झींद-नरेश ही अँगरेज़ों की सहायता करने आ सके थे। इस ज़िरह-बख़्तर के साथ एक टोपी भी है। वह भी लोहे की जाली की है।

तीन शिरस्त्राणों के भी चित्र प्रकाशित किये जाते हैं।

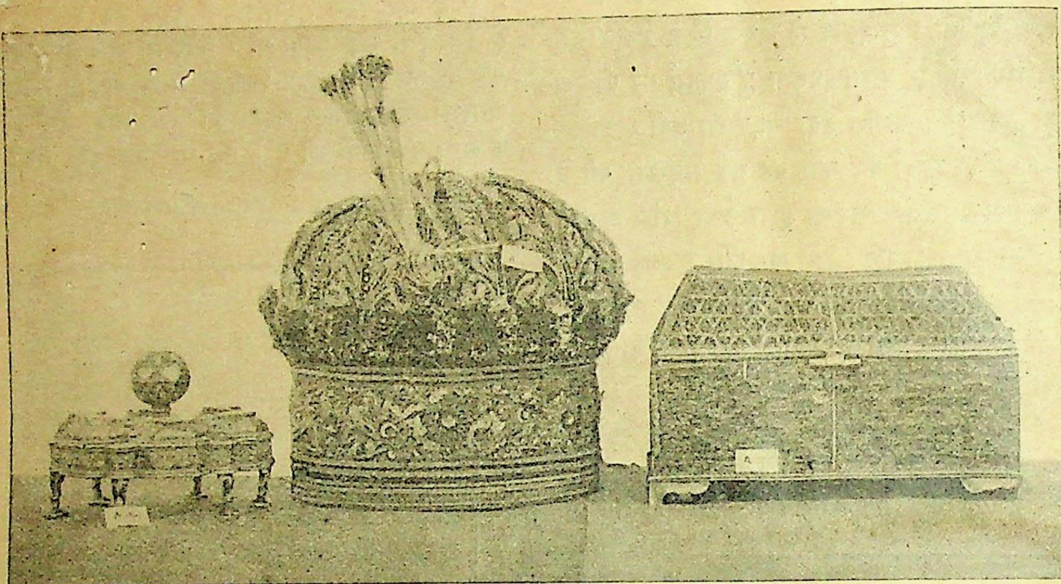


झींद के राजा सरूपसिंह का ज़िरह-बख़्तर



फ़ारिस के [illegible] हुए तीन शिरस्त्राण

ये लोहे की जाली से बनी हुई टोपियाँ हैं। युद्ध के समय पहनी जाती थीं। फ़ारिस की बनी हुई हैं। इनमें बीच बीच में सोने का सुन्दर काम है। हर टोपी पर फ़ारसी में एक एक लेख है, पर वे ठीक ठीक पढ़े नहीं जाते। महाराना, उदयपुर, से माँग कर ये टोपियाँ प्रदर्शिनी में रक्खी गई थीं।



लखनऊ के शाहों का ताज

एक ताज का भी चित्र दिया जाता है। यह बहुमूल्य टोपी है। लखनऊ के बादशाह (नवाब-वज़ीर) इसे लगाते थे। देहली के लाला कानजीमल से लेकर यह ताज प्रदर्शिनी में रक्खा गया था।



Printed and published by Ap..rva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad.

